

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

की

पी-एच० डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत प्रबन्ध

# रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन

[ अलंकार-भाग छोड़कर ]

[ A CRITICAL STUDY OF THE POETIC THEORIES IN  
RASAGANGADHAR EXCLUDING ALANKARAS ]

*Forward*  
*Signature*

प्रेमस्वरूप गुप्त,

संस्कृत-हिन्दी विभाग,

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,

अलीगढ़ ।





T245

T 245



6.9 JAN 1961

प्रस्तावना १ -- ८

विषयानुक्रमिका ९ -- १८

संक्षेप-लिपि १९

टाइप-सम्बन्धी संक्षेप १९

---

प्रबन्ध १ -- ४२५

भूमिका-- अध्याय- १ १-- ३०

अध्याय- २ ३१--१००

अध्याय- ३ १०१--२३५

अध्याय- ४ २३६--२६७

अध्याय- ५ २६८--२९२

अध्याय- ६ २९३--३३३

अध्याय- ७ ३३४--४१४

उप-संहार-- अध्याय- ८ ४१५--४२५

---

सहायक ग्रन्थों की सूची १ -- ६

---



## प्रस्तावना

वर्ष वर्ष हुए, साहित्याचार्य की परीक्षा के लिए "रस-गंगाधर" के साथ परिचय हुआ था। तब परिचय एक परीक्षार्थी का ही था। उसकी दुरुहता ने अपने में सहज-प्रवेश की अनुमति नहीं दी थी, अतः परिचय सामान्य हो रहा था। फिर भी एक बात हुई। उससे पूर्व काव्य-शास्त्र के प्रमुख-प्रमुख ग्रन्थ पढ़ने का अवसर मिल चुका था— साहित्य-दर्पण, काव्य-प्रकाश, ध्वन्यालोक आदि। रस-गंगाधर में मूल सिद्धान्त तो वही थे, किन्तु फिर भी एक नयी चमक के साथ वे यहां दिखायी दिये। रस-गंगाधर का आचार्य पराये मूल सिद्धान्त अपनाते हुए भी बड़ा मौलिक लगा। काव्य-शास्त्र की बड़ी बड़ी सूक्ष्म समस्याओं पर जितना प्रकाश उसमें मिला, उतना कहीं नहीं दिखायी दिया था। और, इतनी विचारोत्तेजकता तो किसी ग्रन्थ ने नहीं दी थी। उस परिचय ने रस-गंगाधर के प्रति एक आकर्षण पैदा कर दिया। उसी आकर्षण के फल-स्वरूप प्रस्तुत शोध-कार्य के लिए मैं उसे चुन सका हूँ, उसी के फल-स्वरूप श्रम के साथ मनोयोग भी बनाये रख सका हूँ।

भारतीय काव्य-शास्त्र में रस-गंगाधर के महत्व के विषय में दो बातें नहीं कही जा सकतीं। हमारी पण्डित-परम्परा में उसका नाम एक आतङ्क-मिश्रित आदर के साथ लिया जाता है। इधर, आधुनिक विद्वानों की लेखनियां भी काव्य-शास्त्र को कथा की उसके महत्व-गान के बिना समाप्त नहीं कर पातीं। वस्तुतः, वहां आनन्द-वर्धन एवं अभिनव गुप्त के कार्य काव्य-चिन्तन के मूल पक्षों पर प्रकाश देकर आज की समीक्षा-चेतना को अनेक सत्यों का दर्शन कराते हैं, वहां उसे आगे बढ़ने की उतनी उत्तेजना नहीं देते। उन्हें पढ़ कर हमारी चेतना अनुभव करती है, हम चिन्तन के "इतिहास" पर पहुंच गये हैं। यही कारण है कि लग-भग एक सहस्र वर्ष से काव्य-शास्त्रीय चिन्तन जहां का तहां पड़ा हुआ है। किन्तु रस-गंगाधर संस्कृत काव्य-शास्त्र में एक ऐसा अनूठा ग्रन्थ है कि अपने अतीत की समस्त उपलब्धियों को अपने में बटोर कर आधुनिक-तम चिन्तन की नयी दिशाओं की ओर भी उन्मुख करता हुआ आगे की ओर बढ़ने की प्रेरणा दे सकता है। इस दृष्टि से आधुनिक युग के लिए रस-गंगाधर सब से अधिक उपयुक्त ग्रन्थ है। जितना अधिक अध्ययन काव्य-प्रकाश का हुआ है, यदि उतना कहीं रस-गंगाधर का हुआ होता तो निस्सन्देह काव्य-शास्त्र की कथा में आज कई अध्याय जुड़ चुके होते।

किन्तु यह आश्चर्य की बात रही है कि इतना महत्व-पूर्ण ग्रन्थ होते हुए भी उसे विशेष अध्ययन का विषय नहीं बनाया गया। पुराने युग में भी, और आज भी, वह दृष्टि का केन्द्र-बिन्दु नहीं बन सका। जहां काव्य-प्रकाश पर अनेक टीकाएं लिखी गयीं, वहां रस-गंगाधर पर केवल एक मिलती है नागेश की। वस्तुतः, वह भी टीका नहीं, एक टिप्पणी है। और आज भी, जिस युग में अन्य संस्कृत काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों के अनुवाद पर अनुवाद निकल रहे हैं, उन पर प्रतिदिन चर्चाएं चलती हैं, वहां रस-गंगाधर मानो प्रणाम की वस्तु बना हुआ है। बहुत हुआ तो उसके काव्य-लक्षण "रमणीया प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" जैसे कुछ वाक्यों की चर्चा हो गयी, और बस। उसका अंग्रेजी में भी, जहां तक इन पद्धि-वस्तुओं के लेखकों को पता है, कोई अनुवाद नहीं निकला। मराठी में एक अनुवाद हुआ है। हिन्दी में पं० पुरुषोत्तम शर्मा



चतुर्वेदी का एक अनुवाद निकला था।<sup>1</sup> शैली सुबोध होते हुए भी वह मूल-रहित होने के कारण सामान्य उपयोग का ही रहा, और अध्ययन की दिशा को अधिक प्रभावित नहीं कर सका। एक संस्कृत-हिन्दी टीका ले० पं० बदरीनाथ झा एवं पं० मदनमोहन झा को काशी चौखम्बा से प्रकाशित हुई है।<sup>2</sup> काशी उससे भी अधिक नहीं। टीकाओं की अपेक्षा मूल सम्भवतः शीघ्र समझा जा सके। फिर उनमें दृष्टि-कोण की वही सीमा है जो हमारे आज के पाठशालीय अध्ययन में रहा करती है।

तो, एक ओर तो रस-गंगाधर के लिए यह महत्व-स्वीकृति, दूसरी ओर यह दूर-प्रणामिता। इसका मूल कारण है उसकी दुरूह शैली। पण्डितराज ने अपने ग्रन्थ को एक अद्भुत "मणि" कहा है। किन्तु यह मणि नव्य-न्याय की दुर्भेद्य लौह-मंजूषा में रस दिया गया है। साथ ही विभिन्न शास्त्रों एवं दर्शनों के प्रभाव से उसका वातावरण अत्यन्त गम्भीर हो उठा है। फल यह होता है कि विद्वत्प्रतिभा रस-गंगाधर को छोड़ अन्य ग्रन्थों को और उन्मुख हो जाती है। उसका विश्वास हो चला है कि रस-गंगाधर में मूल ध्वनि-वादी ग्रन्थों के सिद्धान्त ही हैं, तब फिर उनके लिए अपेक्षाकृत सरल मूल ग्रन्थों को ही क्यों अध्ययन का विषय बनाया जाय ? बात कुछ ऐसी भी है। किन्तु ऐसी ही नहीं है। रस-गंगाधर में सब कुछ पुराना ही नहीं है, उस पुराने के साथ नया भी है। और वह नया न-कुछ नहीं है, बहुत कुछ है। पर उसकी दुरूहता एवं गम्भीर वातावरण के कारण उसकी ओर श्रम की प्रवृत्ति नहीं होती।

जहां तक इन परि०क्तियों का लेखक सूचनाएं संकलित कर सका है, रस-गंगाधर पर कोई अच्छा शोध-कार्य भी अभी प्रस्तुत नहीं किया गया। ऐसा कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ भी सामने नहीं आया जो रस-गंगाधर में विवेचित ध्वनिसिद्धान्तों की चर्चा तक ही सीमित न रह कर उन के पीछे निहित पण्डितराज की मूल-चेतना को उद्घाटित करने का प्रयास करता हो, तथा उस पर तुलनात्मक दृष्टि-पात करते हुए उसकी आधुनिक उपयोगिता को ध्यान में रख कर समीचीन मूल्याङ्कन प्रस्तुत करता हो। रस-गंगाधर अथवा पण्डितराज से सम्बन्धित कुछ लेख विभिन्न रिसर्च जर्नल्स में अवश्य प्रकाशित हुए हैं।<sup>3</sup> इनमें पण्डितराज के व्यक्ति-गत जीवन,

१-"हिन्दी-रसगंगाधर": काशी नागरा प्रचारिणी सभा: सं० १९९५। पुरु जोत्तम शर्मा चतुर्वेदी।

२-"रसगंगाधर": चौखम्बा विद्याभवन: वाराणसी-१: सं० २०११। बदरीनाथ झा, मदनमोहन झा।

३- 1- Calcutta Oriental Journal, Vol. 3, P. 41-51. for a statement of Jagannath's criticism of Bhattoji.

2- V.A. Ramaswami Shastri: Journal, Annamalai University: Vol. 2, P. 201-208; Vol. 3, P. 106-116, 229-244; Vol. 4, P. 149-158, 262-274.

3- R.S. Jaini: Oriental Research Institute: Jagannath's Criticism of Mammata's Definition & Classification of Poetry: A Review. 13 Sum. 3 n/ V. 11-12.

4- "Theories of Raga", Examined by Jagannath. (Title only) K.S. Shukla, 11, P. 1. 45.

5- "Rasagangadhara, Andhra Contribution to Sans. Poetics.

(1) Summary. B. Venkataramanayya. x. Summaries. 37-38.



व्यक्तित्व, रचित ग्रन्थ आदि के परिचयों को भी चर्चाएँ हैं, तथा किन्हीं लेखों में रसगंगाधर के दो-एक प्रमुख विषय को ले कर कुछ विचार भी किया गया है। किन्तु इन सिद्धान्तिक लेखों में भी परिचयात्मकता की मात्रा है अधिक है, पण्डितराज के मन्तव्यों में अन्तःप्रवेश बहुत हो कम हुआ है। हाँ, उनका महत्व अवश्य किसी न किसी रूप में स्वीकृत किया गया है, तथा उनकी प्रमुख-प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख भी किया गया है। इन लेखों के अतिरिक्त पण्डित-राज एवं रस-गंगाधर पर कुछ प्रासंगिक रूप में कहने का अवसर उन विद्वानों को भी मिलता रहा है जो या तो संस्कृत काव्य-शास्त्र का इतिहास लिखने बैठे हैं, अथवा काव्य-शास्त्र-विषयक कोई अन्य विवेचन लेकर प्रवृत्त हुए हैं। इनमें रसगंगाधर के सिद्धान्तों की प्रासंगिक चर्चा मिल जाती है। किन्तु इस प्रकार के लेखों, ग्रन्थों अथवा प्रासंगिक चर्चाओं से रस-गंगाधर जैसे महत्व-पूर्ण एवं गम्भीर ग्रन्थ के विशिष्ट अध्ययन की आवश्यकता चुक नहीं जाती।

रस-गंगाधर का अध्ययन कई दृष्टियों से सम्भव है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में उसके शास्त्रीय अध्ययन का उद्देश्य सामने रखा गया है। रस-गंगाधर एक विशाल-काय ग्रन्थ है। उसमें विवेचित समस्त सामग्री को सामने रख कर एक ही शोध-प्रबन्ध में कार्य करना कठिन लगा। विषय का विस्तार अध्ययन में गहरे पैठने का अवकाश हो नहीं देता। वह तो काम करने वाले को किसी एक बात पर कुछ रुक कर विचार करने की अपेक्षा आगे बढ़ने की त्वरा में डाले रहता है। इस दृष्टि से रस-गंगाधर के जलहंकार-भाग को छोड़ कर ही उसके शेष भाग की सीमा में ही विषय-क्षेत्र बनाया गया है। रस-गंगाधर के ५२२ पृष्ठों में से ३६६ पृष्ठों में जलहंकारों का विवेचन फैला हुआ है, शेष में अवशिष्ट विषय हैं। उसका जलहंकार-विवेचन स्वतः एक स्वतन्त्र शोध-प्रबन्ध का विषय बनाये जाने की अपेक्षा रखता है। जहाँ तक काव्य-शास्त्र की मूल समस्याओं का सम्बन्ध है, इस अपेक्षाकृत लघु भाग में ही अधिक विवेचित हुई है। इस दृष्टि से यही भाग अधिक महत्व-पूर्ण है। उसे ही इस शोध-प्रबन्ध के लिए चुना गया है। शोध-प्रबन्ध का हिन्दी शीर्षक "रस-गंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन— जलहंकार-भाग छोड़ कर" इसी सीमा की सूचना देता है।

शास्त्रीय अध्ययन की दिशाएँ भी अनेक और की फैलायी जा सकती थीं। मैंने अपने इस शोध-कार्य में अपने विवेच्य भाग में से प्रमुख-प्रमुख विषयों को चुन कर व्याख्या द्वारा उनके सिद्धान्त-पक्ष को सुस्पष्ट करते हुए निर्णयों तक पहुँचने के लिए ऐतिहासिक-तुलनात्मक पद्धति अपनायी है। इस विवेच्य-भाग की भी प्रत्येक छोटी-बड़ी बात को लेकर इस प्रबन्ध के क्लेवर में चलना सम्भव नहीं था। अतः प्रमुख काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों से सम्बन्धित विवेचन ही चुने गये हैं। इस शोध-प्रबन्ध का अंग्रेजी शीर्षक "ए क्रिटिकल स्टडी आफ़ पौडटिक थियरीज़ इन रस-गंगाधर" उसी सीमा की सूचना देता है। संक्षेप में, मेरे शास्त्रीय अध्ययन की यही सीमा है। मैं यथा-साध्य अपनी इसी सीमा में रहा हूँ। जहाँ तक सिद्धान्त-पक्ष की व्याख्या के लिए अथवा उसका तुलना के लिए मुझे किसी अन्य शास्त्र या दर्शन का साहाय्य आवश्यक प्रतीत हुआ है, मैं वहीं तक बढ़ा हूँ, अन्यथा मैंने अपने को सीमित करने का ही प्रयत्न किया है। इसी कारण मैं पण्डितराज के काल-निर्णय, व्यक्तित्व, अन्य-ग्रन्थ आदि के अध्ययन अथवा रस-गंगाधर में ही उनके दार्शनिक एवं कवि-रूपों के अध्ययन की ओर नहीं गया हूँ। अन्य आचार्यों के काल-निर्णय के प्रश्न भी मैंने अपने लिए अनावश्यक समझ कर छोड़ दिये हैं। रस-गंगाधर के एक परिमित क्षेत्र में अपने एक विशिष्ट दृष्टि-कोण से अध्ययन करना ही मेरे विषय की सीमा है।



मेरे परिगृहीत रस-गंगाधर के भाग में प्रमुख विषय आते हैं— काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु, काव्य-भेद; रस; भाव; गुण; शब्द-शक्तियाँ। ये ही काव्य-शास्त्र के प्रमुख विषय हैं। मैंने इन्हें ही अध्ययन के हेतु चुना है। इनके अतिरिक्त कुछ मध्यम कोटि के विषय भी चुने गये हैं, जैसे— ध्वनि-भेद, रसवदलहंकार, काव्य-की-आत्मा, रसाभास आदि। किन्तु इन्हें स्वतन्त्र अध्याय का महत्व नहीं दिया गया है। इन प्रमुख काव्य-सिद्धान्तों के साथ ही एक प्रश्न और घनिष्ठतया जुड़ा था— विभिन्न काव्य-शास्त्रीय सम्प्रदायों के प्रति पण्डितराज का दृष्टि-कोण। यह दृष्टि-कोण प्रत्येक काव्य-सिद्धान्त के विवेचन में मूल में निहित था। अतः उसको भी एक अध्याय का विषय बनाया गया है।

अपने इस शोध-प्रबन्ध में मैंने ऐतिहासिक-तुलनात्मक तथा व्याख्यात्मक प्रक्रिया का अवलम्ब लिया है। पण्डितराज के मूल मन्तव्यों को सामने रखने के लिए स्थूल-विशेषों पर व्याख्यात्मक होना आवश्यक था; उनके वक्तव्यों के समोदात्मक मूल्याङ्कन के लिए अतीत की उन उपलब्धियों को भी सामने रखना आवश्यक था जो पण्डितराज के समक्ष आ चुकी थीं। मैंने उन्हें "पृष्ठ-भूमि" का नाम दिया है। पण्डितराज ने किस से क्या लिया? क्या छोड़ा? क्यों लिया, क्यों छोड़ा? तथा जो भी प्रस्तुत किया है, उसमें उनका अपना कितना है? यह सब बताने के लिए मुझे पृष्ठ-भूमियाँ सामने करना आवश्यक हो गया था।

पृष्ठ-भूमि का अध्ययन दो रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता था— एक तो भूमिका-रूप एक पृथक् अध्याय में काव्य-शास्त्र की समूची उपलब्धियों का एक मिला-जुला संहितापुस्तक इतिहास प्रस्तुत करते हुए, दूसरे प्रत्येक विवेच्य विषय के साथ उसी की पृष्ठ-भूमि अलग-अलग अध्यायों में प्रस्तुत करते हुए। मैंने पिछली प्रक्रिया अपनायी है। इसमें अतीत उपलब्धियों एवं पण्डितराज के दृष्टि-कोणों को सामने-सामने रख कर कुछ निर्णयात्मक बात कहने का अच्छा अवसर था। इससे एक और सुविधा हुई है। प्रत्येक विषय के दृष्टि-कोण के विकास की दृष्टि से मैं उसका काल-विभाजन कर के चल सका हूँ।

पृष्ठ-भूमियों के विषय में एक बात और निवेदन कर देना चाहता हूँ। जहाँ रस-गंगाधर के ऊपर अब तक नगण्य कार्य हुआ है, पृष्ठ-भूमि में परिगृहीत विषयों का पर्याप्त अध्ययन हो चुका है। काव्य-शास्त्र के इतिहास-ग्रन्थों में, विभिन्न शोध-प्रसंगों में, काव्य-शास्त्रीय समस्याओं पर लिखे गये स्वतन्त्र ग्रन्थों में इन प्रमुख विषयों के विकास की कथा किसी न किसी रूप में मिल हो जाती है। तब यह कार्य एक प्रकार से विद्वानों की पिष्ट-पेषण ही लग सकता है। मैंने अन्य विद्वानों के निर्णयों को ही संक्षेप में उद्धृत कर के कम अपना तुलनात्मक काम आगे बढ़ाना चाहा। किन्तु मुझे इस प्रक्रिया से अपना कार्य चलता न दिखायी दिया। कहीं तो मुझे उन निर्णयों से ही सन्तोष नहीं हुआ वे भ्रमक दिखायी पड़े; और कहीं वे अतीत उपलब्धियों के उन पदों की पूरा-पूरा उभार कर सामने नहीं लाते थे, जिन्हें प्रमुखतया सामने करते हुए मैं पण्डितराज के विषय में कुछ कहना चाहता था। अतः मुझे लग-भग सभी विषयों की पृष्ठ-भूमियाँ अपनी आवश्यकता के अनुरूप, अथवा कहिए— पण्डितराज के विवेचन की आवश्यकता के अनुरूप, अपनी दृष्टि से प्रस्तुत करनी पड़ी हैं। विद्वानों की दृष्टि में यह विषय जाना हुआ होते हुए भी मेरे अध्ययन की दृष्टि से कुछ विस्तार के साथ उपस्थित किया जाना ही उपयोगी था। साथ ही मुझे विश्वास है, इस पिष्ट-पेषण में ही बहुत कुछ नूतनता मिलेगी। प्राचीन आचार्यों के ऊपर अपना अध्ययन प्रस्तुत करने का अवसर मुझे वस्तुतः वहीं मिला है।



इस प्रकार अभीष्ट विषय को पृष्ठ-भूमि प्रस्तुत करते हुए पण्डितराज के वक्तव्यों के मूल तक पहुँच कर उन पर समीक्षात्मक विचार करना तथा उन पर निष्पक्ष तथा असंदिग्ध देना ही मेरी प्रक्रिया का प्रमुख पथ रहा है।

इस प्रबन्ध की भाषा के विषय में भी दो शब्द कहना चाहता हूँ। इसकी भाषा हिन्दी है, हिन्दी अपनी समस्त सबलताओं-दुर्बलताओं के साथ। हिन्दी अभी अपने रूप परि-निष्ठित नहीं कर पायी है। वह पुल्लिंग विशेषणों को भी स्त्रीलिंग विशेष्यों के साथ प्रयुक्त कर सकती है, और स्त्रीलिंग को भी। वह संस्कृत के नियत-लिंग शब्दों को विपरीत अथवा वैकल्पिक लिंगों में भी प्रयुक्त कर सकती है। भावाभिव्यक्ति एवं सूक्ष्म शास्त्रीय चिन्तन-प्रधान विचार-प्रतिपादन के लिए अभी वह अभीष्ट शक्ति नहीं जुटा पायी है। वैसे मैं यथा-साध्य एक-रूपता बरतने में प्रयत्न-शील रहा हूँ, तथा वैकल्पिक रूपों के प्रयोग के पीछे मेरा कुछ न कुछ उद्देश्य रहा है। शब्दावली के प्रयोग में मैं तत्सम शब्दों तक ही सीमित हो कर नहीं चला हूँ, भावानुरूप विदेशी शब्दों का भी स्वागत करता चला हूँ। शैली को विवेच्य के अनुसार हल्की-भारी करने को और भी ध्यान देता चला हूँ। विषय की गम्भीरता के साथ शैली को भी गम्भीर हो रखना चाहता हूँ। ऐसे स्थलों में अध्ययन को और गहराई को और ले जाने की इच्छा रखने के कारण तथा फलतः और गहन एवं सूक्ष्म विचार-धाराओं को प्रथम देने के कारण उस वहाँ की शैली सर्व-साधारण के लिए कुछ अधिक गम्भीर भी हो गयी है। पारिभाषिक एवं दार्शनिक पदावलिओं का भी बिना किसी हिचक के प्रयोग हुआ है। फिर भी स्पष्टता की गम्भीरता से यथा-सम्भव दबने नहीं दिया गया। और जहाँ भी अवसर मिला है शैली को सरल एवं चलती बनाने का प्रयत्न किया गया है।

रसगंगाधर के कई संस्करण निकले हैं। सौभाग्य से इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है। मैंने काव्य-माला १९३० के संस्करण को यहाँ आधार बनाया है। अपने अध्ययन के लिए मैंने प्रकाशित रस-गंगाधर को ही इष्ट समझा है। पाण्डुलिपियों का प्रयोग मेरे लिए आवश्यक नहीं था अन्य विद्वानों के समान हाँ मैं भी रस-गंगाधर के सुयोग्य सम्पादकों पर अपना विश्वास टिका कर चला हूँ।

शोध-प्रबन्धों की परम्परा एवं विश्व-विद्यालयों के नियम कुछ इस प्रकार के हैं कि शोध-प्रस्तुत-कर्ता को अपने कार्य की मौलिकताओं का दावा स्वयं ही पेश करना पड़ता है। सम्मान्य विद्वानों के समक्ष इस रूप में प्रस्तुत होना असंकोच, आत्मगर्व एवं साहित्यिक धृष्टता की सामा को छूते-से प्रतीत होते हैं। परन्तु नियम-पालन एक विवशता होती है। उसी के वश इस प्रबन्ध की कतिपय मौलिकताओं की ओर संकेत करना चाहता हूँ।

इस प्रकार के प्रबन्धों में मौलिकता किन्हीं सर्वथा नूतन उद्भावनाओं के रूप में सम्भव नहीं है। यहाँ उसका स्वरूप "व्याख्या" है। तदुक्त एवं अस्पष्ट स्थलों को, जो साधारण पाठकों को ही नहीं, कभी कभी गति प्रबुद्ध पाठकों को भी भ्रम में डालते रहे हैं, व्याख्याओं के द्वारा स्पष्टता देने में; ग्रन्थ-कार की उन मूल चेतनाओं को जो उसको दुरूह अथवा संक्षिप्त शैली के कारण नहीं समझी जा रहों, उभार कर सामने लाने में; प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं के विषय में अनेक फैले हुए भ्रमों के बीच से व्याख्याओं के द्वारा ही उनका ठीक रूप सामने करने में; व्याख्याओं के द्वारा ही प्राचीन मानदण्डों की सीमाओं को प्रसार देकर आधुनिक उपयोग की सम्भावनाओं को सामने करने में, अथवा इसी प्रकार के रूपों में व्याख्यात्मक मौलिकता इस प्रबन्ध में मिलेगी।



इस प्रकार की मौलिकता के प्रबन्ध में दो क्षेत्र मिलेंगे-- एक पण्डितराज के अध्ययन के प्रसंग में, दूसरा पृष्ठ-भूमि के रूप में आयी अन्य आचार्यों की मान्यताओं के अध्ययन के प्रसंग में। पण्डितराज के काव्य-लक्षणा, प्रतिभा-स्वरूप, रमणीयता, रस-स्वरूप, आदि स्थलों की व्याख्याएं नितान्त मौलिक हैं। मौलिक इस अर्थ में नहीं कि जो बात पण्डितराज ने भीन कही हो, वह इनमें कह दी गयी हो, अपितु इस अर्थ में कि इनमें पण्डितराज के वक्तव्य के मूल में अन्तःप्रवेश का प्रयत्न है, उनके वक्तव्य को उभार कर रखने की चेष्टा है, अस्पष्ट एवं दुरूह स्थलों का स्पष्टीकरण है, जहां नागेश जैसे आचार्य को भी भ्रम हुआ है, वहां उसका निराकरण है, और साथ ही पण्डितराज के वक्तव्य की आधुनिक उपयोगिता की सम्भावनाएं हैं। इन व्याख्याओं में दार्शनिक संस्पर्श स्वतः प्रवृत्त है। इन अर्थों में ये व्याख्याएं सर्वथा मौलिक कही जा सकती हैं कि इनमें एक ठीक दृष्टि अपना कर ठीक स्थान पर पहुंचने का प्रयास किया गया है।

अनेक स्थलों की व्याख्याओं द्वारा पण्डितराज का महत्व उभर कर सामने आया है। भाव-विवेचन एवं शब्द-शक्ति-विवेचन इस दृष्टि से देखे जा सकते हैं। इन विवेचनों में सूक्ष्मता, व्यवस्था, अध्ययन के चुम्बुकीय पक्षों को सामने कर के निर्णय, एवं स्पष्टता के गुणों में मौलिक संस्पर्श देखा जा सकता है।

अनेक स्थलों पर पण्डितराज के सही-सही दृष्टि-कोण निर्धारित किये गये हैं। उदाहरण स्वरूप लक्षणा-मूलक ध्वनियों की संलक्ष्य-क्रमता, ध्वनियों के पद-वाच्य-गत भेद, संलक्ष्य-क्रम रसादि की रसाभासात्मक दशाओं के प्रसंग लिये जा सकते हैं।

रसगंगाधर के ध्वनि-वादो सिद्धान्त-पक्ष तथा पण्डितराज की निजी दृष्टि का पृथक्-करण इस प्रबन्ध में हो सर्व-प्रथम हुआ है। ध्वनि-वाद के सिद्धान्त-पक्ष में आनन्द-वर्धन, अभिनव एवं प्रह्लाद तीनों के प्रभावों को पृथक् से आवश्यकतानुसार दिखाया गया है। गुण-विवेचन, ध्वनि-भेद, काव्यात्मा, आदि के विवेचनों में यह देखा जा सकता है।

रस हो नहीं, गुण, प्रतिभा आदि के विवेचनों को पण्डितराज को मूल दार्शनिक दृष्टि के साथ व्याख्यात करके इस प्रबन्ध में सर्व-प्रथम रस-गंगाधर की एक दार्शनिक चेतना निश्चित की गयी है, जिसके अभाव में नागेश भ्रम में पड़े थे।

रस-विवेचन में पण्डितराज को दार्शनिक चेतना का स्पष्टीकरण सर्वथा मौलिक दृष्टि से हुआ है। पण्डितराज के द्वारा किया हुआ रस-वेदान्तीकरण, तथा दो नवीन मतों की दार्शनिक व्याख्याएं तथा उन मतों के प्रणेतृत्व पर विचार भी मौलिक ही हैं।

पण्डितराज के वक्तव्यों की मूल प्रेरणाओं को भी समझने का अनेक प्रयास इस प्रबन्ध में है। काव्य-लक्षणा, गुण-विवेचन, शब्द-शक्ति-विवेचन, गौणी सारोपा-विवेचन, आदि के स्थल इस दृष्टि के परिचायक हैं।

पण्डितराज के सिद्धान्त-प्रणयन का युग आज से पीछे छूट चुका है। आज के युग में उनकी क्या उपयोगिता हो सकती है, तथा उनमें उनके मूल की अक्षत रखते हुए कितना प्रसार स्वीकार करना पड़ेगा-- इस प्रकार की सम्भावनाएं भी इस प्रबन्ध में प्रस्तुत की गयी हैं। काव्य-लक्षणा, गुण-विवेचन, काव्यात्म-विवेचन जैसे स्थलों में यह विशेषता मिलेगी। पण्डितराज का महत्व इन से उभर कर आया है, तथा व्याख्याएं मौलिक बनी हैं।



पृष्ठ-भूमियों के अध्ययन में भी इन व्याख्याओं के द्वारा कई मौलिक फल मिलेंगे। भरत, आनन्द-वर्धन, अभिनव तथा मम्मट को पृथक्-पृथक् कर के उनकी मान्यताओं का अध्ययन किया गया है। अब तक हम आनन्द-वर्धन तथा अभिनव को एक कर के ही चलते रहे हैं। इस प्रबन्ध में सर्व-प्रथम आनन्द-वर्धन तथा अभिनव के विरोधों को सामने लाया गया है। इस मौलिक दृष्टि से आगामी अध्ययन को एक दिशा मिल सकती है कि आनन्द-वर्धन तथा अभिनव गुप्तको अलग-अलग कर के अध्ययन किया जाय। भरत को अभिनव से पृथक् करते ही उनकी उत्पत्तिवादी रस-दृष्टि सामने आयी है। आनन्द एवं अभिनव के अन्तर भी ध्वनि-भेद जैसे कई स्थलों पर मिलेंगे।

इन पृष्ठ-भूमियों के अध्ययन में प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं को ठीक-ठीक रूप में समझने का अवसर मिला है। अनेक भ्रान्तियों का निराकरण हुआ है। अनेक दृष्टि-कोणों में सफाई आयी है। युग-चेतनाओं का निर्धारण हुआ है। काव्य-लक्षणा एवं रस-विवेचन की पृष्ठ-भूमियां इस दृष्टि से विशेष उत्तेजनीय हैं।

रस-विवेचन की पृष्ठ-भूमि के प्रसंग में दो प्रकार की मौलिक बातें मिलेंगी। एक तो भरत, लोत्तट, शंकुक, भट्ट नायक, अभिनव के मतों का ठीक-ठीक उपस्थापन। इस प्रयास में अभिनव एवं मम्मट के प्रत्युपस्थापन का अन्तर स्पष्ट किया गया है। अनेक पक्षों को सामने लाया गया है। अनेक अस्पष्ट पक्षों को स्पष्ट किया गया है। दूसरी प्रकार की मौलिकता आचार्यों की दार्शनिक आधार-भूमियों के स्पष्टीकरण के विषय में है। शंकुक की बौद्ध आधार-भूमि तथा भट्ट नायक की द्वैत-वादी शैव-दर्शन की आधार-भूमि को सामने लाने का प्रयास इस प्रबन्ध में ही सर्व-प्रथम हुआ है। भट्ट नायक के भावकत्व एवं साधारणीकरण का अन्तर-निर्धारण तथा साधारणीकरण की उद्भावकता का प्रश्न भी मौलिक संस्पर्श के साथ प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में व्याख्यात्मक मौलिकता के दर्शन विविध रूपों में पाठक कर सकते हैं। इस के साथ ही प्रत्येक विवेचन में कुछ न कुछ मौलिक स्पर्श देला जा सकता है। अनेक स्थलों पर पण्डितराज के विचारों के मूल स्रोतों तक पहुंचने का प्रयास मिलेगा। स्थल-विशेष पर स्पष्ट एवं असंदिग्ध निष्कर्ष मिलेंगे, यथावसर बड़े से बड़े आचार्य के मत की निर्भारक एवं स्वतन्त्र समीक्षा मिलेगी, पूरी सहानुभूति रखने वाले विद्वानों को भी सामने रखा गया होगा। रस-विवेचना में सर्वत्र अपना-पन स्वाभाविकतया सन्निविष्ट मिलेगा।

इस व्यापक दृष्टि से रस-गंगाधर के ऊपर शोध-आत्मक कार्य के क्षेत्र में प्रथम प्रयास होने के कारण यह प्रबन्ध अपने में स्वतः ही मौलिक है।

फिर भी रस-गंगाधर जैसे कठिन ग्रन्थ के अध्ययन में भूल रह जाना ही स्वाभाविक है। एक विद्यार्थी की बुद्धि की जो सीमाएं होती हैं, वे मेरी भी हैं, यह स्वीकार करते हुए ही विनम्रता के साथ विद्वानों के समक्ष उपस्थित हो रहा हूँ।

टाइप की भूलें भी पूरी सावधानी बरतने पर भी यदा-कदा नहीं बच सकी होंगी। उन के लिए भी क्षमा का निवेदन है।

इस शोध-कार्य में मैंने अनेक विद्वानों के कार्यों से साक्षात् असाक्षात् सहायता ली है। यह ठीक है कि मैं उन से अनेक स्थानों पर सहमत नहीं हुआ हूँ, तथा आवश्यकतानुसार मैंने उनका आलोचना भी की है, किन्तु यह भी ठीक है कि उनकी सफलताओं तथा भूलों—दोनों ही ने मुझे आगे बढ़ने में सहायता ही दी है। मैं उन सभी विद्वानों का आभारी हूँ।

पूज्य गुरुवर पं० जगन्नाथ जी तिवारी, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, आगरा कालेज, आगरा, के आशीर्वादों से मुझे कार्य में अग्रसर होने के लिए आत्मिक सम्बल मिला है। पूज्य पं० कैलाश



चन्द्र जी मिश्र, अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, आगरा कालेज आगरा, से मुझे रस-गंगाधर के अनेक गहन स्थलों में प्रविष्ट होने की क्षमता मिली है। इन पूज्य गुरुजनों की कृपा को मैं अपना अधिकार मानता हूँ, उससे अपने को सदा सौभाग्य-शाली समझता हूँ। उन्हें धन्यवाद देने की शिष्टाचारी सभ्यता नहीं बरत सकूँगा।

डा० विजयपाल सिंह, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, तिरुपति विश्व-विद्यालय, से मुझे एक मित्र की गहरी सहानुभूति मिली है। उनमें मैंने अपना एक शुभ-चिन्तक साथी पाया है। मैं उनके प्रति अपनी हादिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। अन्य मित्रों से भी मुझे अपने शोध-कार्य में अग्रसर होने की सहायता मिलती रही है। मैं उन सब के प्रति आभारी हूँ। पं० बड़ी प्रसाद जी शर्मा अध्यक्ष, भारत-प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़ ने मुझे अनेक पुस्तकें अध्ययन के लिए बिना मूल्य लिये भी उपलब्ध करायी हैं। उनके स्नेह एवं सहयोग के लिए मैं उनका आभारी हूँ। इन सब मित्रों तथा सहयोगियों को धन्यवाद देना मेरा पुनीत कर्तव्य है।

डा० राम सुरेश जी त्रिपाठी, एम०ए०, पी०एच०डी०, रीडर संस्कृत विभाग, अलीगढ़ विश्व-विद्यालय, का मैं विशेष आभारी हूँ। उन्होंने अपने व्यस्त समय में से मुझे उदारतापूर्वक समय देने में कभी हिचक नहीं की। उनके साथ "बादे वादे बायते तत्व-बोधः" की बात हुई है। उनसे अनेक मुझे दृष्टि-परिमार्जन मिलता रहा है। मैं उनके स्नेह के लिए धन्यवाद प्रदर्शित करता हूँ।

अन्त में मैं अपने अध्यक्ष डा० हरवंश लाल जी शर्मा, एम०ए०, डी०लिट्, के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करना चाहता हूँ। उनके अनुशासन में रह कर मैं इस शोध-कार्य के लिए अवसर पा सका हूँ। रिसर्च टेक्नीक का दिक्-प्रदर्शन मुझे उन्हीं से मिला है। किसी कठिन पक्ष पर बढ़ने के लिए जिस प्रारम्भिक प्रोत्साहन की आवश्यकता होती है, वह भी मुझे उनसे प्राप्त हुआ है। उनकी कृपा के बिना निस्सन्देह यह प्रबन्ध प्रस्तुत नहीं किया जा सकता था। मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

इस व्यापार-व्यस्त व्यक्ति को हाथ पकड़ कर शिक्षा के पुनीत क्षेत्र में ला सड़ा करने का श्रेय पूज्य गुरुवर पं० चन्द्र भानु जी पाठक, शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य को है। उन्हीं की कृपा से मैं इस पावन पथ का पथिक बन सका हूँ। मेरी श्रद्धा उन्हें सदा अर्पित है। परम प्रभु की कृपा से यह शोध-कार्य आज सम्पन्न हो रहा है। अनेक विघ्नों के बीच सड़े रहने की क्षमता देकर, अज्ञान के नैश तिमिर में प्रकाश की किरण देकर, तथा लड़खड़ाते क्षणों में सहारा देकर उन्होंने ही सदा मुझे आगे बढ़ाया है। इस कार्य की सफलता का वास्तविक श्रेय मैं उन्हीं परम प्रभु को देता हूँ। उन्हीं की कृपा का यह सब फल है। वस्तुतः मैं तो निमित्त मात्र हो रहा हूँ। उन्हीं की सर्वात्मना धन्यवाद देना मेरा चरम कर्तव्य है।

संस्कृत-हिन्दी विभाग,  
अलीगढ़ विश्व-विद्यालय,  
अलीगढ़।

प्रेम स्वरूप गुप्त ।



## विषयानुक्रमिका

विषय

पृष्ठ

प्रस्तावना

१-८

अध्याय १ ----- पृ० १-३०

रसगंगाधर एक परिचय

रसगंगाधर

१

विषयानुक्रमिका

१-३

प्रथम ज्ञान १-३

प्रास्ताविक १- काव्य २- रस-ध्वनि २-

द्वितीय ज्ञान ३-३

संलक्ष्य-क्रम ध्वनि २- शब्द-शक्ति-निरूपण २- अलङ्कारनि० ३-

विषय-दीप्त

३-४

रसगंगाधर में विवेचित सामग्री का संक्षिप्त विवरण

५-२१

प्रथम ज्ञान ५-१६

प्रास्ताविक ५- काव्य-लक्षण ५- काव्य-कारण ६- काव्य-भेद ६-

उत्तमोत्तम ध्वनि काव्य के भेद ७- ध्वनि-काव्य में रस का स्थान ८-

रस-स्वरूप ८- रस-भेद ८- शान्त-रस ८- स्थायि-भाव ८- स्थायि-

भावों और रसों का अन्तर ८- स्थायि-भावों का स्थायित्व ९-

स्थायि-भावों के लक्षण ९- रस एवं उनके अवान्तर भेद ९- हास्य-

रस एवं जुगुप्सा के आत्मन्वन ९- रस एवं रसालङ्कार ९- रस-संख्या ९-

रस-विरोध ११- रस-दोष ११- औचित्य एवं साधारणीकरण १२

रचना-विवेचन १३- भाव-ध्वनि १३- रसाभास १४- भाव-शान्ति,

भावोदय, भाव-सन्धि, भाव-शबलता १५- रसादि की संलक्ष्यक्रमता १५-

ध्वनियों के व्यञ्जक १५- गुणीभूत व्यङ्ग्य निरूपण की योजना १५- ।

द्वितीय ज्ञान १६-३१

संलक्ष्य-क्रम ध्वनि १६- संलक्ष्य-क्रम ध्वनि के भेद १६- कवि-निबद्ध वक्ता

को पृथक् अमान्यता १७- शब्द-शक्ति-मूलक ध्वनि के विषय में शास्त्र

स्वार्थ १७- नानार्थ-शक्ति के नियामक १७- श०श०मू०अल०ध्वनि १७-



उपमा की व्यंजना पर शास्वार्थ १८- अन्य अलङ्कार ध्वनियाँ १८-  
 शंशाम् वस्तु-ध्वनि १८- अर्थ-शक्ति-मू० ध्वनियाँ १८- उभय-श०मू० १८-  
 लक्षणा-मू० १९- पद तथा वाक्य-ध्वनि १९- शक्ति-विवेचन १९-  
 अभिधा १९- लक्षणा २०- अलङ्कार-विवेचन २०- निष्कर्ष २१-

### रचना-योजना

२१-२५

नाम २१- वस्तु-योजना २२- जाननों में वर्गीकरण २३- नवीन वर्गीकरण  
 का प्रोत्ताव २४-

### निरूपण-पद्धति

२५-२९

पद्धति २५- शीर्षक और प्रस्तावना २५- उपसंहार-वाक्य २६- उपक्रम-  
 उपसंहार का सामंजस्य २७- परमत-समालोचन २७- अन्य आचार्यों के प्रमाण  
 २७- मतभेदों का उपस्थापन २७- मत-भेदों में पण्डितराज २८- मूल ढाँचा  
 ध्वनि-सिद्धान्त का २८- मूल सिद्धान्तों का परिचय मात्र २९- सीधे वस्तु-  
 व्य को जोर २९-

### पृष्ठ-भूमि की सापेक्षता

३०

### मुख्य विषय

३०

काव्य-विवेचन, रस, भाव-ध्वनि, गुण-विवेचन, शब्द-शक्ति-विवेचन, अलङ्कार  
 -विवेचन ३०।

अध्याय २ ----- पृ० ३१-१००

काव्य - - - विवेचन

### काव्य-लक्षणा

३१-५७

#### १- ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि ३१-४३

अलङ्कार-युग ३३-३६

भामह ३२- अलङ्कार-वादी धारा ३२-शब्दालङ्कार-वादी धारा ३३-

दण्डी ३३- वामन ३५- रुद्रट ३६-

पूर्व ध्वनि-युग ३७-३९

कुन्तल ३७- भोज ३८- मम्मट ३९-

उत्तर ध्वनि-युग ३९-४३

शौद्रोदनि, हेमचन्द्र, विद्यानाथ, वाग्भट, जयदेव पीयूषावर्ण, विश्वनाथ,  
 चण्डीदास ३९-

समीक्षा ४१-

#### २- पण्डितराज का काव्य-लक्षणा ४२-५०

सामान्य लक्षणा ४२-



रमणीयता ४३- भावना ४४- चमत्कार ४५-

परिष्कृत लक्षण ४७- परिष्कृत लक्षण की विशेषताएं ४८-

फलित लक्षण ४९- फलित लक्षण की विशेषताएं ४९-

३- समीक्षा ५५-५७

काव्य-हेतु ५८-८१

काव्य-हेतु एवं भारतीय दृष्टि-कोण

तीन काव्य-हेतु

प्रतिभा ५९-६३

प्रतिभा ५९- प्रज्ञा और प्रतिभा ६०- प्रतिभा के कार्य ६१-

पण्डितराज का प्रतिभा-लक्षण ६२-

व्युत्पत्ति ६४

अभ्यास ६४

तीनों की परस्पर स्थिति ६४-७३

भामह ६५- दण्डी ६५- वामन ६६- रुद्रट ६७- आनन्द-वर्धन ६८-

आचार्य मंगल ६८- राज-शेखर ६८- मम्मट ७०- वाग्भट ७१- केशव मिश्र

७१- हेमचन्द्र ७१- वर्गीकरण ७२-

पण्डितराज

केवल-प्रतिभावादी ७३-

प्रतिभा के कारण ७३- अदृष्ट ७३- व्युत्पत्ति-अभ्यास ७३- अदृष्ट और

मीमांसा ७४-

प्रतिभा की अनेक-रूपता ७६-

प्रतिभा का स्वरूप ७६- नैयायिक व्याख्या ७६- निष्कर्ष ७८-

वेदान्ती व्याख्या ७९- नागेश और पण्डितराज ८०-

निष्कर्ष

काव्य-भेद ८२-१००

वर्गीकरण की प्रवृत्ति ८२- ध्वनि-पूर्वाय एवं ध्वनि-परवर्ती युग ८२-

पण्डितराज और परम्परा ८३-

ध्वनि-पूर्वाय युग

भामह ८३- दण्डी ८४- वामन ८५- समीक्षा ८६-

ध्वनिकार तथा आनन्द-वर्धन ८६-

ध्वनि-परवर्ती युग

मम्मट ८८- चित्र-काव्य और मम्मट ८९- विश्वनाथ ९०- चित्रका० और वि-

श्वनाथ ९०-



पण्डितराज

९२-१००

कसौटी का परिमार्जन ९२- काव्य के चार भेद ९३-

उत्तमोत्तम काव्य ९३-

उत्तम काव्य ९४-

परस्पर विभाजक रेखाएं ९४- अलङ्कारों के तीन रूप ९५-

ध्वन्यमान अलङ्कार, जागरूक गुणीभूत व्यंग्य अलङ्कार,

अजागरूक गुणीभूत व्यंग्य अलङ्कार ९५-७

मध्यम काव्य ९७-

अधम काव्य ९७-

समीक्षा ९९-

पण्डितराज और चित्र-काव्य १००

अर्थ-चित्र, शब्द-चित्र, काव्य-कौटि से बहिष्कार्य ।

अध्याय ३ ----- पृ० १०१-२३५र स ----- वि वे च नभूमिका

१०१-१०३

रस-स्वरूप-विवेचन की सीमा

१०३-१०५

पृष्ठ-भूमि

१०६-२०८

काल-विभाजन १०७-११०

१-मम्मट-पूर्ववर्ती युग

क- ध्वनि-पूर्वाय युग भरत से आनन्द-वर्धन तक।

स- ध्वनि-परवर्ती युग आनन्द-वर्धन से मम्मट तक।

२-मम्मट-परवर्ती युग

मम्मट से पण्डितराज जगन्नाथ तक।

मम्मट-पूर्ववर्ती ध्वनि-पूर्वाय युग १११-१५७

भरत १११-१२३

अलङ्कार-वादी धारा १३४-१३३

भामह १२४- दण्डी १२६- उद्भट १२८- वामन १३०-

रुद्रट १३१-

समीक्षा १३२-

ध्वनि-पूर्ववर्ती भरत के टीकाकार १३२-१५६

लोत्तट १३३- श्रीशङ्क १३९- श्रीशङ्क की दार्शनिक पृष्ठभूमि १४७-

रस्य-वादी व्याख्या १५३-१५६



आनन्द-वर्णन १५६-७  
मम्मट-पूर्ववर्ती ध्वनि-परवर्ती युग १५७-२०१

भरत के टीकाकार १५८-१९५

भट्ट नायक १५८-

अभिनव गुप्त १८४-

स्वतन्त्र ग्रन्थकार १९६-२०२

धनंजय, धनिक १९६-

कुन्तल १९७-

महिम भट्ट १९८-

भोज १९९-

मम्मट २०२-२०३

मम्मट-परवर्ती युग २०३-२०८

समीक्षा- २०३- विश्वनाथ २०५-

पण्डितराज जगन्नाथ

२०९-२३३

समीक्षा २०९-

अभिव्यक्ति-वादो मत २०९-

भट्ट नायक का भुक्ति-वादो मत २२२-

दो नवीन मत २२४-२३२

प्रथम नवीन मत २२७-

द्वितीय नवीन मत २३०-

समीक्षा

२३३-२४३

अध्याय ४ ----- पृ० २३६-२६७

भा व -- ध्व नि वि वे च न

भाव की सीमा

२३६-२४३

सीमा २३६- भरत २३६- अभिनव गुप्त २३७- धनंजय, धनिक २३८-

मम्मट २३९- विश्वनाथ २४०- मम्मट के टीकाकार २४०-

पण्डितराज २४१-

भाव-लक्षण

२४३-२४६

भाव-लक्षण २४३-

लक्षण-समीक्षा २४५-



भाव-ध्वनि की सीमाएँ	२४७-२४९
सीमाएँ २४७- भाव-शान्ति एवं भावोदय २४९- भाव-सन्धि २५०-	
भाव-शबलता २५१-	
भाव-ध्वनियों की स्वतन्त्रता	२५१-२५३
भाव-ध्वनि की व्यवक सामग्री	२५४-२५७
विभाव २५४- अनुभाव २५५- व्यभिचारी भाव २५६-	
भावों के लक्षण	२५७-२६३
भावों के लक्षण २५७- भावों की चित्तवृत्ति-रूपता २५७-	
कुछ विवादास्पद भाव २६०-	
संचारी भावों की संख्या	२६२-२६६
संख्या २६२- निर्वेद २६५-	
समीक्षा	२६६-२६७

अध्याय ५ ----- पृ० २६८-२९३

गु ण ----- वि वे च न

विवेचन की सीमा	२६८
गुण-सम्बन्धी मान्यताओं के दो वर्ग	२६८-२७०
गुण-त्रय-वाद २६९- विंशति-गुण-वाद २६९- गुण-त्रय में अन्तर्भाव	
२६९- पण्डितराज २७०-	
गुण-तारतम्य	२७०-२७१
कुछ विकल्प २७१-	
गुणों की रस-धर्मता, व्यवहार एवं उपचार	२७२-२७९
वामन २७२- मम्मट २७२- मम्मट का आधार २७३-	
<u>पण्डितराज का स्वतंत्र दृष्टि-कोण २७४-२७९</u>	
रस-मात्र-धर्मता की अस्वीकृति २७४- विशिष्टतावाद २७४- दार्शनिक	
समर्थन २७५- आत्म-धर्मता २७५- उपाधि-धर्मता २७६- <u>व्यवहार एवं</u>	
<u>उपचार २७६- पण्डितराज का मत २७७-</u>	
प्रयोजकत्व की शास्त्रीय मीमांसा २७७- समीक्षा २७८-	
पण्डितराज का व्यवहार एवं औपचारिकता २७९-	
गुण और चित्त-दशा	२८०-२८७
गुण और चित्त-दशा २८०- भट्ट नायक २८०- अभिनव गुप्त २८०-	
पण्डितराज २८१-	
<u>चित्त-दशा एवं रस-कार्यता २८१- भट्ट नायक २८१- अभिनव २८२-</u>	
मम्मट २८२- तुलना २८२- विश्वनाथ २८२- समीक्षा २८३-	



चार मान्यताएं २८३- कारण में दार्शनिक दृष्टि-कोण २८४-  
भट्ट नायक २८४- अभिनव २८४- मम्मट २८५- विश्वनाथ २८६-  
पण्डितराज २८६-

गुणों के व्यंजक

२८७-२८९

वर्ण एवं रक्ता २८८- ध्वनि-वाद के गुणाभिव्यंजक २८८-  
पण्डितराज का दृष्टि-कोण २८८-

समीक्षा

२८९-२९२

अध्याय ६ ----- पृ० २९३-३३३

शाब्द - शक्ति ----- विवेचन

विवेचन का स्वरूप

२९३

गृहीत शक्तियां अभिधा एवं लक्षणा

२९३

अभिधा-विवेचन

२९४-३०७

१- स्वरूप-लक्षणा २९४-

मान्यताओं के दो पक्ष २९४-

नैयायिक मान्यता २९४-२९७

नैयायिकों की शाब्द-बोध प्रक्रिया २९४- केवल दो वृत्तियां -

अभिधा एवं लक्षणा २९५- संकेत के दो रूप २९५- संकेत के विभिन्न

रूप २९५- संकेत की विशिष्टता २९६- नव नैयायिकों की मान्यता

२९६- संकेत की इच्छा-रूपता का कारण २९७-

मीमांसकों की मान्यता २९७-३०३

शाब्द-प्रमाण-वाद २९७- वाक्यों का प्रामाण्य २९७- पद-वर्ण-नित्यता

२९९- शक्ति-नित्यता २९९- शक्ति का स्वरूप ३०१-

नैयायिक एवं मीमांसक ३०१- शक्ति अतिरिक्त-पदार्थ-वाद ३०१-

वैयाकरण मान्यता ३०२-३०५

शाब्द-प्रमाण-वाद ३०२- शाब्द की ब्रह्म-रूपा कल्पना ३०३-

तान्त्रिक प्रभाव ३०३- पदार्थान्तर-वाद ३०४- संकेत शक्ति का ग्राहक ३०४

संकेत और पतञ्जलि ३०४-

वैयाकरण एवं मीमांसक ३०५- संकेत औपचारिक शक्ति ३०५-

पण्डितराज का लक्षणा ३०६-

२- स्वरूपेतर-विवेचन ३०६- अभिधा के प्रकार ३०६- विवेचन की प्रेरणा ३०६-

अभिधेय अर्थ के प्रकार और वैयाकरण ३०७-

३- अभिधा-निरूपण में वैयाकरण प्रभाव ३०७-



लक्षणा-विवेचन

३०८-३३२

लक्षणा-विवेचन ३०८-३१२

न्याय से सहमति ३०८- दृष्टि-कोण में एकरूपता ३०८-

लक्षणा का स्वरूप एवं मीमांसक ३०८-

लक्षणा का आधार लोक-व्यवहार ३०९- शबर-स्वामी ३०९

मुकुल ३०९- कुमारिल ३१०- मम्मट पर मुकुल का प्रभाव ३१०-

मम्मट की समीक्षा ३११- अप्पय्य दीक्षित ३१२-

पण्डितराज के लक्षणा की समीक्षा ३१२-

लक्षणा के हेतु एवं उनका परिष्कार ३१२- नैयायिक और

पण्डितराज ३१३- तात्पर्यानुपपत्ति का परिष्कार ३१४-

लक्षणा के भेद-३१५-३२४

मुकुल ३१५- मम्मट ३१६- माणिक्य चन्द्र तथा जयन्त ३१७-

प्रदोष-कार ३१९- चण्डीदास ३२०-

लक्षणा एवं गौणी ३२१- मुकुल ३२२- मम्मट की स्थिति ३२२-

पण्डितराज ३२३- निष्कर्ष ३२३-

गौणी सारोपा का शास्त्रार्थ ३२४-३३२

शास्त्रार्थ का महत्व तथा कारण ३२४- शास्त्रार्थ की रूप-रेखा ३२५-

गौणी सारोपा का शाब्द-बोध ३२५- प्राचीन मान्यता ३२५-

शंका ३२६- समाधान ३२६- नव्य मान्यता ३२७- नव्य मत का

आधार ३२९- अप्पय्य का संहनन ३३०-

समीक्षा ३३२-

निष्कर्ष कुछ निष्कर्ष ३

३३२-३३३

नव्याय ७ ----- पृ० ३३४-४१४काव्य - शास्त्रीय सम्प्रदाय एवं पण्डितराजप्रारम्भिक विवेचन

३३४-३३५

काव्य-शास्त्रीय सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा ३३४- सम्बन्ध-विज्ञासा

३३४- काव्य-शास्त्रीय सम्प्रदाय ३३४- विवेचन-क्रम ३३५-

ध्वनि-सम्प्रदाय एवं पण्डितराज ३३५-३६५

३३५-३६५

ध्वनि-सम्प्रदाय ३३५- ध्वनि-वाद में पण्डितराज ३३५-

पण्डितराज का दृष्टि-कोण ३३६- सामंजस्य एवं मौलिकता ३३६-

ध्वनि-वाद का निरूपण ३३७- कुछ विशिष्ट विषय ३३७-

१-ध्वनियों के भेद, २-रसादि-ध्वनि की संतुल्यक्रमता, ३-रसवदलहंकार।



१- ध्वनि-भेद ३३८-३४७

भेदोक्ति की प्रवृत्ति तथा पण्डितराज ३३८- पण्डितराज के ध्वनि-भेद ३३८- असंलक्ष्य-क्रम तथा संलक्ष्य-क्रम ३३९- असंलक्ष्य-क्रम रसादि ध्वनि के उपभेद ३३९- रसादि-ध्वनि---१भेद ३३९- व्यंजकों के आधार पर उप-भेद ३३९- उपभेद अनभिप्रेत ३३९- व्यंजकों का विवेचन ३४०- निजी मान्यता का सामंजस्य ३४१- समीक्षा ३४१-

अभिधा-मूलक संलक्ष्य-क्रम ध्वनि के भेद ३४२- मम्मट-३४२-

पण्डितराज ३४३- दो उल्लेखनीय बातें ३४३-

कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध तथा कवि-निबद्ध-वक्तृ-प्रौढोक्ति-सिद्ध की एकता ३४४- पद-वाक्य-गतता की पृथक् भेदक रूप में अस्वीकृति ३४५-

लक्षणा-मूलक संलक्ष्य-क्रम ध्वनि ३४६- संकलित ध्वनि-भेद ३४७-

२- रसादि-ध्वनियों की संलक्ष्य-क्रमता ३४८-३५८

परम्परागत मान्यता ३४८- पण्डितराज की मान्यता ३४८-

पण्डितराज की प्रेरणा ३५०- आनन्द-वर्धन ३५०- अभिनव गुप्त ३५०-

संगति की कठिनाई ३५१- संगति की पर-पक्षीयता ३५२-

उपपत्ति का प्रश्न ३५२-

दो मान्यताएं ३५४- अभिनव की मान्यता ३५४- पण्डितराज की

मान्यता ३५४- नागेश ३५४- नागेश की उपपत्ति का परिणाम ३५५-

नागेश द्वारा सण्डन ३५५- एक और आक्षेप ३५७- समाधान ३५८-

समीक्षा १ ३५८-

३- रसवल्लङ्कार ३५८-३६५

४ मान्यताएं ३५८- अलङ्कार-वादियों की ध्वनि-पूर्वाय मान्यता ३५८-

आनन्द-वर्धन द्वारा उल्लिखित ध्वनि-पूर्वाय मान्यता ३५९- कुन्तल की ध्वनि-

परवर्तिनी मान्यता ३५९- ध्वनि-वादी आनन्द-वर्धन की मान्यता ३६०-

ध्वनि-वादी मान्यता में कुछ प्रश्न ३६०- रसवद् एवं गुणीभूत व्यंग्य का

अन्तर ३६०- मम्मट ३६१- पण्डितराज ३६३- निष्कर्ष ३६५-

निष्कर्ष ----- ३६५

रस-सम्प्रदाय एवं पण्डितराज ३६६-३७६

३६६-३७६

विवेचन ३६६-

काव्य की आत्मा ३६९- पण्डितराज ३७४- रमणीयार्थ एवं व्यंग्यार्थ

३७५- निष्कर्ष ३७६

अलङ्कार-सम्प्रदाय एवं पण्डितराज ३७७-३८०

३७७-३८०

भामह-पूर्वाय युग ३७७- भामह से आनन्द-वर्धन तक का युग ३७७-

आनन्द-वर्धनोत्तर युग--पन्द्रहवीं शताब्दी तक ३७७- पन्द्रहवीं शताब्दी

से पण्डितराज तक ३७८- समीक्षा ३७९-



रीति-सम्प्रदाय एवं पण्डितराज ३८१-३८३

३८१-३८३

वैज्ञानिक-सम्प्रदाय एवं पण्डितराज ३८४

३८४

निष्कर्ष

३८४

औचित्य एवं पण्डितराज ३८६-४१४

३८६-४१४

औचित्य का महत्व ३८६- ऐतिहासिक सूत्र ३८७- रुद्रट एवं आनन्द-  
वर्धन ३८८- आनन्द-वर्धन एवं अभिनव गुप्त ३८८- क्षेमिन्द्र ३८८-  
पण्डितराज में औचित्य ३९०-३९३

रस-दोष, रसभंग, जात्यादि, व्यवहार--समीक्षा, सन्निवेशौचित्य,  
अलङ्कार। निष्कर्ष ३९३-

औचित्य-सम्बन्धी कुछ विशिष्ट पदा ३९३-४१३

साधारणीकरण और औचित्य ३९४- भट्ट नायक ३९४-

अभिनव गुप्त ३९५- निष्कर्ष ३९६- पण्डितराज ३९६-

औचित्य के दो पहलू--नैतिकता एवं यथार्थ ३९७-४०१

औचित्य की परिवर्तनशीलता एवं रूढ़ि ३९८- पण्डितराज

३९८- औचित्य एवं लोक-व्यवहार ३९९- निष्कर्ष ४०१-

रसाभास एवं औचित्य ४०१-४१३

रसाभास एवं साधारणीकरण ४०१- रसाभास की अनुभूति

४०२- अभिनव गुप्त ४०३-

निष्कर्ष ४०७-

पण्डितराज ४०८- रसाभास "हेत्वाभास"रूप में ४०८- रसाभास--

"अश्वाभास"रूप में ४०८- औचित्य का योगदान ४०९-

एक और प्रश्न ४०९- रसाभास में औचित्य की विविध मात्राएँ

४१०-

परम्परा-पालन-सम्बन्धी औचित्य ४१३-४१४

अध्याय ८ ----- पृ० ४१५-४२५

मू ल्या ह०क न



### संकेत-लिपि

अ०चू०	अलङ्कार-बूढामणि : हेमचन्द्र : काव्यानुशासन-।
अ०भा०	अभिनव भारती : अभिनव गुप्त : नाट्य-शास्त्र-टीका।
अ०वृ०मा०	अभिया-वृत्ति-मातृका : मुकुल भट्ट
आर०गु०नीली	एस्थेटिक्स्सपीरियेन्स एकाडिंग टू अभिनव गुप्त : आर०गु०नीली।
ई०प्र०वि०	ईश्वर-प्रत्यभिला-विमर्शिनी : अभिनव गुप्त ।
ई०प्र०वृ०वि०	ईश्वर-प्रत्यभिला-वृत्ति-विमर्शिनी : अभिनव गुप्त
का०प्र०	काव्य-प्रकाश : मम्मट :
ना०शा०	नाट्य शास्त्र : भरत ।
र०गं०	रस-गंगाधर : पण्डितराज जगन्नाथ ।
लौ०	ध्वन्यालोक-लोचन : अभिनव गुप्त ।
वै०सि०ल०मं०	वैयाकरण सिद्धान्त लघु मञ्जूषा : नागेश ।
शृ०प्र०	शृङ्गार-प्रकाश : भोज ।
सा०द०	साहित्य-दर्पण : विश्वनाथ ।
सांकरन	दो थियरीज् आफ् रस एण्ड ध्वनि : ए०सांकरन ।
हि०सं०पी०काणे	हिस्ट्री आफ् संस्कृत पोइटिक्स : पी० वी० काणे ।
हि०आ०इ०फ़ि०	हिस्ट्री आफ् इण्डियन फ़िलासफ़ी : दास गुप्ता।

### टाइप-सम्बन्धी संकेत

#### अभीष्ट संकेत

८  
—  
०  
—  
५  
—  
५  
—  
!

#### स्थानापन्न संकेत

•  
—  
८  
—  
—  
—  
ज  
—  
।

नोट- टाइप मशीन में उपर्युक्त "अभीष्ट संकेत" शुद्ध रूप में उपलब्ध न होने के कारण निकट-तम "स्थानापन्न" संकेत प्रयुक्त किये गये हैं।



---

**प्रथम अध्याय**  
( रसगंगाधर—एक परिचय )

पृ० १—३०

---



## रसगंगाधर --- एक परिचय

### रसगंगाधर

रसगंगाधर पण्डितराज जगन्नाथ की अमर कृति तो है ही, संस्कृत काव्य-शास्त्र की एक अनूठी सम्पत्ति भी है। संस्कृत काव्य-शास्त्र के इतिहास में यह ग्रन्थ अन्तिम प्रोढ़ रचना है। मानो चिन्तन-दीप अपने पिछले क्षणों में अपने प्रकाश-पुञ्ज की चरम दीप्ति में उद्भासित हो उठा हो। हम अग्रिम अध्यायों में उसका विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने जा रहे हैं, अतः आवश्यक है कि प्रथम उसका एक सामान्य परिचय प्राप्त कर लिया जाय। उसकी विषय-वस्तु, उसका विषय-क्षेत्र तथा उसकी योजना-पद्धति पर भी कुछ विचार कर लिया जाय। यह सामान्य परिचय निस्सन्देह उसका विशेष अध्ययन करने में हमारा सहायक होगा।

### विषयानुक्रमिका

सर्व-प्रथम रसगंगाधर के विषय-क्षेत्र के सम्बन्ध में जिज्ञासो उठती है। अतः प्रथम हम यहाँ उसकी विषयानुक्रमिका उपस्थित करते हैं, जिससे पाठक एक वि-होम दृष्टि में उसके विषय-क्षेत्र एवं उसकी रचना-योजना आदि के बारे में परि-चय प्राप्त कर सकें।

### प्रथम आनन

#### आधिकारिक विषय

१- प्रास्ताविक

#### पृष्ठ

१-४

#### विषयानुक्रमिका

मंगलाचरणा  
गुरु-वन्दना  
प्रबन्ध-प्रशंसा  
आत्म-परिचय

२- काव्य

४-२१

काव्य-लक्षण

काव्य-कारण

काव्य-भेद

३- रस-ध्वनि

२१-१०९

ध्वनि-काव्य में रस का स्थान

रस-स्वरूप-विवेचन

शान्त रस

स्थायि-भाव

विभाव

अनुभाव

शृंगारादि रस-भेद

रसालङ्कार

रस-संख्या

रस-विरोध

गुण-विवेचन

भाव-ध्वनि विवेचन

रसाभास

भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशब्द

रस की संलक्ष्यकृता

लता ।

असंलक्ष्यकृम-ध्वनि के व्यञ्जक

द्वितीय अन्नन

१- संलक्ष्यकृम ध्वनि

११०-११०

संलक्ष्यकृम ध्वनि के भेद

शब्दशक्तिमूलक ध्वनि विवेचन

शब्दशक्तिमूलक ध्वनि के व्यञ्जक

शब्दशक्तिमूलक अलङ्कार-ध्वनि

शब्दशक्तिमूलक वस्तु-ध्वनि

अर्थशक्तिमूलक ध्वनि

उभय शक्तिमूलक ध्वनि

लक्षणांमूलक ध्वनि

जहत्स्वार्थ मूलक

अजहत्स्वार्थमूलक

२- शब्द-शक्ति निरूपण

११०-११६

अभिगता शक्ति

लक्षणा शक्ति

लाक्षणीक शब्दों के शब्द-बोध



३- अलङ्कार-निरूपण

१४६-५२२

उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, असम,  
 उदाहरण, स्मरण, रूपक, परिणाम,  
 सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति,  
 उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक  
 प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक,  
 सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर,  
 श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्ति, व्याजस्तुति  
 आक्षेप, विरोध, विभाका, विशेषोक्ति,  
 असंगति, विषम, सम, विचित्र,  
 अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात,  
 शृङ्खला, कारणमाला, एकावली, सार,  
 काव्यलिङ्ग, अर्थान्तरन्यास, अनुमान, गणसंख्या,  
 पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्णापत्ति,  
 विकल्प, समुच्चय, समाधि, प्रत्यनीक,  
 प्रतीप, प्रौढोक्ति, ललित, प्रहर्षण,  
 विधादन, उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा,  
 तिरस्कार, लेश, तद्गुण, अतद्गुण,  
 मोलित, समाधि, उत्तर ।

### विषय-दीप्त

उपरिस्थित विषयानुक्रमिका पर दृष्टि डालने से यह विदित हो जाता है  
 कि रसांगाधर का विषय-दीप्त कितना है। स्थूल रूप में इसके अन्तर्गत ४ बातें आती हैं :--

- १- काव्य-सम्बन्धी कुछ सामान्य समस्याएँ, जैसे काव्य-लक्षणा, काव्य का  
 कारण, काव्य-भेद आदि।
- २- उत्तमोत्तम काव्य ध्वनि का सविस्तर विवेचन, जिसमें असंलक्ष्यक्रम ध्वनि  
 को ही पूर्ण विस्तार मिला है ।
- ३- शब्द-शक्तियाँ ।
- ४- अलङ्कार ।



इस प्रकार इस ग्रन्थ-रत्न में काव्य-शास्त्र की अत्यन्त प्रमुख समस्याओं को हो लिया गया है। न तो भरत के नाट्य-शास्त्र की भांति काव्य, नृत्य, संगीत एवं अभिनय आदि सलित कलाओं का इसे भाण्डार-गृह कहा जा सकता है, और न विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण के समान श्रव्य तथा दृश्य काव्य के उभय पक्षों को समेट कर चलने वाला ग्रन्थ। वस्तुतः क्षेत्र का विस्तार किसी एक विषय पर कुछ अधिक विचार कर सकने की लेखक की क्षमता को निर्बल कर देता है। पण्डितराज ने इसी कारण काव्याङ्गों के अधिक व्यापक क्षेत्र को सम्भवतः नहीं चुना। वे काव्य के शास्त्र की मूल-भूत समस्याओं का ही गभीर अध्ययन प्रस्तुत करना चाहते थे।

एक बात और है। रसगंगाधर एक अपूर्ण ग्रन्थ है। शेष काव्याङ्गों में से पण्डितराज कितना लेना चाहते थे, तथा उन पर किस रूप में विचार प्रस्तुत करना चाहते थे, वे किन अंगों पर कितना कार्य कर सके थे — यह सब कुछ अतीत के दुर्घा-ट्य गर्भ में सुरक्षित है।

उपर्युक्त चार विषयों में से विस्तार दो की ही मिला है। रस-ध्वनि तथा अलङ्कार-विवेचन ही ग्रन्थ के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय हैं। अलङ्कार-विवेचन के ऊपर ग्रन्थ के १७६ पृष्ठ लगे हैं, जबकि अन्य समस्त विवेचनों पर १४६। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन १४६ पृष्ठों का मूल्य भी पृष्ठ संख्या के अनुपात में है। यद्यपि अलङ्कार भाग में भी पण्डितराज ने अत्यन्त सूक्ष्म एवं मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है, तथापि काव्य-शास्त्र की मूल समस्याओं पर दृष्टि जाने का अवसर उस अपेक्षाकृत लघुतर भाग में ही आया है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध भी उसी भाग से सम्बन्धित है। आगे हम रसगंगाधर में विवेचित सामग्री का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं, जिससे इस ग्रन्थ का आन्तरिक परिचय तो प्राप्त होगा ही, इस शोध-प्रबन्ध में प्रयोज्य अंश का महत्व भी भली भांति स्पष्ट हो सकेगा। इसके साथ ही हम रसगंगाधर की रचना-योजना पर भी कुछ विचार करने में समर्थ हो सकेंगे।



## रसगंगाधर में विवेचित सामग्री का संक्षिप्त परिचय

### प्रथम ज्ञानन

#### प्रास्ताविक

भावान् कृष्ण की कादम्बिनी-श्यामला मूर्ति का ध्यान करते हुए पण्डितराज अपने पिता पेरुभट्ट एवं माता लक्ष्मी की वन्दना करते हैं। पेरुभट्ट ने ज्ञानेन्द्रभिक्षु से वेदान्त, महेंद्र से न्याय, वेशोष्णिक, देव से काशी में पूर्व ममांसा तथा शेष वीरेश्वर से महाभाष्य का अध्ययन किया था। पण्डितराज ने अपने पिता से शिक्षा प्राप्त की थी।

उन्होंने सतत परिश्रम द्वारा चिन्तन-सागर से रसगंगाधर-मणि को निकाला है। यह मणि धारण-कर्ताओं के मानस-अंधकार को तो दूर करेगा ही, अन्य अलंकार-ग्रन्थों का गर्व भी गलन करेगा। अतः अनेक अलंकार-ग्रन्थों के रहते हुए भी पण्डितराज का प्रवृत्ति व्यर्थ नहीं है, ऐसा उनका विश्वास है।

यह ग्रन्थ की विशेषता है कि पण्डितराज ने उदाहरणानुरूप काव्य की रचना स्वयं की है। उन्होंने किसी अन्य के उदाहरण नहीं लिए। जो मृग स्वयं हो कस्तूरी-जनन की सामर्थ्य रखते हैं, वे अन्य फूलों को गन्ध के लिए क्या दोड़ते फिरते हैं ?

पण्डितराज ने चिन्तन-तरणी के द्वारा विद्या-मल्लोदधि को पार किया है। अतः इस ग्रन्थ की मौलिकता में, तथा इसके उज्ज्वल भविष्य के विषय में वे पूर्ण आश्वस्त हैं।

#### काव्य-लक्षण

काव्य अत्यन्त उपादेय वस्तु है। उसकी व्युत्पत्ति कवि एवं सहृदय दोनों के लिए अपेक्षित है। "रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है"। इस प्रकार काव्य लक्षण देते हुए पण्डितराज काव्य-स्वरूप के सम्बन्ध में अत्यन्त मौलिक एवं सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करते हैं। काव्य के तीन लक्षण दिए गए हैं। एक सामान्य, दूसरा उस से सूक्ष्म तृतीय सूक्ष्मतम तथा शास्त्रीय गभीरता से जीत-प्राप्त।



प्रसङ्गतः रमणीयता का लक्षण " रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञान-  
गोचरता " करते हुए, काव्य-जन्य आह्लाद के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। सामान्य  
आह्लाद एवं काव्याह्लाद में एक चमत्कार-विशेष का अन्तर होता है।

पण्डितराज की मम्मटादि का " तददोषो सुगुणो साह्कारो काव्यम् "   
लक्षण मान्य नहीं है। एक तो उसका "शब्दार्थो" स्वरूप नहीं बनता, दूसरे गुण एवं  
अलंकार काव्य-शरीर के घटक नहीं। अतः काव्य-लक्षण में उन्हें सम्मिलित करना अनु-  
चित है। इसी प्रकार विश्वनाथ का " वाक्यं रसात्मकं काव्यम् " लक्षण भी उन्हें मान्य  
नहीं, क्योंकि वह काव्य के एक बड़े भाग, वस्तु एवं अलंकार-ध्वनि प्रधान काव्यों में अव्याप्त  
है।

### काव्य-कारण

पण्डितराज के अनुसार काव्य का कारण केवल प्रतिभा है, जिसका स्वरूप है काव्य-  
विधान के अनुकूल शब्दों का उपस्थित होना। इस प्रतिभा के दो कारण हैं :--

- १-कहीं देवता, महापुरुष, गुरु आदि के वरदान एवं आशीर्वादसे उत्पन्न अदृष्ट तथा
  - २-कहीं व्युत्पत्ति एवं अभ्यास। दोनों में से कोई भी प्रतिभा का कारण बन सकता है।
- पण्डितराज मम्मट के समान समुदितकारणतावादी नहीं हैं।

### काव्य-भेद

काव्य के चार भेद होते हैं, उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम, अधम। १-जहाँ शब्द एवं  
अर्थ अपने का गुणोभूत रहकर चमत्कार-जनक अर्थ को व्यक्त करते हैं, वह उत्तमोत्तम  
काव्य होता है। पण्डितराज इसके दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, एक रस-ध्वनि का, दूसरा  
भाव-ध्वनि का। ये दोनों अलंक्ष्य-ध्वनि के उदाहरण हैं। इनके अतिरिक्त  
एक संलक्ष्य-ध्वनि का उदाहरण भी दिया गया है। पण्डितराज की मान्यता है कि  
रसादि संलक्ष्य-ध्वनि भी ध्वनित होते हैं। चित्र-मीमांसा में अप्पय्य ने निरशेषान्युत-  
चन्द्रन " श्लोक की व्याख्या में भूल की थी। पण्डितराज उन्हें ठीक पण-प्रदर्शन करते हैं।



२- उत्तम काव्य, जहाँ व्यंग्य अप्रधान रहकर भी चमत्कारी होता है, वहाँ उत्तम काव्य होता है। वाच्य से प्रधान किन्तु अन्य व्यंग्य से अप्रधान व्यंग्य ध्वनि-कोटि में ही आते हैं। चित्र काव्य के वे भेद जिनमें गुणोभूत-व्यंग्य जागरूक होता है, जैसे पर्यायोक्त, समासाश्रित आदि, इसी भेद में आते हैं। उत्तम काव्य का अपना उदाहरण देते हुए आप्पय्य के विवेचन की दुर्बलता का यहाँ भी प्रदर्शन किया गया है।

३-मध्यम काव्य: जहाँ व्यंग्य-चमत्कार से वाच्य-चमत्कार प्रमुख हो जाता है, वहाँ तृतीय प्रकार का मध्यम काव्य होता है। इस वर्ग में आने वाले वाच्य-चित्र काव्य में गुणोभूत-व्यंग्य जागरूक होता है। वाच्य-चित्र इन्हीं द्वितीय तथा तृतीय भेदों में समा जाता है।

४-अधम : जहाँ अर्थ-चमत्कार से उपस्कृत होकर शब्द-चमत्कार ही प्रमुख हो जाता है, वहाँ अधम काव्य होता है। अर्थचमत्कार-लेश से शून्य एकाक्षर पद्य, अर्थावृत्ति समक, पद्मवन्द्यादि पण्डितराज की काव्य-कोटि में मान्य नहीं हैं। वि अधमाधम काव्य भी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनमें काव्य का सामान्य लक्षण "रमणीयार्थप्रतिपादकत्व" नहीं है।

मम्मट का विविध वर्गीकरण उन्हें मान्य नहीं। चित्र के शब्द-चित्र तथा अर्थ-चित्र दोनों भेदों के चमत्कार-तारतम्य के रहते एक ही वर्ग में रखने पर पण्डितराज के अनुसार अवैज्ञानिक दृष्टिकोण है।

उत्तमोत्तम ध्वनि काव्य के भेद

उत्तमोत्तम ध्वनि काव्य के ५ भेद प्रमुखतया होते हैं, जिन्हें निम्न तालिका में प्रस्तुत किया जा सकता है :--

ध्वनि

अभिधा-मूलक	लक्षणा-मूलक
१- रस-ध्वनि	१- अर्थान्तर संग्रमित वाच्यध्वनि
२- वस्तु-ध्वनि	२- अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि
३- अलङ्कार-ध्वनि	



### ध्वनि-काव्य में रस का स्थान

समस्त ध्वनिषों में रस-ध्वनि ही परम रमणीय है। वह ध्वनि की आत्मा है। इस असंलक्ष्यक्रम ध्वनि रूप रस में रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भाव-शान्ति, भावोदय, भाव-सन्धि, भाव-शक्तता, सभी आते हैं।

### रस-स्वरूप

इसके अनन्त पण्डितराज ने रस-स्वरूप के विषय में ११ मत उपस्थित किए हैं। इस विषय पर यथा-स्थान विचार किया जायगा। इन ११ मतों में समस्त भरत-सूत्र के अनुकूल हैं। इन मतों की दृष्टि से भरत-सूत्र की व्याख्या भी दी गई है।

### रस-भेद

परम्परा से प्रचलित रस के ९ भेद पण्डितराज को मान्य हैं। शृंगार, क्रुण, शान्त, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक तथा वीभत्स—ये ९ रस सोदाहरण, सविवेचन प्रस्तुत किए गए हैं।

### शान्त रस

कुछ लोग नाटक में शान्त रस को मान्यता नहीं देते। पण्डितराज इस वर्ग के लोगों के प्रमुख तर्कों पर विचार करते हुए शान्त को काव्य तथा नाटक दोनों में उपादेय मान कर अभिनवगुप्त का ही पक्ष ग्रहण करते हैं।

### स्थायि-भाव

उपनिषद्-सूत्रों में शान्त, शोक, निवृत्ति, क्रोध, उत्साह, विस्मय, हास, भय एवं जुगुप्सा—९ स्थायि-भावों का लक्षण उदाहरण एवं विवेचन के सहित परिचय दिया गया है।

### स्थायि-भावों और रस का अन्तः

रस एवं स्थायियों के अन्तर का प्रश्न रस-सम्बन्धी दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। अतः अभिनव, भट्टनायक, लल्लू एवं दो नवीन मतों के दृष्टिकोण से उसे स्पष्ट किया गया है।



## स्थायि-भावों का स्थायित्व

प्रबन्ध पर्यन्त स्थिर रहने वाली चित्तवृत्तियाँ स्थायि-भाव कहलाती हैं। भावों की वास्तविकता के आधार पर स्थायी तथा संचारी का अन्तर करना कठिन हो जायगा। अतः काव्य में अभिव्यक्ति को मात्रा के आधार पर ही पण्डितराज इसका निर्णय करना उचित समझते हैं। संचारी की अभिव्यक्ति बिजली के समान क्षणिक होती है। स्थायी की अभिव्यक्ति प्रबन्ध पर्यन्त बार-बार निरन्तर होती रहती है। अतः रति आदि उर्ध्वत ९ भावों को जाँच मोँच कर स्थायी नहीं कहा जा सकता। जब उन में से कोई दूसरे का गोण होकर जाता है, तब उसे स्थायी की संज्ञा प्राप्त नहीं होती। तब वह एक संचारी की ही स्थिति में हो जाता है।

## स्थायि-भावों के लक्षण

पण्डितराज ने सभी स्थायि-भावों के लक्षण शास्त्रीय भाषा में प्रस्तुत किये हैं।

रति- स्त्रीपुंसयोरन्योन्यात्मनः प्रेमास्यश्चित्तवृत्तिविशेषो रतिः स्थायि-भावः।

शोक- पुत्रादिवियोगमरणादिजन्मा वेकलव्यास्यश्चित्तवृत्तिविशेषः शोकः।

निर्वेद- नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा विषयविरागाख्यो निर्वेदः।

क्रोध- गुरुबन्धुव्यादिपरमापराधजन्मा आर्षाख्यः क्रोधः।

उत्साह- परपराक्रमदानादिस्मृतिजन्मा आन्नत्याख्य उत्साहः।

विस्मय- अलौकिकवस्तुदर्शनादिजन्मा आश्चर्याख्यो विस्मयः।

हास- वाग्दृग्गादिविकारदर्शनजन्मा विकाशाख्यो हासः।

भय- व्याघ्रदर्शनादिजन्मा परमानर्थविषया वेकलव्याख्यः स भयम्।

जुगुप्सा- कर्त्यवन्तुविलोकाजन्मा विचिकित्सास्यश्चित्तवृत्तिविशेषो जुगुप्सा।

इन लक्षणों के साथ ही उनके उदाहरण, इनकी अपुष्ट अथवा गोण अभिचारि-रूपा स्थितियाँ, तथा परस्पर भावों के अन्तर आदि विषयों पर भी यथा-प्रसंग प्रकाश डाला गया है।

## रस एवं उनके अवान्तर भेद

प्रत्येक रस को सामग्री पर संक्षेप में विचार करते हुए पण्डितराज ने मुख्य रसों के अवान्तर भेदों का परिचय दिया है।



शृंगार- इस के दो प्रमुख भेद हैं, संयोग तथा वियोग। वियोग-शृंगार प्रवास, अभिलाषा, विरह, ईर्ष्या, शाप भेद स ५ प्रकार का होता है। किन्तु पण्डितराज इस भेद-प्रपञ्च को महत्वहीन समझते हैं।

वीर- परम्परानुगत मान्यता के अनुसार वीर रस ४ प्रकार का होता है। वीरवीर, दयावीर, युद्धवीर, गर्मवीर। वस्तुतः ये भेद वीर रस को आत्मा से सम्बन्ध नहीं हैं। अन्यथा यों तो पाण्डित्य-वीर, क्षमावीर, बलवीर, आदि शृंगार के समान हो उसके भी अनेक भेद किये जा सकते हैं।

हास्य- इसके विषय में पूर्व विद्वानों का मान्यताएँ उपस्थित की गई हैं, तथा उसके उपभेद परिचय मात्र के लिए दिखाये गये हैं।

शोष रसों के उपभेद नहीं किये गये। इन सभी के उदाहरण ही नहीं प्रत्युदाहरण भी सन्निवेश देने हुए पण्डितराज ने इस विषय को विस्तार न दे कर भी पूर्ण बनाया है।

हास्य एवं जुगुप्सा के आलम्बन

अन्य रसों के समान हास्य एवं जुगुप्सा में आश्रय पात्र का विधान नहीं रहता। वहाँ दो बातें हाँ जा सकती हैं। एक-जिस आश्रय-रूप दृष्ट-विशेष पात्र का आक्षेप, कर लिया जाता है। दूसर-श्रोता का जैसे अपनी कान्ता के वर्णन करने वाले पत्र से बिना अन्य आश्रय-पात्र के रसानुभूति हो सकती है, उसी प्रकार हास्य तथा जुगुप्सा के स्थलों में बिना अन्य आश्रय-पात्र के हाँ रसानुभूति हो सकती है।

रस एवं रसालंकार

स्थायि-भावों की प्रधानतया अभिव्यक्ति में " रस " होता है, गुणोभाव में रसालंकार। यहाँ इनके रसालंकार नाम पहन का भी विचार किया गया है। ये सभी अलंकार कहलाते हैं, क्योंकि इनकी प्रतीति में प्रेम होत हुआ भी लक्षित नहीं होता।

रस-संख्या

प्रश्न उठता है रस ९ हो क्यों? भक्ति रस पूरक दिखाई पड़ता है, जिसका शान्त में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। भगवन्पुराण-रूपा रति उसका स्थायी है। वात्सल्य भी स्वतन्त्र रस माना जाना चाहिए। भरत-परम्परा के अनुसार इनका अन्तर्भाव "भाव" के अन्तर्गत " रतिर्वादि विषया " कह कर दिया जाता है। तर्क से इन्हें स्वतन्त्र मान्यता



मिलनी चाहिए। किन्तु पण्डितराज भरत-परम्परा को अधुणा बनाय रखना चाहते हैं। यथा-शास्त्र ही व्यवहार ठीक है। अन्यथा जुगुप्सा, शोक आदि को रस न कह कर "शुद्ध भाव" ही कहना पड़ेगा।

### रस-विरोध

कुछ रस स्वभावतः विरोधी होते हैं, कुछ अविरोधी :—

परस्पर विरोधी

परस्पर अविरोधी

शृंगार—शृंगार—चोभस

वीर—शृंगार

शृंगार—कलुष

शृंगार—हास्य

वीर—भयानक

वीर—अद्भुत

शान्त—रोद्र

वीर—रोद्र

शान्त—शृंगार

शृंगार—अद्भुत

### विरोध का स्वरूप

विरोध दो प्रकार का होता है :—

१- स्थिति-विरोध : एक ही अधिकरण में रहने पर।

२- ज्ञान-विरोध : विरोधी के ज्ञान से प्रकृत रस का ज्ञान रुक जाना।

### विरोध-परिहार

स्थिति-विरोध अधिकरण भिन्न करने से दूर हो जाता है।

ज्ञान-विरोध के परिहार के कई स्वरूप हो सकते हैं :—

१- किसी अविराधी अन्य रस का मध्य में सम्मिश्रण।

२- विरोधी का प्रकृत रस का अंग बना देना।

३- विरोधी को किसी अन्य प्रधान रस का अंग बना देना।

४- विरोधी रस का मध्य रूप में संविधान।

### रस-दोष

कवि को चाहिए कि वह अपनी रचना को रस-दोषों से संप्रगुण बनाये।

रस-सम्बन्धी कुछ प्रमुख दोष निम्न हैं :—

१- स्वशब्द-वाच्यत्व : रस का स्वशब्द से या रस शब्द से अभिप्राय।



व्यांग्य के बाध बनाने में सामान्यतः " वमन " नामक दोष होता है । रस के विषय में यह विशेष दोष है । स्थानियों एवं व्यभिचारियों के विषय में भी यही दोष हो सकता है ।

२६ विभावानुभाव आदि का ठीक प्रत्यय न होना अथवा देर से प्रत्यय होना ।

३- समबल अथवा प्रबल विरोधा रसों का निबन्धन ।

कुछ दोष प्रवृत्ति से हो विशेष संबन्ध रखते हैं :—

१- विच्छिन्न-दोषन : प्रकृत रस का अर्थ-प्रसंग से विच्छेद हो जाने पर पुनः दोषन ।

२- जहाँ अवसर न हो वहाँ किसी रस का प्रस्ताव ।

३- नायक से अधिक प्रतिनायक के उत्कर्ष का अनुचित मात्रा में वर्णन ।

४- जहाँ अवसर न हो वहाँ किसी रस का विच्छेद ।

५- रस के आश्रय एवं आलम्बन का बीच-बीच में अननुसंधान ।

६- प्रकृत रस से असंबद्ध वस्तु का वर्णन ।

७- अनौचित्य : किसी भी प्रकार का अनौचित्य रस-भंग का कारण हो जाता है , अतः उससे सदा जागरूक रहना चाहिए ।

### अनौचित्य एवं साधारणीकरण

जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था, प्रकृति, व्यवहार आदि के विषय में लोक एवं शास्त्र में सिद्ध बातों का ध्यान रखना चाहिए । जितनी मात्रा में अनौचित्य रस-परिष्कार में सहायक या आवश्यक हो, उतना होने में कोई दोष नहीं है ।

अनौचित्य साधारणीकरण को रोक देता है । जिन दशाओं में सहृदयों को रसोद्भूत होता है, उन्हीं में साधारणीकरण होता है । अतः साधारणीकरण की भी एक सीमा है । आनन्दवर्धन ने कहा है कि:—

अनौचित्यदूत नान्यद्रसभंगस्य कारणम् ।

प्रसिद्धौचित्यवन्वस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥

### गुण-विवेचन

मम्मट आदि ध्वनि-वादी रस के तीन्गुण मानते हैं—महदुर्ग, आज, प्रसाद ।



विशिष्ट रसों के साथ उनके तारतमिक सम्बन्ध के विषय में कई प्रकार की मान्यताएँ हैं। मम्मटादि के अनुसार गुण रस के दो धर्म हैं। शब्द एवं अर्थ से उनका औपचारिक संबंध है। पण्डितराज की मान्यता है कि शब्द एवं अर्थ का गुणों से औपचारिक संबंध नहीं है। वे उनका साक्षात् सम्बन्ध मानते हैं। अना मान्यता के प्रतिपादन के अनन्तर पण्डितराज ने वामनादि के मान्य २० शब्द तथा अर्थ गुणों का परिचय तथा गुण-त्रय बाद में उनके अन्तर्भाव का भी परिचय कराया है।

### रचना-विवेचन

शब्द एवं वर्णादि से गुणों का साक्षात् सम्बन्ध मान लेने पर रचना से भी उनका साक्षात् सम्बन्ध स्वतः सिद्ध हो जाता है। इस प्रसंग में पण्डितराज ने वर्ण एवं रचना का विशिष्ट-गुण-व्यञ्जकता का विवेचन करते हुए रचना के सामान्य तथा विशेष दोषों के ऊपर भी प्रकाश डाला है।

### भाव-व्यञ्जि

विभावादि से व्यञ्ज्यमान हर्ष आदि चित्तवृत्तियाँ भाव कहलाती हैं। इस स्थल पर भाव के कई लक्षणाओं पर स्वतन्त्र विचार प्रस्तुत किया गया है। रस-निष्पत्ति एवं भाव-निष्पत्ति की प्रक्रिया में जो अन्तर है, उस पर भी प्रकाश पड़ा है। एक भाव की व्यञ्जना में दूसरे भाव व्यभिचारों का सम्मिश्रण हो सकता है। भाव-व्यञ्जना के लिए रस-व्यञ्जना के समान सामग्री का सादृश्य अपेक्षित नहीं होता। कोई सामान्यनिमित्त कारण हो आलम्बन विभाव का काम दे सकता है।

### भावों के प्रकार

पण्डितराज ने भरत-परम्परा की मान्यता देते हुए संचारियों को संख्या ३३ ही मानी है। साग हो देवादि-विष्णुक रति का भी पूर्ण रूप से भावों के अन्तर्गत ही स्वीकार किया गया है।

अनेक भावों के लक्षणों, उदाहरणों से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस विवेचन में भाव-व्यञ्जना संबंधों की महत्वपूर्ण निष्कर्ष सामने आये हैं। भाव एवं दूसरे के आलम्बन, अनुभाव तथा व्यभिचारों का भी अन्तर्भाव है, इस तथ्य का सुचारु प्रतिपादन किया गया है।



निम्न भावों पर शास्त्रीय शब्दावली में लक्षणा देते हुए विचार किया गया है :—

हर्ष, स्मृति, ग्रीहा, मोह, धृति, रांका, गुलानि, देन्य, चिन्ता, मद, श्रम, गर्व, निद्रा, मति, व्याधि, वास, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्या, उग्रता, उन्माद, मरणा, वितर्क, विषाद, जातुसुख्य, आवग, जहता, जालस्य, असूया, अपस्मार, चपलता, प्रतिपदाकृत धिक्कारादिजन्मा निर्वेद एवं देवादि विषयक रति ।

भाव-संख्या

अल्पि मात्सर्य, उद्दग, दम्भ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, वेक्ताव्य, क्षमा, कुतुक, उत्कण्ठा, विनय, संशय, घाष्ट्य आदि स्वल्प अन्तर वाले अनेक भाव सामने जाते हैं, या सक्त हैं, तथापि पण्डितराज जहाँ तक भरत-वचन का निर्वाह सम्भव हो सक, उसमें परिवर्तन करना उचित नहीं समझते । अतः इन सभी स्वल्पान्तर भावों का अन्तर्भाव किसी न किसी भरत-मान्य भाव में हो सकता है ।

रसाभास

अनुचित रूप से प्रवृत्त होने वाले रत्यादि रसाभास कहलाते हैं । अनोचित्य की सीमा का निर्णय लोक-व्यवहार से होता है । अनोचित्य के मान-दण्ड स्थिर नहीं किये जा सकते । सभ्यता एवं संस्कृति, देश एवं काल के साथ इनका स्वरूप यत्किंचित् परिवर्तित होता रहता है । यहाँ रस एवं रसाभास के स्वरूपात्मक अन्तर पर भी पण्डितराज ने दृष्टि डाली है । कुछ दार्शनिक-स्पर्श के साथ रस की आभासता को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है ।

शृंगाराभास में तीन प्रकार होते हैं—१-मुनि, मुक्त आदि को पत्नी विषयक, २-अनुभय-निष्ठ, ३-बहु नायक विषयक । संयोग तथा वियोग को दृष्टि से भी शृंगाराभास दो प्रकार का होगा—संयोगभास एवं वियोगभास । अन्य रसाभासों का संश्लेष में हो निवारण है, विस्तार-भय से उनके उदाहरणादि नहीं दिये गये ।

भावाभास

इसी प्रकार अनुचित रूप में प्रवृत्त होने वाले भाव भावाभास कहलाते हैं । यहाँ भावाभास तथा भाव-ध्वनि का परस्पर अन्तर भी स्पष्ट किया गया है ।



### भाव-शान्ति, भावोदय, भाव-सन्धि, भाव-शब्दलता

वस्तुतः ये भाव-ध्वनियां "भव-ध्वनियां" ही हैं, जिनके स्वरूप तथा परस्पर अन्तर को उनके अनुभूति-स्वरूप का दृष्टि में रख कर पण्डितराज ने स्पष्ट किया है। निर्णय में चमत्कार तथा अनुभूति का आश्रय लिया गया है। उदय तथा शान्ति आदि भावों की हो संभव हैं, रसों की नहीं।

इस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म, विस्तृत तथा मौलिक विवेचन के साथ रति आदि भाव-प्रपञ्च का निरूपण समाप्त होता है।

### रसादि की संलक्ष्यकृता

ध्वनि-परम्परा में यह बात घर कर गई है कि रसादि ध्वनियां असंलक्ष्यक ही होती हैं। किन्तु पण्डितराज अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित करते हैं कि ये ध्वनियां संलक्ष्यक रूप में भी संभव हैं। वे अपनी मान्यता का प्रतिपादन करने के साथ ही स्वयं ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त के मन्तव्यों की अपने पक्ष में संगति भी दिखाने का प्रयत्न करते हैं। इस विषय में उन्होंने सर्वथा मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है।

### ध्वनियों के व्यञ्जक

मम्मट आदि आचार्य संलक्ष्यक-ध्वनि के ६ व्यञ्जक मानते हैं—पद, वर्ण, रचना, वाक्य, प्रबन्ध एवं पदांश। उनका मान्यता को सिद्धान्त पक्ष में रख कर परिचय देते हुए पण्डितराज अपनी निजी मान्यता की भी सामने रखते हैं। वे वर्ण तथा रचना में साक्षात् गुण-व्यञ्जकता मान चुके हैं, अतः उनके अनुसार वर्ण तथा रचना गुणों की हो व्यक्त करे हैं, रस की नहीं। रागादि भी रस के व्यञ्जक हो सकते हैं। इस विषय में सहृदयों की अनुभूति ही प्रमाण है।

### गुणोद्भूत-व्यङ्ग्य निरूपण की योजना

उपर्युक्त समस्त विवेचन जिसमें रस तथा भाव-ध्वनियां आती हैं, रसादि की प्रधानता अभिव्यञ्जना से सम्बद्ध है। जब ये ध्वनियां गुणोद्भूत होकर आती हैं, तब गुणोद्भूत-व्यङ्ग्य नामक द्वितीय उत्तम आव्य होता है। पण्डितराज आश्वासन दिलाते हैं कि इनका



निरूपण यथावसर किया जायगा। किन्तु रसगंगाधर की अपूर्णता के कारण गुणोभूत-व्यंग्यों का विवेचन उपलब्ध नहीं है।

अन्त में पण्डितराज रसादि नाम के ऊपर विचार करते हुए प्रथम ज्ञानन को उपाप्त करते हैं।

### द्वितीय ज्ञानन

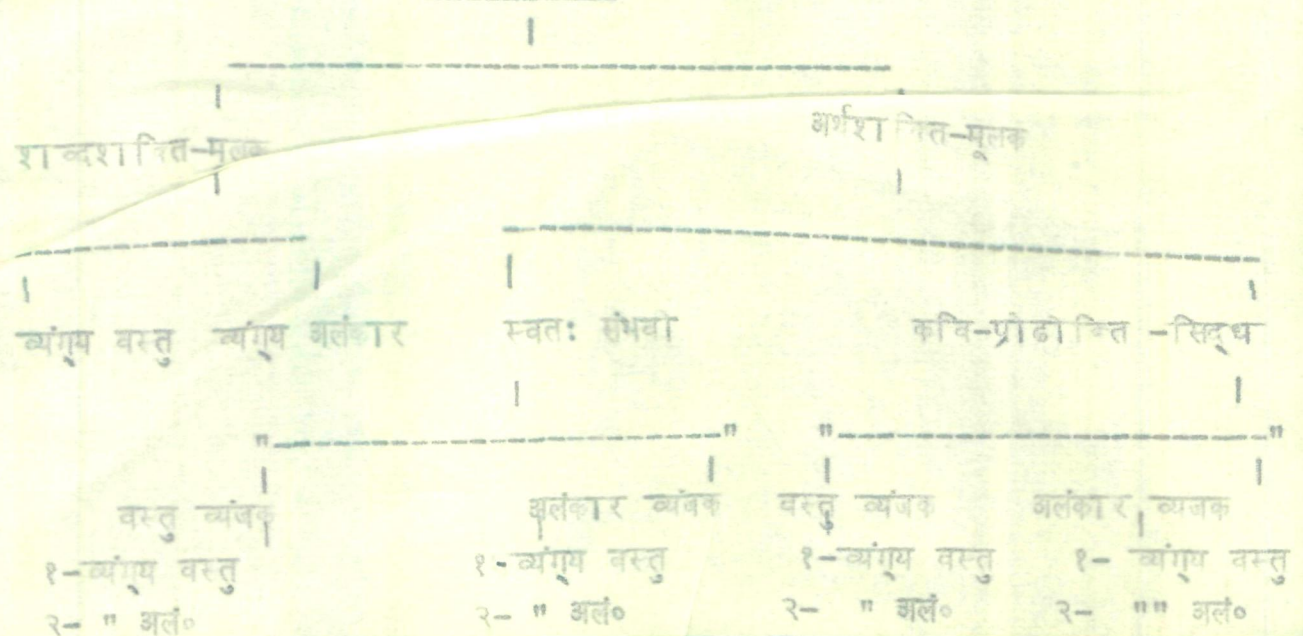
#### संलक्ष्यक्रम-ध्वनि

प्रथम ज्ञानन में ध्वनि के अभिधा-मूलक तथा लक्षणा-मूलक दो भेद करते हुए प्रथम के रस, वस्तु तथा अलंकार -तीन भेद किये गये थे। द्वितीय लक्षणा-मूलक को भी अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य तथा अत्यन्त तिरस्कृत-वाच्य-दो भेदों में विभक्त किया गया था। अभिधा-मूलक के तीन भेदों में से रस-ध्वनि तो संलक्ष्यक्रम कहलाता है, शेष दो संलक्ष्यक्रम। प्रथम ज्ञानन में इसी संलक्ष्यक्रम पर विचार हुआ था, द्वितीय ज्ञानन में संलक्ष्यक्रम पर विचार किया गया है। क्रम की लक्ष्यता के विचार से लक्षणा-मूलक ध्वनियाँ भी संलक्ष्यक्रम ही कहा जायँगी, अतः उनका भी यहाँ अवकाश प्राप्त हुआ है।

#### संलक्ष्यक्रम ध्वनि के भेद

द्वितीय ज्ञानन संलक्ष्यक्रम ध्वनि के भेदों से प्रारम्भ होता है। इन भेदों को निम्न तालिका में प्रस्तुत किया जा सकता है:-

#### संलक्ष्य-क्रम ध्वनि





### कवि-निबद्ध वक्ता को पृथक् अमान्यता

काव्य-प्रकाशकार आदि ने अर्थशक्ति-मूलक में स्वतः संभवी, कवि-प्रोद्योक्ति सिद्ध, एवं कवि-निबद्ध वक्ता-प्रोद्योक्ति सिद्ध तान भेदक माने हैं। अतः उनके मत से अर्थशक्ति-गत भेद ही जात है। किन्तु पण्डितराज को कवि-निबद्ध वक्ता की सत्ता कवि से भिन्न स्वाकृत नहीं। अतः उनका दृष्टि में उक्त ध्वनि ८ प्रकार का ही रहता है।

### शब्दशक्ति मूलक ध्वनि के विषय में शास्त्रार्थ

उपर्युक्त भेद करने के अनन्त पण्डितराज ने शब्दशक्ति मूलक ध्वनि के विषय में एक सुन्दर शास्त्रार्थ दिया है। इस ध्वनि-भेद में अनिवार्य शब्द प्रयुक्त होने पर एक अर्थ प्रस्तुत होता है, दूसरा अप्रस्तुत। अप्रस्तुत अर्थ अभिधा-प्रतिपादित माना जाता है, अप्रस्तुत व्यञ्जना-प्रतिपादित। व्यञ्जना मानने वालों के दो दृष्टिकोण पण्डितराज ने रखे हैं। तदनन्तर अभिधावादीयों के तर्कों से दोनों मतों का खण्डन करते हुए अभिधा द्वारा ही अप्रस्तुत अर्थ की गतावृत्ता दिखायी गयी है। फिर योगरूढि के स्थलों के उदाहरण सामने रख कर व्यञ्जना की अनिवार्यता प्रतिपादित करके व्यञ्जनावाद तथा प्राचीन मान्यता को रक्षा एवं व्यवस्था की गया है।

### नानार्थशक्ति के नियामक

प्राचीन आचार्यों ने नानार्थशक्ति के १४ नियामक माने हैं:—  
संयोग, विभोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य-शब्द-संनिधि, सामर्थ्य, आश्रित्य, देश, काल, व्यक्ति, स्वर।

इन सभी के लक्षण, उदाहरण तथा एक-दूसरे के बीच सूक्ष्म रेखा खींचते हुए विवेचन विस्तार के साथ प्रस्तुत किये गये हैं, जिनमें परम्परा से विवेचित भी यह विषय नयी रचना पा गया है।

### शब्दशक्ति-मूलक अलंकार-ध्वनि

इस ध्वनि का निम्न उदाहरण दिया गया है:—

करततनिर्गलदविरलदानजलील्लासितावनोवलयः ।

धनदाग्रमचित्तमूर्तिर्जयति नितरां सार्वभौमायम् ॥



उपर्युक्त उदाहरण में शब्दशक्ति-मूलक उपमा-ध्वनि है ।

उपमा का वर्णन पर शास्त्रार्थ

उपमालंकार-ध्वनि के विषय में मुख्यतया दो बातों पर शास्त्रार्थ किया गया है। - ऐसे स्थलों में उत्तमोत्तम ध्वनि का क्या होता है, क्या गुणीभूत-व्यंग्य उत्तम काव्य ? दूसरे-इन स्थलों में उपमालंकार व्यंग्य मानना चाहिए, अथवा रूपक ?

अन्य अलंकार-ध्वनियाँ

शब्दशक्ति-मूलक अन्य अलंकार-ध्वनियाँ भी इसी प्रकार संभव हैं। इन प्रसंगों में कई स्थलों पर मम्मट तथा उनके टीकाकारों से असहमति प्रकट की गयी है।

शब्दशक्ति-मूलक वस्तु-ध्वनि

इसका उदाहरण एवं विवेचन प्रस्तुत करते हुए भी काव्य-प्रकाशकार के दृष्टि-को समालोचना की गयी है।

अर्थशक्ति-मूलक ध्वनियाँ

इसके अनन्तर अर्थशक्ति-मूलक अलंकार-ध्वनियों के उदाहरण तथा विवेचन का प्रसंग आया है। इसमें काव्य-प्रकाश की समालोचना तथा असहमति के भी स्थल आये हैं, जो आलोचना की स्वतन्त्र दृष्टि के साक्ष्य हैं ।

शब्द तथा अर्थ-शक्ति-मूलकता की व्यवस्था

मैं तो प्रत्येक ध्वनि में शब्द तथा अर्थ-दोनों का अनुसन्धान अपेक्षित होता है, किन्तु जहाँ शब्द परिवृत्ति-सह होते हैं, वहाँ ध्वनि अर्थ-शक्ति-मूलक होता है। तथा जहाँ वे परिवृत्ति-सह होते हैं, वहाँ ध्वनि शब्द-शक्ति-मूलक होता है ।

उभयशक्ति-मूलक ध्वनि

वहाँ दोनों प्रकार के शब्दों का प्रचुरता होता है, वहाँ उभयशक्ति-मूलक ध्वनि होता है। यह वाक्य-मात्र में ही सम्भव है। यह उन स्थलों में भी मिल सकता है जहाँ कुछ शब्द अनकार्यक हों, कुछ प्रकार्यक। इस विषय में कुछ मतभेदों का बीर भी दृष्टि गयी है ।



### लक्षणा-मूलक ध्वनि

प्रयोजनवत्तो लक्षणा के सामान्यतः ६ भेद होते हैं, जिनमें १ का उपयोग तो अलङ्कारों में होता है, शेष दो ध्वनि के काम आते हैं। इनका विवरण निम्न है :--

- १- सारापा लक्षणा-----रूपक में ।
- २- साध्यवसाना लक्षणा-----अतिशयोक्ति में ।
- ३- गीणा लक्षणा-----हेतु अलंकार में ।
- ४- शुद्धा लक्षणा-----हेतु अलंकार में ।
- ५- जहत्स्वार्था लक्षणा-----अन्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि में ।
- ६- अजहत्स्वार्था लक्षणा-----अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि में ।

इन दोनों के उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं ।

### पद तथा वाक्य-ध्वनि

संलक्ष्यक्रम के इन समस्त भेदों में उभय-शक्तिमूलक तो वाक्य-मात्र में होते हैं, शेष वाक्य तथा पद दोनों में । किसी एक वाक्य में किसी पद-विशेष के लक्षक होने पर ध्वनि पद-गत होती है, तथापदाधिगत पदों के लक्षक होने पर वाक्य-ध्वनि ।

इस प्रकार यह ध्वनि-विवेचन समाप्त होता है।

### शक्ति-विवेचन

ध्वनि के भेद करते समय अभिधा तथा लक्षणा शब्द-शक्तियों को आधार बनाया गया था। अतः अब शब्द-शक्तियों के विवेचन का प्रसंग आता है। यहाँ पण्डितराज ने अत्यन्त मौलिक ढंग से विचार प्रस्तुत किया है ।

### अभिधा

रस, वस्तु एवं अलंकार-तीनों भेदों का आधार अभिधा है। इन भेदों का उल्लेख भी पहले हुआ है। अतः प्रथम अभिधा को ही विवेचन के लिए लिया गया है।

" अर्थ के शब्द-गत तथा शब्द के अर्थ-गत संबन्ध विशेषण की अभिधा कहते हैं । "



### निष्कर्ष

उपर्युक्त विषय-वस्तु के इस संक्षिप्त विवरण पर दृष्टि डालने से निम्न तथ्यों का आ ध्यान जाता है :--

- १- पण्डितराज ने काव्यांग-विस्तार की दृष्टि से क्षेत्र कम चुना है, किन्तु जो भी विषय लिया है उसके अध्याधिक संबंध सूत्रों का सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया है।
- २- रस-विवेचन में अनेक नूतन समस्याओं पर पण्डितराज की दृष्टि गयी है।
- ३- अलंकार-भाग ने वर्यपि ग्रन्थ के अधिकांश भाग पर अधिकार किया है, तथापि काव्य-शास्त्र की मूल समस्याओं का विवेचन उसके पूर्व भाग में हो जाया होना इस दृष्टि से इस शोध-प्रबन्ध का विवेच्य भाग ही अधिक महत्व-पूर्ण है।

### रचना---योजना

अभी हम ने रसगंगाधर की विषय-वस्तु तथा उसके क्षेत्र का परिचय प्राप्त किया है। अब हम इस ग्रन्थ की रचना-योजना पर दृष्टि डाल सकते हैं।

### नाम

कुन्तल ने लिखा है, विषय-वस्तु का प्रश्न तो पोंछे जाता है, कुशल कलाकार रचना के मूल-तत्त्व को सूचना देने वाले नाम-मात्र से ही एक अनुठी विच्छित्ति उत्पन्न कर देता है। " रसगंगाधर " नाम का चुनाव भी ऐसा ही हो। यह दो बातों की व्याख्या करता है। एक-यह कि रस-गंगा को निर्मा धारा इस ग्रन्थ में प्रवाहित हुई है। दूसरे गंगाधर शिव के पंचाननत्व के समान इस ग्रन्थ की रचना-योजना भी पंचाननात्मिका है। संस्कृत-पण्डितों में यह अनुभूति प्रचलित है कि रसगंगाधर पांच आननों में विभक्त था, जो आज अनुभव्य होनी कुछ भी हो, चाहे रसगंगाधर पांच आननों में बिखर गया हो, या पण्डितराज को पांच आननों में इसको रचना की योजना रही हो, दोनों कल्पनाएं अधिक दूर की नहीं कहा जा सकती। इस दृष्टि से रसपंचानन नाम की अपेक्षा "रसगंगाधर" ही अधिक समीचीन है, क्योंकि एक तो पंचानन नाम सिंह के पर्याय में रूढ़ जैसा हो गया है,

१-आस्तां वस्तुषु वदगृह्यं काव्ये कामपि वक्तुम् । वक्रोक्तिर्जीवितः सन्दर्भ-डा० राघवन  
प्रधानसंविधानाहं कनाम्नापि कुरुते कविः ॥ भोज का शृंगार-प्रकाशः पृ० ८



अभिधा-विवेचन के प्रसंग में व्याकरण, मीमांसा तथा न्याय आदि की मान्यताओं को सामने रखकर स्वतन्त्र चिन्तन के आधार पर निर्णय दिये गये हैं, साथ में अप्पण्य को विचारधारा का स-तर्क निराकरण किया गया है।

### लक्षणा

अभिधा के अनन्तर लक्षणा-मूलक ध्वनियाँ की आधार लक्षणा के स्वरूप-निर्धारण का प्रसंग आया है।

" शक्य-सम्बन्ध की लक्षणा कहते हैं । "

लक्षणा के ऊपर भाषाविदों ने गम्भीर विवेचनात्मक दृष्टि-कोण अपनाया है। लक्षणा के कारणों की समीक्षा करते हुए उसके उदाहरण दिये गये हैं। लक्षणा के भेद किये गये हैं। भेद वही हैं, जो मम्मट को स्वीकृत हैं, किन्तु उनको योजना यहाँ मम्मट से भिन्न है।

गोणी-साक्षात् के प्रसंग में उसके शाब्द-बोध का प्रश्न उठाया गया है। इसके विषय में पूर्व पक्ष तथा विद्वान्ति पक्ष के रूप में नवीन तथा प्राचीन मान्यताओं को सामने रख कर प्राचीन मान्यताओं को प्रोढ़ शास्त्रीय भूमि पर पुनः प्रतिष्ठापित किया गया है।

इस प्रकार शास्त्रीय विवेचन की गरिमा से जीत-प्रोत यह समस्त शाब्द-शक्ति-विवेचन एक गम्भीर बोद्धि-वातावरण की सृष्टि करता है।

### अलङ्कार-विवेचन

इस के अनन्तर विषयानुक्रमणिका में परिगणित ७० अलङ्कारों का सूक्ष्म तथा मार्मिक विवेचन किया गया है। इन अलङ्कारों की संख्या वैसे तो ७१ है, किन्तु उप-मेधा-मा की उपमा के अन्तर्गत हो गिना गया है, फलतः इनकी संख्या ७० हो समझनी चाहिए। विवेचन उत्तर अलङ्कार के मध्य में ही छूट जाता है। यह समस्त विवेचन रसगंगाधर के पृष्ठ संख्या १९६ से ५२२ तक अर्थात् ३२६ पृष्ठों में फैला हुआ है। उपलब्ध रसगंगाधर का दो तिहाई भाग इसी विषय के प्रतिपादन में व्यय हुआ है।



दूसरे रसगंगाधर नाम में जो पवित्रता तथा रचनाकार की भावुकता है, वह रस-प्रधानन में कहा ? ध्वनि-सद्धान्त की व्यापक पृष्ठभूमि अपनाते हुए इस नाम का चुनाव पण्डितराज की रस-दृष्टि का पता देता है।

### वस्तु-योजना

इस ग्रन्थ में शास्त्रीय विवेचन की गभीरता तथा मौलिकता ही नहीं, विषय की सुगठित योजना भी दृष्टि-ग्राह्य होती है। ग्रन्थकार ने सर्व-प्रथम काव्य-शास्त्र की मूल समस्याओं को उठाया है। काव्य-लक्षण, काव्य-कारण, काव्य-भेद आदि विषयों को लेते हुए आचार्य एक विषय से दूसरे विषय पर मानी अनजाने ही बढ़ जाता है। कवि तथा सहृदय दोनों की व्युत्पत्ति की आवश्यकता को ध्यान में रखकर जो काव्य का लक्षण दिया गया है, उसी के साथ काव्य के कारण का प्रश्न सुलझा दिया गया है। तत्पश्चात् उसी काव्य के १ भेद करते हुए, प्रथम भेद ध्वनि के ५ उपभेदों का संक्षिप्त परिचय देकर ग्रन्थकार ध्वनि के परम रमणीय तत्त्व-रस-ध्वनि पर आ जाता है। प्रथम ज्ञानन के अन्त तक रस-संबन्धी एक-समस्या से दूसरी समस्या इस प्रकार गुथती चली जाती है, कि पाठक का बुद्धि एक संबन्ध द्वारा में बढ़ती चली जाती है। रस-ध्वनि तथा भाव-ध्वनि के बीच बीच कुछ प्रमुख विवेचन आते चलते हैं, जो विषय को एक-रूपता को दृढ़ ही करते हैं। उदा-हरण-स्वरूप भाव-ध्वनियों के साथ रसों तथा भावों के अन्तर, जगदि-विचित्रता-को-सिद्धि-कृतता है। उनकी अनुभूति-प्रक्रिया में अन्तर, उनकी व्यञ्जना-प्रक्रिया के अन्तर आदि विषयों को स्मिया जा सकता है। जबतक पण्डितराज को यह विश्वास नहीं हो जाता कि उनका प्रतिपादित विषय पूर्ण-रूपेण व्यवस्था नहीं पा गया तथा तत्संबन्धी कोई मुख्य बात छूटी नहीं, तब तक वे पाठक की बुद्धि की मुक्ति नहीं देते।

दूसरे ज्ञानन में संलक्ष्यक्रम ध्वनियों का वर्गीकरण देते हुए शाब्दशक्ति-मूलक ध्वनियों का शास्त्रार्थ आ जाता है। ध्वनि-भेदों के विषय में तो इतनी सी बात है कि पण्डितराज अधिक भेदोक्ति को ओर नहीं जाना चाहते, किन्तु विभिन्न समस्याओं का शास्त्रीय विवेचन अवश्य प्रस्तुत कर देना चाहते हैं। शास्त्रार्थों को दृष्टि से द्वितीय ज्ञानन विशेष महत्व रखता है। शास्त्रार्थ यद्यपि कहीं कहीं लम्बे भी हैं तथापि उनसे विषयवृत्ति में बाधा नहीं पड़ती। कभी कभी शास्त्रार्थ कुछ अधिक दूर ले जाते हैं, तो



ती पण्डितराज " प्रकृतमनुसरामः " कहते हुए अपने विषय पर आ जाते हैं। असंलक्ष्यध्रुम ध्वनि के अभिधा-मूलक भेदों के अनन्तर लक्षणा-मूलक ध्वनियां आती हैं। और फिर वे शब्द-शक्तियां जिनके आधार पर यह ध्वनि-प्रपंच खड़ा किया गया, ली गयी हैं। अन्त में आवश्यक मूलभूत समस्याओं का विवेचन करने के उपरान्त काव्य की समशीलता के प्रौढक अलंकारों के निरूपण का अवसर आता है।

एक समस्या से दूसरी समस्या का गुथाव बढ़ा आश्चर्य-जनक है। जहाँ तक संघटन का प्रश्न है, रचना-योजना की व्यवस्था में उससे कोई त्रुटि नहीं आती ।

एक बात आपाततः अवश्य अस्मीचीन प्रतीत होती है। कभी कभी प्रमुख बातों को अपेक्षा अंग-भूत छोटी छोटी बातों को अधिक विस्तार दे दिया गया है। उदाहरण-स्वरूप शब्द-अर्थ गुणों के परिचय में ८ पृष्ठ, संचारियों के परिचय में २३ पृष्ठ, तथा संगोपादि अनेकार्थ-नियामकों के परिचय में ८ पृष्ठ सपाये गये हैं। दूसरी ओर रस-ध्वनि के भेदों को कुछ ही पंक्तियों में दिखा दिया गया है। किन्तु इसका एक कारण है। सामान्यतः जिन विषयों का प्रतिपादन ध्वनि-सिद्धान्त के अन्य ग्रन्थों में विस्तार पा चुका है, उनका परिचय पण्डितराज ने बड़े हा संक्षेप में दे दिया है। उनके विषय में विभिन्न सूत्रों पर विवेचन में ही उन्होंने मुक्त शब्द-व्यय किया है। ध्वनि-सिद्धान्त में जिन मान्यताओं को आवश्यक प्रस्फुटन नहीं मिल पाया है, अथवा जिनके विषय में वे कोई नवान् मूल्याङ्कन प्रस्तुत करना चाहते हैं, अथवा कुछ नवीन प्रवादों से जुद्ध प्राचीन व्यवस्थाओं में विशृंखलता आती दिखायी पड़ती है, ऐसे ही स्थल पण्डितराज ने विशेष विस्तार के साथ अपनाये हैं। उपर्युक्त स्थल, जिनमें अनावश्यक विस्तार प्रतीत होता है, ऐसे ही हैं।

### ज्ञाननों में वर्गीकरण

किन्तु एक बात पर ध्यान जाये बिना नहीं रहता। विषय-वस्तु जितनी सुगठित एवं परस्पर सुशृंखलित है, ज्ञाननों में उसका वर्गीकरण उतना समीचीन नहीं है। प्रथम ज्ञानन में काव्य की सामान्य समस्याओं एवं रस-ध्वनि दोनों को रख दिया गया है। दूसरे ज्ञानन में संलक्ष्यध्रुम ध्वनि, शब्द-शक्ति, एवं अलंकार-विवेचन-तीन विषय आते हैं। यह वर्गी-



करण वैज्ञानिक नहीं रहा जा सकता। किन्तु इसके लिए हम पण्डितराज की दृष्टि नहीं दे सकते। ऐसा विश्वास किया जाता है कि रसगंगाधर ५ ज्ञानों में विभक्त था, अथवा कम से कम ५ ज्ञानों में उसे विभक्त करने की पण्डितराज की योजना अवश्य थी। जब तक हमारे समक्ष इन ज्ञानों का, एवं उनमें रखे जाने वाली विषय-वस्तु की रूपरेखा न हो, हम एक अपूर्ण रचना के संविधान की वैज्ञानिकता के विषय में अन्तिम शब्द कह भी सके सकते हैं।

### नवोन वर्गीकरण का प्रस्ताव

फिर भी एक बात है। रसगंगाधर जैसा और जितना आज उपलब्ध है, उसका वर्तमान दो ज्ञानों में वर्गीकरण असमोचीन ही है। वह अपूर्ण भी, इतना ही जितना आज उपलब्ध है, ५ ज्ञानों की अपेक्षा रखता है। उसके वर्गीकरण की वैज्ञानिक बनाने के लिए हम नीचे सुझाव उपस्थित करते हैं :—

ज्ञान-संख्या	नाम ज्ञान	पृष्ठ	विषय
१-प्रथम	काव्य-विवेचन	१-२१	१-प्रास्ताविक-मंगलाचरणादि। २-काव्य-संबन्धी सामान्य समस्याएँ काव्य-लक्षणा, प्रतिभा, काव्य-भेद।
२-द्वितीय	असंलक्ष्यक्रम-ध्वनि- विवेचन	२१-११०	१-उत्तमोत्तम काव्य में रस-ध्वनि का संबन्ध। २-रस-विवेचन। ३-भाव-विवेचन। ४-रस-सम्बन्धी अन्य समस्याएँ।
३-तृतीय	संलक्ष्यक्रम-ध्वनि- विवेचन	११०-१४०	संलक्ष्यक्रम-ध्वनि क-अभिधा-मूलक भेद। ख-लक्षणा-मूलक भेद।
४-चतुर्थ	शब्द-शक्ति- विवेचन	१४०-१५६	शब्द-शक्ति-विवेचन क-अभिधा। ख-लक्षणा।
५-पंचम	अलंकार-विवेचन	१५६-५५२	अलंकार-विवेचन।



इसपि इस वर्गीकरण में प्रत्येक आनन के पृष्ठों का अनुपात एक सा नहीं होगा, तथापि यह आवश्यक भी नहीं है। काव्य-प्रकाश के छठे तथा दशम आनन की पृष्ठ-संख्या में क्या अनुपात है ? साहित्य-दर्पण के नवम तथा दशम परिच्छेदों में परस्पर पृष्ठ-संख्या का क्या संबंध है ? पृष्ठ-संख्या मुख्य नहीं, विषय-वस्तु प्रमुख है ।

### नि रू प ण --- प द्ध ति

यहां हम पण्डितराज का निरूपण-पद्धति के विषय में कुछ कहना चाहते हैं। यद्यपि निरूपण-पद्धति का शैली से ही सम्बन्ध है। अपने व्यापक अर्थ में शैली शब्द लेखक के व्यक्तित्व सहित उसके समस्त अभिव्यक्ति पक्ष को समेट लेता है, जिसमें निरूपण-पद्धति भी आ सकती है, किन्तु अपने संकुचित अर्थ में शैली शब्द भाषा, वाक्य-योजना, शब्द-प्रयोग आदि बाह्य उपदानों तक सीमित समझा जा सकता है । यहां हम केवल इतना ही जानना चाहते हैं कि पण्डितराज किस ढंग से किसी विषय को उठाते हैं, किस प्रकार किस प्रकार उस पर विचार करते हैं, और किस प्रकार अपने व्यक्ति-गत दृष्टि-कोण को प्रस्तुत करते हैं। इस निरूपण-पद्धति को स्पष्ट कर लेने से हमारे विवेचन का मार्ग सरल होगा। किसी के बात कहने के ढंग का यदि परिचय हो, तो उसकी बात भी अच्छी प्रकार समझी जा सकती है।

### शार्ङ्गिक और प्रस्तावना

पण्डितराज शार्ङ्गिक देकर विवेचन आरम्भ नहीं करते, किन्तु उससे कोई अस्पष्टता नहीं आती। वे विवेचन के विषय में या तो कोई प्रस्तावना-वाक्य दे देते हैं, अथवा विवेचन का प्रथम वाक्य ही ऐसा रखते हैं कि उससे विवेच्य विषय की सूचना मिल जाती है। इस प्रकार शार्ङ्गिक न होते हुए भी शार्ङ्गिक का काम चल जाता है । काव्य-तट्याण से पूर्ण वे प्रस्तावना में कहते हैं:—

" तत्र-----काव्यस्य व्युत्पत्तेः कविसहृदययोरवश्यकतया -----तल्लक्षणां तावन्निरूप्यते । " १

रस-विवेचन की प्रस्तावना भी इसी पद्धति की है :—

" तत्र ध्वनिरुत्तमोत्तमस्यासंख्यभेदस्यापि सामान्यतः केपि भेदा निरूप्यन्ते--- । " २



गुण-विवेचन से पूर्व भी :-

" रसेषु चेतेषु निगदितेषु मायुर्जः प्रसादाख्यास्त्रोन् गुणानाहुः । " ३

भाव-ध्वनि से पूर्व प्रस्तावना-वाक्य है :-

" अथ भाव-ध्वनिर्निरूप्यते । " ४

द्वितीय ज्ञानन के प्रारम्भ में संलक्ष्यक्रम-ध्वनि की प्रस्तावना इन शब्दों में है :-

" अ संलक्ष्यक्रम-ध्वनिर्निरूप्यते । " ५

शब्द-शक्ति विवेचन इन शब्दों से आरम्भ होता है :-

" अ कामभिधा नाम यन्मूलः प्रथमं निरूपिता यं ध्वनिप्रपञ्चः । उच्यते :- " ६

अलंकार-विवेचन की प्रस्तावना इन शब्दों में रखा गया है :-

" अथास्य प्रागभिहितलक्षणाया वाक्यात्मिनो व्यंग्यस्य रमणीयता-प्रयोजका अलंकारा निरूप्यन्ते । " ७

प्रायः स्वतन्त्र विषय की प्रस्तावना "अथ" शब्द से प्रारम्भ होता है, जबकि पूर्व-सम्बद्ध विषय की तब अथवा तत् शब्द से । जहाँ प्रस्तावना नहीं आती वहाँ विवेचन का प्रथम वाक्य वही परिच्छेदमय होता है :-

" तस्य च कारणं वि-मता भवता प्रतिभा । " ८

ध्वनि-भेद विवेचन भी वही प्रकार है :-

" तत्तत्तत्तमोत्तमोत्तमोत्तममध्यमभेदाश्चतुर्धा । " ९

उपसंहार-पद्य

प्रायः सभी विवेचनों के अन्त में समाहित-सूचक वाक्य भी दिये गये हैं, जैसे रस-संबन्धी विवेचन के अनन्तर :-

" एवं संक्षेपेण निरूपिता रसाः । " ८

असंलक्ष्यक्रम समस्त भावात्मिक ध्वनियों के विवेचन के अन्त में भी :-

" सोऽयं निगदितः सर्वोऽपि रत्याल्लक्षणा व्यंग्यप्रपञ्चः । " ९

लक्षणा के विषय में प्राचीनों के मत का उल्लिखित कर चुकने पर :-

" तदित्यं प्राचीनाशयो मतभेदेन वर्णितः । " १०

१-रसमंगलधर पृष्ठ ५३१

२- " " ७४

३- " " ११०

४- " " १४०

५- " " १४६

६-रसमंगलधर पृष्ठ ६ ।

७- " " ९

८- " " ७४

९- " " १०६

१०- " " १४९



### उपक्रम-उपसंहार का सामंजस्य

इस प्रकार पण्डितराज विष्णु विद्याय का उठाकर उसका परालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं उसके बहु-सूत्रि होने पर भी उपक्रम उपसंहार को मुख्यवस्तु से विषय की एक-निष्ठता तथा निरूपण का सामंजस्य बचाव करने रहते हैं।

### लक्षणा, विवेचन, उदाहरण

प्रथम पण्डितराज लक्षणा उपस्थित करते हैं, तदनन्तर उसकी समीक्षा करी हुए उदाहरण देकर उसका सामंजस्य पटित करते हैं, यह उनकी सामान्य प्रणाली है, जिसका प्रयोग अनेकत्र हुआ है। काव्य का लक्षणा दिया गया है :--

" रमणीया प्रतिपादकः शब्दः काव्यम् । " १

तदनन्तर विवेचन चलता है :--

" रमणीयता च लोकोत्तराह्लादनकान्तगीचरता । वत्यादि । " २

काव्य-भर, भाव, गुण आदि के लक्षणा इसी पदपति पर प्रस्तुत किये गये हैं। लक्षणा पक्ष में न देकर गद्य में दिये गये हैं, अतः शब्दाभाव बाधक नहीं होता। सूत्र-शैली पर एक-एक पदावयव का कस कर रखा गया है। उदाहरण अपने मौलिक हैं। किसी दूसरे के नहीं लिये गये। जहाँ समीक्षा के लिए अपना किसी प्रतिपादक के लिए आवश्यकता पड़ी है, अन्य लोगों के उदाहरण भी लेकर रखे गये हैं, किन्तु बहुत कम।

### परमत्त समालोचन

इस सामान्य पृष्ठभूमि के अनन्तर प्रायः परमत्त समालोचन का अवसर आता है। अल्पसूत्र बोधित को माफ़ करने के अवसर तो सहज आत हो नहीं, अन्य बड़े से बड़े आचार्य से जहाँ बलक्षमति हो, निर्भोक्ता से उसका इतका किया गया है। इस प्रकार त्रिविध्य विषयक पूरी तरह छन जाता है।

### अन्य आचार्यों के प्रमाण

यत्र-तत्र आवश्यकतानुसार प्राचीन आचार्यों के प्रमाण भी, उनके विशिष्ट मत भी पण्डितराज उपस्थित करते हैं, कभी कभी नाम देकर, प्रायः नाम न देकर।

### मत-भेदों का उपस्थापन

मत-भेदों का उपस्थापन पण्डितराज एक विशेष तथा स्पष्ट पदपति पर करते हैं।



कैचित्, कश्चित्, अन्ये, अपर आदि शब्दों के द्वारा मत-भेद उपस्थित किया जात है। इन शब्दों का प्रयोग कभी पूर्व में होता है, कभी अन्त में।

कभी कभी मतभेदों का उपस्थित करने में प्राचीन तथा नवीन की विभाजक रेखा भी खींची गयी है। मम्मट का प्राचीन काटि में रखा गया है। इन रेखाओं में आलोचना-शास्त्र के विकास की झलक मिलती है। मम्मट विश्वनाथ के अनन्तर काव्य-शास्त्रीय चिन्तन किन दिशाओं में आ रहा था, किस विषय पर वह नूतन उपलब्धियाँ प्रस्तुत कर रहा था, इसकी प्रचुर सामग्री पण्डितराज में हमें मिलती है। काव्य-शास्त्र का इतिहास-लेखक इस दृष्टि से रसमंगाधर से बहुत कुछ पा सकता है। किन्तु से की बात है कि पण्डितराज ने इन अनेक मत-भेदों के प्रवर्तक अथवा उपस्थापकों के नाम-निर्देश नहीं किये। ये मत-भेद संभवतः आकर ग्रन्थों पर लिखी गयी टोकाओं से सम्बन्ध रखते हैं। परवर्ती काव्य-शास्त्रीय चिन्तन ग्रन्थ-रचना तथा सिद्धान्त-निर्माण की अपेक्षा इसी ओर अधिक उन्मुख हुआ था। यदि वे विभिन्न टोकाकारों की कृतियाँ आज हमें उपलब्ध हो सकें, तो काव्य-शास्त्रीय विकास के इस चरण की रेखाएँ कुछ उभरी हुई अंकित की जा सकें।

### मत-भेदों में पण्डितराज

इन्हीं मतभेदों में पण्डितराज भी कभी कभी छिपे बैठे रहते हैं। कई मतभेद सामने करके कभी किसी मत-विरोध का आर अथवा भुजाव प्रदर्शित करके, कभी पूर्व पूर्व मत का पर-पर मत द्वारा निराकरण करके अन्तिम मत की स्थापना द्वारा, कभी नव्योन्मेषदा लेकर तथा अपने का नवीनों की काटि में रखकर, और कभी स्पष्टतः अपने का सामन रख कर पण्डितराज अपने दृष्टि-बाण का स्पष्ट कर देते हैं। कहीं कहीं प्राचीन मान्यताओं का सिद्धान्त-पदा में रख कर "वस्तुतस्तु" जैसे शब्दों के द्वारा अपना निजी मत व्यक्त किया जाता है। पण्डितराज ऐसे ही स्थलों में छिप मिलते हैं। एक आलोचक के लिए ये स्थल अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व-पूर्ण हैं।

### मूल ढाँचा ध्वनि-सिद्धान्त का

पण्डितराज के विषय-निरूपण का मूल ढाँचा ध्वनि-सिद्धान्त का है। भरत, ध्वनि-कार, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, एवं मम्मटाचार्य की मान्यताओं को ही आधार बना कर रखा गया है। पण्डितराज यदि इनके सिद्धान्त पदा से असमत भी होते हैं, तो भी अपनी मान्यताओं को सिद्धान्त पदा पर जोपत नहीं, अपने का मत-भेद रूप में ही प्रस्तुत करते हैं।



उदाहरण-स्वरूप पण्डितराज रसादि का असंलक्ष्यक्रम ही नहीं, संलक्ष्यक्रम भी मानते हैं, किन्तु अपने दृष्टि-कोण को एक मत-भेद के ही रूप में रखते हैं, अन्यथा सर्वत्र रसादि को असंलक्ष्य-क्रम के रूप में ही लेते हैं। एक उदाहरण और लीजिए। पण्डितराज गुणों को रस-मात्र का धर्म नहीं मानते। किन्तु अपनी असहमति रखते हुए भी विवेचन का मूल ढाँचा आनन्दवर्धन तथा मम्मट के अनुसार ही रखते हैं। इस प्रकार उनके समक्ष प्रतिपादन-सामंजस्य की दुहरी जिम्मेवारी आ गयी है। एक ओर तो विभिन्न विषयों पर उन्हें प्राचीन मान्यताओं का सामंजस्य बनाम रखना है, दूसरी ओर अपने स्वतन्त्र दृष्टि-कोण का भी। पण्डितराज ने इस जिम्मेवारी को योग्यता से निवाहा है। ऐसे स्थलों पर वे प्रथम प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्त पक्ष का सामंजस्य प्रस्तुत करते हैं, पीछे वैकल्पिक स्थिति में अपनी मान्यता का। रसादि के व्यंजकों की समस्या की उदाहरण-स्वरूप देखा जा सकता है।

इस दुहरी विषय-निरूपण की प्रणाली का अपना ज्ञान के कारण जहाँ एक विद्वान् को दृष्टि में सिद्धान्त-विवेचन का अधिक महत्व है, वहाँ एक आलोचक के लिए पण्डितराज के उन मौलिक दृष्टि-कोणों का, जो प्रायः नाम-हीन आवरण में प्रस्तुत हुए हैं।

मूल सिद्धान्तों का परिचय मात्र

जिन मूल सिद्धान्तों को मम्मटादि आचार्यों के हाथ पूर्ण प्रतिष्ठा मिल चुकी है, तथा जिनके विवेचन प्राचीन आचार्यों ने विस्तार के साथ प्रस्तुत कर दिया है, यदि उनके विषय में कोई असहमति नहीं है, तो पण्डितराज उस विषय को विस्तार देकर व्यर्थ विष्ट-पेक्षण नहीं करेंगे। उसका बड़े संक्षेप में ही परिचय करा देंगे। वे अपने पाठक से अपेक्षा रखते हैं कि उसने उनका अध्ययन किया होगा। किन्तु यह अपेक्षा बहुत सीमित है। उन सिद्धान्तों का जितना परिचय आवश्यक होगा, उतना वे अवश्य करा देंगे। थोड़े में, सरलता से स्पष्टता और स-ध्वनि भेद, गुण-विवेचन, संलक्ष्यक्रम-ध्वनि भेद आदि विषय इस दृष्टि से देख जा सकते हैं।

सीधे वस्तु की ओर

पृष्ठभूमि का परिचय देते हुए पण्डितराज सीधे उस ओर जा पहुँचेंगे, जिस ओर उन्हें कोई विशेष बात कहनी है। उदाहरण-स्वरूप संलक्ष्यक्रम ध्वनि के विभिन्न भेदों का सामान्य परिचय करा कर, तथा भेदों के विषय में अपना दृष्टि-कोण उपस्थित करते हुए, वे सीधे शब्द-शक्ति मूलक ध्वनि की अभिव्यक्ति संबन्धी शास्त्रार्थ पर जा लगते हैं।



### पृष्ठभूमि की सापेक्षता

इस प्रकार पण्डितराज को सुचारु रूप से समझने के लिए प्रत्येक विषय पर तद्विषयक व्यापक पृष्ठ-भूमि का ज्ञान अपेक्षित है। अनेक स्थलों पर उनकी बात वहाँ से प्रारंभ होती है, वहाँ पर पूर्वाचार्यों ने अपनी बात छोड़ा थी। हम अग्रिम अध्यायों में रसगंगाधर के अपने विवेच्य भाग में से प्रमुख-प्रमुख विषय चुन कर उनकी शास्त्रीय समीक्षा प्रस्तुत करने जा रहे हैं। आवश्यकतानुसार हम तद्विषयक पृष्ठ-भूमि का भी साथ ही साथ अवलोकन करेंगे।

### मुख्य विषय

हमने अभी रसगंगाधर के विषय-क्षेत्र पर दृष्टि डाली है। उसके अन्तर्गत महत्व-पूर्ण निम्न विषय आते हैं:—

#### विवेचन

१-काव्य-तत्त्व

२-रस

३-भाव-ध्वनि

४-गुण-विवेचन

५-शब्द-शक्ति विवेचन

६-अलंकार-विवेचन

इनमें से अलंकार विवेचन हमारे शोध-प्रबन्ध की सीमा में नहीं आता। अतः हम प्रथम ५ विषयों पर ही यत्किञ्चित् विस्तार के साथ विचार करेंगे। तदनन्तर अन्य कुछ आवश्यक विषयों पर दृष्टि-पात रहेगा।





---

## द्वितीय अध्याय

( काव्य-विवेचन )

पृ० ३१—१००

१—काव्य-लक्षण

२—काव्य हेतु

३—काव्य-भेद

---



## काव्य - - - विवेचन

गत अध्याय में हम रसगंगाधर के विषय-परिचय के साथ देख चुके हैं कि पण्डितराज ने सर्व-प्रथम काव्य-सम्बन्धी तीन प्रमुख विषयों पर विवेचना प्रस्तुत किया है : १-काव्य-लक्षण, २-काव्य-हेतु, ३-काव्य-भेद। काव्य-प्रकाश तथा उसके अनुकरण पर लिखे गये साहित्य-दर्पण, काव्यानुशासन<sup>१</sup> जैसे अनेक ग्रन्थों के भी ये ही प्राथमिक विवेच्य विषय रहे हैं। प्रस्तुत अध्याय में हम पण्डितराज द्वारा निरूपित इन तीन विषयों का क्रमशः समीक्षात्मक अध्ययन उपस्थित करना चाहते हैं। प्रथम काव्य-लक्षण को लेते हैं।

### काव्य - - लक्षण

काव्य-लक्षण के विवेचन में हम तीन बातें रखना चाहते हैं : १-काव्य-लक्षण की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि, २-पण्डितराज का काव्य-लक्षण, ३-समीक्षा।

पण्डितराज के काव्य-लक्षण को ठीक प्रकार से समझने के लिए एतद्विषयक भारतीय चिन्तन-धारा के विकासात्मक पद-क्रमों का पर्यालोचनात्मक परिचय लाभ-प्रद रहेगा। हम उसके आधार पर ही समीक्षा को तुलनात्मक बना सकेंगे। पण्डितराज के काव्य-लक्षण सम्बन्धी वक्तव्य को, तथा उसके मूल में निहित उनकी चिन्ता-धारा को स्पष्ट करने के लिए उनके शब्दों पर एक व्याख्यात्मक दृष्टि भी अपेक्षित है। और तब हम कुछ शास्त्रीय, कुछ तुलनात्मक, तथा कुछ स्वतन्त्र दृष्टि से पण्डितराज के काव्य-लक्षण की समीक्षा का अवसर हमें प्राप्त करेगा। संक्षेप में हमारे प्रस्तुत काव्य-लक्षण विवेचन की यही दिशा रहेगी।

प्रथम हम काव्य-लक्षण की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि पर संक्षेप में विचार करेंगे।

### ऐतिहासिक - पृष्ठभूमि

यों तो संस्कृत साहित्य-शास्त्र आचार्य-परम्परा से भरा पड़ा है, किन्तु हम विवेचन के लिए यहाँ प्रमुख आचार्यों को ही लेंगे। सुविधा की दृष्टि से पण्डितराज से पूर्व के युग को हम निम्न तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं :--

- |                    |       |                         |
|--------------------|-------|-------------------------|
| १- अलङ्कार-युग     | ----- | भामह से आनन्द-वर्धन तक। |
| २- पूर्व ध्वनि-युग | ----- | ध्वनि-कार से मम्मट तक।  |
| ३- उत्तर ध्वनि-युग | ----- | मम्मट से पण्डितराज तक।  |

भारत का नाम नाट्य-शास्त्र के लिए सुरक्षित कर लेने पर काव्य के प्रकृत क्षेत्र में "भामह" प्रथम उपलब्ध नाम है। अतः काव्य-लक्षण का इतिहास भामह से ही हम प्रारम्भ कर सकते हैं।



अलंकार-युग ----- भामह से ध्वनि-वार तक

भामह

भामह अलंकार-वादी आचार्य हैं। उनका काव्य-लक्षण निम्न है :--

"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् । " १

अर्थात् शब्द तथा अर्थ दोनों मिल कर काव्य है। यहाँ हमारे समक्ष एक बात आती है। समान शब्द का प्रयोग करके भी विभिन्न प्रयोक्ताओं का प्रतिपाद्य प्रायः एक ही नहीं होता। भामह भी "शब्दार्थौ काव्यम्" कहते हैं, तथा मम्मट भी "तददोषौ शब्दार्थौ सुगुणावनलंकृतौ पुनः क्वापि" कह कर "शब्दार्थौ काव्यम्" ही कहते हैं। किन्तु दोनों के शब्द-प्रयोग की व्याप्ति एक ही नहीं हो सकती। दोनों के दृष्टि-कोण एवं चिन्तन-व्याप्तियाँ कदापि एक नहीं रहीं। किसी के शब्द-प्रयोग की चिन्तन-व्याप्ति क्या है, यह उसके वक्तव्य के पूर्वापर प्रसंग से ही जाना जा सकता है। अतः हमें चाहिए कि हम विवेच्य आचार्यों की मान्यताओं के साथ उन की चिन्तन-व्याप्तियाँ भी समझते चलो। भामह शब्द तथा अर्थ से क्या कहना चाहते हैं, इसके लिए उनके पूर्वापर प्रसंग पर भी दृष्टि डालनी पड़ेगी। उनका विवेचन इस प्रकार है :--

"रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः ।

न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्॥

रूपकादिरलङ्कारं बाह्यमान्धाते परे ।

सुपां तिहो च व्युत्पत्तिं वाचां वाङ्मन्थलङ्कृतिम् ॥

तदेतदाहुः सोशब्दं नाव्युत्पत्तिरीदृशी ।

शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ॥

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् - - - - - । " २

इन कारिकाओं में भामह ने अपने से पूर्व-वर्तिनी दो विचार-धाराओं का उल्लेख किया है। एक विचार-धारा अलङ्कारों को काव्य-सौन्दर्य का मूलधार मानती है, दूसरी शब्दालङ्कारों को। दोनों धाराएँ काव्य-चारुता का आधार अलङ्कारों में ही खोजती हैं। दोनों के प्रमुख तर्क इस प्रकार रहे जा सकते हैं :--

अर्थालङ्कार-वादी धारा

काव्य के सौन्दर्याधायक तत्वों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं : एक- शब्द-गत, दूसरे- अर्थ-गत। संज्ञा-शब्द (सुप्) और क्रिया-शब्द (तिङ्) की कुशल योजना (व्युत्पत्ति) से उत्पन्न होने वाली चारुता शब्द-गत सौन्दर्य है, जिसे एक शब्द में "सोशब्द" कहा जा सकता है। अर्थ-गत सौन्दर्य में रूपकादि अलंकार आते हैं, जिनमें अर्थ की कुशल योजना (अर्थ-व्युत्पत्ति) अपेक्षित है।

अर्थालङ्कार-वादों का तर्क है कि काव्य के आन्तरिक पक्ष से इन्हीं अर्थालङ्कारों का वास्तविक सम्बन्ध है। जिस प्रकार रमणों का स्वतः सुन्दर भी मुख बिना अलङ्कारों के शोभित नहीं होता, उसी प्रकार इन रूपकादि अलङ्कारों के बिना काव्य की शोभा नहीं। काव्य की चारुता के ये ही मूल आधार हैं, शब्द-चारुता या सोशब्द तो काव्य का शरीर-गठन मात्र करते हैं। शब्द-गठन की चारुता कान्त वनितानन का निर्माण भर करती है, किन्तु उससे काव्य

१- काव्यालङ्कार : भामह : १।१६ ।

२- काव्यालङ्कार : भामह : १।१३, १४, १५, १६ का पूर्वार्ध।



को वास्तविक शोभा का सर्जन नहीं होता।

### शब्दालङ्कार-वादी धारा

दूसरा पक्ष शब्दालङ्कार-वादियों का है। उनका तर्क है कि काव्य का प्राथमिक सौन्दर्य तो शब्द-कौशल या सौशाल्य में ही है। शब्द ही काव्य की स्वरूप-प्रतिष्ठा के मूलधार हैं, अर्थ को तो शब्द के अनन्तर ही अवकाश मिलता है। फलतः अलङ्कार काव्य के बहिरङ्ग उपादान हैं। अतः काव्य शब्दालङ्कारों में ही है।

इन दोनों विचार-धाराओं से यह स्पष्ट है कि किस प्रकार भामह-कालीन युग काव्यात्म एवं काव्य-सौन्दर्य के आधार-तत्त्वों की खोज कर रहा था। एक वर्ग के लोग अलङ्कारों को काव्यत्व का आधार समझते थे, दूसरे वर्ग के शब्दालङ्कारों को। प्रतिस्पर्धा की भावना में वह कर एक दूसरे के महत्त्व का अवमूल्यन कर उठे थे। काव्यात्मा की खोज अलङ्कारों में ही हो रही थी। भामह ने दो विरोधिनी धाराओं में मानी सामंजस्य बिठाते हुए कहा :--

"शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ।

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् - - - - - । " १

अर्थात् हमें शब्दालङ्कार तथा अलङ्कार दोनों इष्ट हैं। हमारी दृष्टि में शब्द तथा अर्थ अर्थात् शब्दालङ्कार तथा अलङ्कार दोनों ही मिलकर काव्य हैं।

इस विवेचन से यह सुस्पष्ट है कि भामह काव्य-चारुत्व को अलङ्कार-चारुत्व में ही खोजते हैं। इसी कारण वे अलङ्कार-वादी हैं। समान शब्द प्रयोग करने पर भी भामह तथा मम्मट को अर्थ-व्याप्ति निस्सन्देह भिन्न है।

भामह के उपर्युक्त काव्य-लक्षण द्वारा काव्य-दर्शन की किसी गम्भीर समस्या का हल तो नहीं हुआ, हाँ एक साहित्यिक विवाद का द्वार अवश्य खुल गया। काव्य की आत्मा का निर्णय तथा उसके साथ अन्य अलङ्कारादि अवयवों की सामंजस्य-व्यवस्था हो जाने पर भी कई शताब्दियों तक यह विवाद चलता रहा कि काव्य शब्द में माना जाय अथवा अर्थ में ? संस्कृत काव्य-शास्त्र का यह एक प्रमुख विवेच्य विषय बन गया जिसमें पण्डितराज ने भी भाग लिया है।

### दण्डी

दण्डी का काव्य-लक्षण निम्न है :--

"शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली । " २

वहाँ तक दण्डी की पदावली का सम्बन्ध है, वह पण्डितराज के "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" के बहुत निकट है। किन्तु दण्डी तथा पण्डितराज की चिन्तन-व्याप्तियाँ निस्सन्देह भिन्न हैं। दण्डी के विवेचन-प्रसङ्ग से विदित होता है कि वे प्रथम तो अर्थ-वाद के रूप में काव्य की महत्त्व-प्रशंसा करते हैं, तदनन्तर यह बताते हुए कि विद्वानों ने जिज्ञासुओं की व्युत्पत्ति के लिए उस काव्य को क्रिया-विधि का संविधान किया है, वे काव्य के स्वरूप के विषय में अपना दृष्टि-कोण उपस्थित करते हैं :--

"हृदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायते भुवनत्रयम्।

यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते ॥ " ३

अतः प्रेक्षानो व्युत्पत्तिमभिसंघाय-सरयः ।

वाचा विचित्रमार्गैर्णा निबबन्धः क्रियाविधिम् ॥ " ४

१-भामहः काव्यादर्शः १।१५, १६। २-दण्डीः काव्यादर्शः १।१७। ३-वहोराष्टा ४-वहोराष्टा।



" तैः शरीरं च काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः ।

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥ " १

अर्थात् काव्य को क्रिया-विधि का निबन्धन करने वाले विद्वानों ने काव्य के शरीर तथा अलङ्कारों का अलग अलग विवेचन किया है। उसमें काव्य का शरीर तो इष्टार्थ से युक्त पदावली होती है।

यद्यपि इन पद्धि-कवियों में दण्डी ने स्पष्टतः काव्य के शरीर-मात्र का ही स्वरूप बताया है, तथापि उन्होंने उद्देश-रूप में यह प्रतिज्ञा की है कि हम अपनी सामर्थ्य के अनुसार काव्य का लक्षण प्रस्तुत कर रहे हैं :-

" यथासामर्थ्यमस्माभिः कियते काव्य-लक्षणम् । " २

इस प्रतिज्ञा को ध्यान में रख कर हमें दण्डी के उपर्युक्त शब्दों को काव्य का लक्षण ही समझना चाहिए । काव्य के लक्षण में उनकी दृष्टि, हम देखेंगे, युग-सामा के अन्तर्गत ही रही है।

काव्य की आत्मा के विषय में दण्डी की दृष्टि भामह से अधिक स्पष्ट है। वे आत्मा और शरीर का भेद समझ कर काव्य-लक्षण की ओर प्रवृत्त होते हैं। कवि होने के नाते उनकी रस-चेतना भी भामह से अधिक उद्बुद्ध है। अलङ्कारों के साथ काव्य में उन्हें रस भी अपेक्षित है। किन्तु उन्होंने रस को रसवदलंकार के रूप में ही देखा है। दूसरे वे रस-शब्द का प्रयोग केवल भावात्मक आनन्द के लिए ही नहीं करते, अलंकार-जन्य आह्लाद को भी रस का एक रूप ही समझते हैं। वे अग्राम्यता नामक गुण के प्रसंग में, प्रासंगिक रूप से ही सही, यह मान कर चलते हैं कि समस्त अलङ्कार अर्थ में रस का संचार करते हैं :-

" कामं सर्वोप्यलङ्कारो रसमर्थे निष्पिञ्चति । " ३

यहां "रस" शब्द व्यंजित स्थायि-भावों के भावात्मक आनन्द के लिए न होकर, अलंकार-चमत्कार से अनुभूयमान आह्लाद के लिए ही आया है। वहां एक रस-वादी आचार्य रस के परिपोषक अलङ्कारों को ही "अलङ्कार" कहना चाहता है, वहां दण्डी समस्त अलङ्कारों से अनिवार्यतः रस-सृष्टि मान कर चलते हैं। अतः उनकी काव्यानन्द सम्बन्धी मान्यता रस-वादी से कुछ भिन्न है। दण्डी के अनुसार काव्यानन्द के मूल आधार तत्त्व तो अलंकार ही हैं, किन्तु उन अलङ्कारों में शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार ही नहीं, रसवदलादि अलङ्कार भी सम्मिलित हैं।

दण्डी ने काव्य को "इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली" कहते हुए पण्डितराज के समान अपने "इष्टार्थ" को स्पष्ट नहीं किया। फिर भी उसकी सीमाएं निर्धारित-प्रायः हैं। भामह-दण्डी के युग का "इष्टार्थ" क्या था, इस का अनुमान हम भामह के शब्दों से लगा सकते हैं :-

" शब्दाभिधियालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः । " ४

१- दण्डी : काव्यादर्श : १।१० ॥

२- दण्डी : काव्यादर्श : १।२ ॥

३- दण्डी : काव्यादर्श : १।१८-१९ ॥

अलङ्कृतमसंक्षिप्तं रसभावगिरन्तरम् ।

सौरनतिविस्तोर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसंधिभिः ॥

सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तेरुपेतं लोकरज्जनम् ।

४- दण्डी : काव्यादर्श : १।११ ॥

५-भामहः काव्यालंकार : १।१५ ॥



भामह का दृष्ट शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार दोनों हैं। उनके युग के एक वर्ग का दृष्ट या अर्थालङ्कार<sup>१</sup>, दूसरे का शब्दालङ्कार, यह हम देख ही चुके हैं। इस युग-चेतना के सन्दर्भ में दण्डी के दृष्टार्थ की सीमा अर्थालङ्कारों तक ही सीमित प्रतीत होती है, जिसमें अधिक से अधिक रसवदादि अलङ्कार भी सम्मिलित किये जा सकते हैं।

दण्डी के इस काव्य-लक्षण की सीमा भी संकुचित ही है, चाहे वह भामह की अपेक्षा कुछ व्यापक भले ही हो। उन्हें अधिक से अधिक एक उदार अलङ्कार-वादी कहा जा सकता है, कवि होने के नाते जिनको रस-चेतना अपेक्षाकृत उद्बुध थी। किन्तु उनका "दृष्टार्थ" अर्थालङ्कारों से अधिक आगे नहीं बढ़ सका था।

वामन

भामह-दण्डी का महाकाल अपने युग पर छाया रहा। सामान्यतः शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार दोनों का वा अर्थालङ्कार-विशिष्ट शब्दार्थकाव्य माने जाते रहे। किन्तु वामन ने दण्डी के रीति विवेचन से प्रेरणा लेकर, जिसे दण्डी मार्ग कहते हैं, रीतियों की हो काव्य की आत्मा कहा।<sup>३</sup> रीतियों से उनका तात्पर्य गुण-विशिष्ट पद-रचना से था।<sup>४</sup> यदि उनके शब्दों का ही अर्थ लिया जाय, तो उनके अनुसार गुण-विशिष्ट पद-रचना काव्य की आत्मा हुई। किन्तु रचना काव्य का बाह्याङ्ग ही होता है, उसे काव्य की आत्मा तो नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वे अलङ्कारों के साथ ही काव्य में गुण का स्थान बनाना चाहते थे। यह स्थान उनके पूर्वजों ने अलङ्कारों के लिए ही सुरक्षित रख छोड़ा था।

काव्य शब्द में है अथवा अर्थ में इस विषय में वामन को भामह की "शब्दार्थो सहितो काव्यम्"<sup>५</sup> वाली मान्यता ही सम्मत है। किन्तु वे पूछते हैं, क्या सामान्य शब्द और अर्थ काव्य नहीं। भामह कहते थे, शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार से विशिष्ट शब्दार्थ काव्य है। वामन ने कहा- नहीं, गुण और अलङ्कार दोनों से विशिष्ट शब्दार्थ काव्य है। केवल शब्द तथा अर्थ को काव्य कहना तो औपचारिक है :—

"काव्यशब्दोयं गुणात्कारसंस्कृत्योः शब्दार्थयोर्वर्तते । भक्त्या तु शब्दार्थभाववचनो गृह्यते ।"<sup>६</sup>

"न कान्तमपि निर्भूषा विभाति वनिताननम्"<sup>७</sup> उस युग की एक निष्पन्न मान्यता थी। वामन भी उससे परे जाने की क्षमता नहीं रखते थे। "काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्" काव्य अलङ्कार-तत्त्व के ही कारण ग्राह्य है, यह स्वीकार करने के लिए वे भी मजबूर थे। यह उनके व्यक्तित्व की दुर्बलता थी। तथापि उन्होंने "अलङ्कार" शब्द की व्यापकता देने का प्रयास किया है। उनके अलङ्कार शब्द की व्याप्ति अनुप्रासादि या उपमादि रूढ़ अलङ्कारों तक ही सीमित नहीं थी, उन्होंने अलङ्कार शब्द की "सौन्दर्य" "शोभा" या "अलङ्कृति" के पर्याय में ग्रहण किया है।

१- "रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बुधोदितः।" भामह : काव्यालङ्कार : १।१३ ।

२- "सुपां तिहो व व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम्।" भामह : काव्यालङ्कार : १।१४ ।

३- "रोतिरात्मा काव्यस्य।" वामन : काव्यालङ्कार-सूत्र : २।६ ॥

४- "विशिष्टा पद-रचना रीतिः।" वामन : काव्यालङ्कार-सूत्र : २।७ ॥

"विशोषो गुणात्मा।" २।८ ॥

५- वामन : काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्ति : १।१ । ६- भामह : काव्यालङ्कार : १।१३ ॥

७- "सौन्दर्यमलङ्कारः।" "अलङ्कृतिरलङ्कारः।" वामन : काव्यालङ्कार-सूत्र तथा वृत्ति : १।२।



काव्य की ग्राह्यता इसी सौन्दर्य या शोभा-तत्त्व से है। अलङ्कार शब्द का यह भाव-व्युत्पत्तिक प्रयोग था। यदि आप वामन से पूछें, कि जो परम्परा से करण-व्युत्पत्तिक अलङ्कार शब्द उपमादि के लिए चला आ रहा है, उसका क्या होगा ? तो वामन का आप के लिए यही उत्तर है, कि आप उसे उपमादि के लिए ज्यों का त्यों सुरक्षित रख सकते हैं, हमें कोई बाध नहीं।<sup>१</sup>

वस्तुतः वामन ने एक सत्य का उद्घाटन किया था, कि काव्य की ग्राह्यता "सौन्दर्य" से है।<sup>२</sup> किन्तु वे अपने युग की सीमाओं में ही सीधे सके थे। फलतः उन्होंने सौन्दर्य को दोष-त्याग तथा गुणालङ्कार-ग्रहण की सीमाओं में ही बाँध दिया। सौन्दर्य-सीमा-निर्धारण करते हुए वे कहते हैं :—

" स दोषगुणालङ्कारहानीपादानाभ्याम् । " ३

इस प्रकार वामन के अनुसार दोष-रहित, सुगुण, सालङ्कार शब्द तथा अर्थ काव्य हैं।

वामन अन्य अलङ्कार-वादों आचार्यों की अपेक्षा काव्य के मूल सत्त्वों के अधिक समीप पहुँचे थे। किन्तु यह बात आपेक्षिक ही है। न तो काव्य-सत्त्वों का पूर्ण साक्षात्कार ही वे कर पाये थे, और न काव्य का कोई शास्त्रीय लक्षण ही प्रस्तुत कर सके थे। उनके गुणों का दृष्टि-कोण रस-वादों से भिन्न है। रस-या कवि-ध्वनि-वादों गुण का सम्बन्ध सीधे रस से जोड़ता है। किन्तु वामन के गुण शब्द तथा अर्थ से सीधे सम्बन्ध होने के कारण भाषा या रचना के बाह्य एवं आन्तर परातल तक ही सीमित रहे। इस प्रकार काव्य का मूल सौन्दर्य फिर भी अछूता रहा। वे मूल सौन्दर्य के बाह्य का ही चक्कर काट कर रह गये। फिर भी, चाहे उनकी दृष्टि सौन्दर्य के विषय में पण्डितराज के समान व्यापक भले हो न हो, काव्य में सौन्दर्य का महत्व स्वीकृत करते हुए उन्होंने एक बड़ी बात कही थी। अलङ्कारों की अपेक्षा गुण-तत्त्व को काव्य में वास्तविक उपादेय ठहरा कर<sup>४</sup> उन्होंने काव्य-चिन्तन की धामल-दण्डी से बहुत-कुछ आगे सिसकाया था।

रुद्रट

रुद्रट भी एक अलङ्कार-वादों आचार्य हैं। लक्षण के विषय में उनका कोई विशिष्ट योग-दान नहीं। हाँ, उनसे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि उनके समय में आचार्य-चेतना इस विवाद में ग्रस्त थी कि काव्य शब्द में हे अथवा अर्थ में। वे मानो आश्वस्त होकर एक बार ही इस बसेड़े की तय कर देना चाहते हैं :—

" ननु शब्दार्थ काव्यम् । " ५

किन्तु शब्द तथा अर्थ के पोछे शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार-सीमा की जो एक युग-चेतना थी, उससे रुद्रट भी कैसे मुक्त हो सकते थे ?

१- "करणव्युत्पत्त्या पुनरलङ्कारशब्दोऽयमुपमादिषु वर्तते।" वामनः काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः

२- "काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्।" वामनः काव्यालङ्कार-सूत्र : १।१।१।१।२।

३- वामनः काव्यालङ्कार-सूत्र : १।१।२।।

४- "काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।" "तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।"

ये खलु काव्यशोभां कुर्वन्ति, ते गुणाः। ते बीजः प्रसादादयः। न येमकोपमादयः। नैवत्येन तेका-मकाव्यशोभाकरत्वात्। बीजः प्रसादादानां तु केवलानामस्ति काव्यशोभाकरत्वम्।

वामनः काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः : सूत्र तथा वृत्ति, १।१।१-२।।

५- रुद्रटः काव्यालङ्कारः : १।१। हिस्ट्री आफ् सं० पो०ः कर्णः : पृष्ठ ३३८।



पूर्व ध्वनि-युग - - - - ध्वनि-कार से मम्मट तक

ध्वनि-पूर्वाय उपर्युक्त अलङ्कार-युग में काव्य-लक्षण के सम्बन्ध में आचार्य-चेतना किस प्रकार काव्य के मूल सत्त्वों की ओर शनैः शनैः बढ़ रही थी, यह हम अभी देख चुके हैं। किन्तु वह अलङ्कार-अलङ्कार्य का भेद कर के नहीं चली थी, फलतः उसके निष्कर्षों में काव्य का आत्म-पक्ष प्रायः खो जाता था, और उसकी दृष्टि अलङ्कार-सौन्दर्य पर ही टिक जाती थी। रस की भी अलङ्कारों के माध्यम से समझा जाता था, तथा गुण भी शब्द और अर्थ के ही सन्दर्भ में रख कर देखे जाते थे। नवम शताब्दी के मध्य में ध्वन्यालोक की रचना काव्य-शास्त्र के इतिहास में एक क्रान्ति-कारिणी घटना है। इसके रचयिताओं ने काव्य की आत्मा ध्वनि को निर्धारित करते हुए अलङ्कार्य एवं अलङ्कार का पृथक्करण कर दिया। गुणों का रस से स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित करते हुए समस्त अङ्गों से काव्यात्मा को समजस योजना कर के एक सुन्दर व्यवस्था कर दी गयी। इस व्यवस्था से दृष्टि-कोणों में एक महान् परिवर्तन उपस्थित हो गया। "दृष्टार्थव्यवच्छिन्न शब्द काव्य है" "सगुण शब्दार्थ काव्य है" अथवा ऐसी ही अन्य पदावलिओं की व्याप्तियाँ ही बदल गयीं। ध्वनि-परवर्ती युग के दृष्टि-कोण में एक सफ़ाई आ गयी। काव्य-विवेचनों में अब तक रस और सहृदय की अनुभूति के पक्ष प्रायः उपेक्षित से रहते थे। अब सभी विवेचनों में, फलतः काव्य-लक्षणों में भी इधर ध्यान जाने का स्वाभाविक अवकाश हुआ।

#### कुन्तल

ध्वनि-परवर्ती काल में कुन्तल एक मौलिक प्रतिभा है। ध्वनि-कार, आनन्द-वर्धन, तथा अभिनव गुप्त ने काव्य-दर्शन के जिन मूल सत्त्वों का आत्म-मुखी दर्शन किया था, कुन्तल ने उन्हीं सत्त्वों का वस्तुन्मुखी साक्षात्कार किया था। यदि ध्वनि-सिद्धान्त को काव्य का भाव-पक्षीय दर्शन कह सकें, तो वक्रोक्ति-विवेचन को उसको कला-पक्षीय सीमांसा कहा जा सकता है। कुन्तल केवल अपने में अपूर्ण हैं।

कुन्तल ने काव्य-लक्षण निम्न शब्दों में दिया है :-

" शब्दार्थौ संहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।

बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥ " १

कुन्तल के अनुसार मर्मस्पर्शिनी, वक्रता-मय, कवि-कौशल समन्वित रचना में स्थित शब्द और अर्थ काव्य हैं। कुन्तल के मन्तव्य को समझने के लिए उनकी वक्रोक्ति-सम्बन्धित धारणा का परिचय आवश्यक है। वे वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। यह वक्रोक्ति क्या है ?

" शब्दो विविधितार्थकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि ।

अर्थः सहृदयाह्लादकारी स्वस्पन्दसुन्दरः ॥

उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः ।

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते ॥ " २

किसी अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए भाषा के भाण्डार में अनेक शब्द हो सकते हैं, किन्तु कवि उस शब्द का प्रयोग करता है, जो सब से अधिक, और केवल वही, उस अर्थ को ठीक

१- कुन्तल : वक्रोक्तिर्जीवितः प्रथम उन्मेषः कारिका ७ ।

२- कुन्तल : वक्रोक्तिर्जीवितः प्रथम उन्मेषः कारिका ९-१० ॥



दे सकता है। काव्य का अर्थ भी स्वतः रमणीय, स्वस्पन्द-सुन्दर तथा सहृदयानुदादकारी होता है। इस प्रकार के अर्थ तथा "विवक्षितार्थकवाचक शब्द" दोनों काव्य के अलङ्कार होते हैं, अलङ्कार नहीं। अलङ्कार उनकी शोभा के बाह्य उपकरण हैं, जो उपर्युक्त शब्द एवं अर्थ - दोनों को अलङ्कृत कर सकते हैं। इस प्रकार की रचना में अभिव्यञ्जना की अद्भुत बहिष्कृता होती है, उसी वैदग्ध्य-भङ्गी-भणित को ही "वक्रोक्ति" कहते हैं। यह वक्रोक्ति भाषा के सामान्य प्रयोग में कवि-कौशल द्वारा उपस्थित की हुई भङ्गी-गमा या विच्छित्ति का ही दूसरा नाम है :-

" वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा । वैदग्ध्यं कवि-कौशलं, तस्य भङ्गी विच्छित्तिः । " १

स्पष्ट है कुन्तल वक्रोक्ति से उक्ति-सौन्दर्य अथवा अभिव्यञ्जना की बहिष्कृता का ग्रहण करते हैं। कुन्तल की चेतना में अभिव्यञ्जना के दो पक्ष दृष्टि-गोचर होते हैं : एक है, आन्तर पक्ष, वक्रोक्ति का : दूसरा है, बाह्य, गुण-अलङ्कार का। प्रथम पक्ष, जैसा कि हम देख चुके हैं, स्वस्पन्द सुन्दर अर्थ से घुला-मिला है, अधिक दूर का नहीं। फिर भी अभिव्यञ्जना का आन्तर पक्ष ही काव्य नहीं है। कुन्तल अपने विवेचन में वस्तुन्मुख हो जाते हैं। शब्द के विशिष्ट साहित्य की चर्चा करते हुए वे काव्य में वक्रता-विचित्र गुणालङ्कार सम्पद् का परस्पर प्रतिस्पर्धा अधिरोह अपेक्षित समझते हैं :-

" विशिष्टमेवेह साहित्यमस्मिन्मभिप्रतम् । कीदृशम् ? वक्रताविचित्रगुणालङ्कारसम्पदां परस्परस्पर्धाधिरोहः । " २

कुन्तल ने यहाँ वक्रता एवं गुणालङ्कार-सम्पद् के जिन दो उपादानों की प्रतिस्पर्धा की चर्चा की है, वे अभिव्यञ्जना के ही ऊँचे-नीचे स्तर हैं। उनकी वक्रोक्ति अभिव्यङ्ग्य एवं अभिव्यञ्जक के विभिन्न स्तरों को अपने में समेटती हुई भी "विचित्र अभिधा" अथवा अभिव्यञ्जना की सीमा से परे नहीं जाती :-

" विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते । " ३

इस प्रकार कुन्तल के विवेचन में अभिव्यङ्ग्य-पक्ष को, काव्य के मूल आत्म-तत्त्व को वह प्रसफुट अवकाश नहीं मिल पाया, जो मिलना चाहिए। इसी कारण भस्स्तीस्यपरवर्ती आचार्यों को, जो कि ध्वनि-सिद्धान्त को व्यापक चेतना से अधिक आकृष्ट थे, वक्रोक्ति-वाद प्रभावित नहीं कर सका।

भोज

संस्कृत काव्य-शास्त्र के इतिहास में भोज संकलनात्मक प्रवृत्ति के लिए प्रसिद्ध है। उनका काव्य-लक्षण भी इस प्रवृत्ति से शून्य नहीं है। उनका काव्य-लक्षण निम्न है :-

" निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् । रसान्वितं कविः कुर्वन् - - - । " ४

इस लक्षण में भामह, दण्डी, वामन के तत्त्वों का संकलन प्राप्त होता है। भोज की मान्यता मम्मट के बिल्कुल समीप है। केवल अन्तर है तो इतना कि भोज में मम्मट की अपेक्षा अलङ्कारों का अधिक स्वागत है।

१- कुन्तल : वक्रोक्ति-जीवित : उन्मेष १ : वृत्ति कारिका १० : पृष्ठ ५१। हिन्दी वक्रो. ।

२- कुन्तल : वक्रोक्ति-जीवित : उन्मेष १ : वृत्ति कारिका ७ : पृष्ठ २५। हिन्दी वक्रो. ।

३- कुन्तल : वक्रोक्ति-जीवित : उन्मेष १ : वृत्ति कारिका १० : पृष्ठ ५१। हिन्दी वक्रो. ।

४- सैरस्वतीकण्ठाभरण : भोज : परिच्छेद १ : २ ।



## मम्मट

मम्मट ने अपना काव्य-लक्षण इन शब्दों में प्रस्तुत किया है :—

" तददोषौ शब्दार्थौ सुगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि । " १

मम्मट का यह लक्षण अपनी सरलता के कारण सर्वाधिक प्रिय रहा है। वस्तुतः यह उनका कोई मौलिक पथ-निर्माण का प्रयास नहीं। उन्होंने इस लक्षण में ध्वनि-वाद की मान्यताओं को ही सरल भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस में सभी काव्यांगों के समुचित सामं-जस्य का प्रयत्न किया गया है। शब्द तथा अर्थ दोनों ही मिल कर काव्य है, यह एक पुराने विवाद के विषय में उनका निर्णय है। दोष-हान एवं गुणालङ्कार-उपादान की बात वामन प्रतिपादित ही कर चुके थे।<sup>२</sup> भोज ने भी इन्हीं उपकरणों का संकलन किया था। किन्तु अलङ्कार-वादी दृष्टि से अधिक प्रभावित होकर भोज ने शब्दार्थ की अलङ्कारता को अपेक्षाकृत अधिक आग्रह से पकड़ा था। मम्मट में अलङ्कारों के प्रति वह आग्रह नहीं :—

"क्वापीत्यनेनैतदाह यत्सर्वत्र सालङ्कारौ, क्वचित्तु स्फटालङ्कारविरहेऽपि न कवित्व-हानिः । " ३

फिर भी मम्मट का मार्ग प्रशस्त हो चुका था। वामन की मान्यता ध्वनि-वाद के प्रकाश में उन्हें व्यावहारिक प्रतीत हुई। उसमें आवश्यक सुधार करके उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया।

मम्मट के लक्षण की सरलता एवं व्यावहारिकता ही उसकी चरम उपयोगिता है। उसकी शास्त्रीयता की चर्चा हम पण्डितराज के साथ तुलना करते हुए करेंगे।

## उत्तर-ध्वनि-युग

ध्वनि-वाद की सामंजस्य-वादिनी मान्यताएं मम्मट के हाथों व्यावहारिक व्यवस्था प्राप्त करके परवर्ती युग का आदर्श बन गयीं। इस युग में मम्मट का काव्य-लक्षण ही कुछ सामान्य हेर-फेर के साथ सामने किया जा रहा रहा।

इस युग में दो प्रकार की प्रतिक्रियाएं सामने आयीं। एक रस के आग्रही लोगों की, दूसरी अलङ्कार-वादियों की।

ध्वनि-सिद्धान्त की पूर्ण प्रतिष्ठा के साथ ही वह आवश्यकीय प्रश्न भी लोगों की दृष्टि में जाना स्वाभाविक था कि ध्वनि-सिद्धान्त में काव्य के आत्म-भूत तत्त्व को सर्व-प्रधान की स्थान मिलना चाहिए था, नहीं मिल सका। उसे वस्तु-ध्वनि तथा अलङ्कार-ध्वनि के समकक्षी मानना उन्हें नहीं रुच सका। ध्वनि-वाद के प्रति वह एक अनिवार्य प्रतिक्रिया थी। इस प्रतिक्रिया की प्रतिध्वनि काव्य-लक्षणों में भी सुनायी दी। शौद्धोदनि में हम उसी की झंकृति पाते हैं। उनका काव्य-लक्षण निम्न है :—

" काव्यं रसादिमहात्म्यं श्रुतं सुसविशेषकृत् । " ४

१-मम्मट : काव्य-प्रकाश : उल्लास १ : पृष्ठ १३ ।

२-" स दोषगुणलङ्कारहानादानोपादानाभ्याम् । " वामन : काव्यालङ्कारसूत्र : १।१।३ ।

३-मम्मट न काव्य-प्रकाश : उल्लास १ : पृष्ठ १७ ।

४- शौद्धोदनि : : अलङ्कारशेखर न पृष्ठ २ । हिस्ट्री आफ् अलङ्कार संस्कृत पीडिटिव्स : पी० वी० कर्णै : पृष्ठ ३३९ ।



इस प्रतिक्रिया को चरम परिणति विश्वनाथ में आकर हुई। किन्तु ये प्रतिक्रिया-वादी रहे ध्वनि-वाद के ढाँचे के भीतर ही।

दूसरी प्रतिक्रिया अलङ्कार-वाद के पक्षपातियों की थी। मम्मट के "अलङ्कृती पुनः क्वापि" की मान्यता उन्हें स्वीकार्य न थी। फलतः कुछ लक्षण-कारों ने गुण एवं अदोषता के समान ही शब्दार्थ की सात्वत्कारता का उल्लेख किया है। इस धारा का तीव्र प्रतिक्रिया-वादी स्वर जयदेव पोयूष-वर्ण की भाषा में सुनायी दिया। उन्होंने मम्मट का विरोध करते हुए कहा :--

" अलङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थानलङ्कृती ।

असा न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती ॥ " १

सामान्यतः इस युग के काव्य-लक्षणों की ये ही सामान्य विशेषताएँ रही, जैसा कि निम्न लक्षणों से स्पष्ट है :--

हेमचन्द्र-----"अदोषा सगुणा सात्वत्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।" २

विद्यानाथ-----"गुणात्वकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ। " ३

वाग्भट-----"शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सात्वत्कारौ काव्यम्।" ४

पोयूषवर्ण जयदेव के काव्य-लक्षण, में तो समस्त काव्योपकरणों को संकलनात्मक प्रवृत्ति उभर कर सामने आयी है :--

" निर्दोषा लक्षणवती सतीतिगुणभूषणा ।

सात्वत्काररसानेकवृत्तिवर्तिकाव्यनामभाक् ॥ " ५

स्पष्ट है इन लक्षणों में कोई नयी विचार-धारा या चेतना नहीं है। या तो मम्मट की नत-मस्तक स्वीकृति है, या फिर अलङ्कारों के स्थान को ध्यान में रखकर सामान्य सी हेर-फेर। वस्तुतः इस युग में एक ही महत्व-पूर्ण नाम आता है साहित्य-दर्पण-कार आचार्य विश्वनाथ का। विश्वनाथ रत्नाग्रहा आचार्य थे। अतः उन्होंने काव्य-लक्षण इन शब्दों में दिया है :--

" वाक्यं रसात्मकं काव्यम् । " ६

जहाँ तक विश्वनाथ की विचार-धारा की मौलिकता का सम्बन्ध है, शीघ्रोदनि इस दृष्टि-कोण को पूर्व ही प्रस्तुत कर चुके थे। तथा विश्वनाथ से अव्यवहित-पूर्व ही चण्डीदास ने भी काव्य-लक्षण इसी दृष्टि से प्रस्तुत किया था :--

" आस्वादजीवातुः पदसन्दर्भः काव्यम्। " ७

१-जयदेव पोयूषवर्ण : चन्द्रालोक : मयूख १ :

२-हेमचन्द्र : काव्यानुशासन ऋजु १ सू० ११ ।

३-विद्यानाथ : प्रतापसूत्रशोभूषण : काव्यप्रकरण १। पृष्ठ ४२ ।

४-वाग्भट : काव्यानुशासन : पृष्ठ १४ ।

५-जयदेव पोयूषवर्ण : चन्द्रालोक : मयूख १ :

६-विश्वनाथ : साहित्य-दर्पण : परिच्छेद १ : पृष्ठ १९ ।

७-चण्डीदास : काव्यप्रकाशदोषिका : पृष्ठ १३ : हिस्ट्री आफ़् संस्कृत पौडटिक्स :

पी० वी० कर्णे : पृष्ठ ३३९ ।



यों तो काव्य में रस-मात्र को ही आत्मा स्वयं अभिनव गुप्त ने भी किया है, किन्तु इस परवर्ती युग में रस-वाद का प्रतिनिधि विश्वनाथ को ही समझा जाने लगा। मम्मट की काव्य-लक्षणा सम्बन्धी मान्यता का निराकरण करके रस-मात्र को काव्य-आत्मा कह कर बड़े आग्रह के साथ केवल रसात्मकता के आधार पर काव्य-लक्षणा प्रतिपादित करने के कारण सम्भवतः यह हुआ ।

इन प्रतिक्रियाओं के साथ ही विशिष्ट-शब्दवाद तथा शब्दार्थोभय-वाद का पुराना विवाद भी किसी न किसी रूप में इस युग में भी चलता रहा। काव्य-प्रकाश की टीका-प्रटीकाओं में तथा स्वतन्त्र रचनाओं में उसकी प्रतिध्वनियाँ बनी रहीं ।

पण्डितराज से पूर्व के काव्य-लक्षणा सम्बन्धी इस इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि अलङ्कार-युग के निष्कर्ष ही ध्वनि-वाद के प्रकाश में परिमार्जित होकर मम्मट के हाथों एक व्यावहारिक एवं सरल रूप में सामने आये तथा मम्मट की महत्व-स्वीकृति के साथ ही परवर्ती युग द्वारा प्रायः अनुगत किये जाते रहे। एक दूसरी चिन्ता-धारा का प्रतीक विश्वनाथ का काव्य-लक्षणा सामने आता है। इस प्रकार पण्डितराज को मम्मट एवं विश्वनाथ के दो काव्य-लक्षणा अथवा यों कहिए चिन्ता-धारा के दो रूप समालोचना प्राप्त हुए। पण्डितराज के लक्षणा की तुलनात्मक समीक्षा के लिए हम भी मम्मट तथा विश्वनाथ के दो नाम चुन सकते हैं। इन दो आचार्यों की मान्यताओं की पृष्ठ-भूमि में काव्य-लक्षणा सम्बन्धी समस्त पूर्ववर्ती महत्व-पूर्ण चिन्तन वर्गीकृत किया जा सकता है। दूसरी बात यह कि विशिष्ट-शब्द-वाद तथा शब्दार्थोभय-वाद का स्वरूप यद्यपि युगानुरूप यत्किञ्चित् परिवर्तित होता रहा है, तथापि वह पण्डितराज की जाग्रत् रूप में प्राप्त हुआ है। पृष्ठ-भूमि में स्थित चिन्ता-धारा के स्वल्प अन्तरों को छोड़े जाने पर विवाद के दोनों पक्षों का इतिहास बड़ा पुराना हो जाता है। अतः इस विवाद में पण्डितराज का भाग लेना भी स्वाभाविक ही था ।

वामन की सौन्दर्य-वादिनी दृष्टि युग की स्थूल चेतना में लो जाने के कारण, तथा कुन्तल की रमणीयता-चेतना अभिव्यञ्जना-पक्ष में विस्मर जाने के कारण पण्डितराज के समय तक योही उपयोग-शून्य पड़ी रहीं। पण्डितराज में ही आकर उनका अभिप्रेत उपयोग हुआ ।

एक महत्व-पूर्ण बात लक्षणा-कोणों के सम्बन्ध में आती है। पश्चिमीय काव्य-लक्षणाओं में प्रायः कवि की अनुभूति पर बल देते हुए वस्तु-पक्षीय उपादानों का अपेक्षाकृत कम उल्लेख रहता है । अतः उनका लक्षणा-कोण कवि-पक्षीय ही प्रायः होता है। भारतीय आचार्यों के उपर्युक्त काव्य-लक्षणाओं पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें वस्तु-पक्षीय उपादानों की ही प्रायः अपनाया गया है। जहाँ पश्चिमी काव्य-लक्षणाओं में वस्तु-पक्षीयता की अपेक्षा आत्म-पक्षीयता प्रमुख होती है, वहाँ भारतीय काव्य-लक्षणाओं में अपेक्षाकृत वस्तुपक्षीयता । दूसरी बात यह कि भारतीय लक्षणाओं की जो भी आत्म-पक्षीयता है, वह सहृदय-पक्षीय है, कवि-पक्षीय नहीं। अर्थात् आचार्य काव्य और सहृदय के बीच खड़ा होकर काव्य की व्याख्या करता है। कवि और काव्य के बीच खड़ा हो कर नहीं । वह प्रायः अपने को सहृदय के स्थान पर रख कर काव्य के वस्तु-पक्ष पर दृष्टि डालता है। फल यह होता है कि उसके लक्षणाओं में वस्तु-पक्ष मुखर हो जाता है। तथा कवि की अनुभूति काव्य-लक्षणाओं को प्रभावित नहीं कर पाती । इस का यह अर्थ कदापि नहीं कि वह कवि की सत्ता से बेखबर हो। किन्तु वह सर्जना के पीछे निहित दृष्टि की काव्य-कारणों पर विचार करते हुए ही विवेचन का विषय बनाता है। सर्व्व उसकी महत्ता एवं दृष्टि-कोण से काव्याङ्गों के निरूपण को छोप कर नहीं चलता ।



इस ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि के संक्षिप्त परिचय के साथ अब हम पण्डितराज का काव्य-लक्षण परिचय के लिए ले सकते हैं ।

पण्डितराज का काव्य-लक्षण

पण्डितराज ने अपना काव्य-लक्षण-निरूपण इन शब्दों में प्रस्तुत किया है :-- १

"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।"

"रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकानगोचरता । लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारश्च परपर्यायो ; नुभवसाक्षिको जातिविशेषः । कारणं च तदवच्छिन्ने भावनाविशेषः पुनःपुनरनुसन्धानात्मा । "पुनस्ते जातः", "कमलकण्ठकेशमर्मिणः" "धनं ते दास्यामि" इति वाक्यार्थधीवन्यस्याह्लादस्य न लोकोत्तरत्वम् । अतो न तस्मिन् वाक्ये काव्यत्वप्रवृत्तिः ।

इत्थं च चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादकशब्दत्वम्, यत्प्रतिपादितार्थविषयकभावनात्वं चमत्कारजनकतावच्छेदकं तत्त्वम् ।

स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्यप्रतिपादकतासंज्ञेण चमत्कारत्ववत्त्वमेव काव्यत्वमिति फलितम् ।

पण्डितराज ने यहाँ तीन काव्य-लक्षणों को प्रस्तुत किया है। अथवा यों कहिए, नैययिक निरूपण-प्रक्रिया को अपना कर एक ही काव्य लक्षण को सामान्य, परिष्कृत एवं निष्कृष्ट या फलित रूप में प्रस्तुत किया है। यह निरूपण नैययिक पदावली के प्रयोग से कुछ दुरूह सा हो गया है, अतः उस पर एक व्याख्यात्मक दृष्टि-पात की भी अपेक्षा है। हम प्रथम उनके सामान्य लक्षण के निरूपण पर विचार करेंगे ।

सामान्य लक्षण

सामान्य लक्षण के अनुसार रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। इससे यह तो स्पष्ट हो है कि पण्डितराज उभय-वाद को अपेक्षा विशिष्ट-शब्द-वादी हैं। किन्तु, जैसा कि हम अभी देखेंगे, उनके शब्द की विशिष्टता अन्य विशिष्टता-वादियों से किंचित् विशिष्ट है।

भाषा के समस्त शब्द अर्थ-प्रतिपादक ही होते हैं, निरर्थक शब्दों को भाषा में कोई स्थान नहीं। फिर भी सामान्य भाषा के शब्दों के प्रतिपाद अर्थ से काव्य का प्रतिपाद अर्थ भिन्न हुआ करता है। वह ध्वनि-कार के शब्दों में "सहृदयश्लाघ्य" तथा कुन्तल के शब्दों में "स्वस्पर्श-सुन्दर" होता है। पण्डितराज की भाषा में उसे "रमणीय" कहते हैं। सामान्य भाषा-शब्द तो सामान्य अर्थों का ही प्रतिपादन करते हैं, किन्तु काव्य-भाषा के शब्द एक चमत्कारी आह्लाद प्रदान किए करते हैं। शब्द के सामान्य अर्थ तो उस "रमणीय" अर्थ तक पहुँचाने के साधन या "द्वार"-मात्र होते हैं। ध्वनिकार ने सामान्य शब्दार्थों की इस द्वारता का स्पष्ट ही उल्लेख किया है :--यथा पदार्थ-द्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते ।

वाक्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ॥ " २

१- रसगंगाधर : पृष्ठ ४-५ ।

२- ध्वन्यालोक : प्रथम उद्योत : कारिका १० : पृष्ठ १०० ।



यदि नैयायिक पदावली अपना कर कहें तो कह सकते हैं कि भाषा-शब्दों के सामान्यतः प्रतिपाद्य अर्थ काव्य के रमणीय अर्थ के अवान्तर-व्यापार होते हैं। सामान्य अर्थ-बोध में यदि शब्द-ज्ञान को "करण" मान लें, तो पदार्थ-ज्ञान अवान्तर-व्यापार होगा, जिसको सहकारिणी होगी अभिधा तथा प्रतिपाद्य फल होगा शब्द-जन्य शब्द-बोध। काव्यार्थ-प्रतिपादन की प्रक्रिया में करण-स्थानीय तो शब्द ही होगा, किन्तु भाषा-शक्ति के सहकार से उपलब्ध समस्त सामान्यतः प्रतिपादित अर्थ, जो कि द्वार-भूत या मध्य-वर्ती बन कर रमणीयार्थ तक पहुँचा रहा है तथा जिसमें वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ ही नहीं, कभी कभी व्यांग्यार्थ भी आ जाता है, रमणीयार्थ का "अवान्तर-व्यापार" होगा। अतः शब्द द्वारा रमणीयार्थ-प्रतिपादन का अर्थ है भाषा के सामान्यतः उपलब्ध अर्थों द्वारा सद्बुद्ध की चेतना में रमणीय अर्थ का समर्पण।

अर्थ के ये दो धरातल, जिन्हें हम सुविधा की दृष्टि से स्थूल एवं सूक्ष्म कह सकते हैं, पण्डितराज की चेतना में स्पष्ट हैं। ध्वनि-परम्परा का अनुगमन करते हुए वे उत्तमोत्तम काव्य का लक्षण निम्न शब्दों में प्रस्तुत करते हैं :—

"शब्दार्थौ यत्र गुणोभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यक्तस्तदायम् ।" १

कमपीति चमत्कृतिभूमिम् । "

यह चमत्कार-भूमि अर्थ शब्द तथा उसके सामान्यतः प्रतिपाद्य अर्थ से भिन्न होता है। पण्डितराज का इस प्रक्रिया में स्थूल-धरातलीय अर्थ का अन्तर्भाव प्रतिपादन में है। उस स्थूल-धरातलीय अर्थ तथा प्रतिपादक शब्द को मिला कर "शब्दार्थौ काव्यम्" कहना पण्डितराज के अनुसार बन ही नहीं सकता। यदि "शब्दार्थौ काव्यम्" में अर्थ से सूक्ष्म-स्तरीय रमणीय अर्थ को भी गतार्थ करने का प्रयत्न किया जाय, तो उस सूक्ष्म-धरातलीय अर्थ एवं स्थूल शब्द का साहचर्य नहीं बनता, दूसरे अवान्तर स्थिति में पड़े हुए स्थूल-धरातलीय अर्थ का काव्य में स्थान एवं कार्य सु-स्पष्ट नहीं होते। वस्तुतः शब्द काव्यार्थ का प्रतिपादन ही करता है, साहचर्य-नियम से उसे साथ नहीं रखता। फिर स्थूल-धरातलीय अर्थ तो शब्द के साथ मिल कर काव्य का शरीर-संघटन मात्र करते हैं। पण्डितराज की चेतना के अनुसार शब्द शरीर का घटक है, प्रथम-स्तरीय अर्थ अवान्तर-व्यापार, दोनों मिलकर शरीर-संघटक भी नहीं। पण्डितराज के "प्रतिपादक शब्द" में यह सब दृष्टि-कोण निहित है।

प्रश्न उठता है, इस रमणीय अर्थ तथा सामान्य अर्थ को भेदक रेखा क्या है ? यदि सीधे शब्दों में कहें तो, काव्यार्थ को वह रमणीयता क्या है जिसके कारण वह अन्य अर्थ से भिन्न हो जाता है ? अतः पण्डितराज रमणीयता का शास्त्रीय स्वरूप-निर्धारण करते हैं।

"रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता ।" २

"रमणीयता" लोकोत्तर-आह्लाद-जनक ज्ञान का विषय बनने वाली एक विशेषता है। "रमणीयता" एक "ज्ञान-गोचरता" है, वह हमारे ज्ञान का विषय बनती है। साथ ही यह वह ज्ञान-गोचरता है, जो लोकोत्तर आह्लाद प्रदान करती है। तब पण्डितराज के अनुसार रमणीय का अनुभूति-प्रसिद्धि यह हुई कि रमणीय वस्तु हमारे ज्ञान का विषय बन कर अर्थात् हमारे

१- रसगंगाधर : पृष्ठ ८-९ ।

२- रसगंगाधर : पृष्ठ ९ ।



ज्ञान में आकर हमें लोकोत्तर आह्लाद को अनुभूति देता है। यहाँ दो बातें विशेषतः दृष्टव्य हैं : एक तो यह कि पण्डितराज रमणीयपदार्थ एवं उसकी अनुभूति के बीच ज्ञान का एक अवयव मन्त्र में डालना चाहते हैं : दूसरे यह कि रमणीय पदार्थ की उपस्थिति का यह घरातल स्थूल अथवा भौतिक नहीं, सूक्ष्म एवं मानसिक हो है, कारणज्ञान-गोचरता मानसिक घरातल की ही वस्तु हो सकती है। स्थूल, भौतिक रमणीय पदार्थ भी जब ज्ञान-गोचर एवं, दृष्ट-सापेक्ष हो जाते हैं तथा अनुभूति के उपयोग में आते हैं। और रमणीय काव्यार्थ की प्रत्युपस्थिति तो शुद्ध मानसिक घरातल पर हो होती है। अभिनय इत्यादि में स्थूल उपादान तो मानसी प्रत्युपस्थिति के साधन-मात्र होते हैं। इस मानसिक घरातल पर उपस्थित सौन्दर्य एवं उसकी आह्लादक अनुभूति में पण्डितराज को ज्ञान या बोधात्मक अवयव अभिप्रेत है। इस प्रकार सौन्दर्यानुभव के दो सिरे हमारे सामने आते हैं : एक सौन्दर्य का गोचरता का बोधात्मक, दूसरा आह्लादानुभूति का अनुभूत्यात्मक। पण्डितराज की चेतना में यह बोध एवं अनुभूति का भेद स्पष्ट है। जब वे रमणीयता की गोचरता का निरूपण करते हैं तो "ज्ञान" शब्द का प्रयोग करते हैं। किन्तु जब उस ज्ञान से जनित आह्लाद को अनुभूति का विश्लेषण करते हैं तो "भावना" का। "कारणं च तदवच्छिन्ने भावना-विशेषः पुनः पुनरनुसन्धानात्मा ।"

प्रश्न उठता है, पण्डितराज ने जिस भावना को कारण-रूप में स्वीकार किया है, वह बोध-वर्गीय है अथवा भाव-वर्गीय ? पण्डितराज भावना के सामान्य एवं विशेष दो पक्ष स्वीकार करते हैं। विशेष पक्ष अनुसन्धानात्मक है अतः उसे बोध-वर्गीय ही समझना चाहिए। नागेश ने इसी भावना-के विशेष पक्ष पर दृष्टि रखते हुए उसे ज्ञान तथा भावना की एकाकारता प्रतिपादित की है :-

" ज्ञानं च भावनारूपमेव नान्यदित्याह - कारणं चेति । " १

किन्तु पण्डितराज ने इस बोध-वर्गीय काव्यार्थानुसन्धानात्मक पक्ष को भावना-विशेष कह कर भावना के दूसरे सामान्य पक्ष की ओर भी संकेत किया है, जिसे हम अनुभूति-समर्पक होने के कारण भाव-वर्गीय कह सकते हैं। इस वर्गीकरण के साथ यह तथ्य हमें नहीं भूलाना चाहिए कि न पश्चिमी मनोविज्ञान के आधार पर, और न भारतीय दर्शन के अनुसार बोध एवं अनुभूति की सर्वथा स्वतन्त्र एवं परस्पर असम्बद्ध रेखाएँ खींची जा सकती हैं।

पण्डितराज के इस रमणीयता-सम्बन्धी दृष्टि-कोण में रमणीयता को न तो मात्र विषय-गत कहा जा सकता है, न विषय-गत। रमणीय विषय की विषय-गत मानसी प्रत्युपस्थिति में विषय-विषयि की परस्पर सापेक्षता एवं चर्मजस्य ही स्वीकार किया जा सकता है।

रमणीयता ज्ञान-गोचर होकर आह्लाद-समर्पण करती है। प्रश्न उठता है, लौकिक आह्लाद तथा काव्याह्लाद में क्या अन्तर होता है ? पण्डितराज इस का समाधान इस प्रकार करते हैं कि काव्य का आह्लाद "लोकोत्तर" होता है, जबकि अन्य अनुकूल-वेदनयि लौकिक आह्लाद चमत्कार-शून्य होते हैं। अतः "चमत्कारत्व" अथवा "लोकोत्तरत्व" काव्याह्लाद तथा लौकिक आह्लाद के बीच विभाजक रेखा खींचता है। काव्याह्लाद की लोकोत्तरता की व्याख्या करते हुए पण्डितराज उसके चमत्कारी पक्ष की ही सामने करते हैं :-

" लोकोत्तरत्वं च चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिकी जाति-विशेषः । " २



यह चमत्कार कुतूहल-मात्र नहीं, आह्लाद का ही एक स्वरूप विशेष है। सहृदय की अनुभूति इसकी साक्षी है। इसी के आधार पर पुत्र-जन्म की सूचना अथवा आर्थिक लाभ के ज्ञान से मिलने वाले आह्लाद को काव्याह्लाद से अलग किया जा सकता है। "पुत्रस्ते जातः" "धनं ते दास्यामि" इति वाक्याधीजन्यस्याह्लादस्य न लोकोत्तरत्वम्। अतो न तस्मिन् वाक्ये काव्य-त्वप्रसक्तिः।" पण्डितराज ने अपनी समीक्षा-पद्धति में इस चमत्कार का एक निर्णायक तत्व के रूप में बड़ा सहारा लिया है।

पण्डितराज ने लोकोत्तरत्व या चमत्कारत्व को अनुभव-साक्षिक एक "जाति-विशेष" कहा है। जाति-विशेष के शास्त्रीय स्वरूप पर तो विचार करने का अवसर हम काव्य-हेतुओं के प्रसङ्ग में निकालेंगे, यहाँ इतना ही समझ लेना चाहिए कि जाति एक नैमायिक पदार्थ है, जो नित्य, एक, एवं अनेकानुगत होता है। चमत्कार-गत यह 'चमत्कारत्व' जाति होने के नाते चमत्कार की विविध-रूपता की सूचना देता है। दूसरी बात यह कि यह जाति-मात्र नहीं, जाति-विशेष है। न्याय के अनुसार सभी अपर जातियाँ सविशेष होती हैं, अतः वे विजातीय पदार्थों से भेदक भी हुआ करती हैं। अतः जहाँ चमत्कारत्व जाति-विशेष होने के कारण आह्लाद की विविध-रूपता की सूचना देता है, वहाँ रमणीयता से उपलब्ध होने वाले आह्लाद को जाति-विशेष होने के कारण अन्य आह्लादों से पृथक् करते हुए, विविध-रूपी काव्याह्लादों में एकाकारा प्रतीति भी कराता है। दूसरी बात यह कि जाति पदार्थ की प्राणप्रद विशेषता होती है, गुण के समान केवल भेदक उपाधि नहीं। जाति का वस्तु की सत्ता से स्वरूप-गत सम्बन्ध होता है। अतः चमत्कार का आह्लाद से स्वरूपात्मक सम्बन्ध जुड़ जाता है। "लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरमर्यादोऽनुभवसाक्षिको जाति-विशेषः।"

पण्डितराज की काव्याह्लाद अथवा रमणीयता-जनित आह्लाद की अनुभूति तथा उससे चमत्कार के अभेद की धारणा की ध्यान में रख कर ही हम उनके परिष्कृत एवं फलित लक्षणों को समझ सकेंगे। उन्होंने अपने परिष्कृत लक्षण में काव्याह्लाद के स्थान पर "चमत्कार" शब्द का ही प्रयोग किया है। इससे उनको काव्याह्लाद तथा चमत्कार की अभेद-भावना स्पष्ट हो जाती है।

पण्डितराज की काव्याह्लाद तथा चमत्कार के अभेद की धारणा को स्पष्टतः समझने के लिए हम यहाँ आह्लाद और चमत्कार के अभेद की मान्यता प्रस्तुत करना चाहते हैं। अभिनव प्रत्यभिज्ञावृत्ति-विमर्शिनी में चमत्कार को दार्शनिक व्याख्या निम्न शब्दों में प्रस्तुत करते हैं :—

चमत्कारो हि ॥ इति वात्मनि जन्यवापैतो विमर्षणम्। एव भुञ्जानतारूपं न चमत्वं, तदेव करोति सुरम्भे, विमृशति न अन्यत्र अनुधावति। चमदिति क्रियाविशेषणम्, अस्पृह एव वा शब्दो निर्विघ्नास्वादनवृत्तिः।

चमदिति वा अन्तरस्पन्दादोलनोदितपरामर्शमिश्रशब्दनाव्यस्तानुकरणम्। काव्य-नाट्य-रसादावपि भाविचित्तवृत्त्यन्तरोदयनियामकविघ्नविरहित एव आस्वादो रसनात्मा चमत्कार इति उक्तमन्यथा।" १



अभिनव चमत्कार शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से करना चाहते हैं : एक - "चमत्" को अक्षण्ड शब्द तथा श्रियाविशेषण मान कर, दूसरे उसे एक अव्यक्तानुकरणात्मक शब्द मान कर। दोनों व्युत्पत्तियों से हमारे समक्ष "चमत्कार" के दो भिन्न स्वरूप आते हैं।

प्रथम योजना के अनुसार चमत्कार का अर्थ है किसीजन्य की अपेक्षा न रखने वाले अपने ही आत्म-स्वरूप में विश्रान्ति पा जाना। अभिनव के भोग-वाद का यही स्वरूप है, आत्म-स्वरूपमय परामर्श या आत्म-विश्रान्ति। वृत्तियों का बहिर्मुख अनुधावन यहाँ समाप्त हो जाता है, वे निष्क्रिय हो जाती हैं। केवल आत्म-स्वरूप का परामर्श होता है, यही विश्रान्ति है। "स्वात्मनि जनन्यनपेक्षो विश्रमणम्, तदेव करोतिसंरम्भे, विमृशति न अन्यत्र अनुधावति"। अभिनव चमत्कार की इस व्याख्या द्वारा आत्मा की निस्पन्द-रूपता को बताना चाहते हैं।

दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार बाह्य विमर्श से भिन्न जो आत्मा का आन्तर स्पन्दन होता है, प्रकाश-मयी चेतना में जो आनन्द की लहरियों का स्पन्दन होता है, "चमत्" उसी की व्यञ्जना कराने वाला एक अव्यक्तानुकरण-मूलक शब्द है। इस अर्थ-योजना में मेघ-माला में प्रस्फुरित होने वाले विवृतस्पन्दन से, अथवा बिजली की प्रकाश-लहरी के आते समय के आन्दोलन से हम "चमत्कार" का स्वरूप समझने में सहायता ले सकते हैं। प्रकाश के स्पन्दन को अव्यक्त ध्वनि में अनूदित करके "चमत्" शब्द बना है, ऐसा इस व्युत्पत्ति के पक्ष में कहा जा सकता है। प्रकाश-लहरियों के उदाहरण को सामने रख कर रुय्यक ने चमत्कार की समझने का प्रयत्न किया भी है :—

"आलेख्यलेखादौ सन्तमसावस्थिते प्रदीपादिना प्रकाशिते फटिति अद्भुतार्थ-प्रकाशना-च्चमत्कारी जायते । तद्वत्सादौ ।" १

इन दो व्युत्पत्तियों से चमत्कार-कालीन आत्म-स्थिति के आपाततः भिन्न प्रतीत होने वाले दो रूप हमारे सामने आते हैं। एक में आत्मा या चित्ति की विश्रान्त या निस्पन्द अवस्था का उल्लेख हुआ है, दूसरी में उसका आन्दोलनात्मक या स्पन्दनात्मक अवस्था का। अभिनव इन विरोधाधीन स्थितियों द्वारा ही "चमत्कार-कालीन आत्म-स्थिति का परिचय कराना चाहते हैं। अभिनव के दार्शनिक सिद्धान्त का अधिक परिचय तो हम रस-विवेचन के पक्ष में ही प्राप्त कर सकेंगे, यहाँ ब्रतना जान लेना ही पर्याप्त होगा कि उनके अनुसार रस या आनन्द आत्मा का स्वरूपानन्द नहीं, एक शक्ति है, जिसे प्रकाश की आन्दोलनात्मक अवस्था का एक प्रथम रूप कहा जा सकता है। हाँ, यह रूप बाह्य एवं गति-व्यस्त स्थूल रूपों से भिन्न तथा आन्तर-तम है। यही शिव की आनन्द-शक्ति है। इस दशा को बाह्य स्थितियों के विलोडन या संरम्भों से शून्य कहा जा सकता है, और इन्हीं अर्थों में "आनन्द" "रस" या "चमत्कार" की स्थिति को "आत्म-विश्रान्ति" कहा जा सकता है। किन्तु इस विश्रान्तावस्था का अर्थ आत्मा की जहावस्था या शून्यावस्था नहीं है। इस स्थिति में आत्मा अपनी मूल प्रकाशात्मक स्थिति में नहीं, जिसमें किसी, विमर्श का या शक्ति का उदय, हो न हुआ हो। प्रकाश-मात्र की केवला स्थिति तो विचार-सीमा से परे "अनुत्तर" है। यह तो दूसरे दर्जे की स्थिति है, जिसमें आनन्द-

१- आर्यगुनीश : दार् एस्थेटिक एक्सपेरियेन्स एकाद्विग दू अभिनवगुप्त : पृष्ठ ७२ ।

रुय्यक : महिमभट्ट-कृत व्यक्तिविवेक की टीका : पृष्ठ ५३ ।



लहरियों का स्पन्दन हो रहा है। इस स्थिति में चेतना के प्रकाश-पक्ष में आनन्द के विद्युत्स्पन्दन चल रहे होते हैं। इन्हीं स्पन्दनों में चेतना का डूब जाना ही चमत्कार, रस या भोग है। यह भोग आनन्द-शक्ति-सम्पन्न शिव का स्वरूप है।

अभिनव के द्वारा चमत्कार को यह दार्शनिक व्याख्या अपने दार्शनिक सिद्धान्त की व्याख्या के प्रसंग में हो चुकी है। काव्य-रस के सन्दर्भ में आने वाले "चमत्कार" की व्याख्या भी इसके आधार पर की जा सकती है। चित्त सामान्यतः वृत्तियों से शून्य तो कभी नहीं रहता। ये विभिन्न चित्तवृत्तियाँ चेतना का आवरण बन कर उसका नियमन कर रही होती हैं। ये वृत्तियाँ आत्म-विश्रान्ति को विघ्न-रूपा हैं, जिनके कारण निर्विघ्न आत्म-परामर्श नहीं हो पाता। काव्य तथा नाटक में रसानुभूति के क्षणों में इन विघ्न-भूता नियमन-कारिणों वृत्तियों का व्यापार अवरुद्ध हो जाता है, तथा आनन्द-मयी चेतना का निर्विघ्न परामर्श सम्भव हो जाता है। यही आत्म-विश्रान्ति "रस" है, जिसमें आनन्द-शक्ति का आन्तर स्पन्दानन्दोलन होता है। यही "भोग" है, यही "चमत्कार" है। अभिनव की दृष्टि में चमत्कार तथा काव्याह्लाद का अमेद समझने के लिए य इतना पर्याप्त है।

यद्यपि अभिनव तथा पण्डितराज दोनों की दृष्टि में काव्याह्लाद तथा चमत्कार का अमेद है, तथापि दोनों के दृष्टिकोण में किंचित् अन्तर भी है। जैसा कि हम देखेंगे, अभिनव समस्त आनन्द की स्थितियों में कोई तार्किक भेद नहीं मानते। सभी आनन्दों में एक ही आत्म-विश्रान्ति होती है, चाहे वे वैषयिक आनन्द हों, चाहे, काव्य-अन्य, और चाहे ब्रह्मानन्द। किन्तु पण्डितराज लौकिक आनन्द तथा काव्यानन्द में अन्तर करके चलते हैं, साथ ही वे काव्यानन्द के स्वजातीय विविध रूप भी स्वीकार करके चलते हैं, तथा वे एक चमत्कारत्व जैसी जातिस्वीकार कर सके हैं।

रमणीयता में इसी चमत्कारी आह्लाद को उत्पन्न करने को शक्ति होती है। इस रमणीयता के अनुभव के दो सिरे हैं : एक गौचरता का बोधात्मक, दूसरा आह्लादानुभूति का भावात्मक। प्रथम पक्ष को जो कि अनुसन्धानात्मक है, हम भावना-विशेष कह सकते हैं, द्वितीय को भावना का सामान्य पक्ष अथवा भावात्मक पहलू मान सकते हैं। अनुभूति तथा ज्ञान के दोनों पक्षों का समावेश इस प्रकार "भावना" में किया जा सकता है। यही भावना चमत्कारी आह्लाद की अनुभूति का कारण है। "कारणं च तदवच्छिन्ने भावना-विशेषः पुनः पुनरनुसन्धानात्मा"। पण्डितराज के परिष्कृत लक्षण को समझने के लिए अनुभूति-ज्ञान तथा भावना के इस अमेद को भी ध्यान में रखना चाहिए।

इस प्रकार सामान्य लक्षण के अनुसार चमत्कारी आह्लाद के समर्पक, रमणीय अर्थों के प्रतिपादक शब्द काव्य है। अब हम पण्डितराज के परिष्कृत लक्षण को और आ सकते हैं।

परिष्कृत लक्षण

द्वितीय परिष्कृत लक्षण निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया गया है :—

"इत्थं च चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादकशब्दत्वं, यत्प्रतिपादितार्थविषयक-भावनात्वं चमत्कारजनकतावच्छेदकं तत्त्वम् ।" १

तात्पर्य यह कि चमत्कार-जनक भावना का विषय बनने वाले अर्थ का प्रतिपादकशब्द काव्य है। जिस प्रकार के शब्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ-विषयक भावना चमत्कार-जनक बन सके, वह काव्य है।



### परिष्कृत लक्षण को विशेषताएँ

उपर्युक्त परिष्कृत लक्षण में कई बातें विशेषतः दृष्टव्य हैं। पण्डितराज ने इसमें काव्या के लिए "रमणीय" विशेषण का प्रयोग न कर के सामान्यतः "अर्थ" शब्द का ही प्रयोग किया है। फिर, उसे ज्ञान का विषय न कह कर "भावना" का विषय बताया है। उस भावना को भी आह्लाद-जनक न कह कर चमत्कार-जनक कहा गया है। इस प्रकार पण्डितराज ने चमत्कार या आह्लाद की लोकोत्तरता का रमणीयता से अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। इस प्रकार, चमत्कार में पर्यवसित होने वाला अर्थरमणीय होगा ही, उनको यह धारणा सामने आती है। आह्लाद शब्द के स्थान पर चमत्कार का प्रयोग कर के उन्होंने दोनों का अर्थ प्रतिपादित किया है, जिसकी चर्चा हम अभी पीछे कर चुके हैं। प्रथम लक्षण के ज्ञान शब्द के स्थान पर इसमें जो भावना शब्द का प्रयोग किया गया है, उसका कारण यही कहा जायगा कि प्रथम लक्षण में सौन्दर्य के बोध-पक्ष पर दृष्टि अधिक थी, इसमें अनुभूति-पक्ष पर भी। फलतः प्रथम लक्षण में जहाँ अपेक्षाकृत वस्तु-पक्ष प्रधान था, इसमें आत्म-पक्ष भी उतना ही अधिक।

इस लक्षण में एक विशेष शैली को अपनाया गया है। प्रथम "चमत्कारजनकभावनाविषय-प्रतिपादकशब्दत्व", कह कर प्रक्रिया को चमत्कार से प्रारम्भ कर के शब्द तक पहुँचाया गया है। फिर "यत्प्रतिपादिता विषयकभावनात्वं चमत्कारजनकतावच्छेदकं तत्त्वं", कह कर उसी प्रक्रिया को शब्द से प्रारम्भ करके चमत्कार पर जा कर समाप्त किया गया है। प्रथम शब्द-समूह से प्रक्रिया इस प्रकार दिखायी गयी है : चमत्कार की उत्पन्न करने वाली भावना, भावना का विषय अर्थ, अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य। स्पष्ट है इस शब्दावली में लक्षण-कार की दृष्टि काव्य के शरीर-पक्ष "शब्द" पर जमी हुई है। अतः पूर्वार्थ की शब्दावली में वस्तु-परकता की प्रधानता है। द्वितीय शब्दावली की प्रक्रिया इस से विलोम है। उसमें कहा गया है : शब्द से प्रतिपादित अर्थ, उस अर्थ-विषयक भावना, उस भावना की चमत्कार-जनकता की सामर्थ्य का अभिव्यक्ति। स्पष्ट है, इस पदावली में काव्य के अनुभूति-पक्ष पर दृष्टि अधिक है। अतः उत्तरार्थ की पदावली में आत्म-परक दृष्टि का प्रमुखता है। एक बार लक्षण-कार अनुभूति की ओर संकेत करता हुआ काव्य-शरीर के घटक तत्वों की ओर दोड़ जाता है। दूसरी बार उन घटकों पर दृष्टि डालता हुआ सीधा अनुभूति पर जा लगता है। इस प्रकार वस्तु-पक्ष तथा आत्म-पक्ष दोनों का एक अच्छा सामंजस्य इस परिष्कृत लक्षण में बन जाता है। हम यदि चाहें तो इस शैली को "अनुलोम-प्रतिलोम शैली" नाम दे सकते हैं। अनुभूति के आन्तर-पक्ष से चल कर शब्द के स्थूल धरातल पर रुकने वाली शैली "अनुलोम" तथा शब्द के बाह्य धरातल से दोड़ कर अनुभूति के आन्तर स्तर को छूने वाली शैली "प्रतिलोम" कहा जायगा। इस अनुलोम-प्रतिलोम शैली ने पण्डितराज के वक्तव्य को अत्यन्त संतुलित रूप में उलट-पलट कर रस दिया है।

इन दोनों अनुलोम तथा प्रतिलोम शैलियों में "शृंखला-शैली" का प्रयोग हुआ है। चमत्कार की जनक भावना, भावना का विषय अर्थ, उस अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य। इसी प्रकार शब्द से प्रतिपादित अर्थ, अर्थ-विषयक भावना, भावना से जनित चमत्कार। इस शृंखला-शैली का भी अपना उपयोग है। जहाँ अनुलोम-प्रतिलोम शैली ने काव्य के विषय एवं विषयी पक्षों में सन्तुलन स्थापित किया है, वहाँ शृंखला-शैली ने अनुभूति की प्रक्रिया को स्पष्टता दी है। विवेचन करते समय पण्डितराज के समक्ष काव्य है तथा सहृदय का हृदय। सहृदय-हृदय की काव्यानुभूति की प्रक्रिया उन्हें स्पष्ट करनी है।



### फलित लक्षण

उपर्युक्त परिष्कृत लक्षण प्रस्तुत करने के अनन्तर पण्डितराज ने फलित लक्षण निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया है :—

"स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्यप्रतिपादकता-संज्ञेण चमत्कारत्ववत्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम्।" — १

यह फलित लक्षण नैयायिक पदावली के अति भार से दबा हुआ है, अतः किसी भी भाषा में इसका अनुवाद-मात्र करने में इसको गहराई अधुण्ण नहीं रह सकती। पं० मदन-मोहन माला ने इसका अनुवाद निम्न शब्दों में किया है :—

"इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण स्व-पद से चमत्कारत्व का ग्रहण करना चाहिए। समवाय-सम्बन्ध से तद्विशिष्ट होगा चमत्कार, उसकी -तन्निरूपित- जनकता होगी भावना -ज्ञानधारा-में, उस जनकता से निरूपित विषयता-सम्बन्धावच्छिन्ना अवच्छेदकता रहेगी काव्यार्थ में, अर्थात् विषयता-सम्बन्ध से काव्यार्थ भी भावना में प्रकार होता है, अतः वह -काव्यार्थ- भी भावना-निष्ठ जनकता का अवच्छेदक होगा। - - - उस काव्यार्थ का प्रतिपादक होगा शब्द, अतः तादृश प्रतिपादकता-सम्बन्ध से स्व-चमत्कारत्व- शब्द में रहेगा।" — २

जहाँ तक लक्षण की शास्त्रोपयता का सम्बन्ध है, तथा उसकी संगति का प्रश्न है, माला ने उसे ठीक हो दिखाने का प्रयत्न किया है। चमत्कारत्ववत्ता यद्यपि काव्य-शब्दों में साक्षात् नहीं रहती, वह तो आह्लाद में ही रहती है। तथापि उसे अर्थ-प्रतिपादकता सम्बन्ध से परम्परया या असाक्षात् रूप में काव्य-शब्दों में बताया गया है और इस सम्बन्ध में प्रतिपादकता भी उस अर्थ की है जो चमत्कारत्व-विशिष्ट चमत्कार या लोकोत्तर आह्लाद का जनकतावच्छेदक है। किन्तु इस फलित लक्षण में नैयायिक पदावली का यह घुमाव-फिराव ही पण्डितराज का अभीष्ट नहीं है। इस के पीछे एक विशेष उद्देश्य भी है।

### फलित लक्षण का विशेषताएँ

इस फलित लक्षण में सर्व-प्रथम तो यह बात दृष्टव्य है कि इस में "शब्द" का कहीं नाम भी नहीं है। "अर्थ-प्रतिपादकतासंज्ञेण चमत्कारत्ववत्वमेव काव्यत्वम्" कह कर पण्डितराज ने यहाँ शब्द के स्थूल धरातल को बिल्कुल छोड़ दिया है। हम देख चुके हैं, सामान्य लक्षण में वस्तु-परकता अधिक थी। वहाँ लक्षण-कार ने शब्द के स्थूल धरातल को मजबूती से पकड़ा था। परिष्कृत लक्षण में वस्तु-पक्ष तथा आत्म-पक्ष दोनों का सामंजस्य रहा। वहाँ विवेचन स्थूल एवं सूक्ष्म के बीच झूल रहा था। फलित लक्षण में आकर वह स्थूल धरातल को छोड़ कर सूक्ष्म में परिणत हो गया। जो पण्डितराज प्रामाण्य-सा-वार्तात्मक-वादिनों का साग्रह संहनन करके शब्द में काव्यत्व की प्रतिष्ठा करते हैं, वे ही शब्द के धरातल को इस प्रकार छोड़ने के लिए तैयार हैं, यह एक आश्चर्य की बात है। किन्तु इससे उनकी मान्यताओं में कोई स्व-वचन-विरोध नहीं समझना चाहिए। जिस आह्लादवत्ता या चमत्कार-वत्ता को काव्य कहा गया है, उसे

१- रसगोविंद : पृष्ठ ५ ।

२- हिन्दो रसगोविंद : चन्द्रिका : मदन मोहन माला : पृष्ठ १४ ।



अर्थ-प्रतिपादकता-संसर्ग से हो। यह अर्थ-प्रतिपादकता शब्द में ही रह सकती है।

फलित लक्षणा की दूसरी बात, जिस की ओर ध्यान आकृष्ट होता है, वह यह है कि इसे चमत्कार से ही प्रारम्भ करके चमत्कार पर ही समाप्त किया गया है। "स्वविशिष्टजनकता-वच्छेदकार्यप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वमेव काव्यम्"। परिष्कृत लक्षणा की शैली यदि अनुलोम-प्रतिलोम की तो फलित लक्षणा की "वर्तुलित" - परिधि के समान घूम कर, चमत्कार से चल कर चमत्कार पर ही समाप्त होने वाली।

इस फलित लक्षणा में आत्म-परकता इतनी प्रमुख हो जाती है कि प्रतिपादक शब्द तथा अवान्तर रूप में स्वीकृत शब्दार्थ - दोनों नगण्य रह जाते हैं। अनुभूयमान चमत्कार ही प्रमुखता पा जाता है। हम पहले कह चुके हैं कि पण्डितराज ने चमत्कार को एक निष्पत्तिक तर्क के रूप में स्वीकृत करते हुए बड़ा महत्व प्रदान किया है। इस फलित लक्षणा को देखते हुए कोई भी आलोचक पण्डितराज की चेतना की मात्र वस्तुन्मुखी नहीं कह सकता।

काव्य-लक्षणा की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि तथा पण्डितराज के काव्य-लक्षणा के परिचय के अनन्तर अब हम उसकी समीक्षा की ओर आ सकते हैं।

### समीक्षा

पण्डितराज ने अपना काव्य-लक्षणा नैपाथिक लक्षणा-शैली अपना कर सामान्य, परिष्कृत एवं फलित - तीन रूपों में प्रस्तुत किया है। उनके लक्षणा में समस्त भारतीय आचार्यों के लक्षणाओं से सर्वाधिक आत्म-परकता है। सामान्य लक्षणा में अपेक्षाकृत वस्तुन्मुखता को आश्रय देते हुए, द्वितीय लक्षणा में वस्तु एवं आत्म-पक्षों का समन्वय रख कर, तृतीय सोपान पर शुद्ध आत्म-परकता के द्वारा काव्य-लक्षणा करने की यह प्रणाली अब तक किसी आचार्य ने नहीं अपनायी थी। स्थूल से सूक्ष्म की ओर, विषय से विषयों की ओर, वस्तु से आत्म-पक्ष की ओर बढ़ने वाली यह उपपादन-पद्धति पण्डितराज की मौलिकता है।

पण्डितराज का आत्म-परकता भारतीय दृष्टि-कोण के अनुरूप ही सहृदय-परक है, कवि-परक नहीं। उन्होंने भी कवि की सत्ता का काव्य-हेतु के रूप में ही विवेचन किया है। पण्डितराज एक आचार्य ही नहीं थे, स्वयं प्रतिभा-शाली कवि भी थे। यह बड़ा प्रशंसा की बात है, कि स्वयं एक भावुक कवि होते हुए भी वे अपने शास्त्रीय विवेचन में एक मार्मिक किन्तु तटस्थ समालोचक का कर्तव्य निभा सके हैं।

अन्य आचार्यों के काव्य-लक्षणाओं में हमें चण्डीदास तथा विश्वनाथ में आत्म-परकता का संस्पर्श मिलता है। किन्तु उनका चिन्तन-व्याप्तियां पण्डितराज के समान व्यापक नहीं। विसा कि हम देखेंगे, वे काव्य के एक सोमित क्षेत्र की अनुधति से ही सम्बन्ध रखते हैं।

काव्य शब्द एवं अर्थ दोनों में है, अथवा विशिष्ट शब्द में, इस प्राचीन विवाद में पण्डितराज ने भी बड़े ऊहापोह एवं आग्रह के साथ मण्डितस्सन ने भी भाग लिया है।<sup>१</sup> वे विशिष्ट

१- "शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम्। मानाभावात्। काव्यमुच्चैः पश्यते, काव्यादर्थोऽवगम्यते, काव्यं द्रुतमर्थो न जातः, इत्यादिविश्वजनानव्यवहारतः प्रत्युत शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्व-प्रतिपत्तेश्चाव्यवहारः शब्दमात्रे लक्षणयोपपादनीय इति चेत्, स्वादप्येवं यदि काव्य-पदार्थ-तया पराभिमतं शब्दार्थयुगलं काव्यशब्दशब्देः प्रमापकं दृढतरं किमपि प्रमाणं स्वात्। तदेव तु न पश्यामः। विमतवाच्यं त्वश्रद्ध्येयमेव। इत्थं चासति काव्यशब्दस्य शब्दार्थयुगलशक्तिग्राहकं



राज के मूल दृष्टि-कोण को ही नहीं समझ सके। पण्डितराज शब्द तथा अर्थ के दोनों घरा-तलों को चेतना पृथक् एवं स्पष्ट रखना चाहते हैं। उभय-वादियों में यह चेतना उतनी स्पष्ट नहीं है। इसका एक परिणाम यह हुआ है कि ये लोग काव्य भेद करते समय शब्दालङ्कार-प्रधान तथा अलङ्कार-प्रधान काव्यों के लिए कोई पृथक् पृथक् व्यवस्था नहीं कर सके। किन्तु पण्डितराज उनके लिए एक निर्णायक व्यवस्था बना सके हैं। नागेश में भी यह पार्वत्य-चेतना नहीं है। उनका प्रमुख तर्क यही है कि आस्वादोद्बोधकता शब्द तथा अर्थ दोनों में समान-रूप से ही रहती है, अतः काव्य को उभय-निष्ठ ही मानना चाहिए :--

" - - - आस्वादव्यञ्जकत्वस्योभयनाप्यविशोषाच्चमकारिवोक्त्रजनकज्ञानविधायता - - - "

पण्डितराज ने आस्वादोद्बोधकता के आधार पर काव्य-निष्ठता का निराकरण करते हुए कहा है कि यदि ऐसा माना जायगा, तो राग, संगीत, नाट्यांग जैसी चीजें भी आस्वादो-द्बोधक होने के नाते काव्य कही जाने लगीं। नागेश ने इस तर्क के निराकरण में एक सुभाव प्रस्तुत किया है कि काव्य के आस्वाद के साथ "विलक्षण" विशेषण लगा कर यह दोष दूर किया जा सकता है।

" एवमास्वादादौ विलक्षण्यनिवेशादुक्तलक्षणद्वयमपि निर्वाधमिति नान्यमपि दुष्टम्। "

किन्तु नागेश के सुभाव को स्वीकार कर लेने पर भी मूल समस्या का समाधान नहीं हो पाता। आस्वाद-विलक्षण्य के आधार पर यदि हम रागादि को आस्वादव्यञ्जकता को काव्य को आस्वादव्यञ्जकता से पृथक् कर भी पा सकें, तो भी शब्द तथा अर्थ के चमत्कार को किस आधार पर विलगा सकेंगे। उभय-वाद के निराकरण में पण्डितराज ने जो तर्क दिये हैं, वे वस्तुतः कुछ सर्वज्ञ मौलिक तर्क नहीं। हम देख चुके हैं कि यह विवाद बहुत पुराना है। पुराने विवाद के साथ उभय-पक्षीय तर्कों की परम्परा का होना भी स्वाभाविक हो जाता है। काव्य-प्रकाश के प्राचीन टीकाकार माणिक्यचन्द्र ने लगभग इसी प्रकार के शंका-समाधान का उल्लेख किया है।<sup>१</sup> अतः उन तर्कों के निराकरण से भी कोई समस्या का अन्तिम हल नहीं होता। नागेश के तर्क अकाट्य नहीं। और न पण्डितराज के ही। पूछन कोरे तर्कों का नहीं, वास्तविक मूल स्थिति का है। शब्द एवं अर्थ को एक ही घरातल पर रख कर सोचना सरल भले ही हो सकता है, वैज्ञानिक कर्म।

शब्द-गत काव्य-स्थिति के प्रतिपादन में पण्डितराज का अपना विशिष्ट दृष्टि-कोण है। वे शरीर के माध्यम से ही शरीरी को व्याख्या करना उचित समझते हैं। इसी कारण वे काव्य-लक्षण में गुणों को, जो कि कावात्मा के धर्म माने जाते हैं, तथा अलङ्कारों को, जो कि हारादि के समान बाह्य शोभाकारक हैं, सम्मिलित करना उचित नहीं समझते। कारण, वे उपादान काव्य-शरीर के घटक नहीं। वे स्पष्ट कहते हैं :--

" शरीरादिवदात्मधर्माणां गुणानाम्, हारादिवदुपस्काराणामलङ्काराणां च शरीरघटकत्वानुपपत्तेश्च। "

स्पष्ट है, पण्डितराज काव्य का लक्षण शरीर-घटक उपादानों के माध्यम से करना चाहते हैं।

१-नागेशः गुरुमर्म-प्रकाशः रसगंगाधरः पृष्ठ ६। २-नागेशः गुरुमर्म-प्रकाशः रसगंगाधरः पृष्ठ ६।

३-"शब्दार्थौ मिलितौ जातिव्यञ्जितवदन्योन्याव्यभिचारित्वेन। एतेन शब्दार्थौ भेदवादिनः प्रत्यक्षतः तैर्यक्तं मते शब्दमपलभामहे भगवत्तमिति। एतेन कविनिर्मितकमनीयतातिशायिनोः शब्दार्थयोः प्रत्येकं काव्यत्वमिति पक्षद्वयमपि निरपेक्षतया गतो ह्योराह्लादकारित्वं न तु प्रत्यक्षतः।"

४- रसगंगाधरः ४४८। काव्यप्रकाशटीका : १०२८०५। २। काव्यप्रकाशः ३८०। १। ४४६५।



शब्द-वादो हैं। किन्तु उनके विशिष्टता-वाद में अन्य शब्द-वादियों से विशिष्टता है। उनका प्रतिपादक शब्द अपने प्रतिपादन में उस अर्थ को अवान्तर-व्यापार रूप से समेटे हुए है, जिसे सामान्यतः अन्य उभय-वादो शब्द के साथ सम्मिलित किया करते हैं। जिस शब्द को वे काव्य कहते हैं, वह सामान्य शब्द नहीं, रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द है। उन्होंने व्यवहार, तर्क तथा अनुभव - तीनों के आधार पर उभय-वाद को असंगत ठहराया है। यद्यपि नागेश ने अपने ग्रीड तर्कों द्वारा पण्डितराज के शब्द-वाद का निराकरण करने का प्रयत्न किया है, किन्तु वास्तविकता एवं शास्त्रीय गभीरता नागेश का साथ नहीं देती। वस्तुतः नागेश पण्डित-

प्रमाणो प्रागुक्ताद्व्यवहारतः शब्दविशेषो सिद्ध्यन्ती शक्तिं को नाम निवारयितुमीष्टे। एतेन विनिगमनाभावादुभयत्र शक्तिरिति प्रत्युक्तम्। तदेवं शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वे सिद्धे तस्यैव लक्षणां वक्तुं युक्तम्, न तु स्वकल्पितस्य काव्य-पदार्थस्य। एतच्च वेदपुराणा-दिलक्षणाेष्वपि गतिः। अन्यथा तत्रापीयं दुरवस्था स्यात्।

यत्त्वास्वादोद्बोधकमेव काव्यत्वप्रयोजकं, तच्च शब्दे चार्थे चाविशिष्टमित्याहुः, तन्न। रागस्यापि रसव्यञ्जकतायाः ध्वनिकारादिसकलालङ्कारिकसंमतत्वेन प्रकृते लक्षणीयत्वापत्तेः। किं बहुना, नाट्याङ्गानां सर्वेषामपि प्रायशस्तत्वात्वेन तत्त्वापत्तिर्दुर्विवा। एतेन रसोद्बोधसमर्थ-स्यैव तत्र लक्ष्यत्वमित्यपि परास्तम्।

अपि च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दार्थयोर्व्यसक्तं, प्रत्येकपर्याप्तं वा। नाहः, एको न द्वाविविति व्यवहारस्यैव श्लोक-वाक्यं "न काव्यमिति" व्यवहारस्यापत्तेः। न द्वितीयः, एकस्मिन् पक्षे काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः। तस्माद्वेदशास्त्रपुराणलक्ष्यस्यैव काव्यलक्षणास्यापि शब्दनिष्ठत्वो-चिता।

रसगंगाधर : पृष्ठ ५-६ ।

१- " यदि त्वास्वादव्यञ्जकत्वस्योभयत्राप्यविशेषाच्चमत्कारिवोधजनकत्वाविषयतावच्छेदक-धर्मवत्त्वरूपस्यानुपहसनीयकाव्यलक्षणास्य प्रकाशयुक्तलक्ष्यतावच्छेदकस्योभयवृत्तित्वाच्च काव्यं पठितम्, श्रुतं काव्यम्, बुद्धं काव्यमित्युभयविधव्यवहारदर्शनाच्च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं व्या-सन्नसवृत्तिः। अत एव वेदत्वादेरुभयवृत्तित्वप्रतिपादकः "तदधीते" इत्यादिपूर्वस्यो भगवान् पतञ्जलिः संगच्छते। लक्षणायाः अन्यतरस्मिन्नपि तत्त्वादेको न द्वाविविति वन्न तदापत्तिः। तिनानुपहसनीयकाव्य-लक्षणां प्रकाशोक्तं निर्वाणम्।

नागेश : गुरुमर्मप्रकाश : रसगंगाधर : पृष्ठ ६ ।



पण्डितराज के काव्य-लक्षण से तुलना के लिए हमारे समक्ष दो आचार्यों के ही लक्षण महत्वपूर्ण आते हैं। एक मम्मट का, दूसरा विश्वनाथ का। ऐतिहासिक विवेचन के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि ये दो लक्षण ही समस्त आचार्यों की चिन्तन-परम्परा का सार लिए हुए हैं।

मम्मट का लक्षण "तददोषो शाब्दार्थो सगुणावनलङ्कृती पुनः 'वापि' जहाँ एक ओर अलंकार-युग की उपलब्धियों का परिमार्जित सार अपना कर चला है, वहाँ अपने परवर्ती युग द्वारा वह सर्वाधिक अनुगत भी हुआ है। सरलतया बुद्धि-गम्य काव्योपादानों को लेकर काव्य के स्वरूप का परिचय कराने में जो सफलता मम्मट को मिली है, किसी अन्य को नहीं। मम्मट के लक्षण को व्यावहारिक उपयोगिता सर्वमान्य रही है। तथापि उसकी शास्त्रीयता बहुत पुराने समय से ही आलोचना का विषय बनी रही है। उसके सबसे बड़े आलोचक हैं आचार्य विश्वनाथ तथा स्वयं पण्डितराज। उनके लक्षण के एक-एक पद पर आपत्तियाँ उठायी गयी हैं। और उनके समाधान देकर मम्मट की मान्यता को बनाये रखने के लिए उनके टीकाकारों की कितना श्रम करना पड़ा है, यह काव्य-शास्त्र के विद्यार्थी से छिपा नहीं है।

१- "यत्तु प्राचः 'अदोषो सगुणो सालङ्कारो शाब्दार्थो काव्यम्' इत्याहुः, तत्र विचार्यते। शाब्दार्थगुणं न काव्यशब्दवाच्यम्, मानाभावात्। - - - - - । लक्षणे गुणा-लङ्कारनिवेशोऽपि न युक्तः। 'उदितं मण्डलं विधोः' इति काव्ये दूत्यभिसारिकाविरहिण्यादि-समुदोरितेऽभिसरणविधिनिषेधजीवनाभावादिपरे, 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ चाव्याप्त्यापत्तेः। न चेदमकाव्यमिति शक्यं कीर्तुम्। काव्यतया पराभिमतस्यापि वक्तुं शक्यत्वात्। काव्यजीवितं चमत्कारित्वं चाविशिष्टमेव। गुणालंकारत्वादेरननुगमाच्च। दुष्टं काव्यमिति व्यवहारस्य बाधकं विना लक्षणिकत्वायोगाच्च। न च संगोपाभाववान्बुद्धाः संगोपातिवदशभेदेन दोषरहितं दुष्टमिति व्यवहारे बाधकं नास्तीति वाच्यम्। मूले महारुहो विहंगमसंगोपा न शास्त्रायाम्" इति प्रतीतिरिवेदं परं पूर्वार्थं काव्यमुत्तरार्थं तु न काव्यमिति स्वरसबाहिनो विश्वजनानामनुभवस्य विरहादव्याप्यवृत्तितया अपि तस्यायोगात्। शौर्यादिवदात्मधर्माणां गुणानां, हारादिवदु-पस्कारकाणामलंकाराणां च शरीरघटकत्वानुपपत्तेश्च। "

रसगीतघर : पृष्ठ ५-६-७ ।

क- "किंच शब्दार्थयोः सगुणत्वविशेषणमनुपपन्नम्। गुणानां रसैकधर्मत्वस्य। ये रसस्थादि-ग-नो धर्माः शौर्यादिव दवात्मनः" इत्यादिना तेनैव प्रतिपादितत्वात्। रसाभिव्यञ्जकत्वेनोपचारत उपपद्यत इति चेत्, तथाप्युक्तम्। तथाहि- तयोः काव्य-स्वरूपत्वेनाभिमतयोः शाब्दार्थयो रसोऽस्ति, न वा ? नास्ति चेत्, गुणवत्त्वमपि नास्ति। गुणानां तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्। अस्ति चेत्, कथं नोक्तं रसवन्ताविति विशेषणम्? गुणवत्त्वान्यथानुपपत्त्यैत्लभ्यत इति चेत्, तर्हि सरसा-वित्येव वक्तुं युक्तम्, न सगुणाविति। न हि प्राणिमन्तो देशा इति वक्तव्ये शौर्यादिमन्तो देशा इति केनाप्युच्यते। ननु "शब्दार्थो सगुणो" इत्यनेन गुणाभिव्यञ्जकौ शाब्दार्थौ काव्ये प्रयो-ज्यावित्यभिप्राय इति चेत्, न। गुणाभिव्यञ्जकशब्दार्थवत्त्वस्यापि काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वं, न तु स्वरूपाधायकत्वं। उक्तं हि- काव्यस्य शाब्दार्थो शरीरं, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्या-दिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलंकाराः कटककुण्डलादिवत्, इति। "

विश्वनाथ : साहित्य-दर्पण : परिच्छेद १ : पृष्ठ ११-१३ ।



पण्डितराज मम्मट के "सगुणौ" विशेषण पर आपत्ति उठाते हुए उन वस्तुव्यञ्जना-परक काव्यों का जोर संकेत करते हैं, जिनमें रस-प्रवणता न होने पर गुण-सद्भाव भी नहीं माना जा सकता। "उदितं मण्डलं विधोः" तथा "गतोऽस्तमर्कः" जैसे वाक्य, जहाँ वक्ता-आदि की विशिष्टता से विभिन्न समत्कारी अर्थ सामने आते हैं, किन्तु गुण-अलंकार उनमें नहीं दिखायी पड़ते, ऐसे काव्यों के प्रतीक समझने चाहिए। पण्डितराज सर्वत्र रस की ही सत्ता के आधार पर काव्यत्व नहीं मानते, जो ऐसे वाक्यों में भी कहीं से दूर का रस-संस्पर्श मान कर काव्यत्व स्वीकार करें। फिर गुणत्व तथा अलंकारत्व की धारणा का कोई निश्चित अनुगम या सिद्धान्त भी तो नहीं। स्वयं पण्डितराज ही, गुणों के दृष्टि-कोण में मम्मटादि के साथ नहीं। अतः वे मम्मट के लक्षण का शास्त्रीय आधार-शिला को दुर्बल समझते हैं।

बात भी बहुत कुछ ऐसी ही है। यह ठीक है कि मम्मट की चिन्तन-व्याप्ति भी कम व्यापक नहीं है। उन्होंने अलंकार-वादों युग के उपादानों को ही उठा कर उनकी पृष्ठ-भूमि में स्थित चिन्तन-व्याप्तियों का प्रसार कर के अपना काव्य-लक्षण प्रस्तुत किया था। यही कारण है, कि उनके मन्तव्यों को सूक्ष्म शास्त्रीय भाषा में उपस्थित करने की क्षमता उनके लक्षण-शब्दों में नहीं है। मम्मट के मन्तव्यों को उन्हीं शब्दों में निहित दिखाने के लिए हमें उन शब्दों की व्याप्तियों को पर्याप्त प्रसार देना पड़ता है। जहाँ सरलता तथा व्यावहारिकता मम्मट के लक्षण के गुण हैं, वहाँ शास्त्रीय सूक्ष्मता का अभाव उसकी दुर्बलता। पण्डितराज के लक्षण में ऐसी शास्त्रीय दुर्बलता का संस्पर्श नहीं है।

आचार्य विश्वनाथ का काव्य-लक्षण "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" यद्यपि पण्डितराज के समान ही विशिष्ट-शब्द-वाद के वर्ग में ही आता है, तथा उसमें रसानुभूति को आधार बना कर काव्य का अन्तःपरकता को भी निभाने का यत्किंचित् प्रयत्न हुआ है, तथापि उसकी व्याप्ति अत्यन्त सीमित है। विश्वनाथ के लक्षण में रस शब्द पारिभाषिक रूप में प्रयुक्त हुआ है। रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भाव-शबलता, तथा भाव-शान्ति वाले काव्यों तक ही उसकी सीमा है:—

"रस्यत इति रस इति व्युत्पत्तिर्गोपाद्भावतदाभासाद्येऽपि गृह्यन्ते।" १

वे काव्य में रस को ही आत्मा मानते हैं, तथा उसी के आधार पर काव्य-लक्षण करना चाहते हैं। हम यहाँ-प्रसंग देखेंगे कि अभिनव गुप्त भी रस को ही काव्य का आत्मा मानते हैं, तथा सर्वत्र सर्व-विध काव्यों में येन-केन प्रकारेण रस-योजना स्वीकार करते हुए चलते हैं। किन्तु अभिनव तथा विश्वनाथ की दृष्टि में अन्तर है। अभिनव "रस" को उपर्युक्त सीमित अर्थ में ग्रहण करने के साथ-साथ काव्य-लक्षण के व्यापक अर्थ में भी ग्रहण कर के चलते हैं। किन्तु विश्वनाथ जब काव्य की आत्मा रस को बताते हैं तब उपर्युक्त सीमा में ही ग्रहण करते हुए। फिर भी रस को काव्य की आत्मा मानने वालों को एक ही प्रणाली है, सर्वत्र सर्वविध काव्यों में पार्यन्तिक रूप में "रस" की सत्ता स्वीकार करना। विश्वनाथ का भी यही दृष्टि-कोण है।

पण्डितराज की यह दृष्टि-कोण अस्वीकृत है। वे रस-शब्द के इस अव्यवस्थित प्रयोग को प्रयुक्त नहीं करते। विश्वनाथ का रस "रसादि-ध्वनि" का पर्याय है। यदि केवल "रसादि-ध्वनि" को ही काव्य की आत्मा मान कर उसी के आधार पर काव्यत्व-निर्णय किया जायगा, तो वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि वाले काव्य, जिन्हें उत्तम-कोटि का काव्य स्वीकार किया गया है काव्य-कोटि से बहिष्कृत करने पड़ेंगे। इतना ही क्यों, मध्यम-कोटि तथा अधम-कोटि के काव्य,



जो परम्परा से "काव्य" कहे जाते रहे हैं, तथा स्वयं अभिनव-गुप्त एवं विश्वनाथ को भी स्वीकृत है, काव्य नहीं कहे जा सकते। और रस-ध्वनि को ही सर्वत्र पार्यान्तिक मानना बड़ी दूरारूढ प्रणाली है। अतः पण्डितराज उसका निराकरण कर देते हैं :--

"यत्तु "रसवदेव काव्यम्" इति साहित्य-दर्पणी निर्णीतम्, तन्न। वस्तुत्वलङ्कारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः। महाकविसम्प्रदायस्याकुलीभावप्रसंगात्। तथा च जल-प्रवाहवेगनिपतनोत्पतनभ्रममिमिणानि कविभिर्वर्णितानि कपिलादिद्विलसितानि चान च तत्रापि यथाकथंचित्परम्परया रसस्पर्शोऽस्त्येवेति वाच्यम्। ईदृशरसस्पर्शस्य "गोश्चलति" "मृगोधावति" इत्यादावतिप्रसक्तत्वेनाप्रयोजकत्वात्। अर्थात्स्य विभावानुभावव्यभिचार्यन्यतमत्वादिति दिक्।" १

वस्तुतः पण्डितराज के इस विवेचन से हमारा ध्यान काव्य-शास्त्र के एक महत्व-पूर्ण प्रश्न की ओर आकृष्ट होता है। क्या सर्वत्र काव्य में रस की ही अनुभूति होती है ? काव्य हमें अन्य अनुभूतियों एवं व्युत्पत्तियों के साथ आह्लाद देता है, आह्लाद ही उसका सकल-प्रयोजन-मौलिक-भूत तत्त्व है, इसमें सभी कोई सहमत है। किन्तु क्या वह आह्लाद सर्वत्र रसादि-ध्वनि-रूप ही होता है ? ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। ध्वनि-सिद्धान्त की मूल भित्ति भी इसे स्वीकार नहीं कर सकती। उसमें रस-ध्वनि से स्वतन्त्र, किन्तु उसके ही सम-कक्षाी वस्तु-ध्वनि तथा अलङ्कार-ध्वनि के भेद भी स्वीकार किये गये हैं। इन भेदों में स्पष्ट ही आह्लाद के तीन रूपों की स्वीकृति है। रस-ध्वनि भावात्मक आह्लाद की, वस्तु-ध्वनि बौद्धिक आह्लाद की तथा अलङ्कार-ध्वनि कल्पनात्मक आह्लाद की स्वीकृति देती है। अपनी चरम सीमा में जाकर चाहे सभी आह्लाद चैतन्य की स्वरूपाभिव्यक्ति के कारण मूलतः एक हों, तथापि इन उपाधियों के भेद के साथ उनका स्वरूप-भेद भी स्वीकार करना पड़ेगा, अन्यथा उच्च-कोटि के रसात्मक पय में तथा शब्दालङ्कार के समकार से पूर्ण किसी काव्य में क्या अन्तर रह जायगा ? काव्याह्लाद कभी हमें गहरे भावोद्बोधन के माध्यम से होता है, कभी किसी वस्तु का वास्तव्य में लीन करते हुए, और कभी केवल कल्पना-प्रवण बना कर। अतः सर्वत्र काव्याह्लाद के एक प्रकार "भावात्मक आह्लाद" की ही स्वीकार कर के तथा येन-केन प्रकारेण सर्वत्र उसे ही दिखा कर आह्लाद के अन्य स्पष्ट-तर रूपों का अपलाप उचित नहीं।

काव्याह्लाद की विविध-रूपता की हम आधुनिक साहित्य की विविध-रूपता पर दृष्टि डाल कर बड़े अच्छे प्रकार से समझ सकते हैं। हमारा आज की परिस्थितियां प्राचीन काल से बहुत बदल गयी हैं। आज हमारा जीवन विषम हो गया है। आर्थिक विषमताओं ने जीवन की मान्यताओं में क्रान्ति उपस्थित कर दी है। प्राचीन मान्यताएं जीर्ण होकर टूट गयी हैं, रहो सही सोत्साह तोड़ो जा रहो हैं। विज्ञान ने हमें विश्लेषण की प्रवृत्ति दी है। संक्षेप में, आज का युग स्वयं में असफल अपनी विषमताओं में उलझ गया है। दूसरी ओर विज्ञान ने हमारी कल्पनाओं के विविध नूतन धरातल भी सौते हैं। हमारा आधुनिक साहित्य पश्चिम की नाना प्रवृत्तियों से प्रभावित हुआ है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि हमारा अर्वाचीन साहित्य रसात्मक की अपेक्षा बौद्धिक एवं कल्पनात्मक अधिक हो गया है। आज के साहित्य का आह्लाद भी पूर्व-वत् नहीं रह गया है। वस्तुतः आज के साहित्य में बौद्धिक एवं कल्पनात्मक अनुभूतियों का योग रसात्मक धाराओं की अपेक्षा अधिक है। अभिनव गुप्त जिस प्रकार समस्त कल्पनात्मक एवं बौद्धिक अभिव्यक्तियों की भी चरम परिणति रसात्मक ही मानते थे, आज का युग चेतना रसात्मक काव्य की भी चरम परिणति बौद्धिकता में खोजना चाहता है।



फिर भी, साहित्य या काव्य हमें आह्लाद देना है, यह तथ्य स्वतः सहृदय-हृदय-प्रमाणित है। काव्याह्लाद की इस विविध-रूपता को ध्यान में रख कर केवल भावात्मक आनन्द को स्वीकार करके ही नहीं चला जा सकता। ऐसा करना आज के युग को बहुत पुराने चश्मे से देखना होगा। ऐसा करने पर हमें साहित्य के एक बड़े भाग से हाथ धोना पड़ेगा। पण्डितराज के शब्दों में महाकवियों, साहित्य-कारों के संप्रदाय में एक तहलका मच जायगा। "महाकवि-संप्रदाय-स्वाकुली-भावप्रसंगात्" ।

रस-वादी भी काव्य को इस व्यापक परिधि से हाथ धोने के लिए तैयार नहीं है। उसकी योजना-पद्धति का अन्तर है। वह सर्वत्र पार्यान्तिक रूप में रस को ही दिखाना चाहता है। उसकी इस योजना-पद्धति का पण्डितराज ने बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया है। यदि ऐसे ही सर्वत्र सींच-तान से रस-योजना दिखाना है, तो फिर "गौश्चलति" "मृगो धावति" जैसे वाक्यों में भी रस-स्पर्श दिखाया जा सकता है, क्योंकि सभी वर्ग किसी न किसी रूप में विभावादि में से कुछ न कुछ बन हो जाते हैं, गणना बनाये जा सकते हैं :—

"हृद्दृशरसस्पर्शस्य "गौश्चलति" "मृगो धावति" इत्यादावतिप्रसङ्गतत्वेनाप्रयोजकत्वात्।

अर्थात् रसस्य विभावानुभावव्यभिचार्यन्यतमत्वादिति दिक्। " १

इस अभीष्ट व्यापकता के अभाव में विश्वनाथ का काव्य-लक्षण अग्राह्य है ।

यहाँ प्रश्न उठता है, काव्य-लक्षण की कसौटी क्या होनी चाहिए। सभी लक्षणों का उद्देश्य होता है स्वेतर पदार्थों से व्यवच्छेद कर के "स्व" का ठीक ठीक परिचय देना। पण्डितराज ने स्वयं लक्षण की कसौटी इन शब्दों में निर्धारित की है :—

" - - - - - तस्मिन् विशेष्यतावच्छेदकं तदितरभेदबुद्धौ साधनं च सव्ययनं तल्लक्षणं तावन्निरूप्यते - "। २

इस कसौटी के अनुसार लक्षण लक्ष्य-पदार्थ की समस्त परिधि को समेट कर चलना चाहिए। तथा स्वेतर पदार्थों का भेदक होना चाहिए। पण्डितराज पूर्व ही यह दृष्टि-कोण बना कर चले हैं कि जो चीजें काव्य-रूप में स्वीकृत हैं, उनका लक्षण उनमें व्याप्त होना चाहिए, तथा काव्य-तर स्वातीय विजातीय तत्वों से भेदक होना चाहिए। हमने देखा है कि मम्मट तथा विश्वनाथ के काव्य-लक्षणों में विशेष्यतावच्छेदकता तथा तदितरभेदबुद्धि-साधनता की अभाव अभीष्ट सन्धि मात्रा नहीं।

पण्डितराज के लक्षण में हम इस कसौटी का पूर्ण निर्वाह पाते हैं। उनमें वह सीमा-संकोच नहीं जो विश्वनाथ में था। उनके रमणीयार्थ की सीमा पर्याप्त व्यापक है। उसकी विशेष्यतावच्छेदकता काव्य के भावात्मक आह्लाद वाले काव्यों तक ही नहीं, बौद्धिक एवं कल्पनात्मक आह्लाद वाले काव्यों को भी समेट कर चल सकती है। किसी एक आह्लाद-रूप को दूसरे से आच्छादित करने की आवश्यकता उसमें नहीं पड़ती। साहित्य के आधुनिक परिधि-प्रसारके साथ पण्डितराज का ही काव्य-लक्षण पग मिला कर चल सकता है।

"तदितरभेदबुद्धिसाधनता" तो पण्डितराज के लक्षण में जोर भी सफल रूप में परिलक्षित होती है। हम लौकिक आह्लादों की चमत्कार के आधार पर, भौतिक सौन्दर्य को शब्द-पतिपावता



के आधार पर, तथा अन्य ललित कलाओं के प्रतिपाद्य रमणीय अर्थ तथा तत्प्रतिपादक शब्द के आधार पर अलग कर सकते हैं। ललित कलाओं में जहाँ तक फल-रूप आह्लाद का प्रश्न है, सभी का प्रतिपाद्य लोकोत्तर आह्लाद होता है। सब में रमणीयता होती है, लालित्य होता है, पण्डितराज के शब्दों में सभी लोकोत्तर आह्लाद जनक ज्ञान का समर्पण करती है। फिर भी सभी "रमणीय अर्थ" को सामने नहीं करती। उदाहरण-स्वरूप संगीत रमणीयता देता है, "रमणीय अर्थ" नहीं। चित्र, मूर्ति, वास्तु, अभिनय, काव्य सभी रमणीय अर्थ देते हैं, किन्तु इन सभी के रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द हो नहीं होते। काव्य तथा अभिनय को छोड़ अन्यो के उपकरण भी शब्द-भिन्न होते हैं। हम अभिनय एवं काव्य के बीच भी एक सूक्ष्म रेखा खींच सकते हैं। अभिनय एक मिश्रित कला है, जिसमें चक्षु तथा श्रोत्र दोनों इन्द्रियों का उपयोग होता है। अभिनय में रूपात्मक अवयव का इतना बाहुल्य होता है कि कभी कभी तो शब्द-निरपेक्ष आह्लादानुभूति हो जाती है। किसी सिने-मंच पर दूध-पुली चांदनी में किसी रमणीक स्थल पर किसी सुन्दरी की उपस्थिति बिना किसी शब्द-व्यापार केही लोकोत्तर आह्लाद को सृष्टि करते देखे जाते हैं। अतः अभिनय अनिवार्यतः शब्द के ही आश्रित नहीं रहता। जहाँ तक साहित्य या काव्य का सम्बन्ध है, पद्य नाटक हो उसके अन्तर्गत आते हैं। उनके अभिनीत रूप में जितना शब्द का उपयोग है, उतना ही काव्यांश समझना चाहिए। पण्डितराज के काव्य-लक्षण से इन सब को परस्पर विभाजक रेखाएं उभर कर सामने आ जाती हैं। तदितरभेदबुद्धि-साधनता पण्डितराज के काव्य-लक्षण के समान अन्य किसी आचार्य के काव्य-लक्षण में परिलक्षित नहीं होती।

पण्डितराज के काव्य-लक्षण को बने यद्यपि अधिक दिन नहीं हुए, तथापि इन थोड़े से दिनों में युग बदल गये हैं। काव्य का स्वरूप एवं तत्सम्बन्धी धारणाओं में भी परिवर्तन आ रहे हैं। फिर भी पण्डितराज के लक्षण में आधुनिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने की अद्भुत क्षमता बनी हुई है। यह क्षमता अन्य आचार्यों के लक्षण में शिथिल पड़ चुकी है। यह ठीक है, कि अपना लक्षण निर्मित करते समय पण्डितराज के समक्ष हमारे युग की आवश्यकताएं नहीं थीं, फिर भी उनके लक्षण में वह समाई है, कि हमारी आवश्यकताएं इस युग में भी उससे पूर्ण होती हैं। इसका कारण है, पण्डितराज के काव्य-जगत् के एक चिरन्तन सत्य "रमणीयता" को आधार बना कर चलना। आज का सौन्दर्य-शास्त्र उनके काव्य-लक्षण को बड़े विश्वास के साथ अपना लक्षण कह सकता है। यह श्रेय किस अन्य भारतीय आचार्य को नहीं दिया जा सकता।

अब हम अपनी योजना के अनुसार, काव्य-लक्षण के विवेचन के अनन्तर काव्य-हेतुओं के विवेचन को जोर आ सकते हैं।



## काव्य --- हेतु

### काव्य-हेतु एवं भारतीय दृष्टि-कोण

हम काव्य-विवेचन करते हुए देख चुके हैं कि भारतीय समालोचना में मान-दण्डों के निर्धारण में दृष्टि प्रायः वस्तु-पक्ष में काव्य पर रहती है, तथा आत्म-पक्ष में सहृदय की अनुभूति पर। सामान्यतः द्रष्टा या कवि का अध्ययन उसकी सृष्टि के रूप में ही किया जाता है। किन्तु भारतीय समालोचक कवि की महत्ता तथा उसकी अनुभूति-प्रक्रिया से एक-दम बेखबर भी नहीं रहता। हाँ, पश्चिमी समालोचना में कवि की अनुभूति तथा अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को जितना स्थान मिला उतना भारतीय समालोचना में नहीं मिल सका। पश्चिम की समालोचना की आत्म-पक्षीयता का कवि की ओर उन्मुख रहने का एक प्रमुख कारण रहा वहाँ के काव्य के एक बहुत बड़े भाग का आत्म-परक होना। कुछ विशिष्ट कारणों से पश्चिमी समालोचना में व्यक्ति-वादो कल-कल अधिक रहा, जबकि भारतीय जीवन-दर्शन सदा अनेकता में एकता के दर्शन करता हुआ अपनी दृष्टि को समष्टि-हीन करने की ही साधना सामने रख कर चला। फलतः उसका व्यक्ति-वादिता सामाजिक चराचर की सदा अपेक्षा करती रही। यही कारण है कि भारतीय काव्य की आत्मा "स्वान्तःसुखाय" होते हुए भी "परान्तःसुखाय" भी बनी रही। सहृदयता भारतीय काव्य की सर्व-प्रमुख कसौटी रही है। और, उस दृष्टि-कोण से भारतीय आलोचना कभी भी मुक्त नहीं हुई है, आज भी नहीं। इस के अनेक परिणामों में से एक यह भी हुआ है कि भारतीय समालोचक काव्य-द्रष्टा कवि के व्यक्तित्व की पूर्ण स्वाकृति देकर भी, अपने विभिन्न मान-दण्डों को कवि की अनुभूति के दृष्टि-कोण से छोप कर नहीं चला। जब काव्य के कारणों की खोज का प्रश्न सामने आता है तभी वह सर्वना के पाँछे निहित द्रष्टा के व्यक्तित्व एवं उसके निर्माणक तत्वों की ओर दृष्टि ले जाता है। काव्य के हेतुओं के विवेचन में भारतीय समालोचना का यही प्रमुख दृष्टि-कोण रहता है।

कवि की महत्ता

काव्य-जगत् की इस भौतिक जगत् से सर्वथा विलक्षण कहा गया है। इस विलक्षण जगत् का द्रष्टा या प्रजापति कवि है, जिसकी इच्छा एवं रुचि के साथ इस जगत् का संविधान एवं संघटन बनता, बदलता है। उस प्रजापति का हृदय जिस भाव की रंगीनी से रंगा होता है,

१- अपार काव्य-सरोवर कविरसः प्रजापतिः ।

यथास्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तते ॥

ध्वन्यालोक : पृष्ठ ११८ ।



समस्त काव्य-जगत् उसी रंग को आभा से रंग जाता है।<sup>१</sup> कवि-भारती नियति के बन्धनों से परे, एक स्वच्छन्द एवं आनन्दमयी सृष्टि कही गयी है।<sup>२</sup> सुकवि अचेतन पदार्थों में प्राण फूँक कर उन्हें चेतन बना लेता है, तथा उनसे जैसा चाहता है, व्यवहार कराता है।<sup>३</sup> तब इस विलक्षण सृष्टि के अद्भुत सृष्टा का महत्त्व किसे स्वीकृत न होगा।

प्रश्न उठता है, वे कौन से उपादान हैं, जिन पर अधिकार कर के, कवि एक जन-सामान्य का प्राणा होते हुए भी जन-सामान्य से अलग छट जाता है ? वे कौन सा विरोधताण है, जिन के कारण वह ऐसी अद्भुत सृष्टि का निर्माण कर सकने में समर्थ होता है ?

इस प्रश्न के समाधान के लिए भारतीय आचार्य काव्य के हेतुओं का समाधान किया करते हैं।

### तीन काव्य-हेतु

संस्कृत काव्य-शास्त्र में काव्य-हेतुओं पर विचार करना एक सामान्य विषय है। इस पर लग-भग सभी प्रमुख आचार्यों ने अपने अपने दृष्टि-कोण से प्रकाश डाला है। काव्य-हेतुओं के सम्बन्ध में सामान्यतः तीन उपादानों का चर्चा रहती है। १- प्रतिभा, २- व्युत्पत्ति, एवं ३- अभ्यास। इन तीनों में प्रतिभा की महत्ता एवं काव्य-कारणता निर्विवाद स्वीकृत है। प्रतिभा की महत्ता के गुण-गान संस्कृत साहित्य एवं साहित्य-शास्त्र में इतना अनेक विहारे मिल सकते हैं। किन्तु काव्य-निर्माण में व्युत्पत्ति एवं अभ्यास का कितना योग है, तथा प्रतिभा से उनका क्या संबन्ध एवं अनुपात है, इस विषय पर प्रायः मत-भेद मिलेगा।

### प्रतिभा

राज-शीखर ने प्रतिभा के दो भेद किये हैं- एक कारयित्री, दूसरी भावयित्री।<sup>४</sup> कारयित्री

१- शृंगारो चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।  
स एव वीतरागश्चेत्, नोरसं सर्वमेव तत् ॥

ध्वन्यालोक : पृष्ठ १५८ ।

२- "नियतिकृतनियमरहितां ह्लादेकमयोमनस्यपरतन्त्राम् ।

नवरसरुचिरां निर्मितिमादयती भारती कवेर्जयति ॥ काव्यप्रकाश : १।१

"अपूर्वं यद्वस्तु प्रणयति बिना कारणकलां, जगद्ग्रावप्रख्यं निजरसभरात्सारयति च।

क्रमात्प्रख्यापस्याप्रसरसुभां भासयति तत् सरस्वत्यास्तत्त्वं कविसहृदयाख्यं विजयते॥

लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ १ ।

३, एवं ४ अग्रिम पृष्ठ पर ।







राज-शेखर ने प्रज्ञा का सम्बन्ध अनागत से जोड़ा है, किन्तु काव्य-प्रकाश के टीकाकार विद्याधर चक्रवर्ती ने अपनी सम्प्रदाय-प्रकाशिनो टीका में प्रज्ञा को त्रिकालिकी कहा है। उनके अनुसार स्मृति का संबन्ध अतीत से, मति का अनागत से, बुद्धि का वर्तमान से, तथा प्रज्ञा का तीनों कालों से है।<sup>१</sup> विद्याधर यह भी मानते हैं कि वाणो के दो छोटा-बोरा हैं। एक-शास्त्र, दूसरा-काव्य। शास्त्र में प्रज्ञा का क्लृप्त होता है, काव्य की सृष्टि प्रतिभा से होती है। तीनों कालों में नूतन उन्मेष-शालिनो प्रज्ञा ही प्रतिभा है।<sup>२</sup>

### प्रतिभा के कार्य

प्रतिभा के इस स्वरूप परिचय के लिए हम कुछ प्रसिद्ध आचार्यों के दृष्टि-कोण सामने रखते हुए उसके कार्य निर्धारित कर सकते हैं :--

भट्ट तोत

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनो प्रतिभा मता।<sup>३</sup>

अभिनवगुप्त

प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा ।<sup>४</sup>

प्रतिभानं वर्णनोपवस्तुविषयनूतनोत्प्लेशशालित्वम्।<sup>५</sup>

मम्मट

शक्तिः कवित्व-बोजरूपः संस्कारविशेषः।<sup>६</sup>

वाग्भट

प्रसन्नपदनव्यार्थयुक्त्युद्बोधविधायिनो।

स्फुरन्तो सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी ॥<sup>७</sup>

राज-शेखर

या शब्दग्राममर्थसार्वभलंकारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि ताविधमधिकृदय  
प्रतिभास्यति सा प्रतिभा ।<sup>८</sup>

१- "स्मृतिर्वतीतविषया मुदिरागामिनेश्वरा।

२- "प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनो प्रतिभा विदुः। संप्र० : काव्य० : पृष्ठ १३।

३- "प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनो प्रतिभा विदुः।  
इव वर्तमाना गिरा देव्याः शास्त्रं च कविकर्म च।  
प्रज्ञोपज्ञं तयोराद्यं प्रतिभोद्भवमन्तिमम्।" संप्र० : काव्य० : पृष्ठ १२५-१२६।

४- प्रज्ञानवनवोन्मेषशालिना प्रतिभा मता।

तदनुप्राणनान्जोवद्वर्णनानिपुणः कविः॥ भट्टतोत : काव्य-कौतुक :

टा० एच० डो० शर्मा : काव्य-प्रकाशः उल्लास १ : पृ० १५ से उद्धृत

५- लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ १२।

६- लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ ११७। पी० वी० काणे : हिस्ट्री सं० पी० नृप० १३५ से उद्धृत

७- वाग्भटाशंकर : १।४।

८- काव्य-प्रकाश : वृत्ति १।३ : पृष्ठ ११।

९- राजशेखर : काव्यमोमासा : पृष्ठ २६-७।



इन आचार्यों के उपर्युक्त संदर्भों से प्रतिभा के कार्य-संन्धों निम्न पक्षों पर प्रकाश पड़ता है :--

- १-प्रतिभा कवि में नूतन कल्पनाएँ जाग्रत करती है।<sup>१</sup>
  - २-प्रतिभा कवि को भाव-लीन होने तथा सौन्दर्यानुभूति करने की क्षमता प्रदान करती है।<sup>२</sup>
  - ३-प्रतिभा कवि को कल्पनाओं को गोचर रूप देने के लिए उत्तेजन अथवा चित्र-विधान करता है।<sup>३</sup>
  - ४-प्रतिभा उत्तेजन अथवा चित्रण को संका बनाने के लिए विभिन्न उपकरण जुटाती है।<sup>४</sup>
- ये उपकरण हैं:- शब्द-चयन, अर्थ-गोचना, नाना अङ्कार, विभिन्न उक्ति-प्रकार आदि ।

इस प्रकार किसी भाव में लीन होना, किसी वस्तु को गहरी सौन्दर्यानुभूति करना, किसी नूतन रूप-व्यापार को सर्वजस योजना करना, उनको उद्भावना करना, उन उद्भावनाओं को मूर्त रूप देना, तथा मूर्तकरण के लिए विभिन्न उपकरण जुटाना - सभी कवि-प्रतिभा के काम ठहरते हैं।

#### पण्डितराज का प्रतिभा-लक्षण

पण्डितराज ने इस प्रतिभा का पर्याप्त वस्तु-वादी ढंग से परिचय दिया है। उनका लक्षण निम्न है :--

" सा च काव्य-घटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः । " ५

इस लक्षण में प्रतिभा के उपर्युक्त सभी पक्षों की सूचना है। तथापि प्रतिभा के कार्य-पक्ष पर दृष्टि अधिक केन्द्रित है। काव्य की घटना अथवा रचना के अनुकूल शब्द तथा अर्थों की उपस्थिति पर विशेष बल दिया गया है। पण्डितराज अर्थात् अभी काव्य का लक्षण सविवेचन प्रस्तुत कर चुके हैं। काव्याह्लाद के लिए रमणीय अर्थ की अनिवार्यता अपेक्षा है। उसके लिए उपयुक्त शब्द एवं अर्थ की योजना अपेक्षित है। उस काव्यार्थ-भूत रमणीयार्थ की योजना के लिए ऐसे प्रतिपादक शब्दों की आवश्यकता है जो अपनी समस्त शक्तियों तथा अर्थों के साथ उपस्थित हो सकें। रमणीयार्थ ही काव्यार्थ कहलाने की क्षमता रखता है। यह रमणीयार्थ भावोद्बोधक, कल्पनोद्बोधक एवं बोद्धिचक चेतना का उद्बोधक होते हुए आनन्द-दायी हो सकता है। किसी काव्य के स्वरूप-विधान के लिए ये ही वास्तविक आवश्यक-

१- भट्ट-तीत ।

२- अभिनव ।

३- अभिनव ।

४- वाग्भट, राज-शेखर, आदि।

५- रसांगाधर : पृष्ठ ८ ।



कताएं हैं। ये समस्त आवश्यकताएं शब्द तथा अर्थ के दो धरातलों में सम्मिलित हैं। अतः पण्डितराज अत्यन्त सारगर्भित शब्दों में प्रतिभा का लक्षण प्रस्तुत कर देते हैं, "सा हि काव्यार्थघटनानुकूलशब्दार्थापस्थितिः"।<sup>१</sup>

१- पश्चिमी समालोचकों को भी लगभग इसी प्रकार के प्रतिभा के कार्य स्वीकृत हैं। हम यहां आई० ए० रिचर्ड्स द्वारा उद्धृत कोलरिज के कल्पना या प्रतिभा-विषयक विचारों का कुछ अंश प्रस्तुत कर रहे हैं :—

"That synthetic and magic power, to which we have exclusively appropriated the name of imagination,-----reveals it-self in the balance of reconciliation of opposit and discordant qualities,-----the sense of novelty, and freshness, with old and familiar objects; a more than usual state of emotion, with more than usual order; judgment ever awake and steady self-possession with enthusiasm and feeling profound or vehement."

"The sense of musical delight -----with the power of reducing power of multitude into unity of effect, and modifying a series of thoughts by some one predominant thought or feeling" - these are gifts of Imagination. "

I.A.Richards. : Principles of Criticism. : P.242.

रिचार्ड्स ने प्रतिभा के निम्न ६ प्रयोग भी दिखाये हैं :-- "क"

- १- सामान्यतः स्पष्ट अर्थ-प्रतिभाएं प्रस्तुत करना।
- २- आलेकारिक भाषा का प्रयोग, जिसमें उपमा तथा रूपक बहु-प्रचलित हैं।
- ३- किसी अन्य की मानसिक दशाओं अथवा भावात्मक स्थितियों का भावना करके मनः प्रदर्शन। (Sympathetic reproducing of other people's states of mind, particularly their emotional states.)
- ४- नवोन्मेष। (Inventiveness, the bringing together of elements which are not ordinarily connected.)
- ५- परस्पर एकत्र अप्राप्य वस्तुओं की एकत्र संपात्ति। (Relevant connection of thoughts ordinarily thought of as desperate which is exemplified in scientific imagination.)
- ६- पूर्वोद्धृत कोलरिज द्वारा व्याख्यात कल्पना-रूप, जिसे रिचार्ड्स सर्वाधिक काव्योपयोगी मानते हैं।

रिचार्ड्स का उपर्युक्त कल्पना या प्रतिभा का विवेचन भारतीय आचार्यों के प्रतिभा-विवेचन के बहुत समीप आ जाता है।

"क"

I.A.Richards. : Principles of Criticism. : P.239-243.



## व्युत्पत्ति

भारतीय काव्य-शास्त्र में प्रकृत काव्य की प्रतिष्ठा के लिए प्रतिभा के साथ व्युत्पत्ति एवं अभ्यास की भी स्वीकृति है, यह हम योंही कह चुके हैं। कवि प्रतिभा के ही बल से काव्य को सर्वना करता है। प्रतिभा के द्वारा ही वह उन भावों तथा चित्रों को उद्भावना करता है, जिन तक जन-सामान्य की दृष्टि नहीं पहुँच पाती। कवि-कर्म उन भावों तथा चित्रों तक ही सीमित नहीं, उसकी सफलता का मूल कसौटी है पर-प्रेषणीयता। कवि अपनी अनुभूति को परसूत्र बना कर ही संतोष-लाभ करता है। राज-शेखर ने ठीक ही कहा है, कि यदि सृज्य तक कवि को अनुभूति नहीं पहुँची, तो कवि कायम अवकेशी अर्थात् फल-हीन वृक्षा के समान है।<sup>१</sup> यह कहने का आवश्यकता नहीं कि काव्य में यह पर-प्रेषणीयता का गुण तब तक नहीं आ सकता, जब तक कवि लोक-हृदय न हो जाय। "लोक-हृदयता" के लिए कवि को व्यापक लोक-ज्ञान की भी ज़रूरत है। इस प्रकार कवि-प्रतिभा के साथ "व्युत्पत्ति" का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध जुड़ जाता है।

## अभ्यास

काव्य-रचना के लिए "अभ्यास" भी एक उपादेय तत्व है। काव्य जहाँ एक ओर कवि की स्वनुभूति की सहज अभिव्यक्ति है, वहाँ दूसरी ओर एक साधना भी है। प्रतिभा-शाली कवि भी, व्युत्पत्ति के अनन्तर भी, निरन्तर साधना द्वारा अपनी कला का परिमार्जन करते हैं। यही कारण है कि कालिदास जैसे महाकवियों की प्रारम्भिक एवं अग्रिम रचनाओं में महान् अन्तर मिलता है। ऋतु-संहार के कवि ने निस्सन्देह मेषदूत तक जाते-जाते अपनी कला का प्रचुर परिमार्जन किया है।

## तीनों का पारस्परिक स्थिति

हम योंही कह चुके हैं कि संस्कृत काव्य-शास्त्र में इन तीनों तत्वों को काव्य के लिए अपेक्षणीय समझते हुए भी, इन के परस्पर एवं तारतमिक सम्बन्ध के विषय में एकमत नहीं है, इस सम्बन्ध में "मुण्डे मुण्डे मतिभिर्भिन्ना" वाली बात है। इस विषय में विवाद के प्रमुख बिन्दु निम्न रहा करते हैं :—

१—"तया खलु फलितः कवेर्वापारतरु रन्यवाकेशो स्यात् ।"  
काव्य-मौमासा : राज-शेखर : पृष्ठ ११ ।



- १- काव्य के तीन हेतु - प्रतिभा, व्युत्पत्ति, अभ्यास - हैं, अथवा केवल प्रतिभा ?
- २- यदि तीनों काव्य-हेतु हैं, तो मिलकर अथवा पृथक् पृथक् ?
- ३- यदि केवल प्रतिभा ही काव्य-हेतु है, तो व्युत्पत्ति एवं अभ्यास के साथ उसका क्या सम्बन्ध है ?
- ४- प्रतिभा के क्या हेतु हैं, अर्थात् कवि में प्रतिभा कैसे आती है ?

इन चार विवाद-ग्रस्त बिन्दुओं पर अनेक आचार्यों ने अपने दृष्टि-कोण व्यक्त किये हैं। हम यहां कुछ विशिष्ट आचार्यों का मान्यताएं उपस्थित करते हुए इन प्रश्नों पर उनके मत जानना चाहेंगे। पंडितराज के दृष्टि-कोण को स्पष्टतः समझने के लिए उनकी पृष्ठ-भूमि में स्थित इस विचार-धारा को समझना भी आवश्यक है।

भामह

" गुरुपदेशादध्येतुं शास्त्रं बह्विधोप्यलम्।

काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः॥ १

" शाब्दाभिषेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुषासनम्।

विलोक्यान्वनिबन्धाश्च कार्यः काव्य-श्रमादरः॥ २

भामह ने चाहे शास्त्रों में भाषा अपना कर विवाद-विवेचन न किया हो, किन्तु विवाद की रेखाएं उनसे अवश्य बनीं। उन्होंने प्रतिभा को ही काव्य-हेतु होने का श्रेय दिया। "काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः"। साथ ही शास्त्र-ज्ञान, काव्य-विदुषासनं, अन्य-निबन्धावलोकन के द्वारा व्युत्पत्ति तथा " कार्यः काव्यश्रमादरः" के द्वारा "अभ्यास" को जोर ध्यान दिलाया है। विवादों स्वर दण्डों से प्रारम्भ हुआ, जो भामह की प्रतिक्रिया में था।

दण्डी

" नैसर्गिको च प्रतिभा, द्रुतं च बहु निर्मलम्।

अमन्दश्चाभिधीगीत्याः कारणं काव्य-सम्पदः॥ ३

- 
- १- भामह : काव्यालंकार : १/५ ।
  - २- भामह : काव्यालंकार : १/१० ।
  - ३- दण्डी : काव्यादर्श : १/१०३ ।



भामह ने प्रतिभा के ऊपर अधिक बल दिया था, दण्डी ने उसकी अपरिहार्यता स्वीकृत नहीं की। यद्यपि उन्होंने सामान्यतः दोनों को समुदित रूप में काव्य का कारण कहा था, तथापि वे यह भी मानते हैं कि एक-बार को यदि पूर्व वासना को कृपा से प्राप्त होने वाली प्रतिभा न भी हो, तब भी व्युत्पत्ति एवं अभ्यास के द्वारा कवि-कर्म में सफलता प्राप्त की जा सकती है :--

"न विद्यते यद्यपि पूर्व-वासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।

श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥ १

व्युत्पत्ति एवं अभ्यास के स्वतन्त्र अस्तित्व को यह उपलब्ध प्रथम स्वीकृति है।

वामन

वामन ने इस विभाग पर कुछ विस्तार से विचार किया है। उन्होंने प्रथम काव्यांगों को तीन वर्गों में विभक्त किया है। १-लोक, २-विद्या, ३-प्रकीर्ण। प्रथम में लोक-वृत्त का ज्ञान आता है, द्वितीय में समस्त शास्त्रों का ज्ञान, तथा तृतीय में निम्न ६ बातें :--

१-लक्ष्यज्ञत्व-----अन्य कवियों की कृतियों का परिचय।

२-अभियोग-----काव्य-रचना का उद्यम।

३-वृद्ध-सेवा-----काव्य-कला के मर्मज्ञों की उपासना।

४-जवेक्षण-----रचना में अधिक से अधिक ठोक शब्द रहने का अभ्यास।

५-प्रतिभान-----कवित्व का बाज प्रतिभा।

६-अवधान-----चित्त को एकाग्रता।

इनमें अभियोग कवित्व का प्रकर्ष करता है। वृद्ध-सेवा से काव्य-विद्या रचयिता में सरलता से आक्रान्त हो जाता है। जवेक्षण से पदों में स्तैर्य आता है तथा सरस्वती सिद्ध हो जाता है। अवधान से चित्त नूतन अर्थों में समर्प होता है। यह सब होते हुए भी प्रतिभा

१-दण्डी : काव्यादर्श : १।१०१ ।

२-वामन : काव्यालंकार-सूत्र : १।३

"क" ----- लोका विद्या प्रकीर्ण च काव्यांगानि। १

लोक-वृत्त लोकः । २

शब्दस्मृत्यभिधानकोषाच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्रदण्डीतिपूर्वा विद्याः। ३

"ख" ----- लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवावेक्षणं प्रतिभानमवधानं च प्रकीर्णम्। ११

तत्र काव्य-परिचयो लक्ष्यज्ञत्वम्। १२

वृद्ध-सेवावेक्षणम्। १३ । कोलोपदेशगुरुश्रवणं वृद्धसेवा। १४

पदोपानादधरणमवेक्षणम्। १५ । कवित्वबाजं प्रतिभानम्। १६

चित्तैकाग्र्यमवधानम्। १७।



हो कवित्व का वास्तविक बीज है।<sup>१</sup> यदि बीज हो न होगा, तो काव्य का पादप ही कैसे उगेगा ? यदि किसी ने "कागज" पैदा सड़ा भी किया तो उपहासास्पद हो जाएगा।<sup>२</sup>

वामन की मान्यताओं में यद्यपि भामह के समान ही अन्य उपादानों की स्वीकृति है, तथापि वह प्रतिभा के पथ को सरल बनाने के रूप में ही है। मूल कारणाता का श्रेय प्रतिभा को ही है, अन्य उसके उपकारक हैं।

### रुद्रट

रुद्रट भी काव्य-संघटना में दोनों का ही व्यापार मानते हैं:—

" तस्यासारनिरासात् सारग्रहणाच्च चारुणः करणौ।

त्रितयमिदं व्याप्तिप्रवृत्ते शान्तिर्बुत्पत्तिरभ्यासः ॥ ३

रुद्रट में परस्पर संबंधों का बीजना लगभग वामन जैसी है, हां, योजना के प्रकार में कुछ भिन्नता है।

रुद्रट के अनुसार प्रतिभा दो प्रकार की होती है, १-सहजा, २-उत्पाद्या। इनमें वन्म-सिद्ध सहजा ही श्रेयस्करो है। वह काव्य का मूल हेतु है। उत्पाद्या व्युत्पत्ति से उत्पन्न होती है। यह सहजा का संस्कार करती है, क्योंकि सहजा को संस्कार की अपेक्षा रखती है। खनिज स्वर्ण की भांति परिष्कार पूर्व संस्कार की आवश्यकता होती है। इसके साथ ही अभ्यास भी काव्य-कर्तृत्व में लाभ-दायक होता है।<sup>४</sup>

१-वामन : काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः : १।३

स -अभिप्राय- हि कवित्वप्रकृष्टमिव संदधाति। वृत्ति-१३

ततः -वृद्धयुक्तातः- काव्य-विद्यायाः संक्रान्तिर्भवति। वृत्ति-१४

पदस्य स्वोचिते स्वैर्ये हन्त सिद्धा सरावती। वृत्ति-१५

चित्तैकाग्र्यं बाह्यार्थनिवृत्तिः तदवधानं अवहितं चित्तमर्थनिपश्यति। वृत्ति १७

-यस्माद्बोर्ज विना काव्यं न निष्पद्यते। निष्पन्नं वाऽवहास्यात्तनं स्यात्। वृत्ति १६

२-वामन : काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः : १।३

३- रुद्रट : काव्यालंकार : १।२४

४- रुद्रट : काव्यालंकार :

प्रतिभत्यपरेरुदिता सहजोत्पाद्या र सा द्विधा भवति।

पंथा सहजातत्वादन्यास्त न्यायसी सहजा॥ १।१६

स्वस्यासी संस्कारे परमपरं भूयते हेतुम्।

उत्पाद्या तु कश्चित् व्युत्पत्त्या जन्यते परया ॥ १।१७

नष्टं दिनमभ्यस्येदभिपुवतः शान्तिमान् काव्यम् ॥ १।२०



अतः रुद्रट के अनुसार काव्य का मूल कारण तो है सहजा प्रतिभा। उत्पादा प्रतिभा, जिसका कारण व्युत्पत्ति है, सहजा प्रतिभा का कारण है; किन्तु उत्पादक कारण नहीं, संस्कारक ।

### आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन ने काव्य-हेतुओं पर पृथक् से तो विचार नहीं किया, किन्तु उन्हें प्रतिभा का महत्ता स्वीकृत है। वे शक्ति एवं व्युत्पत्ति में शक्ति को ही अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं :--

" अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।

यस्त्वशक्तिकृतो दोषः स भगित्यवभासते ॥ १

यदि कवि में प्रतिभा है, तो उसे वर्ण्य-विषयों का कमी नहीं। वह पुरातन, वर्णित विषयों को भा उठा कर उनमें नूतनता भर सकता है। और प्रतिभा-हीन के लिए रखा ही क्या है ? २

इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य का कारणता प्रतिभा का ही ठहरती है।

### आचार्य मङ्गल

राज-शेखर ने काव्य-मीमांसा में काव्य-हेतु के विषय में श्याम-देव तथा मङ्गल नामक आचार्यों के मत उद्धृत किये हैं। आज इन आचार्यों के कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति के विषय में मङ्गल का दृष्टि-कोण आनन्दवर्धन से ठोक उलटा है। मङ्गल प्रतिभा का अपेक्षा व्युत्पत्ति को ही काव्य का मूल कारण कहना चाहते हैं।

" कवेः संव्रियते शक्ति व्युत्पत्त्या काव्यवर्त्मनि ।

वैदग्ध्योचितचित्तानां हेया शब्दार्थगुम्फना ॥ ३

### राज-शेखर

राज-शेखर ने काव्य-मीमांसा में बड़े विस्तार के साथ इस विषय पर विचार किया है। जहाँ तक उपयोग एवं उपादेयता का सम्बन्ध है, वे प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति दोनों को

१-ध्वन्यालोक : पृष्ठ ३१६ ।

२- " न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुणः ।" ध्वन्यालोक : पृष्ठ ५३७ । ४

" सत्स्वमपि पुरातनकविप्रवृत्तिषु यदि स्यात्प्रतिभागुणः । तस्मिंस्त्वसति न किञ्चिद्व्यवस्थस्ति ।" ध्वन्यालोक : पृष्ठ ५३७ ।

३- राज-शेखर : काव्य-मीमांसा : पृष्ठ ३८ ।



अपनाना श्रेयस्कर समझते हैं :--

" प्रतिभाव्युत्पत्तिमिथः समवेते श्रेयस्यौ " इति यायावरीयः । " १

इसी कारण दोनों विभूतियों से सम्पन्न कवि ही श्रेयस्कर है।<sup>२</sup> प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति के आधार पर कवि भी दो प्रकार के हो सकते हैं। १-काव्य-कवि, २-शास्त्र-कवि। दोनों में से छोटा किसी को नहीं कहा जा सकता। राज-शेखर में प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति के समान स्तर का स्वोक्ति है। राज-शेखर का दो विरोधी विचार-धाराओं में सामंजस्य का प्रयत्न था। किन्तु उनको अपना मान्यता के साथ इस "सामंजस्य" का सामंजस्य घटित नहीं हुआ।

कारणज्वल कारणता की बात आती है, तब राज-शेखर स्पष्ट रूप से "केवल शक्ति" को ही कारण घोषित करते हैं, दोनों को नहीं।

" सा -शक्तिः- केवलं काव्ये हेतुः " इति यायावरीयः । " ३

इसका कारण है। जहाँ अन्य आचार्यों ने शक्ति तथा प्रतिभा को समानार्थक रूप में ग्रहण किया है, वहाँ राज-शेखर ने किञ्चित् भेद के साथ शक्ति का स्वरूप निर्धारित करते हुए वे कहते हैं :--

" समाधि बर्णात् मनो एकाग्रता आन्तर प्रयत्नः है। अभ्यास बाह्य। दोनों शक्ति को उद्भासित करते हैं। प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति के द्वारा इस शक्ति का विविध प्रसार होता है। शक्तिमान् में ही प्रतिभा आती है, शक्तिमान् ही व्युत्पन्न हो सकता है। " ४

इस प्रकार राज-शेखर का शक्ति एक व्यापक शब्द है, प्रतिभा अपेक्षाकृत सीमित। प्रतिभा को सीमा विभिन्न शब्दों, विभिन्न वर्णों, अलंकार-तन्त्र, उक्ति-पद्य आदि तक ही सीमित है, यद्यपि वह अदृष्ट पदार्थों को भी प्रत्यक्ष कर सकती है।

१-राज-शेखर : काव्य-मामांसा : पृष्ठ ३९ ।

२- " प्रतिभाव्युत्पत्तिमिथः कविः कविरित्युच्यते । " राजशेखर : काव्यमामांसा : पृष्ठ ४०

३- " स -कविः- च विद्या। शास्त्रकविः, काव्यकविस्तु, भयकविश्चातिष्ठामत्तरीत्तो गरीयान् " इति श्यामदेवः । " न " इति यायावरीयः । यथा स्वविषये सर्वो गरीयान् । - - - - । तस्मात्तत्प्रभावावेव शास्त्रकाव्यकवौ । " राज-शेखर : काव्य-मामांसा : पृष्ठ ४० ।

४- राज-शेखर : काव्य-मामांसा : पृष्ठ २६ ।

५-मनस एकाग्रता समाधिः । - - - । समाधिरान्तरः प्रयत्नो, बाह्यस्त्वभ्यासः । - - - ।

तावभावपि शक्तिमदभासतः । - - - । व्युत्पत्तिः । विप्रसृतिश्च सा प्रतिभाव्युत्पत्तिरिति । शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणोः शक्तस्य प्रतिभाति, शक्तश्च व्युत्पद्यते ।

६-या शब्दग्राममयसा मिलकर तन्त्रमवित्तमागमन्यदपि तथा विधमधिहृदयं प्रतिभां स्रजति सा प्रतिभा । - - - - । प्रतिभावतः पुनरपश्यतोपि प्रत्यक्षा इव ।

राज-शेखर : काव्य-मामांसा : पृष्ठ २६ तथा २७ ।



यह कहना पड़ता है कि प्रतिभा एवं शक्ति के इस पृथक्करण में राज-शेखर की सफलता नहीं मिली। उन्हें यह मानना पड़ा है कि शक्ति शब्द प्रतिभा के अर्थ में ही उपचार से प्रयुक्त किया जाता है।<sup>१</sup>

इस प्रकार राज-शेखर काव्य-हेतुओं के प्रश्न पर केवल-शक्ति-वादी हैं। यह शक्ति निरन्तर ध्यान तथा अभ्यास से उद्बुद्ध होती है।

प्रतिभा के कारयित्रा तथा भावयित्रा, <sup>२५६</sup> उन्होंने माने हैं, यह पीछे कहा जा चुका है।

राज-शेखर के अनुसार कारयित्रा प्रतिभा तीन प्रकार की होती है।

१-सहजा-----यह पूर्व जन्म के संस्कारों की अपेक्षा रखती है।

२-आहार्या-----यह इसी जन्म के संस्कारों से उद्बुद्ध होती है।

३-ओपदेशिकी-----मन्त्र, तन्त्र, देवता, गुरु आदि के उपदेश से उत्पन्न होती है।

इसका उपदेश-काल तथा संस्कार-काल यही जन्म है।

इस प्रकार राज-शेखर ने विशिष्ट वर्गीकरण के द्वारा प्रतिभा के कारणों का क्षेत्र व्यापक बना दिया है। सहजा के कारणों में पूर्व जन्म के संस्कार हैं, तो इस जन्म के संस्कार्स व्युत्पत्ति एवं अभ्यास आहार्या को जन्म देते हैं। मन्त्र, तन्त्र, देवता, महापुरुष आदि के आशीर्वाद ओपदेशिका के कारण बनते हैं।<sup>२</sup>

हम देखें कि पण्डितराज के दृष्टि-कोण में रुद्रट एवं राज-शेखर का क्या हाथ है।

मम्मट

"शक्तिर्निपुणतालोकशास्त्रकाव्याववेक्षणात्।

काव्यशिक्षाया अभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥"

३

१-"शक्तिशब्दश्चायमुपचरितः प्रतिभाने वर्तते।" राज-शेखर : काव्य-मीमांसा : पृष्ठ ३६।

२-"कवेरुपकुर्वाणा कारयित्रा। सापि त्रिविधा। सहजा, ओपदेशिकी चाजन्मान्तरसंस्कारा-

पक्षिणा। सहजा। जन्मसंस्कारयो निराहार्या। मन्त्रतन्त्राद्युपदेशप्रभवा ओपदेशिकी। ऐति-

केन क्विपतापि संस्कारेण प्रथमा ता सहजेति व्यपदिशन्ति। महता पुनराहार्या। ओपदे-

शिक्षायाः पुनरैहिक एवोपदेशकालः। ऐहिक एव संस्कारकालः।"

राज-शेखर : काव्य-मीमांसा : पृष्ठ २९।

३- काव्य-प्रकाश : मम्मट : उल्तास ३ : ३।



मम्मट दोनों को समुदित रूप में काव्य का हेतु मानते हैं। हेतु शब्द के एक-वचन में प्रयोग से उनका यही अभिप्राय है। कुछ भी हो, मम्मट का मार्ग सरल एवं स्पष्ट है।

### वाग्भट

" प्रतिभैव च कवीनां काव्य-करणकारणम्।

व्युत्पत्त्यभ्यासौ तस्या एव संस्कारकारकौ।। " २

वाग्भट के अनुसार केवल प्रतिभा ही काव्य का कारण है। व्युत्पत्ति एवं अभ्यास प्रतिभा के ही संस्कारक हैं।

### केशव मिश्र

" प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।

भूशोत्पत्तिकृदभ्यासः काव्यस्यैषा व्यवस्थितिः।। " ३

केशव के अनुसार केवल प्रतिभा ही काव्य-कारण है। व्युत्पत्ति एवं अभ्यास उसके हेतु नहीं, साधे काव्य के उपकारक हैं।

### हेमचन्द्र

" प्रतिभास्य हेतुः। "

- - - अस्य काव्यस्यैव प्रधानं कारणम्। व्युत्पत्त्यभ्यासौ तु प्रतिभाया एव संस्कार-  
काविति वक्ष्यते। - - - - । अत एव न तौ काव्यस्य साक्षात्कारणम्, प्रतिभोपकारिणौ  
तु भवतः। दृश्येते हि प्रतिभाहीनस्य विफलौ व्युत्पत्तिव्यभ्यासौ। " ४

हेमचन्द्र केवल-प्रतिभा-वादी हैं। बिना प्रतिभा के व्युत्पत्ति तथा अभ्यास विफल हो जाते हैं। हा, यदि प्रतिभा है, तो वे उसका संस्कार कर सकते हैं।

१- " - - - - त्रयः समुदिताः, न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुत्तासे  
च हेतुर्न तु हेतवः। " मम्मट : काव्य-प्रकाश : पृष्ठ २।

२- वाग्भट : अलंकार-तिलक : पृष्ठ २।

३- केशव मिश्र : अलंकारशेखर : पृष्ठ ४।

४- हेमचन्द्र : काव्यानुशासन : पृष्ठ ५-६।



हेमचन्द्र प्रतिभा के स्वरूप में कुछ दार्शनिक संस्पर्श ला देना चाहते हैं। जिस प्रकार प्रकाश-स्वभाव सूर्य के ऊपर आवरण रूप में मेघ आदि छा जाते हैं, उसी प्रकार प्रकाश-स्वभाव आत्मा के ऊपर अज्ञान के विभिन्न आवरण पड़ जाते हैं। उन आवरणों के नाश अथवा उपशम हो जाने पर जो चेतन्य का प्रकाश उद्भासित हो उठता है, वही "प्रतिभा" है। यह आत्मा के प्रकाश का आविर्भाव स्वतः सहज रूप से भी हो सकता है, तथा किसी बाह्य उपाधि के द्वारा भी, जैसे मन्त्र बल से, किसी देवता की कृपा से, किसी महापुरुष के अनुग्रह या वरदान से। अतः प्रतिभा के दो प्रकार होते हैं। १- सहजा, २- ओपाधिकी।

" सावरणक्षयोपशममात्रात् सहजा । "

सवितुरिव प्रकाशस्वभावस्यात्मनोऽध्रुपलमिव ज्ञानावरणीयाणावरणम्, तस्योदितस्य क्षयेऽनुदितस्योपशमे च यः प्रकाशाविर्भावः, सा सहजा प्रतिभा। मात्रावृत्तानाम्, मन्त्रादिकारणनिष्ठाणां च ।

" मन्त्रादेरोपाधिकी । "

मन्त्रदेवतानुग्रहादिप्रभवोपाधिकी प्रतिभा। इयमणावरणक्षयोपशमनिमित्ता, एवं दृष्टोपाधिनिबन्धनत्वात्तु ओपाधिकीत्युच्यते। सा चैव द्विविधापि प्रतिभा

" व्युत्पत्त्यभासाभ्यां संस्कार्या । " १

प्रतिभा, व्युत्पत्ति, एवं अभ्यास रूप इन काव्य के कारणों के संबन्ध में हमने कुछ विशिष्ट आचार्यों की मान्यताएं अभी प्रस्तुत की हैं। इन में परस्पर साम्य भी है, वैषम्य भी। यदि सूक्ष्म भेदों को छोड़ दिया जाय, तो इन मान्यताओं को निम्न रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है:—

त्रितय-वादो-----१- समुदित त्रितय वादो

मम्मट, दण्डी

२- स्वतन्त्र-त्रितय-वादो

दण्डी, राजशेखर

केवल-प्रतिभा-वादो-----१-शेष दो को काव्य का उपकारक मान कर

मम्मट, रुद्रट

भामह, वामन, आनन्दवर्धन,  
राजशेखर, केशवमिश्र,

२-शेष दो को प्रतिभा का

वाग्भट, रुद्रट

संस्कारक मान कर ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि परस्पर दृष्टि-कोणों में नाना-विषय मत-भेद एवं



भिन्नता होने के कारण, तथा एक ही व्यक्ति में दृष्टि-कोण की स्वतन्त्रता होने के कारण यह वर्गीकरण अत्यन्त सूक्ष्म है, तथा वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता, फिर भी इस समस्या पर भारतीय काव्य-शास्त्र की चिन्तन-धारा को समझने में अवश्य सहायता करता है। अब हम पण्डितराज के दृष्टि-कोण का अध्ययन कर सकते हैं।

पण्डितराज

### केवल-प्रतिभावादी

पण्डितराज ने भावयित्री प्रतिभा का निवेदन नहीं किया। उन्होंने केवल कारयित्री प्रतिभा को ही लिया है। काव्य के कारणों के प्रसंग में उसका प्रश्न भी नहीं उठता था। वे केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण मानते हैं। अतः हम उन्हें "केवल-प्रतिभा-वादी" कह सकते हैं। किन्तु उनके इस दृष्टि-कोण में अन्य केवल-वादियों से किंचित् भिन्नता है।

### प्रतिभा के कारण

पण्डितराज के अनुसार प्रतिभा के कारणों के दो वर्ग बनाये जा सकते हैं। १- अदृष्ट, २- व्युत्पत्ति एवं अभ्यास।

अदृष्टोत्पत्ति के विभिन्न कारण हो सकते हैं।

"तस्याश्च हेतुः स्वचिद् देवतामहापुरुषप्रसादादिजन्यमदृष्टम्।" १

देवता, महापुरुष आदि के प्रसाद अथवा वरदान से अदृष्ट की उत्पत्ति होती है। व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के बिना भी किसी किसी में वात्स्यायनादि में हो काव्य-जनन की प्रतिभा दिखायी पड़ती है। अतः व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से स्वतन्त्र अदृष्ट की प्रतिभा का कारण स्वीकार करना पड़ता है :-

"बालादेस्तौ किनापि केवलान्महापुरुषप्रसादादपि प्रतिभोत्पत्तेः।" २

यहाँ एक प्रश्न उठता है। वरदान अथवा देवतादि के प्रसाद से उत्पन्न होने वाले अदृष्ट के कारण उपलब्ध प्रतिभा भा उपाया ही कहा जायेगा। क्या पण्डितराज सहज ही प्रतिभा को स्वीकार नहीं करते? मम्मट ने प्रतिभा के जिस स्वरूप को संस्कार-विशेष कह कर परिचय दिया है, दण्डा ने "पूर्वावसानागुणानुबन्धि प्रतिभानम्" कह कर जिसके

१- रसगंगाधर : पृष्ठ ८ ।

२- रसगंगाधर : पृष्ठ ८ ।



सहज रूप को और सकेत किया था, क्या पण्डितराज उसको स्वीकार नहीं करना चाहते ?  
वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। उन्होंने प्रतिभा का स्वरूप अखण्ड उपाधि के रूप में माना है।<sup>१</sup>  
स्वरूप पर हम अभी पृथक् से विचार करने जा रहे हैं। हम देखेंगे कि वे प्रतिभा के उस सहज  
रूप से तो परिचित हैं ही, साथ ही उसका कारण अदृष्ट तथा व्युत्पत्ति-अभ्यास को  
भी मानते हैं। "अदृष्ट" शब्द मीमांसा का है, जिसका अर्थ उस दर्शन में बहुत व्यापक है।

मीमांसक का अदृष्ट इस जन्म के कर्मों से भी बनता है, पूर्व जन्म के कर्मों से भी, तथा  
वरदान आदि से भी उन्मोक्षित होता है। पण्डितराज ने उसी व्यापकता के साथ अदृष्ट को  
अपनाया है। "नवविद् देवतामहापुरुषप्रसादादिवर्ज्यमदृष्टम्"<sup>२</sup> में "आदि" शब्द इस दृष्टि  
से विशेष ध्यान देने योग्य है।

प्रश्न उठता है, मीमांसा के माध्यम से प्रतिभा की व्याख्या करने की पण्डितराज  
की आवश्यकता कैसे पड़ी ? बात यह है, सामान्य धारणा के अनुसार काव्य-प्रतिभा का  
प्राप्त होना पुण्यवत्ता के आधार पर माना जाता है। पढ़ लिख कर, तथा अभ्यास करने  
पर भी किसी किसी की सरस्वती की कृपा प्राप्त नहीं हो पाती। इन के मूल में पुण्य  
आर पाप, धर्म और अधर्म के योग समझे जाते हैं। इन विषयों का प्रकृत अधिकारी मीमांसा  
दर्शन समझता था। इसी कारण पण्डितराज को दृष्टि अदृष्ट के विषय में मीमांसा  
की व्यापकता का और अग्रसर हुई है। प्रतिभा के कारणों का विवेचना में मीमांसा के ये  
तत्त्व व्यापकता से बिखरे हुए हैं।<sup>३</sup> जैमिनीय दर्शन में देव के शिष्य अपने पिता से<sup>३</sup> मीमांसा  
का भी तो अध्ययन किया था। ५

१- तद्गतं च प्रतिभात्वं काव्यकारणतावच्छेदकतया सिद्धौ जातिविशेषो उपाधिरूपं  
वाखण्डम्। " रसगंगाधर : पृष्ठ ८ ।

२- रसगंगाधर : पृष्ठ ८ ।

३- लोके नृपवता प्रमाणेनागमादिना सति कारणतानिर्णयि पश्चादुपस्थितस्य व्यभिचारस्य  
वारणाय जन्मान्तराद्यमन्यथानुपपत्त्या कारणं धर्माधर्मादि कल्प्यते। " रसगंगाधर : पृष्ठ

४- न च सत्तोरपि व्युत्पत्त्यभ्यासयोर्यत्र न प्रतिभौत्पत्तिस्तत्रान्वयव्यभिचार इति वाच्यम्।  
----। पापविशेषस्य तत्रै प्रतिबन्धकत्वकल्पनाद्वा न दोषः। " रसगंगाधर : पृष्ठ ९।

५- "देवादेवाध्यागोष्ठ स्मरहरनगरे शास्त्रं जैमिनीयम्।"

रसगंगाधर : पृष्ठ २ ।



फिर भी मोमासा के दृष्टि-कोण का अतिवाद नहीं है। मोमासक बिना 'अदृष्ट' के एक पग भी आगे नहीं बढ़ना चाहता, यह स्थिति नहीं है। व्युत्पत्ति एवं अभ्यास की प्रतिभा की उत्पत्ति के लिए अदृष्ट से स्वतन्त्र कारण माना गया है।

"नापि केवलमदृष्टमेव कारणमित्यपि वस्तुं शक्यम्, कियन्तं चित्कारणं काव्यं कर्तुमश-  
क्नुवतः क्वमपि संजातयोर्व्युत्पत्त्यभ्यासयोः प्रतिभायाः प्रादुर्भावस्य दर्शनात्।" १

अतः मोमासा की अपनाने का बात बहुत दूर तक नहीं समझनी चाहिए।

### व्युत्पत्ति एवं अभ्यास

हम अभी देख चुके हैं कि पण्डितराज व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को अदृष्ट से स्वतन्त्र कारण स्वीकार करते हैं। परिश्रम करते-करते साधना से भी काव्य-करण की शक्ति उदित हो जाती है, यह बात पण्डितराज की मान्य है। वे एक प्रकार से राज-शेखर के "शास्त्र-कवि" की स्वीकार कर लेते हैं। तथा इन अर्थों में उन्हें रुद्रट की उत्पाद्या प्रतिभा मान्य हो जाती है।

इतना होते हुए भी इस की अपनी सीमा है। प्रतिभा का अपना एक स्तर है। जो व्युत्पत्ति एवं अभ्यास उस स्तर तक नहीं पहुँच पाते, वे प्रतिभा की उत्पन्न नहीं भी कर सकते। व्युत्पत्ति एवं अभ्यास के होने पर भी प्रतिभा के अनुदय में दो ही कारण समझ जा सकते हैं। एक- कोई जन्मान्तर का पापात्मक अदृष्ट, दूसरे काव्य-प्रतिभा के अनुरूप व्युत्पत्ति के एक विशिष्ट स्तर की प्राप्ति न कर सकना। अतः शक्ति के लिए अभीष्ट प्रतिभा का कारण बनने वाले व्युत्पत्ति एवं अभ्यास को भी "विशिष्ट" अथवा "विलक्षण" कहना चाहिए।

"प्रतिभात्वं च कवितायाः कारणतावच्छेदकं प्रतिभागतविलक्षणमेव वा विलक्षण-  
काव्यं प्रतीति नात्रापि सः। न च सतीरपि व्युत्पत्त्यभ्यासयोर्न न प्रतिभोत्पत्तिस्तत्रान्वय-  
व्यभिचार इति वाच्यम्। तत्र तयोस्तादृशविलक्षणे मानाभावेन कारणतावच्छेदकानवच्छिन्न-  
त्वात्। पापविशेषस्य तत्र प्रतिबन्धकत्वकल्पनाया न दोषः।" २

१- रसगंगाधर : पृष्ठ ८ ।

२- रसगंगाधर : पृष्ठ ९ ।



### प्रतिभा की अनेक-रूपता

सभी कवियों की रचनाएँ एक सी नहीं होतीं, सभी में एक सी प्रतिभा नहीं दिखायी पड़ती। अतः प्रतिभा की अनेक-रूपता पण्डितराज की स्वीकार्य है। इस अनेकरूपता का कारण स्पष्ट है। नती अन्मान्तर के संस्कारों के फलस्वरूप अथवा अन्मान्तर के धर्मादि के फल-स्वरूप बनने वाला अदृष्ट जोर न हो देवतादि के वरदान से उत्पन्न होने वाला अदृष्ट एक-रूप हो सकता है, तथा न व्युत्पत्ति एवं अभ्यास सभी में समान हो सकते हैं। अतः इन कारण-रूप सामग्रियों में विलक्षणता के फल-स्वरूप प्रतिभा की विविधता या विलक्षणता होती है, जिसका स्वाभाविक परिणाम होता है काव्य की विलक्षण-रूपता। पण्डितराज के निम्न शब्दों से यह तथ्य स्पष्टतः सामने आता है: -

"प्रतिभात्वं च कवितायाः कारणतावच्छेदकं प्रतिभागतवैलक्षण्यमेव वा विलक्षण-काव्यं प्रतीति नात्रापि सः।" १

प्रतिभा का "तादृशादृष्टस्य तादृशव्युत्पत्तिभ्यासयोश्च प्रतिभागतं वैलक्षण्यं कार्यतावच्छेदकं, अतो न च विचारः।" २

### प्रतिभा का स्वरूप

प्रतिभा के स्वरूप का परिचय पण्डितराज ने इन शब्दों में दिया है:—

"सा च काव्यवृत्तनानुबलशब्दार्थोपस्थितिः। तद्गतं प्रतिभात्वं च काव्यकारणता-वच्छेदकतया सिद्धो जातिविशेषः उपाधिरूपं बाह्यमहम्।"

इस स्वरूप परिचय के दो भाग हैं। प्रथम भाग में प्रतिभा के कार्य-पक्ष पर ध्यान रखते हुए परिचय दिया गया है, दूसरे में उसके मूल रूप पर दृष्टि रख कर कुछ दार्शनिक भाषणा में। कार्य-पक्ष के द्वारा प्रतिभा के परिचय की चर्चा हम पाठ कर चुके हैं। दार्शनिक परिचय में पदावली दो दर्शनों की ओर संकेत करती है। एक- न्याय की ओर, दूसरे- वेदान्त की ओर।

### नैयायिक व्याख्या

न्याय की दृष्टि से प्रतिभात्व की, जो कि काव्य-कारणतावच्छेदक है, जातिविशेष



कहा गया है। नैयायिकों के अनुसार "सामान्य" या "जाति" का लक्षण है - "नित्यत्वे सति, अनेकसमवेतत्वम्"।<sup>१</sup> जाति अनेक-समवेत होने के कारण ही अनेक वस्तुओं में अनुगताकार अथवा एकाकार प्रतीति कराती है।<sup>२</sup> हम देख चुके हैं कि पण्डितराज काव्य की विलक्षणता अथवा विविधरूपता का कारण प्रतिभा की विविध-रूपता अथवा विलक्षणता को मानते हैं। अतः "प्रतिभात्व" वह तत्व है, जो विलक्षण प्रतिभाओं में प्रतिभा-रूपा अनुगताकारा अथवा एकाकारा प्रतीति कराता है। इस प्रकार "प्रतिभात्व" एक जाति है।

नैयायिक के अनुसार "जाति" हमारे समक्ष दो रूपों में जाती है। १- पर, २- अपर। प्रतिभात्व-रूप जाति "पर" तो कही नहीं जा सकती। यद्यपि पर तथा अपर शब्द परस्पर सापेक्ष होते हैं, तथापि चरम परता तो "सत्ता" की ही बनती है। अतः प्रतिभात्व को अपर सामान्य या जाति ही स्वीकार करना पड़ता है। और अपर सामान्य जहाँ एक ओर अनुवृत्ति-प्रत्यय-हेतु होने के कारण "सामान्य" होता है, वहाँ अन्य पदार्थों का व्यावर्तक होने के कारण अपना एक "विशेष" पक्ष भी रखता है। उदाहरण-स्वरूप "घटत्व" सामान्य पृथिवीत्व आदि की अपेक्षा एक अपर सामान्य है। वह अनेक घटों में "घटोयंघटोयम्" इस प्रकार की अनुगताकार प्रतीति भी कराता है। साथ ही वह "घटत्व" आदि अन्य सामान्यों के विषय में भेद-बुद्धि भी उत्पन्न करता है। अतः "घटत्व" रूप अपर सामान्य का एक पक्ष "विशेषात्मक" भी है। केशव मिश्र ने अपनी तर्क-भाषा में इस तथ्य का उत्प्रेष निम्न शब्दों में किया है :--

"तच्च द्विविधं, परमपरं च। परं सत्ता बहुविषयत्वात्। सा चानुवृत्तिप्रत्ययमात्रहेतुत्वात् सामान्यमात्रम्। अपरं द्रव्यत्वादि। अल्पविषयत्वात्। तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्यं सद् विशेषः।" ४

प्रतिभात्व को भी पण्डितराज ने "जातिविशेष" कहा है। इस विशेषण से हमारे सामने काव्यनिर्माण से सम्बन्ध रखने वाली विशिष्ट प्रतिभा काही स्वरूप जाता है।

१-न्यायसिद्धान्तमुक्तावली : पृष्ठ ४४ ।

२-"अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्" : तर्क-भाषा : केशव मिश्र : पृष्ठ २१३ ।

३- "तादृशादृष्टस्य तादृशव्युत्पत्त्यभ्यासोश्च प्रतिभागतं विलक्षण्यं कार्यतावच्छेदकम्, अतो न व्यभिचारः।" रसगंगाधर : पृष्ठ ९ ।

४- स्समंमन्त्रः : पृष्ठ २१३-४ : तर्क-भाषा : केशव मिश्र ।



कारण में रहने वाले मूल धर्म को नैयायिक "कारणतावच्छेदक" कहता है। प्रतिभा काव्य की कारण है। अतः प्रतिभात्व ही कारणतावच्छेदक धर्म हो सकता है। पण्डितराज ने इसीलिए "प्रतिभात्वं काव्यकारणतावच्छेदकतया सिद्धो जातिविशेषः" कहा है।

वस्तु के धर्म दो प्रकार के होते हैं। १- सिद्ध, २- साध्य। साध्य वस्तु-धर्म क्रिया-रूप होता है। सिद्ध वस्तु-धर्म भी दो प्रकार का होता है। १- जाति, २- गुण। जाति पदार्थ का प्राण-प्रद धर्म होता है, अर्थात् बिना इस धर्म के वस्तु की सत्ता ही नहीं रहती। गोत्व के बिना गाय की कल्पना ही क्या? प्रतिभात्व भी प्रतिभा-गत ऐसा ही सिद्ध धर्म है, जिसके बिना काव्य की कारण-भूत प्रतिभा की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

इस प्रकार न्याय की दृष्टि से पण्डितराज ने प्रतिभा का स्वरूप-परिचय इस भांति दिया "तद्गतं च प्रतिभात्वं काव्यकारणतावच्छेदकतया सिद्धो जातिविशेषः ।" २  
न्याय की इस व्याख्या के आधार पर प्रतिभा के स्वरूप के संबंध में निम्न बातें हमारे समक्ष आती हैं :—

- १- प्रतिभा का मूल धर्म प्रतिभात्व है, जो एक जाति-विशेष है। यही काव्य का कारणता-वच्छेदक है। इसके बिना काव्य की सृष्टि असंभव है।
  - २- इस रूप के उन्मीलक दो प्रकार के उपादान हैं। १- अदृष्ट, २- व्युत्पत्ति-अभ्यासात् उपादान अनेक-रूप हो सकते हैं। अतः इनसे उन्मीलित प्रतिभा भी अनेक-रूपा हो सकती है। फलतः काव्य-सर्चना भी विविध-रूपा होती है।
  - ३- प्रतिभात्व का मूल-रूप जाति-रूप होने के कारण एक है, प्रतिभा का उन्मीलित या व्यक्त रूप विविध। इस प्रकार प्रतिभा के अव्यक्त एवं व्यक्त दो रूप कहे जा सकते हैं।
  - ४- नैयायिक व्याख्या द्वारा प्रतिभा का शास्त्रीय स्वरूप ही हमारे सम्मुख आता है, उसका चेतना-पक्ष नहीं। अर्थात् अपने कार्य-पक्ष के संदर्भ में उसके कारणात्मक पक्ष का ही अधिक उद्घाटन हुआ है, उसके मूल स्वरूप का कम।
- इस कमी की पूर्ति वेदान्ती पदावली द्वारा हुई है।

१- काव्य-प्रकाश : उत्तास ३ : पृष्ठ ३२ ।

"उपाधिश्च द्विविधः। वस्तुधर्मो वस्तु-यदुच्छासंनिवेशितश्चावस्तु-धर्मोऽपि द्विविधः। सिद्धः साध्यश्च। सिद्धोपि द्विविधः। पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुरचातत्रागो जातिः। उक्तं हि वाक्यपदीये "न हि गौः स्वरूपेण गोर्नाप्यगौः, गोत्वाभिः सम्बन्धात्तु गौः" इति । "



## वेदान्ती व्याख्या

हमने देखा है कि नैयायिक व्याख्या में कार्य के संदर्भ में प्रतिभा के कारणात्ता-पक्ष का शास्त्रीय स्वरूप-निरूपण हो प्रमुखतः हमारे समक्ष आया है, उसके चेतनात्मक मूल-रूप पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ सका है। प्रतिभा के इस पक्ष को भी प्रकाश में लाने के लिए वेदान्ती पदावली का प्रयोग किया गया है। उसके अनुसार प्रतिभात्वको अखण्ड उपाधि कहा गया है :--

" तद्गतं प्रतिभात्वं - - - - - उपाधिरूपं वाखण्डम् । " १

वेदान्त के अनुसार चैतन्य या चित्ति की दो स्थितियाँ हमारे सामने आती हैं।

१- विशुद्ध, २- ओपाधिक । निरुपाधिक ब्रह्म नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव, अवाह-मनस-गोचर, एवं अखण्ड होता है। उपाधि एवं चित् की मिली-जुली सत्ता ही व्यवहारोपयोगी होती है। निरुपाधिक ब्रह्म के लिए प्रयुक्त "अखण्ड" शब्द प्रतिभा के लिए पण्डितराज द्वारा प्रयुक्त "अखण्ड" शब्द से भिन्न समझना चाहिए। प्रतिभा व्यावहारिक क्षेत्र की वस्तु है। अतः पण्डितराज ने भी उसे अखण्ड-मात्र न कह कहकर "अखण्ड उपाधि" कहा है।

चित्ति की ओपाधिक स्थिति अथवा चित्ति की उपाधि की चर्चा भी वेदान्त में दो रूपों में आती है। १- अखण्ड उपाधि, २- सखण्ड उपाधि । अखण्ड उपाधि चेतना का वह रूप है जब उसमें ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय के भेद अथवा विकल्प विस्फुटित नहीं हुए होते हैं। इसे ही निर्विकल्प चेतना भी कह सकते हैं। सखण्ड उपाधि में चेतना के अनेक विकल्पात्मक स्तर विकसित हो चुके होते हैं। इन सविकल्पात्मक स्थितियों का परिगणन कौन कर सकता है। जिस प्रकार अखण्ड उपाधि में से सखण्ड, सविकल्प स्थितियों का प्रादुर्भाव होता है, उसी प्रकार विपरीत क्रम से तिरोभाव भी। इन उन्मीलन एवं निमीलन की प्रक्रियाओं की आचार्य अध्यारोप तथा अपवाद शैलियों से समझाता है। अध्यारोप-अपवाद उन्मीलन-निमीलन की प्रक्रियाएँ ही हैं।

१- रसार्णगाधर : पृष्ठ ८ ।

२- "अखण्डं सच्चिदानन्दमवाह-मनसगोचरम्।

ज्ञात्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभोष्टसिद्धये॥"

वेदान्त-सार : पृष्ठ १ ।

३- "सत्यानृते मिथुनोक्त्य - - - नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः ।" शाह-कर भाष्य : पृष्ठ १६-१७

४- "निर्विकल्पकस्तु ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयापेक्षया द्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारितायाश्चित्तवृत्तेरतितरामेकोभावेनावस्थानम्।" वेदान्त-सारः ओरियेण्टल बुक एजेन्सी, पूना : पृष्ठ १३

५- "स परमकृपया ध्यारोपापवादव्यायेनैतन्मुपदिशति" वही : पृष्ठ २ ।



तो प्रतिभात्व को "अखण्ड उपाधि" कहने का तात्पर्य यह हुआ कि प्रतिभा का मूल रूप निर्विकल्पात्मक चेतना है। यह स्थिति विकल्प या विलक्षणताओं की दृष्टि से अव्यक्त अथवा अनुन्मोहित है। विभिन्न-रूप अदृष्टों से अथवा व्युत्पत्ति-अभ्यास से इसका उन्मीलन होता है। फलतः प्रतिभा-प्रतिभात्वविशिष्ट प्रतिभा-उन्मीलित अवस्था में जाती है। यह उन्मीलित अवस्था उन्मीलक कारणों की विविध-रूपता के कारण विविध-रूपा ही होती है, तथा तदनुरूप उसका कार्य-काव्यसर्जन-भी विविध-रूप होता है। अखण्ड उपाधि अथवा सविकल्पात्मक प्रतिभा-के विलक्षण रूपों में प्रतिभा का यह मूल रूप, अखण्ड उपाधि-स्वरूप प्रतिभात्व, ही सन्निविष्ट रहता है।

इस प्रकार पण्डितराज के अनुसार प्रतिभा का मूल रूप अर्थात् प्रतिभात्व तो अखण्ड उपाधि है, अदृष्टादि कारण सामग्री से उन्मीलित प्रतिभा अखण्ड उपाधि। किन्तु अखण्ड या सविकल्पक स्थितियों की नाना-रूपता के कारण उनका बिल्कुल ठीक परिचय नहीं दिया जा सकता। पण्डितराज ने प्रतिभा के अनुन्मीलित रूप, उन्मीलित रूप, कारणता रूप, कारण-सामग्री, तथा कार्य एवं कार्य-विलक्षणता आदि सभी पहलुओं पर व्यापक दृष्टि रखी है। और इन सभी तथ्यों को स्वल्प शब्दों में ही निहित कर दिया है। पण्डितराज के उपर्युक्त मन्तव्य निम्न शब्दों में निहित है :—

" तस्य च कारणं केवला कविगता प्रतिभा। सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः तद्गतं च प्रतिभात्वं काव्यकारणतावच्छेदकतया सिद्धो जातिविशेषः। उपाधिरूपं वाखण्डम्। तस्याश्च हेतुः क्वचिद् देवतामहापुरुषाप्रसादादिजन्यमदृष्टम्। क्वचिच्च विलक्षणव्युत्पत्ति-काव्यकरणाभ्यासौ।" १

" तादृशादृष्टस्य तादृशव्युत्पत्त्यभ्यासयोश्च प्रतिभागतं विलक्षणं कार्यतावच्छेदकं, अतो न व्यभिचारः। प्रतिभात्वं च कवितायाः कारणतावच्छेदकं प्रतिभागतविलक्षणमेव वा विलक्षणकाव्यं प्रतीति नात्रापि सः। " २

नागेश एवं पण्डितराज

नागेश पण्डितराज के दृष्टि-कोण की गंभीरता को ठीक प्रकार से नहीं समझ सके। वे न तो दो दार्शनिक पदावलिओं का उपयोग ही समझ सके, न वेदान्ती पृष्ठ-भूमि की



अभीष्ट संगति हो।उनकी समालोचना द्रष्टव्य है।वे कहते हैं :--

"नीलघटत्वादिवत्सखण्डोपाधिरेवेति वार्यः।"अखण्डम्" इति पाठस्तु चिन्त्य एव । " १

नागेश में प्रतिभात्व तथा प्रतिभा के दो स्तरों की चेतना ,जो कि वेदान्तों व्याख्या समझने के लिए अपेक्षित थी, स्पष्ट नहीं है।वे कहना चाहते हैं,प्रतिभा को काव्यघटनानुकूल-शब्दार्थोपस्थिति कहा गया है।शब्द तथा अर्थ की यह उपस्थिति चेतना की सविकल्पक स्थिति हो हो सकती है।वह नीलघटत्व आदि के समान विशेषण-विशेष्यावगाही ज्ञान के क्षेत्र में रहती है।अतः उसे भी नीलघटत्वादि के समान सखण्ड उपाधि ही कहना चाहिए। "अखण्ड"पाठ उचित नहीं।

जहाँ तक पाठ-भेद का प्रश्न है,नागेश को "अखण्ड" पाठ ही मिला है।अपने तथा पण्डितराज के बीच के स्वल्प काल में उनके समक्ष कोई पाठान्तर नहीं आया।अतः पाठान्तर का प्रश्न तो उठता ही नहीं।रही उसकी संगति की बात ,तो नागेश "वा"शब्द को थोड़ा सोच-तान कर संगति लगा देते हैं- "नीलघटत्वादिवत्सखण्डोपाधिरेवेति वार्यः" ।और "अखण्ड" पाठ को चिन्त्य कह कर असंगत ठहरा देते हैं।

नागेश की आलोचना का कारण स्पष्ट है।पण्डितराज के अनुसार "प्रतिभात्व" अखण्ड उपाधि है,"प्रतिभा" सखण्ड।नागेश दोनों की स्पष्ट चेतना न रखने के कारण एक की आलोचना दूसरे पर आरोपित कर देते हैं।वे अदृष्टादि प्रयोजकों के द्वारा अनुन्मीलित प्रतिभात्व को-प्रतिभा के मूल रूप को-नहीं समझ सके।और उसका मूल कारण था पण्डित-राज की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि की निर्धारित कर के न चलना। अस्तु ।

निष्कर्ष

पण्डितराज के उपर्युक्त प्रतिभा-विवेचन से निम्न प्रमुख तथ्य हमारे समक्ष आते हैं :--

- १-काव्य का कारण केवल प्रतिभा है।प्रतिभा-व्युत्पत्ति-अभ्यास तीनों नहीं।
- २-व्युत्पत्ति एवं अभ्यास तथा अदृष्ट प्रतिभा के उन्मीलक हेतु हैं।ये हेतु विविध-रूप हो सकते हैं।अतः प्रतिभा का उन्मीलित रूप भी विविध होता है।
- ३-प्रतिभा का मूल रूप प्रतिभात्व है ,जो अखण्ड उपाधि है।न्याय की दृष्टि से वह सिद्ध जाति-विशेष है।
- ४-रमणीय अर्थों तथा तदनुरूप शब्दों की उद्भावना प्रतिभा का कार्य है।प्रतिभा का सम्बन्ध काव्य से ही है।
- ५-प्रतिभा की व्याख्या में तीन दर्शनों का सहारा लिया गया है।१- मीमांसा, २- न्याय, ३- वेदान्त।तीनों के उपयोग से उनका प्रतिभा एवं काव्य-कारणता का विवेचन सर्वथा मौलिक हो उठा है।



## काव्य ----- भेद

### वर्गीकरण की प्रवृत्ति

जिस प्रकार अनेकत्व में एकत्व का दर्शन करना मानव-बुद्धि की सामान्य प्रक्रिया है, उसी प्रकार एकत्व से अनेकत्व की ओर जाना भी उसका सहज स्वभाव है। अतः वह अनेक विखरे रूपों में से साम्य-वैषम्य के आधार पर निर्वाचन करती हुई वर्गीकरण की ओर उन्मुख होती है। काव्य के वर्गीकरण की ओर भी बहुत पुराने समय से आचार्यों की दृष्टि जाती रही है।

### ध्वनि-पूर्वीय एवं ध्वनि-परवर्ती युग

काव्य के वर्गीकरण के प्रश्न पर संस्कृत आचार्यों का दृष्टि-कोण ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना से पूर्व तथा उत्तर युग में कुछ भिन्न सा दिखायी पड़ता है। ध्वनि-पूर्वीय युग की आचार्य-दृष्टि काव्य के बहिरङ्ग पर अधिक केन्द्रित थी। अतः काव्य-भेदों के निरूपण में भी बहिरङ्ग उपादानों की ही अधिक आधार बनाया जाता था। शैली का आधार लेकर गद्य, पद्य, चम्पू; काव्य-रूपों का आधार लेकर प्रबन्ध, मुक्तक, नाटक, कथा, आख्यायिका आदि; भाषा का आधार लेकर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के रूप में काव्य का विभाजन करना उस युग की विशेषता रही। ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा ने काव्य-की-आत्मा के विषय में आचार्यत्व को एक केन्द्र-बिन्दु प्रदान किया, जिसके साथ समस्त काव्यांगों का सामंजस्य घटित था। इस महत्व-पूर्ण योगदान से काव्य के वर्गीकरण का दृष्टि-कोण भी परिवर्तित हुआ। बहिरङ्गी आधार स्थूल समझे जाने लगे, तथा वास्तविक वर्गीकरण अन्तरङ्ग-तत्त्वों के आधार पर किया जाने लगा। ध्वनि-सिद्धान्त को प्राण खंजना है, अतः इस विषय में व्यङ्ग्यार्थ की स्थिति ही काव्य-भेदों के लिए ध्वनि-वाद की कसीटी बनी। इस दृष्टि-कोण के जन्म-दाता ध्वनि-काव्य तथा आनन्द-वर्धन ही थे। मम्मट में आकर इस ध्वनि-वादी दृष्टि-कोण की व्यावहारिक प्रतिष्ठा हुई। इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त की मान्यता के अनुसार काव्य के तीन भेद -- १-उत्तम, २-मध्यम, ३-अधम -- स्वीकृत हुए। इसके अनन्तर विश्वनाथ आये। उन्होंने अन्तिम भेद अधम-काव्य को जिसमें शब्द-चित्र तथा अर्थ-चित्र दोनों आते थे, स्वीकार नहीं किया। इस भेद को न मानने का मूल कारण तो यह था कि वे काव्य की आत्मा के व्यङ्ग्यार्थ को नहीं, रस को मानते थे।



चित्र-काव्य में रस का सामान्यतः अभाव होता है, अतः वे उसे काव्य नहीं कहना चाहते। किन्तु उन्होंने काव्य का वर्गीकरण रस को ही बन्ध-रस आधार बना कर नहीं किया। उन्होंने "व्यंग्यार्थ" को ही आधार माना है। विश्वनाथ ध्वनि-वादी मान्यताओं से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण अपनी मान्यता का सामंजस्य अधिक दूर तक नहीं निभा सके। चित्र-काव्य का तिरस्कार जो उन्होंने किया, वह भी व्यंग्यार्थ को ही कसौटी बना कर। सामान्यतः ध्वनि-परवर्ती युग में ध्वनि-वादी मान्यता ही स्वीकृत रही।

### पण्डितराज और परम्परा

पण्डितराज ने ध्वनि-सिद्धान्त की मान्यताओं का पुनः मूल्याङ्कन किया। अपने दृष्टि-कोण से, स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति का पूर्ण उपयोग करते हुए, ध्वनि-वाद के मूल दृष्टि-कोण को अक्षुण्ण रखते हुए, उसे और अधिक वैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित कर उन्होंने काव्य-भेदों के विषय को अधिक पूर्ण बना दिया। पण्डितराज के दृष्टि-कोण को देखने से पहिले हम संक्षेप में उनकी पृष्ठ-भूमि में स्थित वर्गीकरण की चेतना का अवलोकन करेंगे। पण्डितराज ने यद्यपि ध्वनि-वादी परम्परा को ही अपनाया है, तथापि इस परम्परा के अपनाने का महत्व प्राचीन दृष्टि-कोण को सामने रखकर ही परित्यक्त होता है। अतः हम ध्वनि-पूर्वीय तथा ध्वनि-परवर्ती अन्तर्मर्म युग के कुछ प्रमुख आचार्यों को लेकर उनकी वर्गीकरण-चेतना का परिचय प्राप्त करेंगे।

### ध्वनि-पूर्वीय युग

इस युग में हम भामह, दण्डी, तथा वामन -- तीन आचार्यों को लेंगे।

### भामह

भामह ने काव्य का वर्गीकरण ४ बातों को आधार बना कर किया है:—

१-रचना-शैली की दृष्टि से----- २ भेद।

क-गद्य-काव्य।

ख-पद्य-काव्य।

२-भाषा की दृष्टि से----- ३ भेद।

क-संस्कृत।

ख-प्रकृत।

ग-अपभ्रंश।

३-विषय-वस्तु की दृष्टि से----- ४ भेद।



क- वृत्तदेवादिचरितशांसी ।

वस्तुतः घटित घटनाओं के वर्णन वाले।

ख- उत्पाद-वस्तु ।

कल्पना-प्रसूत कानक वाले ।

ग- कलाश्रय ।

विभिन्न कलाओं से सम्बन्धित ।

घ- शास्त्राश्रय ।

विभिन्न शास्त्रों से सम्बन्धित।

१-रचना-रूप को दृष्टि से ----- १ भेद ।

क- सर्वबन्ध ।

महा-काव्य ।

ख- अनिवन्ध ।

मुक्तक ।

ग- अभिनेयार्थ ।

रूपक ।

घ- आख्यायिका।

गद्य-भेद ।

ङ-कथा ।

गद्य-भेद ।

भामह<sup>१</sup>के दृष्टि-कोण में निस्सन्देह पर्याप्त व्यापकता है, यद्यपि वह काव्य के बहिरंग तक ही सीमित है। उन्होंने विषय-वस्तु को दृष्टि से विभाजन करते हुए काव्य-शब्द का अत्यन्त व्यापक अर्थ अपनाया है, जिसमें कल्पनात्मक साहित्य ही नहीं, शास्त्राश्रय साहित्य को भी काव्य का भेद मिला गया है।

दण्डो

दण्डाभि भामह के पृथगुक्तो दृष्टि-कोण में कुछ एकरूपता लाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने व्योकरण में दो दृष्टियों को मुख्यतः आधार बनाया है :-

१- भामह : काव्याब्द-कार : परिच्छेद १ : कारिका :-

शब्दार्थो संहितो काव्यं, गद्यं पद्यं च तद् द्विधा ।

संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥ १६ ॥

वृत्तदेवादिचरितशांसी चोत्पादवस्तु च ।

काव्य-शास्त्राश्रयं चेति चतुर्धा भिद्यते पुनः ॥ १७ ॥

सर्वबन्धोभिनेयार्थं तथेवाख्यायिकाकथे ।

अनिबन्धं च काव्यादि तत्पुनः पञ्चदोच्यते ॥ १८ ॥

२- दण्डो : काव्यादर्श : परिच्छेद १ : कारिका :-

पद्यं गद्यं च मिश्रं च तत् त्रिधैव व्यवस्थितम् ॥ ११ ॥

मुक्तकं कुलकं कोशः संघात इति तादृशः ।

सर्वबन्धांशरूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः ॥ १३ ॥



१-शैली को दृष्टि से ----- ३ भेद ।

क- पद्य : इस में सर्ग-बन्ध प्रमुख है। शीघ्र मुक्तक, कुलक, कौश, संघात उसी के अवयव हैं। अतः दण्डी उन्हें अलग भेद रूप में नहीं मानते।

ख- गद्य : इस वर्ग में आख्यायिका तथा कथा दोनों सम्मिलित हैं।

ग- मिश्र : इस वर्ग में दो रचना-रूप आते हैं। १-नाटक, २-चम्पू ।

२-भाषा को दृष्टि से ----- ४ भेद ।

क- संस्कृत । ख- प्राकृत । ग- अपभ्रंश । घ- मिश्र ।

दण्डी इन दोनों दृष्टियों को भा परस्पर संघटित कर देना चाहते हैं। "सर्वविन्धादि संस्कृत में होते हैं, स्कन्धादि प्राकृत में, ओसरादि अपभ्रंश में, नाटकादि मिश्र भाषा में।" यह सम्बन्ध ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही कुछ महत्त्व रखता हो, तथा यह बताता हो, कि उस काल की रचना-विधाएँ भा भाषा-विशेष को आधार बनाती थीं, किन्तु है यह सम्बन्ध बहुत ही कच्चे धागे का। भाषा के साथ प्रबन्ध या मुक्तक का क्या सम्बन्ध ? वस्तुतः दण्डी भामह की विहारी दृष्टि को परस्पर सम्बद्ध कर देना चाहते थे।

वामन

वामन प्रथमतः काव्य के दो भेद करते हैं। १- गद्य, २- पद्य । तदनन्तर उनके अवान्तर भेदों का निरूपण करते हैं :—

क- गद्य : १-वृत्तगन्धि । २-चूर्ण । ३-उत्कलिका-प्राय ।

वृत्तगन्धि पद्य-भाग को छाया लिए रहता है, चूर्ण दीर्घ-समास-रहित, तथा उत्कलिका-प्राय में दीर्घ-समास तथा उद्धत रचना होती है।

ख- पद्य : १-अनिबद्ध या मुक्तक । २-निबद्ध या प्रबन्ध ।

अपादः पदसंतानो गद्यमाख्यायिकाकथे।

इति तस्य प्रभेदो द्वौ ----- ॥ २३ ॥

मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तरः।

गद्यपद्ययोः काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते ॥ २४ ॥

तदेतद्वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।

अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुराप्ताश्चतुर्विधम् ॥ २५ ॥

१- दण्डी : काव्यादर्श : परिच्छेद १ : कारिका :-

संस्कृतं सर्वविन्धादि प्राकृतं स्कन्धादि यत्।

ओसरादि अपभ्रंशो नाटकादि तु मिश्रकम् ॥ २६ ॥

कथा हि सर्वभाषाभिः संस्कृतेन च बध्यते ॥ २७ ॥



वामन<sup>१</sup>प्रबन्ध काव्यों में दश-रूपकों को अधिक अच्छा समझते हैं। वामन के वर्गीकरण का प्रमुख आधार है रचना-शैली-गत दृष्टि-कोण, उसमें ही उन्होंने काव्य-रूप-गत विशेषताओं को जीत-प्रोत कर दिया है।

### समाप्ता

स्पष्ट है कि इन समस्त ध्वनि-पूर्वाग्रहों में वर्गीकरण के आधार बहिरंगी उपकरण ही हैं। शैली, भाषा, या फिर रचना का विशिष्ट रूप ही उनके विभाजन का कारण बनता है। यद्यपि इन आधारों का भी कुछ न कुछ अपना व्यावहारिक उपयोग है, तथापि इन से काव्य को मूल चेतना का अधिक सम्बन्ध नहीं है। अतः ये वर्गीकरण बाह्य एवं स्थूल ही हैं। अब हम ध्वनि-वाद को और आ सकते हैं।

### ध्वनि-कार तथा आनन्दवर्धन

ध्वनि-कार तथा आनन्दवर्धन को मान्यताओं का मेरु-दण्ड है प्रतीयमान अर्थ की उच्चावच स्थिति। जिस प्रकार रमणी के अंग-सौष्ठव से भिन्न उसका लावण्य होता है, उसी प्रकार कवि-वाणी में भी शब्द एवं सामान्य अर्थ के चारुत्व से भिन्न प्रतीयमान अर्थ का चारुत्व होता है।

वस्त्वस्ति

" प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाणीषु महाकवीनाम् ।

यत्तत्प्रसिद्धावपवातिरित्तं विधाति लावण्यमिवायनासु ॥" <sup>२</sup>

१- वामन : काव्यालंकार-सूत्र : अधिकरण १ : अध्याय ३ : सूत्र :-

काव्यं गतं पद्यं च । २१।

गतं वृत्तगन्धि चण्डमूतकलिकाप्रायं च । २२।

फणभोगवहुत्तिगन्धि । २३।

अनिबद्धललितपदं चण्डम् । २४।

विपरीतमूतकलिकाप्रायम् । २५।

फणमनिकमैदम् । २६।

तदनिबद्धं निबद्धं च । २७।

संदर्भेषु दशरूपके श्रेयः । २८।

२- ध्वन्यालोक : उद्योत १ : कारिका ४ ।



यहाँ प्रतीयमान अर्थ, जो कि व्यञ्जना-द्वारा अनुभूति में आता है, चारुता का आधार है। ध्वनि-कार काव्य में इसको तीन स्थितियाँ मानेते हैं :--

१- जहाँ शब्द तथा अर्थ अपने को प्रतीयमान से गौण रखते हैं। प्रतीयमान को प्रधानतया व्यञ्जना वाला यह भेद "ध्वनि" कहलाता है।<sup>१</sup>

२- जहाँ प्रतीयमान अर्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ का चारुत्व बढ़ जाता है, वहाँ "गुणीभूत-व्यंग्य" काव्य होता है। इन काव्यों में भी वाच्य का चारुत्व स्वतः नहीं होता किन्तु व्यंग्य-संस्पर्श से हो जाता है, तथापि व्यंग्य के गौण होने के कारण इस भेद को "गुणी-भूतव्यंग्य" नाम हो दिया जाता है, "ध्वनि" नहीं।<sup>२</sup>

३- जहाँ केवल वाच्य-वाचक के वैचित्र्य की प्रधानता होती है, तथा व्यंग्यार्थ के प्रकाशन की क्षमता का अभाव होता है, वह तृतीय भेद "चित्र" कहा जाता है। इस भेद में कवि का तात्पर्य रस-भावादि में नहीं रहता, शब्दार्थ-वैचित्र्य में रहता है। इस वर्ग में शब्दालंकार-प्रधान तथा अर्थालंकार-प्रधान दो भेद जाते हैं। अतः चित्र दो प्रकार का हो जाता है। जिस प्रकार एक चित्र में वर्णों की रंगीनी और रेखाओं का हो जादू प्रमुख होता है, उसी प्रकार चित्र-काव्य में भी वाच्य-वाचक के वैचित्र्य की हो तड़क-भड़क होती है।<sup>३</sup>

१-"प्रकाशः नो मणभूतः

"यत्राः शब्दो वा तममपसर्जनोक्तस्वाजी।

व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सुरिभिः कथितः ॥" ध्वन्यालोक : उद्योत १।१

२-प्रकारोऽन्यो गुणाभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते ।

यत्र व्यंग्यार्थान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात्प्रकर्षवत् ॥ " ध्वन्यालोक : उद्योत ३ : कारिका ३५

"यत्र व्यंग्यार्थो ललनालावण्यप्रस्थो यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तम्।

तस्य तु गुणाभावेन वाच्यचारुत्वप्रकर्षो गुणाभूतव्यंग्यो नाम काव्यप्रभेदः प्रकल्प्यते।"

ध्वन्यालोक : पृष्ठ ४५९ ।

३-गुण-प्रधानभावाम्ना व्यंग्यस्यैव व्यवस्थितेः।

काव्ये उभे ततोऽन्यत् तच्चित्रमभिधीयते ॥" ध्वन्यालोक : उद्योत ३ : कारिका ४१।

चित्रं शब्दाभिदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्।

तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम् ॥ " ध्वन्यालोक : उद्योत ३ : कारिका ४२ ।

"व्यंग्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनिसंज्ञितकाव्यप्रकारः। गुणभावे तु गुणाभूतव्यंग्यम्। ततोऽन्यद्

रस-भावादित्तात्पर्यरहितं व्यंग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तितशून्यं च काव्यं केवलवाच्यवाचक-

वैचित्र्यमात्राश्रेणोपनिबद्धमालेख्यप्रस्थं यदाभासते तच्चित्रम् । स तन्मुख्यं काव्यं, काव्यानुकारी हि सः। तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं यथा दुष्करमकादि। वाच्यचित्रं ततः शब्दचित्रादन्यत् व्यंग्यार्थ-संस्पर्शरहितं प्राधान्येन वाच्यार्थतया स्थितं रसादितात्पर्यरहितमुत्प्रेक्षादिकम्।"

वही : पृष्ठ ४५५ ।



चित्र-काव्य में भी रस का अथवा व्यंग्य का कुछ न कुछ संस्यार रहेगा अवश्य है। तभी तो उसे काव्य-कोटि में गिना जा सकता है। व्यंग्य के सामान्याभाव में तो उसे "काव्य" कहा हो नहीं जा सकता था। किन्तु इस व्यंग्य के संस्पर्श में कवि का तात्पर्य नहीं रहता, फलतः रस-स्पर्श अथवा व्यंग्य-स्पर्श होते हुए भी उसे नीरस या व्यंग्य-हीन कहा जा सकता है।<sup>१</sup>

ध्वनि, गुणीभूत-व्यंग्य एवं चित्र-भेदों की ध्वनि-कार तथा आनन्द-वर्धन में स्पष्टतः स्वीकृति एवं व्यवस्था है, भले ही उन्होंने उत्तम, मध्यम तथा अधम नाम देकर उसका वर्गीकरण नहीं किया हो। उनकी उच्चावच स्थिति उन्हें इसी रूप में मान्य है।

### ध्वनि-परवर्ती युग

ध्वनि-परवर्ती युग में ध्वनिकार को दृष्टि ही सर्वाधिक वैज्ञानिक एवं उपयोगिनी समझी गयी। अन्य दृष्टियों से किये गये वर्गीकरण स्थूल हैं, यह स्पष्ट हो चुका था। हम इस युग के सम्बन्ध में दो प्रमुख आचार्यों की मान्यता सामने रख रहे हैं- १-मम्मट, २-विश्वनाथ।

#### मम्मट

मम्मट में ध्वनिकार को उपर्युक्त मान्यता का ही प्रणयन है। वे काव्य के तीन भेद मानते हैं- १-उत्तम, २-मध्यम, ३-अधम।

१- उत्तम : जब व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अतिशय-युक्त होता है।

"इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिबुधेः कथितः।" २

२- मध्यम : जब व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अनतिशयी- होन, अथवा समकक्षी-होत है। यह "गुणीभूत-व्यंग्य" नामक "मध्यम" काव्य कहलाता है।

"अतादृशि गुणीभूतव्यंग्यं व्यंग्ये तु मध्यमम्" ३

३- अधम : शब्द-चित्र एवं अर्थ-चित्र अव्यंग्य काव्य अधम होता है। अव्यंग्य का अर्थ है स्फुट-प्रतीयमान-रहित।

"शब्द-चित्रमर्थचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्।" "अव्यंग्यमिति स्फुटप्रतीयमान-रहितम्।" ४

१- "सत्यं न तादृक् काव्य-प्रकारोस्ति यत्र रसादीनामप्रतीतिः, किन्तु यदा रस-भावादिविवक्षा शून्यः कविः शब्दालंकारमर्थालंकारं बोधनिबध्नाति, तदा तद्विवक्षया रसादिशून्यतार्थस्य या कल्प्यते। विवक्षोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः।----। परिकरश्लोकश्च--

"रसभावादितात्पर्यविवक्षाविरहे सति।

अलंकारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः।।"

ध्वन्यालोकः पृ० ४१६-७।

२-काव्य-प्रकाशः उल्लास १: पृ० १९। ३-वही: पृ० २१। ४-वही: पृ० २२।



### चित्र-काव्य और मम्मट

चित्र-काव्य के विषय में मम्मट कहते हैं, यह "गुणालंकार-युक्त" होता है। इस बात का स्वयं मम्मट का बात से कुछ विरोध सा दिखायी देता है। मम्मट गुणों को रस का धर्म मानते हैं, किन्तु चित्र में रस की स्थिति नहीं माना जाती। जो दूर का संस्पर्श रस का होता भी है, उसे स्वीकार नहीं किया जाता<sup>१</sup>। तब प्रश्न उठता है, चित्र काव्य में गुण की स्थिति कैसे सम्भव है ?

इसके समाधान में दो बातें कही जा सकती हैं। एक तो यह कि मम्मट उसी अतान्पर्य-भूत रसस्पर्श को मान कर चित्र की सगुणता स्वीकार कर रहे हैं, और इस प्रकार गुणाभिव्यक्ति शब्द-अर्थ का चित्र-काव्य में भी अपेक्षा रखते हुए वे अपना मान्यता "सगुणो सारलंकारो काव्यम्" का सामंजस्य बनाते हैं, क्योंकि इसी सगुणता के आधार पर ही वे चित्र को काव्य का एक भेद स्वीकार कर सकते हैं। अन्यथा चित्र में गुणाभाव भी मान कर उसे "काव्य" ही नहीं कहा जा सकता। किन्तु यह समाधान अधिक बल नहीं रखता। कारण, ध्वनि-सिद्धान्त में काव्यत्व का आधार "गुण" नहीं, "व्यंग्य" है। उसी को लेकर कुछ कहते, तो अच्छा रहता।

दूसरा समाधान यह हो सकता है कि मम्मट ने यह मान्यता की कि चित्र में शब्दों का गुणावत्ता प्राचीन आचार्यों के अनुसार स्वीकार की है। प्राचीन वामनादि के अनुसार गुण शब्द तथा अर्थ के साक्षात् धर्म ठहरते हैं। इस प्रकार मम्मट का वक्तव्य होगा, शब्द-गत अलंकार तथा शब्द-गत गुणों से युक्त काव्य शब्द-चित्र तथा अर्थ-गत अलंकार और अर्थ-गत गुणों से युक्त काव्य अर्थ-चित्र होता है।<sup>२</sup> किन्तु यह समाधान स्वयं मम्मट की अपनी मान्यताओं के विपरीत होगा।

कुछ भी हो, मम्मट का ओर से जोड़ी शिथिलता अवश्य स्वीकार करना पड़ती है।

१- "चित्रमिति गुणालंकारयुक्तम्।"

मम्मट : काव्य-प्रकाश : पृष्ठ २२ ।

२- "किन्तु यदा रसभावादिविवक्षाया शून्यः कविः शब्दालंकारमर्थालंकारं बोधनिवध्नाति तदा नन्विष्यताया रसादिशून्यताऽस्मि कल्प्यते।"

ध्वन्यालोक : पृष्ठ ४९७ ।

३- "अत्र गुणपदं तदव्ययकपरं, अन्यथा तस्य रसधर्मतया तन्निबन्धनचमत्कारित्वं चित्रत्वा-न्यायानुपपत्तेः।"

वामन भट्टाकर : काव्य-प्रकाश : पृष्ठ १२ ।

४- "चित्रं गुणालंकारयुक्तम्। शब्द-चित्रं शब्द-गतगुणालंकारयुक्तम्। वाच्यचित्रं अर्थगत-गुणालंकारयुक्तम् च ।

डा० एच० डी० शर्मा : काव्य-प्रकाश : उल्लास १ : पृष्ठ १५ ।



### विश्वनाथ

विश्वनाथ ने काव्य का वर्गीकरण दो दृष्टियों से किया है :--

१-काव्य-रूपों की दृष्टि से :-----२ भेद । १

क- दृश्य । स- श्रव्य ।

२-ध्वनि-परम्परा में मान्य व्यंग्यार्थ की दृष्टि से :-----२ भेद । २

क- ध्वनि : जहाँ व्यंग्य वाच्यातिशयो होता है । ३

स- गुणाभूत-व्यंग्य : जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्य की अपेक्षा न्यून अथवा समान होता है । ४

विश्वनाथ को मम्मट का तृतीय भेद "अपम" , काव्य-रूप में स्वीकृत नहीं है।

### चित्र-काव्य और विश्वनाथ

चित्रकाव्य का निराकरण करते हुए विश्वनाथ मम्मट की दृष्टि में रह कर अपना कालोचना प्रस्तुत करते हैं :--

" केचिच्चित्राख्यं तृतीयं भेदमिच्छन्ति। तदाहुः -

"शब्दचित्रं वाच्यं चित्रं व्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्। " इति।

तन्न। यदि च अव्यंग्यत्वेन व्यंग्याभावस्तदा तस्य काव्यत्वमपि नास्तीति प्रागेवोक्तम्। तर्हि व्यंग्यत्वमिति चेत्, किं नामेष्टव्यंग्यत्वं, आस्वाद्यव्यंग्यत्वमनास्वाद्यव्यंग्यत्वमिति वा आद्ये प्राचीनभेदयोरिवान्तःपातः, द्वितीये त्वकाव्यत्वम्। यदि चास्वाद्यत्वं तदा अक्षुद्रत्वमेव, क्षुद्रता नामनास्वाद्यत्वात्। " ५

तात्पर्य यह कि व्यंग्य की दो ही स्थितियाँ सम्भव हैं। एक- प्रधान, दूसरी- गोण। प्रथम स्थिति में काव्य "ध्वनि" है, दूसरी में "गुणाभूत-व्यंग्य"। विश्वनाथ के अनुसार कोई तीसरी स्थिति संभव नहीं। अव्यंग्य या अस्फुट-प्रतीयमान व्यंग्य कहना शब्दों का भ्रमलाह।

१-दृश्यव्यत्ययभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।" साहित्य-दर्पण : परिच्छेद ६।१ ।

२-"ध्वनिगुणाभूतव्यंग्यं चेति द्विधा मतम्।" साहित्य-दर्पण : परिच्छेद ९।१ ।

३-"वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्।" साहित्य-दर्पण : परिच्छेद ९।१ ।

४- "अपरन्तु गुणाभूत-व्यंग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यंग्यम्।" साहित्य-दर्पण : परिच्छेद ९।१६।

"अनुत्तमत्वं न्यूनतया साम्येन च संभवति ।" साहित्य-दर्पण : पृष्ठ २५६ ।

५- साहित्य-दर्पण : पृष्ठ २६४ ।



किन्तु विश्वनाथ ने मम्मट का स्पष्ट करते हुए, मम्मट की पृष्ठ-भूमि में स्थित ध्वनिकार की मान्यताओं पर ध्यान नहीं दिया। ध्वनिकार और आनन्दस्पष्ट शब्दों में कह चुके थे कि चित्र में व्यांग्य का संपर्श रहता तो है, और उसी संपर्श के आधार पर उस काव्य कहा जा सकता है, किन्तु उस रसादि व्यांग्य में कवि का अभिनिवेश नहीं रहता। वह वाच्य-वाचक चमत्कार की ओर अभिनिविष्ट होता है। प्रश्न व्यांग्य के होने का हो नहीं, उस के चमत्कारों होने का है।

इतना ही नहीं, विश्वनाथ गव-निमीलिका भी करना चाहते हैं। वे आनन्द की वृत्ति से आंस बचा कर ध्वनिकार के शब्दों को अपने पक्ष में ही दिखाना चाहते हैं। अर्थात् ध्वनिकार की मान्यता मम्मट का अपेक्षा विश्वनाथ के अधिक पक्ष में है। वे कहना चाहते हैं, देखिए, ध्वनिकार की मान्यता भी हमारे ही पक्ष में है। वे काव्य के केवल दा ही भेद मानते हैं, ध्वनि एवं गुणोद्भूत-व्यांग्य। इन भेदों से भिन्न तो काव्य नहीं होता, उसे चित्र-मात्र कहते हैं। इसी उद्देश्य को मन में निहित कर के वे ध्वनिकार के शब्द उद्धृत करते हैं :—

"तदुक्तं ध्वनिकृताः—

"प्रधानगुणभावाभ्यां व्यांग्यस्यैव व्यवस्थितेः।

उभे काव्ये, ततोऽन्यत् तत् चित्रमभिधीयते।" १

और इतना कह कर विश्वनाथ अपने चतुर्थ परिच्छेद का "द्वापसान" कर देते हैं। जिस मन्तव्य से वे ध्वनिकार के शब्दों का उपस्थित करते हैं, उसे अपनी वृत्ति में उपस्थित करने का साहस सम्भवतः इस लिए नहीं कि आनन्दवर्धन का वृत्ति-गत विवेचन उनके पक्ष में नहीं पड़ता।

चित्त-काव्य की स्वाकृति वस्तुतः एक वस्तुस्थिति का अनुरोध है। ध्वनिकार ने भी काव्य के इस भेद की प्रशंसा नहीं की। उन्होंने इसे केवल इसी लिए स्वाकृति दी, कि चिरकाल से अनेककवि लोग इस का और अपनी प्रवृत्ति दिखाते चले आये हैं। लक्षणा-ग्रन्थ लक्ष्य-ग्रन्थों को देख कर ही बनाये जाते हैं। आनन्दवर्धन की यह आशा थी कि प्राचीन कवि तो अपना संरम्भ दिखाते रहे, उनके सामने कोई प्रशस्त पथ नहीं रखा गया था, अब एक



न्यायोचित काव्य-मार्ग जब उन के सामने आ गया है तो कवि लोग आगे हस और अपनी अभिरुचि अवश्य शिथिल करेंगे।<sup>१</sup> किन्तु आनन्दवर्धन को यह आशा पूरी नहीं हुई। कवि-लोग चित्र-काव्य का और अपना प्रवृत्ति दिखाते ही रहे। और आचार्यत्व भी बाध्य होता रहा, कि चाहे-अनचाहे इस काव्य-रूप की स्वीकृति देता रहे, इस वस्तुस्थिति की स्वीकृति प्रदान करता रहे। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इस वस्तु-स्थिति के अनुरोध को स्वीकार किया है। किन्तु एक मौलिक समालोचक के नाते, एक संतुलित सोमा के साथ।

### पण्डितराज

सामान्यतः पण्डितराज ने काव्य-भेदों के विषय पर भी ध्वनि-वादो दृष्टि ही अपनायी है, तथापि विवेचन की सुस्पष्टता, निर्णयात्मकता, सूक्ष्मता तथा भेदों की परस्पर उल्लेखनीय रेशाओं की व्यवस्था आदि गुणों के कारण उनका यह विवेचन मौलिकता के संस्पर्श से आभासित हो उठा है। हम यहाँ उनकी विशेषताओं का उद्घाटन करते हुए उनके विवेचन पर विचार करेंगे।

### कसौटी का परिमार्जन

पण्डितराज ने सर्व-प्रथम तो काव्य-वर्गीकरण को ध्वनि-वाद की कसौटी की कुल और परिमार्जित किया है। उन्होंने व्यंग्यार्थ की उच्चावच स्थिति का निर्णयक चमत्कार को ठहराया है।<sup>२</sup> कसौटी के इस परिमार्जन से उन्हें स्पष्ट निर्णय देने में अत्यन्त सहायता मिली है। ध्वनि-वाद के अनुसार परम्परा-प्राप्त कसौटी की व्यंग्यार्थ का वाच्य से अतिशायी होना। पण्डितराज ने व्यंग्य की वाच्यातिशयिता के साथ उसकी चमत्कारिता को और बीच में डाला। यह हम अभी और स्पष्टता से समझ सकेंगे।

१- "एतच्चित्रं कवीनां विशृङ्खलगिरां रसादितात्पर्यमनपेक्षैव काव्यप्रवृत्तिदर्शनादस्माभिः प्रस्फुटितम्। उद्यमानान्तनां तु न्याय्यं काव्यनयवस्थापने क्रियमाणे नास्त्येव ध्वनि-व्यतिरिक्तः काव्यप्रकारः। यतः परिपाक्यतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते।" ध्वन्यालोक : पृष्ठ ४२२।

२- "कमपीति चमत्कारभूमिम्। तेनातिगूढस्फुटव्यंग्ययोर्निरासः। अपरागवाच्यसिद्ध्यंगव्यंग्यस्यापि चमत्कारितया तद्वारणाय गुणोभावितात्मानाविति स्वापेक्षया व्यंग्यप्राधान्याभिप्रायत्वम्।" रसगंगाधर : पृष्ठ १०।



### काव्य के चार भेद

पण्डितराज ने अपनी उपर्युक्त कसौटी को समझा रखते हुए काव्य के निम्न चार भेद किये हैं ?--

१- उत्तमोत्तम काव्य । २- उत्तम काव्य । ३- मध्यम काव्य । ४- अधम काव्य ।

अब हम इन पर प्रत्येकशः विचार करेंगे।

### उत्तमोत्तम काव्य

बह ध्वनि-कार का "ध्वनि" तथा मम्मट का "उत्तम" काव्य है।

"शब्दार्थौ यव गुणोभावितात्मानौ कमध्यममिभिव्यक्तस्तदावम्।" २

इस कौटि में समस्त रस-ध्वनियाँ, जिनमें रस, भाव, रसाभास, भावाभास, तथा अन्य सभी भाव-ध्वनियाँ सम्मिलित हैं, एवं वस्तु तथा अलंकार-रूप ध्वनियाँ आती हैं।

इस उत्तमोत्तम काव्य की कसौटी में दो विशेषताएँ हैं। एक- व्यंग्यार्थ का वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान होना, दूसरे- व्यंग्य के चमत्कार का भी उत्कृष्ट होना। सामान्यतः दोनों बातें परस्पर सापेक्ष हैं। व्यंग्यार्थ की प्रधानता का ही अर्थ उसका चमत्कारी होना लिया जा सकता है, तथापि कुछ लक्ष्यों को सामने रख कर इन विशेषताओं को पूरक करने का महत्त्व स्पष्ट हो सकेगा। अतिगूढ़ एवं अस्फुट व्यंग्य काव्यों में व्यंग्यार्थ वाच्यातिशयो तो होता है, किन्तु अति-गूढ़ता के कारण, तथा अति-स्फुटता के कारण उसके चमत्कार का ह्रास हो जाता है। अतः कसौटी के दोनों पहलुओं की स्पष्टता होने पर ही उन्हें प्रथम कौटि के काव्यों से पूरक लिया जा सकता है। ३ दूसरी ओर अपरांग तथा वाच्य-सिद्ध्यंग व्यंग्यों में चमत्कार तो होता है, किन्तु उनमें व्यंग्यार्थ से प्रधान नहीं होता। अतः कसौटी के दोनों पहलुओं की स्पष्ट समझ कर चलना चाहिए।

इस प्रकार पण्डितराज ने उत्तमोत्तम काव्य की कसौटी को ओर व्यवस्थित करके ध्वनि-वाद के मान-दण्ड की ओर भी परिमार्जित कर दिया है।

ध्वनि-काव्य में व्यंग्यार्थ के प्रति वाच्य-वाचक का गुणोभाव अपेक्षित माना गया है।

१- "तच्चोत्तमोत्तमोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्था ।" रसगंगाधर : पृष्ठ ९ ।

२- रसगंगाधर : पृष्ठ ९ ।

३- "कमपीति चमत्कारभूमिम्। तेनागूढस्फुटव्यंग्ययोर्निरासः ।" रसगंगाधर : पृष्ठ १०।

४- "वाच्यसिद्ध्यंगव्यंग्यस्यापि चमत्कारित्वया तद्वारणाय गुणोभावितात्मानाविति स्थापेक्षया व्यंग्यप्रधान्याभिप्रायत्वम्।" रसगंगाधर : पृष्ठ १० ।



मान लीजिए कोई ऐसा काव्य है, जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्य-वाचक की अपेक्षा तो प्रधान है, किन्तु किसी अन्य व्यंग्य की अपेक्षा गुणीभूत है, साथ में चमत्कार का आधार भी है, तो, प्रश्न उठता है, उसे किस भेद में रखा जायगा ? मम्मट ने इन उलझनों को स्पष्ट नहीं किया था। वे सूत्र सिद्धान्तों को ही लेकर चले थे। पण्डितराज ने ऐसे स्थलों के लिए व्यवस्था दी, वे उत्तमोत्तम कोटि में ही रखने चाहिए।<sup>१</sup>

ध्वनि-कार का भी यहाँ मान्यता है कि वे गुणीभूत-व्यंग्य काव्य जो रसादि-तात्पर्य में पर्यवसित होते हैं, ध्वनि-कोटि में ही आते हैं।<sup>२</sup> पण्डितराज ने विषय को स्पष्टता देकर निर्णय कर दिया कि वे गुणीभूत-व्यंग्य जो वाच्य-वाचक से प्रधान हैं, किसी रसादि के प्रति गौण है, चमत्कार का आधार होते हुए, गुणीभूत-व्यंग्य की द्वितीय कोटि में नहीं रखे जायेंगे, अपितु प्रथम कोटि में माने जायेंगे। यह स्पष्टता व्यंग्यार्थ के प्रति वाच्य-वाचक की गौणता को ही ध्यान में रखकर नहीं, चमत्कार पर भी ध्यान रख कर दी गयी है।

### उत्तम काव्य

यह भेद मम्मट का "मध्यम" एवं ध्वनिकार का "गुणीभूत-व्यंग्य" काव्य है।

" यत्र व्यंग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद् द्विधा । " ३

वहाँ व्यंग्य अप्रधान होते हुए, चमत्कारी होता है, वहाँ "उत्तम" काव्य होता है। यह काव्य-भेद भी स्पृहणीय कोटि का होता है। जानन्दिवर्धन ने इस रूप को भी बड़ी प्रशंसा की है।<sup>४</sup>

### परस्पर विभाजक रेखाएँ

पण्डितराज उपर्युक्त दोनों भेदों में परस्पर विभाजक रेखाएँ भी खींची जाती हैं।

- १- " वाच्यापेक्षाया प्रधानाभूतं, व्यंग्यान्तरमादाय गुणीभूतं, व्यंग्यमादीयोतिव्याप्तिवार-  
णायावधारणम् । " रसगंगाधर : पृष्ठ १७ ।
- २- " प्रकारीयं गुणीभूतव्यंग्योपि ध्वनिरूपताम् ।  
धत्ते रसादितात्पर्यपरालोचनया पुनः ।। " ध्वन्यालोक : उद्योत ३ : कारिका ४० ।
- ३- रसगंगाधर : पृष्ठ १७ ।
- ४- " ये चेते - - - अरिमणोयाः सन्तो विवेकिनां सुखावहाः काव्यवन्धास्तेषु सर्वेष्वप्य-  
प्रकारी गुणीभूतव्यंग्यो नाम योजनायः । " ध्वन्यालोक : ४६३ ।



यद्यपि इन प्रथम तथा द्वितीय भेदों में व्यंग्य की पूर्ण जागरूकता रहती है, तथापि व्यंग्यार्थ की प्रधानता-अप्रधानता के कारण दोनों के चमत्कार में अन्तर होना भी स्वाभाविक है। अतः पण्डितराज अनुभूति के आधार पर दोनों की पृथक्ता प्रतिपादित करते हैं:--

"अनयोर्भेदयोरनपह्नवनायचमत्कारयोरपि प्राधान्याप्राधान्याभ्यामस्ति कश्चित् सहृदयवेद्यो विशोभः।" १

उत्तम काव्य के प्रसंग में पण्डितराज ने एक और महत्व-पूर्ण प्रश्न उठाया है। अलंकारों की किस कोटि में रखा जाय ? सामान्य चारणा के अनुसार अलंकारों की चित्र नामक अष्टम कोटि में रखा जाता है। पण्डितराज अलंकारों की अर्थ-चित्रता को स्वीकार करते हुए उन पर और अधिक विवेचनात्मक दृष्टि डालते हैं। अलंकारों की अर्थ-चित्रता के साथ उनका दूसरा पक्ष भी है - गुणाभूतव्यंग्यता का। अलंकारों में व्यंग्य होता है, किन्तु गुणाभूत, यह सभी आचार्य स्वीकार करते हैं।<sup>२</sup>

### अलंकारों के तीन रूप

अलंकारों का रचा हमारे सामने तीन रूपों में आता है, जिसे निम्न रूप में रखा जा सकता है :--

#### १-ध्वन्यमान अलंकार

जहाँ अलंकार प्रधानतया ध्वनित रूप में आते हैं। ये अलंकार वस्तुतः किसी के अलंकारक नहीं होते, स्वयं अलंकार्य होते हैं, तथा रस एवं वस्तु रूप ध्वनियों के साथ "ध्वनि"काव्य-भेद में गिने जाते हैं। केवल "ब्राह्मण-श्रमण-न्याय" से इन्हें अलंकार कह दिया जाता है।

#### २-जागरूक-गुणाभूत-व्यंग्य अलंकार

अलंकार-रूप में स्वीकृतसमस्त अलंकारों में गुणाभूत रूप में व्यंग्य की स्थिति अवश्य रहती है। इन अलंकारों में हम, जैसा कि ऊपर उल्लेख हुआ है, दो श्रेणियाँ पाते हैं।

१- गुणाभूत-व्यंग्यता का, २- वाच्य-चमत्कार का। कुछ अलंकार ऐसे होते हैं जिनमें

१- "अनयोर्भेदयो" इत्यादि। रसगंगाधर : पृष्ठ १८ ।

२- "तेजां-पर्यायोक्तादानां- गुणाभूतव्यंग्यतायाश्चित्रतायाश्च सर्वालंकारिकसंमतत्वात्।" रसगंगाधर : पृष्ठ १७ ।



प्र-म पदा मुखर होता है, कुछ ऐसे जिनमें दूसरा। उदाहरण-स्वरूप समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोक्त आदि में गुणाभूत-व्यंग्य की स्थिति निश्चय ही रूपक, दोषक, उपमा आदि की अपेक्षा काँ बहुत अच्छा तथा अधिक चमत्कार-पूर्ण होता है। अतः हम अलंकारों के इस दो वर्ग बना सकते हैं। १- जागरूक-गुणाभूत व्यंग्य वाले, दूसरे अजागरूक-गुणाभूत व्यंग्य वाले।

इस प्रकार प्रस्तुत वर्ग में वे समासोक्ति आदि अलंकार आते हैं, जिनमें व्यंग्य मोण होते हुए भी जागरूक होता है।

### ३- अजागरूक-गुणाभूत-व्यंग्य अलंकार

जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है, इस वर्ग में उपमा, दोषक, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार सन्निविष्ट किये जा सकते हैं। इन अलंकारों में उनके दूसरे पक्ष वाच्य-चमत्कार का गुणाभूत-व्यंग्य के प्र-म पक्ष का अपेक्षा अधिक प्रबलता होती है। उदाहरण-स्वरूप दोषक में व्यंग्य रूप में उपमा या साम्य होता तो है, किन्तु उसमें कोई चमत्कार नहीं होता। चमत्कार वहाँ वाच्यार्थ में ही होता है।

इस प्रकार अलंकार हमारे समक्ष उपर्युक्त तान रूपों में आते हैं। इन में प्र-म वर्ग के ध्वन्यमान अलंकारों के लिए तो मम्मट के अनुसार "उत्तम" तथा पण्डितराज के अनुसार "उत्तमोत्तम" वाच्य भेद है, किन्तु द्वितीय तथा तृतीय प्रकार के अलंकारों के लिए मम्मट के वर्गीकरण में अलग अलग स्थान नहीं है, बल्कि होना चाहिए। और सभी अलंकारों को एक ही कोटि में रखना उचित नहीं। पर्यायोक्त आदि में चित्रता या वाच्य-वैचित्र्य के साथ उनका गुणाभूत-व्यंग्यता आनन्दवर्धन को भी मान्य है।<sup>१</sup>

१- "येषु चालंकारेषु सादृश्यमेव तत्त्वप्रतिलम्भः यथा रूपकोपमातत्त्वयोगिता निदर्शनादिषु तेषु गम्यमानधर्मैस्तेनैव असादृश्यं तदेवशाभातिशयशालि भवेत्तदिति ते सर्वेपि चारुत्वातिशययोगिनः सन्ती गुणाभूतव्यंग्यस्यैव विधयाः।" ध्वन्यालोक : पृष्ठ १७० ।

"समासोक्ति आदि का गुणाभूत-व्यंग्यता का उल्लेख तो और भी स्पष्ट है :-

"समासोक्त्याक्षीपपर्यायोक्तादिषु तु गम्यमानांशाविनाभावेनैव तस्य व्यवस्थापनाद् गुणाभूतव्यंग्यता निर्विवादैव।" ध्वन्यालोक : पृष्ठ १७०-१ ।

साथ ही रूपकादि में भी आनन्दवर्धन को गुणाभूतव्यंग्य स्वीकृत है :-

"तदेवं व्यंग्यांशसंस्पर्शं सति चारुत्वातिशययोगिनो रूपकादयोऽलंकाराः सर्व एव गुणाभूतव्यंग्यस्य मार्गः। गुणाभूतत्वं च तेषां तथा जातीयानां सर्वेषामेवोक्तानां सामान्यम्।" ध्वन्यालोक : पृष्ठ १७२ ।



से उपकृत शब्द-चमत्कृति ही प्रधान होती है, वहाँ शब्द-चित्र "अथम" नामक चतुर्थ काव्य-भेद होता है।

शब्द-चित्रता को संभावना हम दो रूपों में कर सकते हैं:--

१- जहाँ शब्द-चमत्कृति तो प्रधान है, साथ ही कुछ न कुछ अर्थ-चमत्कृति का भी योग है।

इसमें यमक, अनुप्रास आदि शब्दालंकार आयेगी।

२- जहाँ अर्थ-चमत्कृति का सामान्यतः अभाव है, तथा केवल शब्द का ही चमत्कृति का

सुनायी पड़ती है। उदाहरण-स्वरूप एकादशो पञ्च, अर्धावृत्ति यमक, पद्म-वन्धादि रचनाएँ।

इनमें से पण्डितराज प्रथम रूप को ही काव्य-भेदों में परिगणित करते हैं। कारण, यहाँ दबो-उभरी वैसे ही सही, अर्थ-चमत्कृति का कुछ न कुछ योग तो है ही। द्वितीय रूप में तो वह भी नहीं है। काव्य को उन्होंने "रमणीया प्रतिपादक शब्द" कहा है। अतः काव्य कहलाने के लिए अर्थ की सहकारिता आवश्यक है। यद्यपि कवियों ने इस प्रकार की रचनाओं के प्रति अपना रुचि प्रदर्शित का है, तथापि यहाँ तो वस्तु-स्थिति का संपूर्ण रूप नहीं है, यह एक पहलू मात्र है। केवल परम्परा ही सब कुछ नहीं है। परम्परा, काव्य का प्रकृत रूप, अपने मान-दण्ड, अन्य आचार्यों की मान्यताएँ, और काव्य का भविष्य - सभी कुछ तो एक आचार्य ने सामने रहना स्वाभाविक है। इस वस्तु-स्थिति के अनुरोध को पण्डितराज भी नहीं भूलना चाहते। अतः अर्थ-चमत्कार से शून्य केवल शब्द-चमत्कारों एकादशो पञ्च आदि को वे अधमाधम काव्य भी नहीं स्वाकार कर सकते:--

"यद्यपि यत्रार्थचमत्कृतिसामान्यशून्या शब्द-चमत्कृतिस्तत्पञ्चमधमाधममपिकाव्यविधासु गणयितुमुचितम्, यथेकादशपञ्चावृत्तिर्यमकपद्मवन्धादि। तथापि रमणीया प्रतिपादकशब्दता-रूपकाव्यसामान्यलक्षणानाक्रान्ततया वस्तुतः काव्यत्वाभावेन महाकविभिः प्राचीनपरम्परा-मनुरुन्धानैस्तत्र काव्येषु निबद्धमपि नास्माभिर्गणितम्। वस्तुस्थितेरेवानुरोधात्।" १

इस प्रकार पण्डितराज को काव्य के चार भेद अभीष्ट हैं। मम्मट आदि जो लोग तीन भेद ही मानते हैं, उनसे पण्डितराज पूछना चाहते हैं कि अर्थालंकारों तथा शब्दालंकारों में चमत्कार का जो स्पष्ट तारतम्य है, उसे आप क्या करोगे? यदि कोई सहृदय है, तो "विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्" तथा "स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा" जैसे काव्यों को एक ही कोटि में कैसे रख देगा? और यदि तारतम्य परित्याजित होते हुए



भी कोई दोनों को एक ही भेद में रखना चाहता है, तो फिर ध्वनि और गुणीभूत-व्यंग्य में भी कौन बड़ा अन्तर है ? उन्हें भी एक ही भेद में गिन लिया जाय ।

"तत्रार्थचित्रशब्दचित्रयोरविशेषोऽपि नाद्यत्वं मयुक्तं वस्तुम् । तारतम्यस्य स्फुटमुपलब्धेः । को ह्येवं सहृदयः सन् "विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्" "स च्छिन्नमूलः हात्लेन रेणुः" इत्यादिभिः काव्यैः "स्वच्छन्दोच्छदच्छ" इत्यादीनां पामरश्लाघ्यानामविशेषं ब्रूयात् ? सत्यपि तारतम्ये योक्तेभ्यस्तत्त्वं कस्तर्हि ध्वनिगुणीभूतव्यंग्ययोरीषदन्तरयोर्विभिन्नभेदत्वे दुराग्रहः" ।

### समाप्ता

हमने देखा है कि ध्वनि-पूर्वार्थ युग तथा ध्वनि-परवर्ती युग की वर्गीकरण-दृष्टियाँ भिन्न हैं। ध्वनि-पूर्वार्थ आचार्यों की दृष्टि काव्य के बहिरंग उपकरणों पर केन्द्रित थी। ध्वनि-वाद ने अन्तरंग तत्त्व "व्यंग्य" को वर्गीकरण का मूल आधार नियत किया। मम्मट ने उसके आधार पर काव्य के तीन भेद स्वीकार किये। उनके वर्गीकरण का आधार वैज्ञानिक होते हुए भी, उनके विवेचन में दो बातों को कमा रही। एक तो वर्गीकरण स्थूल दृष्टि से रहा, उसमें परस्पर एक-दूसरे भेद की उलझती समाजों पर अधिक विचार नहीं हुआ। दूसरे समस्त अलंकारों को जिनमें शब्दालंकार तथा अर्थालंकार- सभी आते हैं, एक ही अथम-काव्य के वर्ग में रख दिये गये। विश्वनाथ ने और भी स्थूल मार्ग पकड़ा। व्यंग्य की प्रधान स्थिति को छोड़ जो भी स्थितियाँ हों, सभी "गुणीभूत-व्यंग्य"। यह ठीक है कि उनमें सर्वत्र व्यंग्य की स्थिति गौण होती है, किन्तु उस गुणीभूतता में भी सहृदयों को बहुत बड़ा तारतम्य, बहुत बड़ी ऊँच-नीच दिखायी पड़ती । उसका निर्णय उनकी स्थूल दृष्टि नहीं कर सकी। इसी आवेश में उन्होंने चित्र-काव्य के काव्यत्व का भी निराकरण कर दिया। चित्र-काव्य से अलंकार-प्रधान काव्य समझा जाता है। सभी अलंकार-प्रधान काव्य तो बहिष्कार्य नहीं होते। चित्र का कितना अंश ऐसा है जिसे काव्य-क्षेत्र से दूर किया जाय ? कितना ऐसा है जिसे और अच्छा स्थान दिया जाय ? यह व्यवस्था न तो मम्मट द्वारा हुई, न विश्वनाथ द्वारा। वर्गीकरण के सम्बन्ध में दोनों बातें बड़ी महत्व-पूर्ण थीं। ध्वनि-वाद का आधार अच्छा होते हुए भी, उसका व्यवहार-पदा अपूर्ण था। पण्डितराज के द्वारा यह कमी पूरी हुई।



व्यवस्था, तारतमिक निर्णय, तथा विभाजक रेखांकन के लिए व्यंग्य की प्रधानता-अप्रधानता के साथ काव्य के चमत्कार के तारतम्य का ज्ञान आवश्यक था। पण्डितराज ने व्यंग्य की उच्चावचता के साथ चमत्कार का सहयोग लेकर कसौटी को अधिक परिमार्जित कर लिया, और वे उपर्युक्त सभी अभावों को पूर्ति कर सके। चमत्कार का आधार पढ़ना कोई नवान बात नहीं थी, किन्तु उस पर बस देकर भेदों की व्यवस्था करना अवश्य नया सिद्ध हुआ। उसका नया फल अवश्य निकला।

पण्डितराज और चित्र-काव्य

अलंकार-काव्य का तो ऐसा व्यवस्थित वर्गीकरण किसी आचार्य ने किया ही नहीं। वस्तु-स्थिति की दोनों सामाजाओं का ध्यान रख कर पण्डितराज ने चित्र काव्य के विषय में बड़ा सुन्दर व्यवस्था दी है। उनके अनुसार चित्र का वर्गीकरण निम्न रूप में रखा जा सकता है:--

अर्थ-चित्र

क- जागरूक-गुणाभूत-व्यंग्य अर्थ-चित्र ----- " उत्तम काव्य "

। पर्यायोक्त, समासोक्ति आदि ।

ख- अजागरूक-गुणाभूत-व्यंग्य अर्थ-चित्र ----- " मध्यम काव्य "

। उपमा, रूपक, दृष्टिक आदि ।

ग- अर्थ-चमत्कृति तथा शब्द-चमत्कृति

के सम-प्राधान्य वाले स्थल । ----- " मध्यम काव्य "

शब्द-चित्र

क- अर्थ-चमत्कृति से उपस्कृत शब्द- ----- " अधम काव्य "

चमत्कार-प्रधान ।

अनुप्रास, यमक आदि ।

काव्य-कोटि से वहिष्कार्य

क- अर्थ-चमत्कृति से सामान्यतः शून्य

अर्थावृत्ति यमक, पदम-बन्ध आदि ।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस व्यवस्था में अलंकार-वाद के प्रति ध्वनि-वाद की अधिक-तम सहानुभूति है, तथा इससे ध्वनि-वाद एक विशिष्ट परिमार्जन को प्राप्त हुआ है।



---

## तृतीय अध्याय

( रस—विवेचन )

पृ० १०१—२३५

---



### रस - विवेचन

रस-विवेचन के अन्तर्गत दो प्रकार की चर्चा जाती है :-

- १- रस के स्वरूप तथा उसकी निष्पत्ति से सम्बन्धित,
- २- रसों के भेद-उपभेद, उनकी व्यवस्था, रस-विरोध, रस-दोष आदि से सम्बन्धित ।

इनमें प्रथम प्रकार की बातों का सम्बन्ध अपेक्षाकृत काव्य-शास्त्र की मूल समस्याओं से अधिक है। दूसरा प्रकार की बातें स्थूल एवं बाह्य हैं। पण्डित राज ने दोनों प्रकार की बातों की चर्चा अपने रस-विवेचन में की है। किन्तु हम प्रस्तुत अध्याय में प्रथम प्रकार की चर्चा तक ही अपने को सीमित रहेंगे। रस-स्वरूप के सम्बन्ध में हम यहाँ पण्डित-राज के विवेचन तथा उनके दृष्टिकोण का परिचय ही प्रस्तुत करना चाहते हैं। पण्डित राज पर तुलनात्मक दृष्टि डालने के लिए हमें रस-विवेचन की पृष्ठ-भूमि भी देखनी होगी।

पण्डित राज ने रस-स्वरूप के विषय में निम्न ११ मत प्रस्तुत किये हैं :-<sup>१</sup>

- १- अभिनव गुप्त तथा मम्मट के स्वारस्य से अभिव्यक्ति-वादी मत,
- २- आचार्य भट्ट नायक का भुक्ति-वादी मत,
- ३- नव्य-मत,
- ४- द्वितीय नव्य-मत,
- ५- भट्ट चोत्तट का उत्पत्ति-वादी मत,
- ६- श्रीशङ्कर का अनुमिति-वादी मत,
- ७- विभावदि-समुदाय-वादी मत,
- ८- "तानों में से जो भी उत्कारी हो, वही रस है",
- ९- भाव्यमान-विभाव-वादी मत,
- १०- भाव्यमान अनुभाव-वादी मत,
- ११- भाव्यमान अभिव्यक्ति-वादी मत ।



इस विवेचन पर आपाततः दृष्टि-पात करने से निम्न तथ्य सामने आते हैं :-

- १- पण्डित राज ने केवल प्रथम दो मतों में आचार्यों का नाम दिया है, अर्थात् उनके सन्दर्भ में अभिनव-मम्मट तथा भट्ट नायक का उल्लेख किया है; शेष ९ मतों के सम्बन्ध में यह नहीं बताया कि उनके प्रस्तावक आचार्य कौन हैं।
- २- विशेष कर ४ मतों को ही विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है :  
१-अभिनव गुप्त का मत, २-भट्ट नायक का मत, ३-प्रथम नव्यों का मत,  
४-द्वितीय नव्यों का मत।
- ३- पाँचवें तथा छठे लौल्लट एवं शंकुक के मतों को अत्यन्त संक्षेप में परिचित भर करा दिया गया है, उन्हें विस्तार नहीं दिया गया। उनके प्रति पण्डित राज का कोई महत्व-भावना नहीं प्रकट होती।
- ४- संख्या ७, ८, ९, १०, ११ के पाँच मत नोटित मात्र हैं। उनके स्वरूप को भी स्पष्ट नहीं किया गया।
- ५- संख्या ९, १०, ११ के तिन मत स्पष्टतः भरत-परम्परा के नहीं हैं। कारण, भरत-सूत्र में विभाव-अनुभाव-व्यभिचारों तीनों का परिगणन है; किन्तु ये मत किसी एक के अभाष्ट संविधान में भी "रस" मान लेते हैं। पण्डितराज इस तथ्य से परिचित हैं कि ये मत भरत-विरोधी हैं।<sup>१</sup> इस प्रकार पण्डित राज ने रस-स्वरूपके विषय में भरत-परम्परा तथा भरत-विरोधी परम्परा - दोनों के मतों को अपने विवेचन में संक्षिप्त किया है।
- ६- पण्डित राज ने इन मतों के उपस्थापन में इनके क्रम-विधान में कोई ऐतिहासिक बुद्धि सामने नहीं रखी। जो भी मत साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थों में उन्हें विवेचित मिलते हैं या जिनकी उन्हें सूचना मिली है, उन्हें अपने दृष्टिकोण से आपेक्षिक महत्व को ध्यान में रख कर प्रस्तुत कर दिया है।
- ७- संख्या ७, ८, ९, १०, ११ के पाँच मत वस्तुतः विकल्प मात्र हैं, यह हम अभी कह चुके हैं। हम रस की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि का अध्ययन करते हुए देखेंगे कि इन विकल्पों में ध्वनि-पूर्ववर्ती अलङ्कार-वादो युग को रस-चेतना के विविध रूपों की सूचना निहित है। दूसरी उल्लेखनीय बात यह कि पण्डित राज ने इन मतों को अभिनव गुप्त की सूचना के आधार पर हमारे सामने प्रस्तुत किया है।



अभिनव गुप्त ने इन विकल्पों की सूचना निम्न शब्दों में दी है :-

"अपरे पुनर्विभावानुभावमात्रमेव विशिष्टसामग्र्या समर्प्यमाणं तद्विभावनीयानुभाव-  
नीयस्याधिरूपचित्तवृत्त्युचितवासनानुष्णक्तं स्वनिर्वृतिचर्चणाविशिष्टमेव रसः।  
तन्नाट्यमेव रसः॥ अन्ये तु शुद्धं विभावम्, अपरे शुद्धमनुभावम्, केचित्तु स्वाधि-  
मानम्, इतरे व्यभिचारिणम्, अन्ये तत्संगोगम्, एके अनुकार्यम्, केचन सक्तमेव समुदायं  
रसमाहुरित्यलं बहुना।" १

इन के साथ अभिनव गुप्त ने कुछ और भी विकल्प दिये हैं।<sup>२</sup> पण्डित राज ने मुख्यतया यहीं से प्रेरणा लेकर, उन्हें कुछ अवस्थित रूप में प्रस्तुत कर दिया है। उनके प्रस्तावक आचार्यों के नाम न तो अभिनव गुप्त ने ही दिये हैं, और न उनकी जाचार बनाने वाले पण्डित राज ही दे सके हैं। हमारे आचार्यों को प्रायः इसकी चिन्ता कभी नहीं हुई।

### स्वरूप रस-विवेचन की सीमा

पण्डित राज के रस-स्वरूप सम्बन्धी विवेचन की ओर बढ़ने से पूर्व, अच्छा रहे, हम उसकी सीमा का परिष्कृत प्राप्त कर लें। हम अन्य शास्त्रों अथवा प्रसंगों में प्रयुक्त रस-शब्द की बात यहां, <sup>जोड़</sup> दे, तो भी साहित्य-शास्त्र में वे हमें यह शब्द प्रमुखतया चार अर्थों में व्यवहृत मिलता है :-

#### १- रस - काव्यानन्द ।

यह रस-शब्द का अत्यन्त व्यापक प्रयोग है। इसे शब्द-प्रतिपादित सौन्दर्यानुभूति-जन्य आह्लाद-मात्र का पर्याय-वाची समझना चाहिए। हम यथा-स्थान देखेंगे कि काव्य-जन्य आह्लाद को हम सुविधा की दृष्टि से तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं : १- भावात्मक आनन्द, २- कल्पनात्मक आनन्द, ३- बौद्धिक आनन्द। इस प्रयोग में रस-शब्द इन सभी प्रकार के आनन्द-रूपों को समेटता है।

#### २- रस - रस-ध्वनि ।

ध्वनि-सिद्धान्त वनियों के तीन भेद करता है : १- रस-ध्वनि, २- वस्तु-ध्वनि, ३- अलङ्कार-ध्वनि। ये भेद उत्तमोत्तम या उत्तम श्रेणी की ध्वनियों के भेद हैं। इनमें प्रथम वर्ग में समस्त भावात्मक आनन्द आता है, दूसरे में बौद्धिक, तीसरे में कल्पनात्मक। प्रथम रस-ध्वनि वर्ग में रस-रसाभास, भाव-भावाभास, भावोत्पत्ति,

भाव-शान्ति, भाव-तन्त्रि, भाव-शबलता नामक ध्वनियां आती हैं। इनमें भावात्मक



आनन्द के तीन रूप परिलक्षित होते हैं :-

- १- व्यंजित स्थायि-भावों का आनन्द,
- २- व्यंजित संचारी भावों का आनन्द,
- ३- व्यंजित स्थायी एवं संचारियों का आभासात्मक आनन्द ।

इन सभी प्रकार की भावात्मक अनुभूतियों को ध्वनि-सिद्धान्त "रस-ध्वनि" वर्ग में रखता है। और इस वर्ग के लिये भी "रस" शब्द का प्रयोग होता है। रस को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य प्रायः इसी अर्थ में रस-शब्द का प्रयोग करते हैं।

३- प्राधान्येन व्यंजित स्थायी भाव मात्र ।

यह रस-शब्दका पारिभाषिक प्रयोग है। इस अर्थ में शृंगार, करुण, हास्य, वीर, वीभत्स, रौद्र, अद्भुत, भयानक एवं शान्त - ९ रस समझे जाते हैं ।

विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी के संयोग से व्यंजित होकर स्थायी भाव "रस" कहलाते हैं, यह इस प्रयोग की सीमा है। जहाँ द्वितीय अर्थ में प्रयुक्त रस-शब्द की सीमा में सभी प्रकार के भावात्मक आनन्द आ जाते हैं, वहाँ इस प्रयोग में केवल व्यंजित स्थायियों का ही आनन्द जाता है।

४- रस - स्थायि-भाव ।

जब रसों के पारस्परिक विरोध एवं अद्भुताद्भुतभाव की चर्चा की जाती है, तब रस शब्द से पूर्ण अनानन्द अखण्ड रस नहीं लिखा जाता, अपितु इससे "स्थायि-भाव मात्र" समझा जाता है ।

इन अर्थों में "रस" शब्द का प्रयोग प्रायः सभी प्रमुख <sup>ध्वनिवादी</sup> आचार्यों में मिल जाता है ।

पण्डित राज ने भी इन सभी अर्थों में रस-शब्द का व्यवहार किया है ।

प्रश्न उठता है, रस-स्वरूप का विचार करते हुए "रस-शब्द" की सीमा क्या है ?

पण्डित राज ने रस-स्वरूप-विवेचन की भूमिका में इस की सीमा निम्न शब्दों में निर्धारित की है :-

"एवं पञ्चात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते--" <sup>१</sup>

प्रथम पण्डित राज ने उत्तमोत्तम ध्वनि के प्रमुख पांच भेदों का परिचय दिया है।



ये भेद हैं : अभिधा-मूलक के तीनभेद - रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि, तथा अलंकार-ध्वनि।  
तथा लक्षणा-मूलक के दो भेद - अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य और अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य।  
इन पाँचों भेदों में "रस-ध्वनि" ही परम रमणीय है। हम देख चुके हैं कि "रस-ध्वनि"  
के वर्ग में तीन प्रकार का भावात्मक आनन्द आता है। उन तीनों प्रकारों में व्यंजित  
स्थायि-भावों का आनन्द ही सर्व-श्रेष्ठ है। पण्डितराज के शब्दों में यह समस्त  
रस-ध्वनि की जान है। पण्डित राज यह स्पष्ट करते हुए चलते हैं कि हम जिस रस का  
स्वरूप विवेचित कर रहे हैं, उसका सम्बन्ध व्यंजित स्थायी भावों से ही है।

इस सीमा के परिच्छेद से हमारे समक्ष कुछ महत्व-पूर्ण तथ्य आता है।-

- १-संस्कृत साहित्य-शास्त्र में विवेचित रसके स्वरूप का मुख्य सम्बन्ध पारिभाषिक  
रस से है, अर्थात् पूर्ण घनानन्द - स्थायी भावों की पूर्णतः व्यंजित स्थिति से।  
तब उसकी उपलब्धियों की न तो भावात्मक आनन्द के विविध रूपों पर और न  
काव्यानन्द के विविध रूपों पर लागू करना चाहिए। उदाहरण-स्वरूप किसी रसाभास  
काव्य की अथवा वस्तु-व्यंग्यात्मक काव्य की, या फिर किसी अलङ्कार-प्रवण  
काव्य की अनुभूति एक ही हो नहीं हो सकती। रसाभास की स्थितियों पर रस की  
स्थितियों के निर्णय ज्यों के त्यों पूरे नहीं उतर सकते।
- २- संस्कृत साहित्य-शास्त्र रस-शब्द के विभिन्न प्रयोगों के साथ काव्यानन्द के  
विभिन्न स्तर तो स्वीकार कर लेता है, किन्तु सभी स्तरों का पूर्ण, पूर्ण, सम्यक्  
विवेचन प्रस्तुत नहीं करता। वाचस्पति ने केवल पूर्ण घनानन्द, अखण्ड, पारिभाषिक रस  
का ही गभीर तम विश्लेषण प्रस्तुत किया है। अन्य स्तरों को और सांकेतिक ही  
दृष्टि जा सकी है। हम देखेंगे कि पण्डित राज ने इस विषय में अभीष्ट जागरूकता  
बरती है। इस विषय में अभिनव गुप्त का दृष्टि-कोण कुछ भिन्नता लिए हुए है,  
जिसकी चर्चा हम यथा-स्थान करेंगे।
- ३- रस-स्वरूप की उपलब्धियों को सामने रख कर विविध काव्यानुभूतियों का, या  
कहिए, काव्यानन्द के विविध स्तरों का दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण  
करने के लिए आधुनिक समीक्षा-दृष्टि के लिए पर्याप्त अवकाश है। रस-स्वरूप  
का विवेचन काव्यानुभूति की समस्या का सर्वाङ्गीण हल नहीं है। हाँ, उसकी  
बहुत बड़ी दिशा इस के द्वारा निर्धारित की जा सकती है।



### पृष्ठ-भूमि

पण्डित राज के रस-स्वरूप-विवेचन का अभीष्ट मूल्याङ्कन करने के लिए एतद्विषयक पृष्ठ-भूमि का पर्यालोचन भी आवश्यक है। गों तो इस विषय पर विभिन्न विद्वानों के द्वारा प्राप्त प्रशंसा यह चुका है। उदाहरण-स्वरूप डा० सांकरन महोदय ने अपने शोध-प्रबन्ध "दो विपरीतों का रस पण्डित ध्वनि" में रस-स्वरूप के विकास का इतिहास प्रस्तुत किया है। किन्तु हम यहां एक विशिष्ट दृष्टि-कोण अपनाना चाहते हैं। हम पण्डितराज के रस-स्वरूप-विवेचन का विश्लेषण करने पर इस तथ्य पर पहुंचेंगे कि उन्हें दार्शनिक दृष्टि-कोण का एक विशिष्ट चेतना है। उस चेतना के मूल्याङ्कन के लिए हमें यह आवश्यक हो जाता है कि हम रस-स्वरूप के पूर्व इतिहास पर दार्शनिक दृष्टि-कोण को प्रमुख बना कर एक बार फिर दृष्टि डालें। हो सकता है कि इसके साथ दूसरे पक्षों पर भी कुछ विचार हो जाय। दूसरे विद्वानों के विवेचनों तथा निष्कर्षों से आवश्यक सहायता मिलना भी अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु प्रमुखतया हम पृष्ठ-भूमि पर दृष्टि डालते हुए यही दृष्टि-कोण सामने रखना चाहते हैं।

भारतीय काव्य-रस-स्मीक्षा का वस्तुतः दर्शन से अटूट सम्बन्ध है। पश्चिम की दृष्टि में काव्यानन्द मनोवैज्ञानिक घरातल की वस्तु कहो जा सकती है। किन्तु हमारे यहां मन भी चेतना के पांच घरातलों में से एक है, पांच कोशों के अन्तर्गत मनोमय कोश भी परिगणित है। अतः जिसे हम आज मनोवैज्ञानिक स्तर कहना चाहते हैं, वह भी हमारे दर्शन के क्षेत्र के ही अन्तर्गत ठहरता है। फिर, रस की समस्या का सुलझाव मनोमय कोश तक सीमित रह कर नहीं हो सकता। भारतीय दर्शन उसके लिए चेतना के बीर गहरे स्तरों तक जाता है। सत्य यह है कि भारतीय रस-सिद्धान्त की रीढ़ दर्शन ही है।

रस-स्वरूप की समस्या को दार्शनिकों के द्वारा ही सुलझाया गया है। उसका इतिहास दार्शनिक दृष्टि-कोणों के मतभेदों का इतिहास है। अभिनव गुप्त के विवेचन में भी एक विशेष बात ध्यान देने योग्य है। उन्होंने रस-स्वरूप का विवेचन अपने दो ग्रन्थों में किया है, एक तो ध्वन्यालोक लोचन में, दूसरे अभिनव-भारती में। लोचन में उन्होंने रस-स्वरूप के विषय में अनेक विकल्पों का उल्लेख किया है। किन्तु अभिनव भारती में कुछ चुने हुए विकल्प ही सामने किये गये हैं। यहां चार मत प्रस्तुत किये गये हैं : १- लौल्लट का मत, २- राङ्गुक का मत, ३- एक सांख्य-वादी व्याख्या, ४- भट्ट नायक का मत। नाना विकल्पों के बीच से इन



चार मतों का चुनाव यह प्रकाश डालता है कि लोचन में रस-स्वरूप का विचार करते हुए अभिनव गुप्त अपेक्षाकृत अधिक साहित्यिक थे, अभिनव भारती में अधिक दार्शनिक। जिन रस-व्याख्याओं के पीछे उन्हें कुछ दार्शनिक भित्ति मिली, उन्हें ही उन्होंने अभिनव भारती के लिए चुन लिया। वहाँ दार्शनिक दृष्टि-कोण के साथ ऐतिहासिक दृष्टि-कोण भी परिलक्षित होता है। अभिनव भारती में उपस्थापित मत ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्वापर क्रम में भी रहे गये हैं। यह दृष्टि पण्डित राज ने नहीं अपनायी, यह हम कह चुके हैं। हम आगे देखेंगे कि लील्हट के मत में विशेष दार्शनिकता का समावेश नहीं है। अभिनव ने उनका मत सर्व-प्रथम ऐतिहासिक दृष्टि से ही अपनाया है। परन्तु पण्डितराज के विवेचन में दार्शनिक दृष्टि ही जोत-प्रोत दिखायी देती है।

इन तथ्यों को ध्यान में रख कर यह समीचीन प्रतीत होता है कि हम पण्डितराज के विवेचित रस-स्वरूप का परिचय प्राप्त करने से पहिले रस-स्वरूप की पूर्व-पीठिका पर दार्शनिक दृष्टि को प्रधानतया सामने रख कर दृष्टि डालें। और तब उस पृष्ठ-भूमि की छाया में पण्डितराज को समझने का प्रयास करें।

रस-स्वरूप का इतिहास कवियों तथा आचार्यों/दोनों में खोजा जा सकता है। डा० सांकरन महोदय ने ऐसा किया भी है।<sup>१</sup> किन्तु हम अपने को आचार्यत्व के क्षेत्र तक ही सीमित रहना चाहते हैं। आचार्य पण्डितराज के विवेचन के लिए हमें आचार्यत्व के क्षेत्र तक सीमित रहना भी चाहिए।

रस-स्वरूप की कथा को किसी वैज्ञानिक आधार पर काल-विभाजन में बाँधना कठिन ही है। सुविधा की दृष्टि से ही हम उसे कुछ विभागों में रख कर उस पर विचार कर सकते हैं। रस का इतिहास आचार्य भरत से प्रारम्भ होता है। यद्यपि राज-शेखर की सूचना पर किन्हीं मन्दिकेश्वर का नाम लिया जा सकता है; किन्तु नाम ही लिया जा सकता है, उनका कोई ग्रन्थ या दृष्टि-कोण उपलब्ध नहीं। हाँ, स्वयं भरत में इस सम्बन्ध में कुछ कहा है, जो यह बताते हैं कि रस-स्वरूप के रूप पर भरत से पहिले ही आचार्य दृष्टि बा चुकी थी। भरत ने उस का पूरा-पूरा उपयोग किया है। निम्नानुवंश श्लोकों के आधार पर भी भरत-पूर्व रस-दृष्टि का कोई व्यवस्थित परिचय देना कठिन है। उनसे सूत्र-बद्ध इतिहास नहीं बनता। अतः रस-विवेचन का इतिहास भरत से ही प्रारम्भ किया जाता है। इधर रस के स्वरूप की दार्शनिक दृष्टि से सफल व्याख्या अभिनव के हाथों सम्पन्न होती है। किन्तु हम देखें हैं, अभिनव गुप्त की रस-सम्बन्धिता



मान्यताओं को पूर्ण प्रतिष्ठा मिलने में कुछ समय लग जाता है। जो लोग ध्वनि-विराही थे, वे यह स्वीकार नहीं करना चाहते थे कि रस की व्याख्या व्यञ्जना के बिना हो ही नहीं सकती। और, अभिनव के विवेचन में जितना उनकी दार्शनिक दृष्टि का महत्व था, व्यञ्जना का उससे कुछ कम नहीं था। इन विरोधियों का मुस-मुद्रण अभिनव के लग-भग ५० वर्ष बाद मम्मट के द्वारा हुआ। अतः रस-स्वरूप की प्रतिष्ठा की दृष्टि से हम प्रतिष्ठा-युग को अभिनव की अपेक्षा मम्मट तक मान सकते हैं। ~~आनन्द-वर्धन की इस युग की विभाजक रेखा मम्मट रस रस उसके को विभक्त कर सकते हैं--~~ एक मम्मट-पूर्ववर्ती युग, दूसरा मम्मटोत्तर-वर्ती युग।

मम्मट-पूर्ववर्ती युग में दो प्रकार के विवेचक हमारे सामने आते हैं-- एक तो स्वतन्त्र ग्रन्थ लेखक अलङ्कार-वादी आचार्य हैं, दूसरे भरत-नाट्य-शास्त्र के व्याख्याकार हैं। इस युग में ध्वन्यालोक एक युग-क्रान्ति-कारिणी चेतना उपस्थित करने वाला ग्रन्थ सामने आता है। उसके सिद्धान्तों ने उपर्युक्त दोनों प्रकार के आचार्यों को प्रभावित किया है। दोनों प्रकार के लोगों को अपने दृष्टि-कोणों में परिवर्तन करने के लिए एक प्रकार से बाध्य किया है। उसकी मान्यताओं के सामने आ जाने पर उस युग में फैला हुआ अलङ्कार-वाद एक प्रकार से समाप्त हो जाता है। दूसरी ओर भरत के टीकाकार आचार्य भी रस-स्वरूप पर विचार करते समय अब नाट्य-रस के समान ही काव्य-रस को भी अपनी दृष्टि के सामने रखते प्रतीत होते हैं। रस की दार्शनिक व्याख्याएं भरत के टीकाकारों द्वारा ध्वनि-प्रतिष्ठा से पूर्व से ही प्रारम्भ हो गयी थीं। आनन्द-वर्धन को इस युग की एक विभाजक रेखा स्वीकार करके हम मम्मट-पूर्ववर्ती युग के दो भाग कर सकते हैं-- एक ध्वनि-पूर्ववर्ती, दूसरा ध्वनि-परवर्ती; अर्थात् प्रथम भरत से आनन्द-वर्धन तक, दूसरा आनन्द-वर्धन से मम्मट तक। दोनों उप-विभागों में जैसा कि हमने अभी कहा है, स्वतन्त्र-ग्रन्थ-कार तथा भरत के टीकाकार आचार्यों की दो प्रकार की धाराएं मानी जा सकती हैं। मम्मटोत्तर-वर्ती युग मौलिकता का नहीं, अनुवर्तन का युग है। उसकी सीमाएं मम्मट से पण्डितराज तक निर्धारित की जा सकती हैं। इस प्रकार पृष्ठ-भूमि के प्रस्तुत विवेचन का काल-विभाजन निम्न प्रकार से कर के हम चल सकते हैं:-

१- ध्वन्यालोक के रचयिता कौन हैं ? इस विषय पर विद्वान् एक-मत नहीं हैं। कुछ के अनुसार उसके कारिका तथा वृत्ति-- दोनों भागों के रचयिता आनन्द-वर्धन ही हैं, अन्य विद्वानों के अनुसार कारिकाओं की रचना किन्हीं ध्वनिकार द्वारा हुई, वृत्ति को आनन्द-वर्धन द्वारा। जो भी हो, सिद्धान्त की प्रतिष्ठा आनन्द-वर्धन द्वारा ही होती है। हम यहां पिछला मत मान कर चले हैं। ले०।



१- मम्मट-पूर्ववर्ती युग ----- भरत से मम्मट तक ४००ई०--१०५०ई०

"क" ----- ध्वनि-पूर्ववर्ती युग भरत से आनन्द-वर्धन तक ४००-८५०ई० तक

अलङ्कार-वादी धारा

भरत के टीकाकारों की धारा

भामह लगभग ६००ई०

लौत्लट ८००-८४०ई०

दण्डी " ७००ई०

श्रीशङ्कर ८५०ई०

उद्भट " ८००ई०

-----

वामन " ८००ई०

सांख्य-वादी व्याख्या

रुद्रट ८५०ई०

"ख" ----- ध्वनि-परवर्ती युग आनन्द-वर्धन से मम्मट तक ८५०-१०५०ई० तक

भरत के टीकाकार

स्वतन्त्र ग्रन्थकार

भट्ट नामक ९३५-९८५ई०

धर्मलय एवं धनिक लग० १०००

अभिनव गुप्त १०१५ई०

कुन्तल " १०१५ई०

महिम भट्ट ११वीं शताब्दी

भोज १०१८-१०५८ई०

मम्मट

२- मम्मट-परवर्ती युग ----- मम्मट से पण्डितराज तक १०५०-१७००ई०

रुय्यक ११३५ई०-११५०ई०

वाग्भट ११२५ई०-११४३ई०

हेमचन्द्र ११४०ई०

जयदेव १२००ई०-१२५०ई०



विद्याधर १२८५-१३२५ई०  
 विद्यानाथ १३००-१३२५ई०  
 वाग्भट द्वितीय १४वीं शती  
 विश्वनाथ १३००-१३८०ई०  
 भानुदत्त १५वीं शती मध्य  
 रूप गोस्वामी १४७७-१५५५ई०  
 केशव मिश्र १६वीं शती उत्तरार्ध  
 जयसूर्य दीक्षित १५५४-१६२६ई०

---

पण्डित राज जगन्नाथ १७वीं शती उत्तरार्ध

---

उपर्युक्त काल-विभाजन में प्रमुख-प्रमुख आचार्यों को ही लिया गया है, अन्यथा संस्कृत साहित्य-शास्त्र का इतिहास आचार्यों की नामावली से भरा हुआ है। दूसरी बात यह है कि इन आचार्यों के काल-निर्णय का भगड़ा यहाँ जनावश्यक समझ कर छोड़ दिया गया है। इस विषय के लिए अन्य विद्वानों के निष्कर्षों पर ही आश्रित रखा गया है। विशेष कर डा० पी०वी० काणे के "हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लीटरेचर" को आधार बनाया गया है। किसी आचार्य के काल-निर्णय के शीढ़ा इधर-उधर होने से हमारे विवेचन में विशेष अन्तर पड़ने की सम्भावना नहीं, कारण इस पृष्ठ-भूमि को उपस्थित करने में हम एक भिन्न दृष्टि-कोण अपना कर चल रहे हैं। जहाँ आवश्यक होगा, हम अभीष्ट आचार्य के सम्बन्ध में काल-सम्बन्धित वैकल्पिक मान्यताओं को प्रस्तुत करते चलेंगे।

जब इस काल-विभाजन के आधार पर हम रस-स्वरूप के विभिन्न वैकासिक पद-क्रमों का अवलोकन कर सकते हैं।

---



मम्मट-पूर्ववर्ती युग

भरत से मम्मटश्रवक जानन्द-वर्धन तक

४००ई-८५०ई०

भरत

रस का इतिहास भरत के नाट्य-शास्त्र से प्रारम्भ होता है; कारण, उससे पहिले का कोई सूत्र-बद्ध इतिहास या उत्कृष्ट हस्त-गत नहीं। भारतीय आचार्यों की सुदीर्घ परम्परा भी भरत की ही मूल-प्रमाण मानती चली आयी है। नाट्य-शास्त्र का उपलब्ध स्वरूप चिर-काल की विकसित सम्पत्ति माना जाता है, तथापि उसकी परावधि चतुर्थ शताब्दी से इधर नहीं प्रतीत होती। इस दृष्टि से इस युग की सीमा हम ४००ई० से ८५०ई० जानन्द-वर्धन के समय तक निर्धारित कर सकते हैं।

भरत से पूर्व के आचार्यों ने रस के स्वरूप पर कुछ विवेचनात्मक दृष्टि-पात किया है, यह बात स्वयं भरत के अनुवंश्य श्लोकों तथा कुछ वैकल्पिक विचारों के उपस्थापन से स्पष्ट है।<sup>१</sup> भरत ने अपने पूर्वजों की इन उपलब्धियों का पूर्ण उपयोग किया है।

आज जिस प्रकार यह कहना कठिन है कि वेदान्त-सूत्र के रचयिता भगवान् सादरायण का अपना निजी मन्तव्य क्या था, उसी प्रकार यह कहना भी बड़ा कठिन है कि रस-स्वरूप के विषय में भरत का अपना मन्तव्य क्या है। वेदान्त-सूत्र के भाष्य-कारों के बीच उनका अपना दृष्टि-कोण सी गया है, जो निश्चय ही अपेक्षाकृत सरल रहा होगा; इसी प्रकार भरत की सरल रस-व्याख्या उनके टीकाकारों के बीच विलीन हो गयी है। आज हमें अन्य टीकाकारों तो उपलब्ध नहीं, किन्तु अभिनव गुप्त की टीका ही उनकी सरल मान्यताओं के ऊपर प्रौढ दार्शनिकता का एक मोटा आवरण चढ़ा देती है। हम यहाँ भरत की मान्यताओं को यथासम्भव अभिनव गुप्त की दार्शनिक व्याख्या से अलग रख कर प्रस्तुत करना चाहते हैं।

१- हिस्ट्री आफ़ संस्कृत पौडटिक्स : डा० पी० वी० काणी : पृ० २१।

२- हिस्ट्री आफ़ संस्कृत पौडटिक्स : डा० पी० वी० काणी : पृ० १६-८।



रस-स्वरूप के विवेचन में भरत ने दो आनुवंश श्लोकों की उपस्थिति किया है, जिनमें नाट्य-रस की पाक-रस के निदर्शन पर व्याख्या की गयी है। हम अनुमान कर सकते हैं कि भरत को अपने पूर्वाचार्यों से रस-स्वरूप के विषय में एक अच्छा-खासा विवेचन उपलब्ध हुआ है। श्लोक इस प्रकार हैं :--

"यथा बहुद्रव्ययुतेर्व्यज्जैर्निरुद्धभिर्मुतम् ।

आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः ॥

भावाभिव्यक्तसम्बन्धान् स्थायिभावास्तथा वृषाः ।

आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः ॥ १

इस प्राचीन मान्यता के आधार पर ही भरत ने अपना रस-स्वरूप निम्न शब्दों में पर्यालोचित किया है :--

"तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।

कौ दृष्टान्तः ? अत्राह-- यथा हि नानाव्यञ्जनीषादिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः, तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः । यथा हि गुहादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनीषादिभिश्च आहवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते, तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति । अत्राह -- रस इति कः पदार्थः ? उच्यते-- आस्वाद्यत्वात् ।

क्यमास्वाद्यते रसः ? यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चापिगच्छन्ति, तथा नानाभावाभिव्यञ्जितान् वागदंग-सत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षाकाः हर्षादींश्चापिगच्छन्ति । तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः । २

स्पष्ट है कि भरत की यह रस-व्याख्या उपर्युक्त आनुवंश श्लोकों पर आधारित है। इसमें दो प्रश्नों का समाधान किया गया है :

१- रस की निष्पत्ति कैसे होती है ? अर्थात् रस का स्वरूप क्या है, तथा उसे "रस" कहा क्यों गया ? दिया जाता है ?

२- इस रस का आस्वादन कैसे होता है ?

इन दोनों प्रश्नों के समाधान द्वारा रस के विषय तथा विषयी, दोनों पदार्थों पर प्रकाश पड़ जाता है ।



प्रथम हम भरत-विवेचित रस-स्वरूप की ओर जाते हैं। हम अभी कह चुके हैं कि यह स्वरूप "पाक-रस" के निदर्शन पर निरूपित हुआ है:-

"जिस प्रकार गुड़ आदि द्रव्यों, व्यञ्जनों तथा औषधियों के संयोग से "छाटव" आदि "रस" बन जाते हैं, उसी प्रकार नानाभावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव "रस" रूप की प्राप्ति हो जाते हैं।"

यदि हम भरत के इस रस-सिद्धान्त को समझना चाहते हैं तो हमें उनके द्वारा उपस्थापित इस पाक-रस का स्वरूप समझना होगा।

पाक-रस में भरत हमारे समक्ष चार वस्तुएं करते हैं : गुड़ादि द्रव्य, व्यञ्जन, औषधियां, तथा "छाटव"। गुड़-व्यञ्जन-औषधि के साथ मिल कर छाटव ही रस-रूप में परिणत हो जाते हैं। ये चारों वस्तुएं क्या हैं ?

हम जोदन(भात)या भक्त को विभिन्न चीजों के साथ मिला कर खाते हैं। कोई दाल के साथ, कोई शाक के साथ, कोई दही के साथ उसमें शकर और इलाइची-सोंठ आदि मिला कर व्यञ्जन शब्द से दही, शाक, दाल, मत्स्य जैसी वस्तुएं ही समझी जाती हैं।<sup>१</sup>

१- "छाटव" शब्द की दार्ष्टान्तिक वाक्य के "स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति" शब्दों के वृत्त पर रस-शब्द का विशेषण नहीं माना जा सकता, कर्म-स्थानीय ही मानना पड़ेगा।

२- पाणिनीय सूत्र "व्यञ्जनैरुपसिक्तै" ४।४।२६ की टीका में काशिकाकार ने इसी प्रकार के पदार्थों को "व्यञ्जन" के अन्तर्गत लिया है :

"दध्ना उपसिक्तं दाधिकम्। सौपिकम्। सारिकम्।" काशिका पृ० ३६१।

दही, दाल, चारों अर्थात् छुहारा या छुहारे की सोंठ जैसी वस्तु।

काशिका के टीकाकार कहते हैं उक्त सूत्र से उक् प्रत्यय तभी होता है जब उपसिक्त द्रव्य उपसेचनीय जोदनादि के स्वाद को और निवार दे :

"व्यञ्जनैरुपसिक्तै" जोदनादिषु रसो येन व्यञ्जते।- उपसिक्तः सेचनैः मृदुकृतः।"

काशिका-व्याख्या, पद-मंजरी, उत्तरार्ध, पृ० २०४।

काशिका भी व्यञ्जन शब्द को इन्हीं अर्थों में मानते हैं :

"व्यञ्जनं"--वली०, व्यञ्जते मृक्ष्यते जन्नादि संयोज्यते नैनेति। वि+ञ्ज्+त्युट्। अन्वीयकरणा



यहाँ गुह के साथ हम दही को ही अधिक सम्भावना कर सकते हैं। जोषाधि शब्द से इलाइची, सोंठ जैसे मसाले ले सकते हैं।<sup>१</sup> इस प्रकार गुहादि द्रव्य, दधि जैसे व्यञ्जन, तथा सोंठ, इलाइची, मिर्च जैसे मसालों के साथ मिल कर जोदन या भवत का अपना स्वाद रस-रूप में परिणत हो जाता है।<sup>२</sup>

तत्तु सूपशाकादि। इति राजनिर्घण्टः। तत्पर्यायः - तेमनम्, निष्ठानम्, इत्यमरः। तिमः - इति शब्दरत्नावली।"

शब्दकल्पद्रुम, पृ० ५३०।

"व्यञ्जनं तेमने चिह्ने श्मश्रुष्यवयवे तथा।

निष्ठानं व्यञ्जनमित्यमरः।"

यह व्यंजन या निष्ठान रामायण में भी जाता है, जिसमें मांस-रहित तथा मांस-गुप्त उभय प्रकार के पदार्थ सम्मिलित हैं :

"जायैश्चापि च वाराहैर्निष्ठानवरसंघैः।

फलनिर्ग्रहसंसिद्धैः सूपैर्निघ्नरसान्वितैः॥"

वा० रा० २।११।६७

शाश्वत-कोश : पृ० ४३८ ।

१- "जोषाध्यः फलमाकान्ताः स्युः।"

अमरकोश, २।४।६

वे वनस्पतियां जो फल जाने के बाद सूख जाती हैं, जोषाधि कहलाती हैं, जैसे अनन्, गेहूँ, हरदी, जीरा, सोंफ, धनिया आदि। सामान्यतः इस शब्द से प्रस्तुत प्रसंग में मसालों का वाचक समझा जा सकता है। इस प्रसंग में अभिनव गुप्त ने गोघूम या गेहूँ को भी सम्मिलित किया है, किन्तु यहाँ उसका प्रसंग उचित नहीं। "जोषाध्यश्चिचंवागोघूमदलहरिद्रादयः।"। अ० भा०

पृ० ३८८।

२- यहाँ "जाहव" शब्द के स्थान पर जोदनादिक अन्न का अपना स्वाद लिया गया है। जाहव शब्द का कोश-गत अर्थ है एक गान जिसमें छहों स्वरो का संमिलन रहता है :



जब इस दृष्टान्त को ध्यान में रखते हुए दार्ष्टान्तिक नाट्य-रस की ओर आइए। जिस प्रकार गुडादि विविध प्रकार के द्रव्यों तथा व्यञ्जनों से मिल कर जीदनादि के निजी आस्वाद पाक-रस के रूप में परिणत हो जाते हैं, उसी प्रकार विविध भावों के साथ मिल कर स्थायी भाव भी रस-रूपता की प्राप्ति कर लेते हैं। यहां ध्यान देने की बात यह है कि भरत ने जहां दृष्टान्त पदा की सामग्री में तीन प्रकार की वस्तुओं का उल्लेख किया है, वहां दार्ष्टान्तिक रस में सभी प्रकार की सामग्री के लिए "नानाभाव" शब्द का प्रयोग किया है। रस-रूप के आधार पर हम जानते हैं कि भरत स्थायी भाव से संयुक्त होने वाली इस सामग्री की भी तीन रूपों में

"छाडवः"— पु०, गानम्।—। रागस्य जातिविशेषः, स च षट्स्वरमितित-  
रागरागिण्यी। या—

"जौड्वः पञ्चभिः प्रोक्तः स्वरैः षड्भिस्तु छाडवः।"

सम्पूर्णः सप्तभिर्भोज्य एवं रागस्तिथा मतः॥" इति संगीतदर्पणम्।

शब्दकल्पद्रुम, पु० ।

किन्तु मैदिनी-कोशकार इसे "रस" का वाचक भी मानते हैं :

"रसः - इति मैदिनी।"

शब्दकल्पद्रुम, पु० ।

छाडव गान के साम्य पर इसे पाक-रस के संदर्भ में छहों मधुरादि रसों का मिश्रित रूप मानना चाहिए। अभिनव गुप्त ने इन मधुरादि के परस्पर अभिहित तथा मिश्रित दानों रूपों से "छाडव" को भिन्न माना है :

"छाडवादय इति लोड्डन्धिभ्यः परस्परविविक्तेभ्यो मधुरतिक्त्वन्तवणक्तु-  
कषायेभ्यो मिश्रैभ्यश्च विलीणः छाडवशब्दवाच्यः।" अभि० भा०, पु० २८८।

अभिनव अपने दृष्टिकोण के अनुरूप पाकरस में भी विलीणता का स्मावेश कर देना चाहते हैं। किन्तु संदर्भ पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि भरत छाडव शब्द से विभिन्न जन्न-द्रव्यों के विविध रस लेना चाहते हैं। जानुवंशय श्लोक में दृष्टान्त "भक्त" या जीदन का लिया गया था। भरत अपने दृष्टान्त की जीदन तक ही सीमित नहीं करना चाहते। आप उसकी बगल रोटी-दाल या रोटी-शाक का दृष्टान्त ले सकते हैं। इसी दृष्टि से उन्होंने "जन्न" शब्द का प्रयोग किया है। "नाना व्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुज्जानारसानास्वादयन्ति" पु० २८८



स्वीकार करते हैं : विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारों भावायहाँ नाना भाव के अन्तर्गत इन तानों प्रकार के तत्वों का समावेश है। यह भाव-शब्द का अत्यन्त व्यापक प्रयोग है। आनुवंशिक श्लोक में भी "भाव" शब्द इसी व्यापकता के साथ गृहीत हुआ है। अभिनव भी इस व्यापकता को स्वीकार करते हैं।<sup>१</sup>

"अन्न" शब्द को भी सावधानी से ग्रहण करना चाहिए। परिपक्व रोटी-चावल आदि भोज्य पदार्थ के अर्थ में, न कि कच्चे अनाज के अर्थ में। "अन्न इत्यन्नम्"। वस्तुतः भरत पाक-रस की निष्पत्ति के लिए भोजन-सामग्री को दो भागों में विभक्त कर देते हैं : एक तो चावल-रोटी आदि अन्न-पदार्थ, दूसरे दही-शाक-दाल-मत्स्य आदि पदार्थ जिनके साथ मिला कर हम प्रथम कौटि के पदार्थों का सेवन करते हैं। दूसरी प्रकार के पदार्थ निश्चय ही प्रथम प्रकार के पदार्थों को आस्वाद्य बना देते हैं। और ये प्रथम प्रकार के पदार्थ भिन्न-भिन्न प्रकार के होने के कारण मधुरादि विविध स्वादों के हो सकते हैं। भरत उन्हीं स्वादों के लिए "आहव" शब्द प्रयुक्त कर रहे हैं। उन्हीं सभी स्वादों का मिश्रित रूप अनिवार्यतः अपेक्षित नहीं। दार्ष्टान्तिक में भी तो उन्हीं विभिन्न रसों के लिए भाव-विविधता प्रतिपादित करनी है। दूसरी बात यह कि भरत की दृष्टि नाट्य-रस पर है, जहाँ केवल किसी एक ही स्वादों की सत्ता नहीं होती। एक की प्रधानता के साथ दूसरों का भा विधान होता है। उदाहरण-स्वरूप शृंगार के नाटक में उत्साह-क्रोध-शोकादि के भी स्वतः होते हैं। उनके मिश्रण से भाव-विविधता ही सामने आती है। भरत का "आहव" शब्द उस विविधता को ही अवकाश देता है। इस प्रकार "आहव" शब्द का अर्थ होता है "अन्न" अन्न-रोटी आदि का अपना निजी स्वाद। वही स्वाद भाव का स्वानुभव है जो व्यञ्जनों से मिल कर निररता एवं विशिष्टता प्राप्त करता हुआ पाक-रस के रूप में निष्पन्न हो जाता है।

१-"तथैव नानाभूतैर्विभावोदभिर्लुपसमोप गता - - इत्यादि।"

अभि० भा०, पु० २८८।



"भाव" शब्द को इस व्यापकता के साथ अपनाने का एक विशेष कारण है। भरत "भाव" के अन्तर्गत उन सभी तत्वों को परिगणित करते हैं जो नाट्य में रसों का "भावन" या "वासन" करते हैं, जो नाट्य में रसों को परिब्याप्त कर देते हैं :-

"भावा इति कस्मात् ? किं भवन्तीति भावाः, किं वा भाव्यन्तीति भावाः ?

उच्यते— वागह्० गस्तत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भाव्यन्तीति भावा इति।

"बू इति करणे पातुः, तथा च "भावितं" "वासितं" "कृतमि" "त्वनशान्तिरम्।

लौकेऽपि च प्रसिद्धम्— अहो ह्यनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितम्—इति। तच्च व्याप्यर्थम् ।" १

उदाहरण—स्वरूप जिस प्रकार किसी गन्ध-द्रव्य से कोई वस्त्र या स्थान "वासित" हो उठता है, किसी उसी प्रकार "भावों" के द्वारा काव्यार्थ समस्त नाट्य में परिब्याप्त हो जाते हैं। इस प्रकार भरत के "भाव" का अर्थ है वे सभी वासक तत्व जो नाट्य में रसों का परिब्याप्त करते हैं। इस व्यापक दृष्टि-कोण की परिधि में स्वायी तथा व्यभिचारी के साथ विभाव तथा अनुभाव भी आ जाते हैं।<sup>२</sup>

१- भरत नाट्य-शास्त्र, पृ० ३४४।

२- यद्यपि इस दृष्टि से भावों के वर्गीकरण में स्वायी, संचारी तथा सात्त्विकों के साथ विभाव तथा अनुभाव के दो प्रकार और होने चाहिए, किन्तु भरत ने प्रथम तीन प्रकार के तत्वों की ही भाव-भेद के रूप में दिखाया है:-

"तत्राष्टौ भावाः स्वायिनः, त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणः, शष्ठी सात्त्विका इति भेदाः"

वही, पृ० ३४८।

प्रश्न उठता है, जब सभी समान रूप से "भावक" या "वासक" तत्व हैं, तो फिर विभावों तथा अनुभावों को भाव-भेद के रूप में क्यों नहीं परिगणित करके रसों में शामिल किया गया ? भरत के विवेचन से यह प्रतीत होता है कि उन्होंने विभावों तथा अनुभावों को वासक तत्व मानते हुए भी, रसों से साक्षात् रूप में नहीं, स्वायी तथा संचारी के माध्यम से असाक्षात् रूप में सम्बद्ध किया है। वे यह मानते हैं कि स्वायी तथा संचारी भावों के साधक तत्व तो वस्तुतः विभाव और अनुभाव ही हैं। इस प्रकार विभाव और अनुभावों को स्वायी तथा व्यभिचारी भावों के साधक तत्वों के रूप में अलग कर लेने पर उपर्युक्त तीन प्रकार के ही तत्व "भाव-भेदों" में परिगणित करने के लिए शोण रह जाते हैं। विभाव तथा अनुभावों को स्वायी तथा व्यभिचारियों से इन शब्दों द्वारा सम्बद्ध किया गया है :-



इस प्रकार रस के वासक इन भाव-नामक तत्वों में निम्न चीजें आती हैं :-

१-विभाव, २-अनुभाव, सात्त्विक भाव, अभिचारी भाव, ५-स्थायी भाव।

"एवं ते विभावानुभावसंयुक्ता "भावा" इति व्याख्याताः, अतो ह्येषां भावानां सिद्धिर्भवति। तस्मादेषां भावानां विभावानुभावसंयुक्तानां लक्षणनिदर्शनान्व-  
भिध्याख्यास्यामः।" ना०शा०, पृ० ३४८।

परवर्ती टीकाकार कुछ भी कहे, सप्तम अध्याय में भावों के साथ उन्हीं विभावों तथा अनुभावों का उल्लेख, जिनका षष्ठ अध्याय में रसों के साथ उल्लेख हो चुका था, भरत के शब्दों में इसी लिए हुआ है कि विभावों तथा अनुभावों के बिना स्थायी तथा व्यभिचारियों की सिद्धि ही नहीं। इस प्रकार भरत नाट्य-रस के समस्त वासक या भावक तत्वों को "भाव" कहते हुए भी उनमें से विभाव तथा अनुभावों को अलग कर लेते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि वे जब रस-निष्पत्ति का स्वरूप समझाते हैं तो इन विभाव तथा अनुभाव के तत्वों की प्रमुखता के साथ अपनाते हैं। "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"।

इस प्रकार भरत के भाव अनिवार्यतः चित्तवृत्ति-रूप ही नहीं, जैसा कि अभिनव ने उनकी व्याख्या की है। विभावों तथा अनुभावों के अतिरिक्त, उनमें सात्त्विकों का भी परिगणन है, जो स्पष्टतः शारीर प्रतिक्रियाएँ हैं। अभिनव से पूर्व पुराने आचार्यों ने भरत के इस दृष्टि-कोण को इसी रूप में समझा भी था :-

"अत्र केचिदाहुः - "भावाश्चापि इत्यध्यायादौ "भावानामपि लक्षणम्" इत्यध्या-  
यान्ते च विभावादौनां सर्वेषां साधारण्येन प्रश्नप्रतिज्ञादि। - - -

कथं तु ब्रूमः- भावशब्देन तावच्चित्तवृत्तिविशेषा एव विवक्षिताः। - -"

अभि० भा०, पृ० ३४२।

भावों के साथ ही विभाव तथा अनुभावों के सम्बन्ध में भी भरत का दृष्टि-कोण कुछ भिन्न है। उनकी भी रूप-रेखा शुद्ध अभिनय-परक दृष्टि-कोण से निर्धारित हुई है।

विभाव उत्पादक कारण नहीं, सापेक्ष कारण है। नाट्य में वाचिक, आदि० गक तथा सात्त्विक अभिनय को जनाने वाले तत्त्व विभाव हैं :-

"अथ विभाव इति कस्मात् ? उच्यते-- विभावो विज्ञानार्थः। विभावः, कारणं, निमित्तम्, हेतुरिति पर्यायाः। विभाव्यन्तेऽनेन वागद्व्यंगसत्त्वाभिनया इत्यती विभावः। यथा विभावितं विज्ञातमित्यनर्थान्तरम्।" अभि० भा०, पृ० ३४६।



इनमें सात्त्विक भाव तो अनुभावों का ही एक विशेष रूप समझिए। सामान्य अनुभावों से इनमें इतना ही अन्तर है कि इनके अभिनय में अभिनेता को अनुकार्य की

इसी प्रकार अनुभाव भी वाचिकादि अभिनय का अनुभव कराने वाले तत्त्व हैं :—

"अनुभाव्यतेऽनेन वाग्द० गसत्त्वकृतोऽभिनय इति" वही, पृ० ३४७।

इस प्रकार वाचिक-आदि-गक-सात्त्विक अभिनय का ज्ञान कराने वाले तत्त्व "विभाव" और अनुभावन कराने वाले तत्त्व "अनुभाव" कहलाते हैं। इस सन्दर्भ में दो बातें विशेषतः उल्लेखनीय हैं :—

१-भरत से पूर्ववर्ती आचार्य अभिनय के ज्ञापक या अनुभावक तत्त्वों को इमराः विभाव तथा अनुभाव नहीं कहते थे, अपितु अभिनय वर्ग के ज्ञापक तथा अनुभावक तत्त्वों को कहते थे, जैसा कि आनुवंशिक श्लोकों से विदित है :—

क- "कवोऽर्था विभाव्यन्ते वाग्द० गाभिन्याश्रयाः।

अनेन यस्मात्तेनार्यं विभाव इति संज्ञितः ॥४॥ वही, पृ० ३४७।

ख- "वाग्द० गाभिन्येनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।

शाखाद० गोपाद० गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥५॥ वही, पृ० ३४७।

भरत के लक्षण हैं :—

क- "विभाव्यतेऽनेन वाग्द० गसत्त्वाभिनया इत्यतो विभावः"।

ख- "अनुभाव्यतेऽनेन वाग्द० गसत्त्वकृतोऽभिनय इति"।

जब में शब्द-संकोच अकारण नहीं कहा जा सकता, फिर दोनों के लक्षणों में एक सा परिवर्तन भरत का समझा-बूझा ही कहा जा सकता है। भले ही अभिनय गुप्त ने इन स्थलों की व्याख्या पाण्डित्य-बल से एक-रूप कर दी लगी हो।

२- भरत के इस रूप के विभावों में न तो कोई आलम्बन-उद्दीपन का भगड़ा है, और न ही आलम्बन रूप में किसी चेतन पात्र की अवस्थिति। उदाहरण-स्वरूप शृंगार के विभाव में कुछ कार्य, कुछ परिसंस्थितियाँ आदि ही गिनायी गयी हैं :—

"तत्र सम्भोगस्तावत् कृतुमाप्त्वा नुलेपनालङ्कारवरभवन्तो यमौ पवनगमनानुभवनश्रवणदर्शन-  
क्रीडालीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।" वही, पृ० ३०३।



भावात्मक स्थिति में मन को तत्त्वों के साथ डुबाना पड़ता है, कारण यह है कि इन विकारों का भाव-स्थिति से, अर्थात् मन की सुहृदुःखात्मक दशा से सीधा तथा गहरा लगाव है। तथापि हैं ये अनुभावों के एक विशेष रूप ही।<sup>१</sup> शीघ्र चार में से केवल स्थायी भावों की ही यह शिमता प्राप्त है कि वे रस-रूपता को प्राप्त कर सकते हैं। वासक या भावक तत्त्वों में स्वयं परिगणित होकर भावों के दूसरे तत्त्वों की सहायता प्राप्त कर के "रस"-कोटि तक पहुँच जाते हैं। यह शिमता अन्य प्रकार के वासक तत्त्वों की प्राप्त नहीं, व्यभिचारियों की भी नहीं, भले ही उनमें जातीय साम्य क्यों न हो।<sup>२</sup>

१- "अत्राह- किमन्ये भावाः सत्त्वेन विनाभिनीयन्ते यस्मादुच्यन्ते एते सात्त्विकाः ?"

तात्पर्य यह कि सात्त्विक का लक्षण हुआ—"सत्त्वेनाभिनीयन्ते-इति सात्त्विकाः"।

"इह हि सत्त्वं नाम मनःप्रभवम्। तच्च समाहितमनस्त्वादुच्यते। मनसः समाधौ सत्त्व-निष्पत्तिर्भवति। तस्य च योऽसौ स्वभावो रोमान्वाश्रुवर्णातिवहाणो यथाभावोपगतः, स न शक्योऽन्यमनसा कर्तुमिति। - - - । एतदेवास्य सत्त्वं यत् दुःखितेन सुखितेन वाश्रुरोमान्त्वी दर्शयितव्यौ इति कृत्वा सात्त्विका भावा इत्यभिव्याख्याताः।"

ना०शा०, पृ० ३०४-५

२- "यदिका यैर्यसंभितैर्विभावानुभावव्यन्वितैरेकोनपञ्चाशद्भावैः सामान्यगुणयोगेन अभिनिष्प-  
न्ते रसास्तत्त्वं स्वायिन एव भावा रसत्वमाप्नुवन्ति ? उच्यते- यथा हि समानलक्षणा-  
तुल्यपाणिपादोदरशरीराः समानाङ्गप्रत्यङ्गा अपि पुरुषाः कुलशीलविकाकर्मशिल्प-  
विचक्षणत्वाद् राजत्वमाप्नुवन्ति, तत्रैव चान्येऽल्पबुद्धयस्तेजामेवानुचरा भवन्ति, तथा विभावा-  
नुभावव्यभिचारिणः स्वायिभावानुपाश्रिता भवन्ति। बह्वाश्रयत्वात् स्वाभिभूताः स्वायिनी  
भावाः- - - । परिजनभूता व्यभिचारिणी भावाः ।"

ना०शा०, पृ० ३१९।

"यथा नरेन्द्रो बहुजनपरिवारोऽपि स एव नाम लभते नान्यः समन्तान् पि पुरुषाः, तथा  
विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायी भावो रसनाम लभते।"

ना०शा०, पृ० ३१९।



रस-निष्पत्ति का स्वरूप समझाने के लिए भरत उर्ध्वरुक्त चारों तत्वों को दो वर्गों में बांट देते हैं: एक भावक या वासक, दूसरे भाव्य या वास्य। हम अभी कह चुके हैं कि भरत के अनुसार भाव्य या वास्य केवल स्वायी भाव ही है, शेष तीन विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी वास्तविक भावक तत्व हैं। जिस प्रकार गुहादि द्रव्यों, दधि आदि व्यञ्जनों, तथा सोंठ-मिर्च आदि मसालों या ओषधियों के संयोग से औदनादि के अपने जाहवादि स्वाद-विशेष ही निखर कर रस बन जाते हैं, उसी प्रकार उर्ध्वरुक्त विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी के संयोग से स्वायी भाव रस-रूप में निष्पन्न हो जाते हैं।

"यथा हि गुहादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरौषधिभिश्च जाहवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते, तथा ज्ञानाभावोपगता अपि स्वायिनो भावा रसत्कमाप्नुवन्ति।" ना०शा०, पृ० ३८८।

पाक-रस के दृष्टान्त पर की हुई इस रस-व्याख्या से कुछ विशिष्ट तथ्य हमारे सामने आते हैं :--

- १- भरत की रस-निष्पत्ति रस की एक वस्तु-वादी व्याख्या है। उसमें पाक-रस के समान नाट्य-रस की व्याख्या की गयी है।
- २- भरत की रस-निष्पत्ति रसोत्पत्ति की समझती है। अर्थात् विभिन्न द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न पाक-रस के समान भरत विभिन्न सामग्री से उत्पन्न नाट्य-रस का स्वरूप अपने निष्पत्ति-विवेचन में प्रस्तुत करते हैं।
- ३- भरत का दृष्टि-कोण शुद्ध अभिनय-परक है। उनकी रस-निष्पत्ति नाट्य-गत रस की व्याख्या है। निष्पन्न पाक-रस के समान नाट्य-रस भी श्रेष्ठ अभिनय के किसी एक स्वतन्त्र-विशेष पर केन्द्रित नहीं। वासक तत्वों से समस्त नाट्य में परिब्याप्त है। उसका विवेचन करते समय काव्य के पद्य रूप को नहीं रखा गया, मुक्तक को तो और भी नहीं।

अब हम रस के आस्वादन की ओर आते हैं। भरत का निष्पन्न नाट्य-रस सद्बुद्ध-निरपेक्ष नहीं, यह हम पाँच शक्त पा चुके हैं। रस-निष्पत्ति के नाम से रस की वस्तु-पदार्थ व्याख्या के अनन्तर भरत उसके विषय की पक्षा की ओर आते हैं :--

- 
- १- भरत ने सभी रसों का विवेचन "उत्पत्ति" या उसके पर्यायवाची शब्दों से किया है। उदाहरणस्वरूप शृंगार का : तत्र सम्भोगस्तावत् - - - विभावैरुत्पद्यते। पृ० ३०३, हास्य का - - "स च विकृत - - तदिभिर्विभावैरुत्पद्यते।" पृ० ३१२-३।



"कथमास्वाप्ते रसः ? यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुज्जाना रसानास्वादयन्ति  
सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, तथा नानाभावाभिव्यञ्जितान् स्वायिभावान्  
वाग्दुःखसत्त्वोपेतान् स्वायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।"

प्रश्न उठाया गया है : रस का आस्वादन कैसे होता है ? उत्तर वही  
पाक-रस के आस्वादन की सामने रख कर दिया गया है। जिस प्रकार विविध व्यञ्जनादिक से  
संस्कृत भोज्य का उपभोग करने वाले प्रसन्नचित्त पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं, तथा  
हर्षादि की प्राप्ति करते हैं, उसी प्रकार निर्मलमना प्रेक्षक भी नाट्य-रसों का आस्वादन  
करते हैं तथा हर्षादि की प्राप्ति करते हैं।

इस आस्वादन प्रकार के विवेचन से निम्न बातों की ओर हमारा ध्यान  
आकृष्ट होता है :-

- १- उपभोक्ता जिस प्रकार भोज्य-वस्तु-गत रस का आस्वादन करता है, उसी प्रकार प्रेक्षक भी  
नाट्य-गत निष्पन्न रस का आस्वादन करता है।
- २- पाक-रस के आस्वादन से हर्ष-प्राप्ति के लिए जिस प्रकार उपभोक्ता का मनःप्रसाद  
आवश्यक है, वैसे-भोगी मन सुस्वादु भोजन से भी प्रसन्नता-लाभ नहीं कर सकता, उसी  
प्रकार नाट्य-रस के आस्वादन से भी हर्ष-लाभ के लिए प्रेक्षक का "सुमनस" होना अपेक्षा  
है। भरत सामाजिक में एक विशेष योग्यता को अपेक्षा रखते हैं।
- ३- रसों का आस्वादन एक बात है, हर्षादि की प्राप्ति दूसरी। प्रथम कारण है, दूसरी कार्य या  
फल। "रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।"
- ४- प्रेक्षक हर्षादि की प्राप्ति करता है। भरत हर्ष-मात्र की प्राप्ति करना नहीं कहते। जिस  
प्रकार भोज्य पदार्थ में विविध रस होने के कारण, उनकी मधुरता-तिव्रता के कारण,  
फल-रूप अनुभूति विविध हो सकती है, किन्तु उस समस्त अनुभव में हर्ष ही ऊपर कहा  
जा सकता है; उसी प्रकार नाट्य-रसों के आस्वादन में रति के, शोक के, हास के, विस्मय के  
विविध प्रसंग आते हैं। उनमें प्रेक्षक को विविध प्रकार के सुख-दुःख-मय अनुभव हो सकते हैं।  
हाँ, उन सबमें हर्ष ही ऊपर कहा जा सकता है। भरत रसास्वादन-जन्य अनुभव की परवर्ती  
दार्शनिक व्याख्याकारों के समान केवल आनन्दात्मक नहीं कहते।
- ५- रसास्वाद-जन्य हर्षादि की कोई दार्शनिक व्याख्या भरत ने प्रस्तुत नहीं की। आनुवंशिक  
श्लोकों के आधार पर हम कह सकते हैं कि भरत इस हर्षादि की मनोमय कोश के क्षेत्र में  
समर्थ हैं। पाक-रस का आस्वादन जिस प्रकार रस-इन्द्रिय से होती है, इन हर्षादि की



अनुभूति भी मानसेन्द्रिय से होती है :-

"आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाद्वयरसाः स्मृताः॥" १

६- रसों का आस्वादन एक मानसिक क्रिया है। इस दृष्टि से भी वह एक मनोमय-कोश-  
कीर्मीय अनुभूति ठहरता है।

अब तक हमने परवर्ती टोकाकारों से पृथक् कर के भरत के मूल शास्त्रों के आधार पर उनके रस-सिद्धान्त की समझने का प्रयत्न किया है। हमने देखा है, भरत का रस दार्शनिक उलझनों से दूर, सीधा एवं सरल रूप लिए हुए है, भले ही वह हमारी आज की विविध विज्ञानियों को शान्त न करता है। उनकी रस-निष्पत्ति वस्तु-परक रस की उत्पत्ति-परक व्याख्या है, जो यद्यपि विषयि-महा से निरपेक्षा तो नहीं, किन्तु इस पक्ष की दार्शनिक पेचोदगियों से दूर अवश्य कही जा सकती है। हम यदि अनिवार्यतः किसी दर्शन के अनुरूप उसे सपाना ही चाहें तो न्याय-वैशेषिक जैसे वस्तु-वादी दर्शन के सिद्धान्तों के साथ उसे रखना चाहिए। भरत ने रसों तथा उनकी सामग्रियों का विवेचन लोक की यथार्थ भूमि पर रस कर दिया है। यथार्थ भूमि पर आपृत होने के कारण तथा वस्तु-परक के विस्तृत विवेचन के कारण भरत का नाट्य-रस उतना "आवृत्तिस्तिष्ठक" (भाव-वादी) नहीं, जितना अभिनव गुप्त का। वह उतना अलौकिक नहीं जितना अभिनव गुप्त का। उसमें गति दार्शनिकता के अभाव के कारण अभिनव गुप्त का अपेक्षा रहस्य की गुंजाइश बहुत कम है।

अब हम भरत से लेकर ध्वनि-पूर्ववर्ती उन अलंकारवादों आचार्यों की ओर जा सकते हैं, जिन्होंने वस्तुतः अपने ग्रन्थों का निर्माण ही पद्य काव्य की दृष्टि में रस कर दिया था। ये आचार्य यद्यपि काव्य के मूल मारुत्व की अलंकारों में खोजते थे, किन्तु तथापि रस की महत्ता से भी एकदम अपरिचित न थे।

१- ना०शा०, पृ० २९०।

२- रङ्गार, रौद्र, वीर तथा अद्भुत चार मूल रसों सेहास्य, करुण, अद्भुत तथा भयानक चार फल-रूप रसों की उत्पत्ति वस्तु-परक दृष्टि से ही अधिक सम्यक्सतया व्याख्यात हो सकती है। देखिए- ना०शा०, पृ० २९५-८ भा० १।

हास्य के आत्मस्व तथा परस्व भेदों की व्याख्या भी इसी दृष्टि से सुझात हो सकती है।

देखिए- ना०शा०, भा० १, पृ० ३१३।



### अलङ्कार-वादी धारा

भरत से लेकर ध्वनि-पूर्वाय इन अलङ्कार-वादी आचार्यों के वर्ग में ५ प्रमुख नाम आते हैं : भामह, दण्डी, उद्भट, वामन एवं रुद्रट। इन सभी आचार्यों की आचार्य-चेतना यद्यपि समान नहीं है, तथापि रस के प्रति गौण तथा अलङ्कारों के प्रति विशिष्ट दृष्टि-कोण अपनाने के कारण इन्हें एक वर्ग में रखा जा सकता है। इन का अलङ्कार-वाद भी समान नहीं। उदाहरण-स्वरूप भामह एवं वामन लिये जा सकते हैं। इसी प्रकार रुद्रट की चेतना ध्वनि के सैद्धान्तिक पक्ष से अपरिचित होते हुए भी पर्याप्त विकसित कही जा सकती है। हम यहाँ संक्षेप में इन की रस-चेतना का स्वरूप प्रस्तुत करना चाहते हैं।

#### भामह

जिस प्रकार भरत का दृष्टि-कोण अभिनय-परक है, उसी प्रकार भामह का पद्य-काव्य-परक। यद्यपि वे काव्य शब्द को व्यापक अर्थ में अपनाने हैं, जिसमें गद्य-भेद आख्यायिका एवं कथा, केषवक्षिचिन्मत् तथा पद्य-भेद प्रबन्ध एवं मुक्तक के अतिरिक्त दृश्य-काव्य भी आता है;<sup>१</sup> तथापि वे उसके विवेचन की अलग हो रचना चाहते हैं। दूसरों ने उसे विस्तार के साथ दिखा हो दिया है, इतना कह कर वे सन्तोष प्राप्त कर लेते हैं।<sup>२</sup> महाकाव्य में जहाँ सर्वाङ्गता, शब्द तथा अर्थ का सौष्टव, सदलङ्कारता, पञ्चसन्धिसंगठन आदि अपेक्षित हैं, वहाँ समस्त रसों का विधान भी।<sup>३</sup> इस प्रकार वे रस के आकर्षण से तो अपरिचित नहीं, किन्तु अभिनेय काव्य में रस का जो स्वरूप है, वही, उसी रूप में पद्य काव्य में भी सम्भव है, यह उनकी चेतना में नहीं। रंग-मंचीय रसोदय के लिए भरत ने विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारों भावों की योजना की व्यवस्था की थी। जब काव्याचार्यों ने भरत से प्रेरणा लेकर काव्य में रसोत्पत्ति की ओर ध्यान दिया, तो उस वस्तुन्मुख उत्पत्तिवादी युग में प्रायः यही पर्याप्त समझा गया कि काव्य में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारियों का वर्णन कर देने पर रसोत्पत्ति हो सकती है। किन्तु भामह का दृष्टि-कोण इस मान्यता से भी भिन्न प्रतीत होता है।

१-सर्वान्यो गद्यकाव्यमभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथौ।

अनिबर्धं च काव्यादि तत्पुनः पञ्चोच्चते।। भामहः काव्यालङ्कारः १।१८

२-नाटकं द्विपदी-शाम्बारासकस्कन्धकादि यत्।

उक्तं तदभिनेयार्थमुक्तोन्त्यैस्तस्य विस्तरः।। " " १।२९

३-युक्तं लोकस्वभावेन रसश्च सकलैः पृथक्। वही, १।१२१



भामह रस को अलंकार-चारुत्व में अन्तर्भूत करते हुए "रसवदलङ्कार" कहते हैं।<sup>१</sup> केवल विभाव-विधान में ही रस-वद् अलङ्कार मान लेते हैं। उनका रसवद् का स्वरूप यह है:-

"रसवद् दशितस्पष्टशृङ्गारादिरौदयम्।

देवी समागमद् धर्ममस्करिण्यतिरोहिता॥ " १

भामह के अनुसार रसवद् अलङ्कार वहाँ होता है वहाँ शृङ्गारादि रसों की स्पष्ट रूप में उत्पत्ति रहती है। देखिए उदाहरण— धर्मदण्ड की धारणा किसे हुए देवी बिना किसी पर्दे आदि के आयी।

इस उदाहरण पर थोड़ा विचार कीजिए। फिर भामह के वक्तव्य का स्वरूप आंखिए। न कोई आश्रय, न कोई संचारी, न कोई अनुभाव, और न ही कोई उद्दीपन का बोझ। स्पष्ट-रूप में, साफ़-साफ़ लक्ष्यों में, आपने अतिरोहिता देवी के आने की बात कह दी, केवल विभाव का वर्णन कर दिया और हो गया शृङ्गार रस।

भामह का यह दृष्टि-कोण भरत-विरोधी था। भरत के अनुसार विभाव-अनुभाव-व्यञ्जि-चारों तीनों का वर्णन अपेक्षित होता। भामह ने केवल विभाव-विधान में ही रसोत्पत्ति की सम्भावना मानी। वे पण्डितराज के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जो केवल भाव्यमान विभाव को ही रस कहता था। पण्डितराज इस वर्ग के भरत-विरोधी स्वरूप से परिचित है,<sup>२</sup> हम यह कह चुके हैं।

भामह का दृष्टि-कोण भी वस्तु-वादी है। इस के फल-स्वरूप उनके प्रेमसू तथा ऊर्जस्वि अलङ्कारों का स्वरूप भी परवर्ती मान्यता से बहुत कुछ भिन्न है। रसवद् के समान ही, किसी प्रिय बात के कथन में "प्रेम", तथा शान्तिमयी बात के कथन में "ऊर्जस्वि" अलङ्कार कहा है।<sup>३</sup> जिस युग में नाट्य-रस की वस्तु-वादी दृष्टि से अपनाया जा रहा हो, उस युग में काव्यमय विचार करने वाला आचार्य भी वस्तुवादी रहे, यही आशा अधिक की जा सकती है।

रस की स्पष्ट-दशित मानना उसे वाच्य-कोटि में रख देना है। भामह का यह पक्ष व्यञ्जना-विरोधी है। सहृदय की अनुभूति-सम्बन्धी विजयिष्पदा की समस्याओं को गूँथा रखना तथा रस की उत्पत्ति-वादी व्याख्या सामने करना उनमें युग-छाया के अनुरूप है। केवल विभाव-वर्णन में रसोदय मानना भरत-विपरीत है। रस को अलङ्कारों में अन्तर्भूत करना उन्हें रस-वादी परम्परा से अलग करके अलङ्कार-वादी बनाता है।

१-भामहः काव्या०, ३।६।

२-"भाव्यमानो विभाव एव रसः" इत्यन्ये। रस० गं०, पृ० २८

३-रस० तदेव पर्यवसितस्त्रिषु मतेषु सूत्रविरोधात् रस० गं०, पृ० २८। ४-अग्रिम पृष्ठ पर



## दण्डी

भामह को जहाँ भरत-विरोधी तथा ध्वनि-विपरीत कहा जा सकता है, वहाँ दण्डी भरत-विरोधी नहीं। ध्वनि की उपलब्धियों से अपरिचय स्वाभाविक ही था।

दण्डी की रस-चेतना भामह की अपेक्षा बहुत जागरूक है। वे एक आचार्य ही नहीं, एक रस-सिद्ध कवि भी थे। फिर भी दण्डी भामह के समान ही रस की रस-वदलहंकार के रूप में देख सके, उसे स्वतन्त्र स्वान नहीं दे सके। वे भामह के समान ही पद्य काव्य के आचार्य हैं। नाटकादि की काव्य की परिधि में गिनते हुए भी काव्य का प्रकृत क्षेत्र श्रव्य की ही मानते हैं। "मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तरः" यह उनकी भाँ प्रक्रिया है।

दण्डी के अनुसार काव्य के दो मार्ग हैं- वैदर्भ तथा गौड़। उन्हें इनमें प्रथम ही दृष्ट है। वैदर्भ मार्ग में श्लेष, प्रसाद, समता आदि १० गुण उसके प्राणरूप हैं। इनमें मधुर गुण का सम्बन्ध रसों से है।<sup>३</sup>

दण्डी की रस-चेतना दो रूपों में विभक्त है :

- १- एक तो दण्डी रस की काव्यानन्द के व्यापक अर्थ में समझते हैं। यह रस शब्द तथा अर्थ, भाषा तथा विषय, दोनों में रहता है। "वाचि वस्तुन्यपि रसः स्थितः"<sup>४</sup>
- २- इतना ही नहीं, प्रत्येक अलहंकार "रस-सिक्चन" की कामता रखता है।

"कामं सर्वोऽप्यलहंकारो रसमर्थे निष्पिञ्चति"<sup>५</sup>।

तथापि इस रस-निष्पेक्ष का सर्वाधिक भार "अप्राप्यता" के ऊपर, अर्थ एवं उक्ति के परिमार्जन के ऊपर रहता है: "तथाप्यप्राप्यतेविमं भारं वहति भूमता।"<sup>६</sup>

- २- दूसरे दण्डी विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी से परिपुष्ट स्वाध्यायी की रस कहते हैं। जहाँ तक एक कवि की चेतना का सम्बन्ध है, उनके रस के उदाहरणों में रस-सामग्री का सफल निर्वह है। रसवदलहंकार के प्रसङ्ग में विभावानुभाव तथा व्यभिचारियों द्वारा स्वाध्यायी की व्यञ्जना-परक उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किये हैं। परन्तु उनकी आचार्य-चेतना यह नहीं जानती कि उनके अपने उदाहरणों में रस 'व्यञ्जित' हो रहा है। फिर भी, विभावादि-सामग्री के द्वारा स्वाध्यायी चरम कौटि तक परिपुष्ट हो कर रस बन जाते हैं, भरत के इस सिद्धान्त को उन्होंने स्पष्ट स्वीकृति दी है।

गत पृष्ठ का संदर्भ ४- प्रेयो गृहागतं कृष्णमवादीद्विदुरो यथा।

"अर्थ यो मम गाविन्द जाता त्वयि गृहागते।

कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः।

भामहः काव्या०, ३।५

ऊर्जस्वि कूर्जन् यथा- पाथ्य पुनरागतः।

"द्विसंस्थाति किं कर्णः शल्य" त्वहिरपाकृतः।। "



शृंगार रसवद् की मीमांसा करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि विभावादि-समग्री की प्रचुरता ही स्थायी भावों की रस-कोटि तक पहुँचा देती है।<sup>१</sup>

दण्डी के इस रसवद् के स्वरूप में भरत तथा भामह दोनों का योग-दान परिलक्षित होता है। साथ ही उसका संघटन युग-चेतना के अनुरूप संशोधित हुआ है। इन प्रभावों का विश्लेषण निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :-

गत पृष्ठ के संदर्भ :

१- दण्डी : काव्यादर्श : १।३१

२- "अस्त्यनैको गिरां मार्गः सूक्ष्मभिदः परस्परम्।

ता वैदर्भगीहीयी वर्ण्यैत प्रस्फुटान्तरी॥ वही, १।४०

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।

अर्थव्यक्तितरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः॥ १।४१

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः ॥ १।४२

३- मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसः स्थितः।

येन माधन्ति भीमन्तो मधुनेव मधुवृताः ॥ वही, १।५१

४- वही, १।५१

५- वही, १।६२

६- वही, १।६२

१- क- "इत्यारुह्य परां कोटिं द्रौघो रौद्रात्मतां गतः॥" वही, १।२२३

ख- "इत्युत्साहः प्रकृष्टात्मा तिष्ठन् वीररसात्मना।

रसवत्त्वं गिरामासां स्मर्यमितुमीश्वरः॥" " , २।२८५

ग- "इति कारुण्यमुद्रितमलङ्कारत्वा स्थितः॥" " , २।२८७

"मृतेति प्रेति संगन्तुं यथा मे मरणं मतम्।

सैवावन्तो मया लब्धा कथमेव नृन्ममि ॥

प्राक्प्रतीतिदर्शिता सैव रतिः शृङ्गारतां गता।

रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद्भनः॥"

" , २।२८०-२



भरत का प्रभाव- दण्डी भरत के समान ही विभावानुभाव्यभिचारी-रूप सामग्री की प्रचुरता से परिपुष्ट स्वाध्यायी को रस कहते हैं। भामह के समान वे केवल-विभाव-वादी नहीं।

भामह का प्रभाव- दण्डी भामह के समान ही रस को रसवदलहंकार के अन्तर्गत रखते हैं। भरत के रस को अधिक जागरूकता से ग्रहण करके भी वे उसके लिए स्वतन्त्र स्थान नहीं बना सके।

युग-चेतना का प्रभाव- व्यञ्जना के अपरिचय के कारण दण्डी अपने युग से भिन्न नहीं हो पाते। उनका दृष्टि-कोण भी वस्तु-परक तथा उत्पत्ति-वादी है। भामह का उत्पत्ति-वाद सामग्री की असमग्रता में था, दण्डी का समग्रता में। अभिनव गुप्त ने भी इस दृष्टि, से दण्डी तथा लीलतट की एक ही वर्ग में रखा है।<sup>१</sup>

व्यञ्जना का अपरिचय, रस को काव्य-गत मानते हुए उसको वस्तु-वादी व्याख्या, सहृदय की अनुभूति की उपेक्षा, उत्पत्ति-परक दृष्टि आदि बातें भामह तथा दण्डी दोनों में समान हैं। तथापि दोनों को रस-चेतना में पर्याप्त अन्तर है। रस को रसवदलहंकार कहते हुए भी एक उसे भरत की विपरीत दिशा में सूचता है, दूसरा भरत की परम्परा में। एक की कवि-चेतना सुप्त है, दूसरे की जागेरू। एक भरत-विरोधी ही नहीं, ध्वनि-विरोधी भी है; दूसरा ध्वनि को उपलब्धियों से अपरिचित-मात्र।

### उद्भट

उद्भट का व्यक्तित्व भरत एवं भामह दोनों से प्रभावित था। उन्होंने एक ओर तो भरत नाट्य-शास्त्र पर टीका लिखी थी, दूसरी ओर भामह के काव्यालहंकार पर "भामह-विवरणा"।<sup>२</sup>

उद्भट ने अपने युग के अनुरूप ही रस की उत्पत्ति मानी है :-

"रसवद् दर्शितस्पर्शशृंगारादिरसोदयम्"।<sup>३</sup>

यही मान्यता भामह की थी। उक्त्युक्त कारिकांश भामह से ही लिया गया है।

१-"चिरन्तनानां चायमेव मलाः। तथाहि दण्डिना स्वालहंकारतयाणे भवामि-"रतिः शृंगारतां गतापुद्गलवाहुत्ययोगेने"ति, "इत्यारुह्य परां कोटिं कोपी रौद्रात्मतां गतः"इत्यादि च अभि० भा०, भा० १, पृ० २७४।

"तेन स्वायमेव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः" लीलतट का मत, अभि० भा०, भा० १, २- उद्भटः काव्यालहंकारसारसंग्रहः ४।४ पृ० २८२।



रस के विषय में उद्भट ने भरत तथा भामह के बीच किस प्रकार सामंजस्य बिठाया होगा, इसका ठीक ठीक पता तो अभी चलता, जब उद्भट की दोनों मूल कृतियाँ हमारे सामने होतीं। किन्तु उस सामंजस्य की रूप-रेखा हमें काव्यालङ्कार-सार-संग्रह में कुछ-कुछ दिखायी पड़ती है। भामह के आग्रह में भरत की प्रेरणाएँ कितनी घुंघली रह गयी हैं, यह वहाँ देखने को मिल जाता है। उद्भट रसवदलङ्कार को इन शब्दों में रखते हैं :-

"रसवद् दर्शितस्फष्टशृंगारादिरसोदयम्।

स्वशब्दस्यायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्।" ?

उद्भट भामह के समान ही रस की उत्पत्ति मानते हुए, उसके लिए ५ बातें सामने रखते हैं :-

- |                                     |                          |
|-------------------------------------|--------------------------|
| १- रस का स्व-शब्द से अभिधान,        | २- स्थायि-भाव का निरूपण, |
| ३- संचारी भावों का विधान,           | ४- विभावों का संविधान,   |
| ५- अभिनय अर्थात् अनुभावों की योजना। |                          |

उद्भट ने भामह के पद्य-काव्य-परक दृष्टि-कोण को सामने रख कर, काव्य में रसोदय के लिए भरत की सामग्री को स्थान दिया है। शब्दों के रंग-मंच पर रसों का स्व-शब्द से अभिधान भी "रसोदय" करा देगा, यह उस उत्पत्ति-वादी युग की अभिधा-परक मान्यता थी। पीछे व्यञ्जना-वादियों को उसके निराकरण के लिए बड़ा श्रम करना पड़ा था।

उद्भट की इस मान्यता में हम भरत, भामह तथा युग-तत्त्वों का इस प्रकार विश्लेषण कर सकते हैं :-

- |                 |   |
|-----------------|---|
| भरत का प्रभाव-  | विभाव, अनुभाव, संचारी तथा स्थायियों का समावेश।  |
|                 | रस दृष्टि से उद्भट भामह को जैसा दण्डी के अधिक पास है।   |
| भामह का प्रभाव- | रस की रसवदलङ्कार मानना, रस का स्पष्ट उदय मानना।   |
|                 | रस की अभिधेयता की प्रेरणा उन्हें भामहके "दर्शितस्फष्ट- -रसोदयम्" शब्दों से मिली प्रतीत होती है।                   |
| युग-तत्त्व-     | उत्पत्ति-वादी दृष्टि, रस की अभिधेयता, सद्ब्रह्म की अनुभूति की अवहेलना, व्यञ्जना का अपरिचय, वस्तु-वादी दृष्टि-कोण। |



## वामन

नवम शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में थोड़ा जागे-पीछे काव्य-शास्त्रीय साधना करने वाले ४ नाम हमारे सामने आते हैं: उद्भट, वामन, लोल्लट एवं शंकु। वामन काव्य-मात्र के जाचाब हैं, लोल्लट तथा शंकु भरत के ट. काकार; उद्भट का योग दोनों और है। अभिनव के विवेचन के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि उद्भट, वामन, लोल्लट, शंकु क्रमशः समकालिक परवर्ती थे। अतः इन जाचार्यों के प्रयास रस-विवेचन के इतिहास में विकास-परम्परा की अपेक्षा समकालिक स्फुरणार्णों की अधिक सूचना देते हैं।

दण्डी के विवेचन में गुणों की पर्याप्त स्थान मिल चुका था। उन्होंने वैदर्भ तथा गौड़ मार्गों के रूप में रीति-सम्प्रदाय के मूल तत्वों को प्रस्तुत कर दिया था। किन्तु उनके विवेचन की सबसे बड़ी दुर्बलता यह थी कि वे अपनी मान्यताओं में अभीष्ट सामंजस्य स्थापित नहीं बिठा सके थे। रीतियों की गुणों से सम्बद्ध करते हुए एक ओर तो वे रस की मायुर्य-गुण से जोड़ रहे थे, दूसरी ओर उसे रसवदलहंकार के रूप में स्वीकार कर रहे थे। एक ओर वे भामह की परम्परा में थे, दूसरी ओर भरत की में। उन्हें चाहिए था कि वे वैदर्भ मार्ग के प्राण-भूत गुणों के साथ रस का सम्बन्ध स्थापित करके उसे जलहंकार-क्षेत्र से बाहर निकाल दें। वामन को दण्डी की यह कमी सटकी। उन्होंने सबसे महत्वपूर्ण कार्य यही किया कि इस अव्यवस्था को दूर करने का प्रयास किया। ऐसी रीति को उन्होंने काव्य की आत्मा कहा जो विभिन्न गुणों से विशिष्ट थी, और इन्हीं गुणों में से एक "कान्ति" नामक गुण से रस का सम्बन्ध था। वामन ने दण्डी का ढांचा लेकर उसका परिमार्जन किया। दण्डी ने केवल दो माग माने थे, वामन ने तीन, ये जाते तो स्थूल हैं।

रस के स्वरूप के सम्बन्ध में वामन भरत-परम्परा में ही पड़ते हैं। वे दण्डी के समान ही काव्य की परिधि श्रव्य तथा दृश्य दोनों तक ही मानते हुए भी दण्डी के समान दृश्य-काव्य की ओर उपेक्षा-दृष्टि नहीं रखते, उसे ही काव्य का श्रेष्ठ पदा समझते हैं। इन जगों में वे दण्डी से भी अधिक भरत-वादी हैं।

- १- "रीतिरात्मा काव्यस्य", "विशिष्टा पदरचना रीतिः", "विशेषो गुणात्मा", "सा जेधा, वैदर्भी गीर्गो पांचाला चेति", "समग्रगुणोपेता वैदर्भी", "जीवः प्रसाद- - कान्त्यो वन्धगुणाः", "त एवार्थगुणाः", "दीप्तरसत्वे कान्तिः", । वामनः काव्यालहंकारसूत्रः सूत्र १।२।६, ७, ८, ९, ११, १३।१।४, ३।२।१, ३।२।१५, ।  
 "दीप्ता रसाः शृंगारादयो यस्य स दीप्तरसः, तस्य भावो दीप्तरसत्वम्"  
 २- सन्दर्भेण दशरूपकं श्रेयः" वही, सू. १।३।३ वृत्ति, सू. ३।२।१५।







## समीक्षा

अब तक हमने भरत-परवर्ती ध्वनि-पूर्वीय अलङ्कार-वादी आचार्यों की रस-चेतना का अवलोकन किया है। इन आचार्यों का दृष्टि-कोण पद्य-काव्य-परक रहा है। ये रस का प्रकृत क्षेत्र अभिनव को ही मान कर चले हैं, तथापि काव्य में भी रस की महत्ता स्वीकार करते हैं। फिर, भी उसे स्वतन्त्र स्थान नहीं दे पाते। भरत की वस्तु-परक उत्पत्ति-वादी दृष्टि ही इनमें अक्षुण्ण रही है। ज्वंजना से ये सभी अपरिचित हैं। भरत-प्रतिपादित रस-सामग्री को काव्य में संघटित कर देने में ही रसोदय की सम्भावना करते हैं। सहृदय की अनुभूति के विष्णु-परक पक्ष पर ये दृष्टि नहीं से जाते, फलतः न तो इन्हें मनोवैज्ञानिक प्रश्नों का सामना करना पड़ता है, न ही दार्शनिक गुणित्वों में उलझना पड़ता है। विवेचन की मात्रा की दृष्टि से रुद्रट की छोड़ शेष रस की उपेक्षा सी ही करते हैं। काव्य के मूल चारुत्व को ये लोग अलङ्कार, गुण जैसे तत्वों में खोजते हैं। रस-विवेचन के इतिहास में उसकी मौलिक समस्याओं के सम्बन्ध में इनका योग-दान नगण्य है। सबसे बड़ी कमी यह है कि रस के सन्दर्भ में इनकी कोई दार्शनिक भित्ति नहीं।

अब हम इसी युग की दूसरी धारा की ओर जा सकते हैं। यह धारा है भरत के टीकाकारों की।

## ध्वनि-पूर्ववर्ती भरत के टीकाकार

रस की समस्या पर वास्तविक विचार करने का अवसर भरत के व्याख्याकारों को ही मिला। यों तो अभिनव गुप्त के द्वारा हमें नाट्य शास्त्र के अनेक टीकाकारों की सूचना मिलती है, किन्तु रस-स्वरूप के विषय में अभिनव ने अपने विवेचन से पूर्व रस की चार व्याख्याएँ और प्रस्तुत की हैं। इनमें एक लोल्लट की व्याख्या है, दूसरी श्रीशङ्क की, तीसरी एक सांख्य-वादी व्याख्या है, चौथी भट्ट नायक की। इनमें भट्ट नायक तो ध्वनि-परवर्ती आचार्य हैं। सांख्य-वादी व्याख्या भी ध्वनि की उपलब्धियों से अपरिचित प्रतीत होती है। अतः ध्वनि-पूर्वीय व्याख्याओं में शेष तीनों की हम रस सकते हैं। हम कह चुके हैं कि ध्वनि-सिद्धान्त को उद्भावना ने काव्य-शास्त्रीय चिन्तन को एक विशेष मोड़ दी है, अतः उस को एक विभाजक रेखा मान कर हम यहाँ चले हैं। यहाँ लोल्लट, शङ्क तथा सांख्यानुरागी मतों पर क्रमशः विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।



## लोल्लट

लोल्लट एक उत्पत्ति-वादी आचार्य है, तथा अपने पूर्व लगभग ५०० वर्ष से चली जाती हुई एक विचार-परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। रस की उत्पत्तिवादिता के बड़े स्पष्ट सूत्र हम स्वयं भरत में देख चुके हैं। भामह, दण्डी, उद्दट में उत्पत्तिवाद की ही परम्परा अक्षुण्ण रही। लोल्लट ने उसी विचार-परम्परा की कुछ व्यवस्था देकर उपस्थित किया। उत्पत्तिवाद लोल्लट की मौलिकता नहीं। स्वयं अभिनव गुप्त ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।<sup>१</sup>

अभिनव तथा मम्मट दोनों ने लोल्लट का मत उपस्थित किया है। किन्तु दोनों के उपस्थापन-दृष्टिकोण में अन्तर है। फलतः लोल्लट का रस-सिद्धान्त हमारे समक्ष दो रूपों में जाता है। रस के सम्बन्ध में हमारे समक्ष तीन सत्ताएँ जाती हैं: एक मूल अनुकार्य पात्र की, दूसरी अभिनेता नट की, तीसरी दर्शक सामाजिक की। प्रश्न उठता है, लोल्लट रस की स्थिति किसमें मानते हैं? अभिनव के विवेचन से हमें विदित होता है, लोल्लट रस की स्थिति अनुकार्य तथा अभिनेता दोनों में ही मानते हैं। इससे अधिक सामाजिक-विषयक चर्चा उन्होंने नहीं चलाई। इसके विपरीत मम्मट ने लोल्लट के मत को इसी दृष्टि से उपस्थित किया है कि वह सामाजिक को किस प्रकार प्रतीत होता है। मम्मट बताते हैं, रस मुख्यतः अनुकार्य में उत्पन्न होता है, सामाजिक को नट में रामादि का अनुसन्धान कर लेने से नट-गत-रूप में प्रतीत होता है। मम्मट ने यह स्पष्ट नहीं किया कि लोल्लट के अनुसार रस की स्थिति नट में भी होती है या नहीं। प्रत्युत यह भ्रम होता है कि लोल्लट नट में रस की स्थिति नहीं मानते।<sup>२</sup>

अभिनव भारती में लोल्लट द्वारा मान्य अनुकार्य-गत रस का विवेचन इस रूप में प्रस्तुत किया गया है :-

"अत्र भट्टलोल्लटप्रभृतयस्तावदेवं व्याचक्षुः — "विभावादिभिः संयोगोऽध्वत् स्वायिनः, ततो रसनिष्पत्तिः। अत्र विभावादिभिरुत्पत्तेः स्वाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम् अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिताः, तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्; अपितु भावानामेवै नुभावाः। व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविनः स्वायिना, तथापि वासनात्मतेः तस्य विवक्षितत्वं। व्यञ्जनादिमध्ये कस्यचिद्वासनात्मकता स्वायिवत्, अन्यस्योद्भूतता व्यभिचारिवत्। तेन स्वाय्यैव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी भावस्त्वनुपचितः।" ४

१—"चिरन्तनानां चायमेव पक्षः। तथाहि दण्डिना स्वातन्त्र्यकारणत्वात् स्वायि- -इत्यादि।

२- "स चोभयोरपि, अनुकार्ये नुक्त्यपि चानुसन्धानवलात्।" अभि० भा०, भा० १, पृ० २७२।

३—"—मुख्या वृत्त्या रामादावनुकार्ये तदुपतानुसन्धानान्तर्गतेऽपि प्रतीयमानो रसः।"

४- अभि० भा०, भा० १, पृ० २७२।



इस उद्घरण से स्पष्ट है कि लील्लट के अनुसार स्थायी भाव ही इक्षुदधश्चरमसेयम् कारण-सामग्री से परिपुष्ट होकर रस बन जाते हैं। अतः स्थायी तथा रस में जाति-गत भेद नहीं, भेद अनुद्घ दशा का है, माया का है। इससे दो बातें सामने आती हैं: एक तो यह उत्पत्ति किसी सर्वथा नवीन तत्त्व की नहीं होती; स्थायी भाव प्रत्येक व्यक्ति में वासना-रूप में पहिले से ही निहित रहते हैं, अनुकार्य-पात्र में भी रहते हैं। वे ही जागरित एवं परिपुष्ट होकर रस बन जाते हैं। दूसरी बात यह कि जो अनुकार्य भाव का अनुभव करता है, वही रस का भी।

इस प्रकार रसोत्पत्ति का अर्थ है, स्थायी भाव का कारण-सामग्री से संयुक्त होकर चरम दशा पर पहुँच जाना। कारण-सामग्री है विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव। इसकी योजना इस प्रकार है:-

**विभाव-** विभाव का स्वयं कारण का है। सीता-शकुन्तला आदि विभावों के द्वारा ही अनुकार्य राम-दुष्यन्त आदि की रति उद्बुध हो जाती है।

**अनुभाव-** लील्लट की दृष्टि में अनुभाव दो पक्षों के हो सकते हैं: एक सीता-शकुन्तला आदि विभाव पक्ष के, दूसरे राम-दुष्यन्त आदि आश्रय पक्ष के। आश्रय पक्ष के अनुभाव रत्यादि भावों के उद्घोष के अनन्तर ही उत्पन्न हो सकते हैं, अतः वे तो रस की कार्य-कौटि में होंगे। तब उन्हें रस की कारण-सामग्री में परिगणित नहीं किया जा सकता है। अतः विभावों के अनुभाव ही रस की कारण-सामग्री में सम्मिलित चाहिए।

**व्यभिचारी भाव-** ये आश्रय-पात्र के ही अपने लघु भाव होते हैं, जो श्रेष्ठी बीच-बीच में उद्बुध होकर उसी के स्थायी भाव को परिपुष्ट करते हुए चरम दशा तक पहुँचा देते हैं।

यहाँ एक प्रश्न उठाया गया है। स्थायी तथा व्यभिचारी दोनों चित्तवृत्ति-रूप होते हैं। और जैसी कि न्याय-दर्शन की मान्यता है,<sup>१</sup> चित्त की एक काल में एक ही वृत्ति हो सकती है। फिर यह कैसे सम्भव है कि एक ही काल में एक भाव किसी दूसरे भाव का पौष्ण कर सके। लील्लट का समाधान है : स्थायी तो वासना-रूप में सन्निहित रहते हैं, व्यभिचारी उद्भूत-रूप में आते हैं। इस प्रकार दोनों में पौष्य-पौषक-भाव बन जाता है।<sup>२</sup>

इस प्रकार विभावों, विभावों के अनुभावों तथा आश्रय के अपने ही व्यभिचारी भावों से क्रमशः उद्बुध एवं परिपुष्ट होकर अनुकार्य के स्थायी भाव रस-रूप में परिणत हो जाते हैं। लील्लट द्वारा अनुकार्य-गत रस की यह व्याख्या शुद्ध लौकिक धरातल को पकड़ कर की गयी है।

१- यहाँ "भावानामेवानुभावाः" में भाव-शब्द का प्रयोग विभावों के लिए ही हुआ है। यह एक प्राचीन प्रयोग है। स्वयं भरत में भी हम देख चुके हैं, कुछ अन्य प्राचीन आचार्यों ने भी इस अर्थ पर यह प्रयोग माना था, और यत्र-तत्र अभिनव ने भी उसे मान्यता दी है। उदाहरण-स्वरूप:-

क- भरत के "भावानामेवानुभावाः" की व्याख्या में अभिनव गुप्त : "नानाभूतविभावादिभिरुपसमीपं अक्षय प्रत्यक्षकल्प गताः।" अभि० भा०, भा० १, पृ० २२॥ ख- एक पूर्व पक्षों को प्रस्तुत करते हुए "तर्हि रस-प्रसादात् भावा विभावादयः।" वही, पृ० २९२। ग- "शुद्धतत्स्वरूपज्ञानस्वभावा विभाव व्यभिचारीणः।" वही, पृ० २९०।

२- "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।" न्यायसूत्र, १।१।२६।

३- लील्लट भरत के भोज्य-रस के दृष्टान्त में भी दिखाते हैं कि व्यंजनों तथा अन्नादि के स्वाद में कोई वासना-रूप होते हैं, कोई उद्भूत रूप।



यहां एक बात विशेषतः उल्लेखनीय है। कारण-सामग्री में लौत्तट ने आश्रय पात्रों के कार्य-रूप अनुभावों को परिगणित करने की मनाही की थी। फिर भी मम्मट ने उन्हीं कार्य-रूप अनुभावों को उसमें सम्मिलित किया:-

**"अनुभावेः कटाक्षानुवादीप्रपृथुतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः।" १**

इसका कारण है, मम्मट का भिन्न दृष्टि-कोण। वे सामाजिक-द्वारा प्रतीयमान रसका स्वरूप प्रस्तुत करना चाहते हैं। अतः उनकी कारण-सामग्री योजना इस प्रकार है : आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों से रत्नादि स्थायी भाव उद्बुद्ध होता है, आश्रय पात्र के कार्य-रूप अनुभावों के द्वारा सामाजिक के लिए प्रतीति-योग्य बनता है, और व्यभिचारियों द्वारा परिपुष्ट होता हुआ "रस" बन जाता है।<sup>२</sup> इसमें सन्देह नहीं कि किसी के हृद्गत भावों की सूचना किसी दूसरे को उसके वाह्य विकारों द्वारा हो मिल सकती है। किन्तु ऐसा कि अभिनव भारती में विवेचित है, अनुकार्य-गत रस की व्याख्या में कार्य-रूप अनुभाव नहीं, विभावों के कारण-यही अनुभाव ही परिगणित होने चाहिए। मम्मट का दृष्टिकोण भिन्न था।

अब आइए अभिनेता नट को और। काव्य-प्रकाश के अनुसार लौत्तट का रस मुख्यतः अनुकार्य-गत होता है। सामाजिक उसके रस की अनुसन्धान के सहारे नट-गत-रूप में प्रतीति भर करता है:-

**"मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्यै, तदुपतानुसन्धानान्नतर्कैऽपि प्रतीयमानो रसः।" ३**

मम्मट के इस उल्लेख में यह स्पष्ट नहीं कि नट में भी रसानुभूति होती है या नहीं। प्रत्युत "मुख्यया वृत्त्या" अनुकार्य में ही रस मानने से यही ग्रह होता है कि लौत्तट नट में रस की स्थिति स्वीकार नहीं करते। किन्तु यह बात अभिनव भारती के उल्लेख के विपरीत जाती है। उसके अनुसार लौत्तट यह मानते हैं कि रस नट में भी अवस्थित होता है, कारण स्थायी भाव वासना-वशा उसमें भी तो सन्निहित रहते हैं।

**"रसभावानामपि वासनावेशवशेन नटे सम्भवात्।" ४**

इसीलिए अभिनवभारती के शब्दों में रस की स्थिति अनुकार्य तथा नट दोनों में बतायी गयी है: "स चोभयोरपि, अनुकर्तव्यं अनुकार्येऽनुकर्तव्यं चानुसन्धानबलात्।" ५

१-काव्य प्रकाश, उत्तास ४, पृ० ८७।

२-"विभावैर्लल्लोचानादिभिरालम्बनकारणैः रत्नादिको भावो जनितः, अनुभावेः कटाक्षानुवादीप्रपृथुतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः, व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्यै, तदुपतानुसन्धानान्नतर्कैऽपि प्रतीयमानो रसः।" वही, पृ० ८७। ३-वही, पृ० ८७। ४-अभि० भा०, भा० १, पृ० १६२। ५-अभि० भा०, भा० १, पृ० १६२।



नट में रस कैसे उत्पन्न होता है तथा उसके निजी स्थायी का परिपोषण कैसे होता है, इसका कारण बताया गया है "अनुसन्धान" या "तद्रूपतानुसन्धान"। नट अपने को राम-दुष्यन्त के रूप में तथा नटी को सीता-शकुन्तला के रूप में समझता है। उसकी इसी धारणा का फल यह होता है कि उसके रत्यादि उद्बुद्ध एवं परिपुष्ट होते का अवसर प्राप्त करते हैं।

सामाजिक की प्रतिक्रिया का पक्ष हमें मम्मट में मिलता है। अभिनव इस विषय में मौन है।<sup>१</sup> तद्रूपतानुसन्धान का उल्लेख अभिनव गुप्त ने भी किया है, तथा मम्मट ने भी। किन्तु यहाँ भी वही दृष्टिकोण का अन्तर है। अभिनव भारतीय के अनुसन्धान का कर्ता नट है, जबकि काव्य प्रकाश के अनुसन्धान का कर्ता दर्शक सामाजिक। अभिनव ने यही बताया है कि अनुसन्धान को शक्ति से, अर्थात् अपने को रामादि के रूप में तथा नटी आदि को सीतादि के रूप में समझने के कारण नट के भी रत्यादि उद्बुद्ध हो जाते हैं। किन्तु मम्मट बताते हैं : सामाजिक नट को उसके अभिनय-क्रीशल के कारण रामादि के रूप में ग्रहण करता है। फल यह होता है कि उसे अनुकार्य-गत वास्तविक रस नट-गत रूप में प्रतीत होने लगता है।

अभिनय कला में "तद्रूपतानुसन्धान" का एक विशिष्ट स्थान है। सामाजिक जब नट में रामादिरूपता का अनुसन्धान करता है, मूल राम तथा नट का भेद भूल जाता है। आज के सिने-मों पर तो यह अझ-कल्पना और भी गहरी हो जाती है। बिना इस अझ-भावना के सामाजिक की प्रतीतिआगे बढ़ना कठिन है। लील्हट ने कला का यह एक सत्य हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है।

नट भी "तद्रूपतानुसन्धान" के सहारे ही भावानुभूति में डूब जाता है, लील्हट की यह मान्यता है। जो लोग यह मानते हैं कि जब तक अभिनेता स्वयं भाव-सागर में नहीं डूबेगा तब तक सूखी कला का प्रदर्शन नहीं कर सकेगा, लील्हट की उक्त मान्यता उनके पक्ष में है।

मम्मट के दृष्टिकोण में अभिनव की अपेक्षा जो अन्तर पड़ा है, वह कहाँ तक मौलिक है यह कहना कठिन है। कारण लील्हट की मूल कृति हमारे समक्ष नहीं हो सकती है, उनकी मूल कृति में यह दृष्टिकोण रखा गया हो और मम्मट ने उसे वहीं से लिया हो। यह भी हो सकता है, मम्मट ने अभिनव को आधार बनाते हुए भी, सामाजिक के दृष्टिकोण को सामने रख कर लील्हट का मत प्रस्तुत कर दिया हो। हम यदि अभिनव तथा मम्मट दोनों के दृष्टिकोण मिला लें तो अनुकार्य, नट तथा सामाजिक-गत रस की स्थिति लील्हट के अनुसार इस प्रकार रह सकती है :-

१- लोचन में भी इस पक्ष का कोई उल्लेख नहीं है। वहाँ इस प्रकार लील्हट का मत प्रस्तुत किया गया है :-

"पूर्वावस्थायां यः स्थायी, स एव व्यभिचारिसम्पत्तादिना प्राप्तपरिपोषोऽनुकार्यगत एव रसः। नाट्ये तु प्रयुज्यमानत्वान्नाट्यरस इति केचित्।" लोचन, पृ० १८४।



- १- रस अनुकार्य में उत्पन्न होता है। यह विभावों, विभावों के अनुभावों तथा व्यभिचारी भावों के द्वारा उद्बुध तथा परिपुष्ट होकर आश्रय के स्थायी भावों की एक विशिष्ट दशा है।
- २- अभिनेता नट में भी अपने में रामादि का तथा नटी में सीतादि का अनुसन्धान कर लेने से रस उत्पन्न हो जाता है। स्थायी भाव संस्कार-रूप में उसमें निहित रहते ही हैं। अनुसन्धान की मरिमा से उन्हें उद्बुध होने का अवसर प्राप्त हो जाता है।
- ३- सामाजिक में रस उत्पन्न नहीं होता। उसकी साक्षात् अनुभूति सामाजिक की नहीं हो पाती। तद्रूपतानुसन्धान का प्रयोग सामाजिक भी करता है। वह अभिनेताओं को मूल पात्रों के रूप में ग्रहण कर लेता है। तब उसे मूल पात्रों में वस्तुतः उद्भूत रस नट-गत रूप में प्रतीत होने लगता है।

परवर्ती आचार्यों की लोल्लट की यह व्याख्या स्वीकृत नहीं हुई। स्वयं शंकु ने इस पर कई प्रकार के आक्षेप किये थे।<sup>१</sup> जब जिस प्रकार लोल्लट के सिद्धान्त का विशेष महत्व नहीं, उसी प्रकार शंकु के उन आक्षेपों का भी विशेष महत्व नहीं। उनमें हम शंकु की विचार-धारा अवश्य पढ़ सकते हैं। बात यह है, जितना रस की केन्द्रीय समस्या से लोल्लट दूरे हुए थे, उतने ही लागभा शंकु भी।

लोल्लट के सिद्धान्त की अपनी कमियाँ हैं। उन्होंने सामाजिक की रसानुभूति की समस्या को दूर से ही देखा था। स्वयं वह रसानुभूति में मग्न होता है, इसका उन्होंने ध्यान ही नहीं रखा था। उसे अनुभव-कर्ता नहीं, प्रतीति-कर्ता के रूप में रख कर वे रस-समस्या पर सोचते थे। फलतः लोल्लट की रस-व्याख्या भी विषय-गत रह गयी, उसका विषयि-पक्ष पूर्णतः उन्मीलित न हो पाया।

लोल्लट की रस-व्याख्या लौकिक धरातल पर हुई। लोकानुभूति तथा रसानुभूति में वे विभाजक देखा नहीं ले सके। उसमें जन-सामान्य के उद्बुध रत्यादि को भी रस कह सकने की पूरी गुंजाइश है। उसका मनोवैज्ञानिक पक्ष लौकिक धरातल पर भी उपयुक्त नहीं। भाव तथा रस की स्थिति एक ही स्थान में मान लेने का अर्थ यह हुआ कि रोहिताश्व की लाश पर रुदन करती हुई शीखा करुण रस का आस्वादन कर रही थी।

लोल्लट का उत्पत्तिवाद वस्तुतः उपक्ष-वाद है। विभावों से स्वामी का पहिले उद्बुध होना, फिर अनुभावों से, तदनन्तर व्यभिचारियों से परिपुष्ट होते हुए चरमावस्था पर पहुँचना अपने में एक क्रमिक विकास की सम्भावना लिए हुए है। शंकु ने इस दुर्बल पक्ष को भली भाँति पहिचाना था, और उसका खण्डन किया था। परवर्ती आचार्यों ने स्थिर किया कि रस का अनुभव समूहात्मवनात्मक होता है, क्रमिक नहीं।

वस्तुतः लोल्लट अपने वस्तुवादी युग की सीमाओं से परे नहीं जा सके थे। फिर भी उन्होंने दो महत्व-पूर्ण तथ्य हमारे सामने प्रस्तुत किये थे : एक तो अभिनय-कला में तद्रूपतानुसन्धान का महत्व, दूसरे अभिनेता में रसानुभव की स्वीकृति।

१- "एतन्नेति श्रीशंकुः। विभावाद्ययोगे स्थायिनी लिङ्गाभावेनाकात्यनुपपत्तेः; भावानां पूर्वमभिप्रेयताप्रसंगात्; स्थितदशायां लक्षणान्तरवैयर्थ्यात्; मन्दतस्तममाध्यस्थ्याद्यानन्त्यापत्तेः; हास्यरसे णोढात्वाभावप्राप्तेः; कामावस्थासु दशस्वसंख्यरसभावादिप्रसंगात्; शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं, कालात्तनमान्त्रदर्शिनं, क्रोधीत्साहरतीनाममर्णस्थैर्यसिवाविपर्ययं द्वाखदर्शनिमिति विपर्ययस्य दृश्यमानत्वात्।" अभि० भा० भा० १, पृ० २७२।



लौल्लट की इस रस-व्याख्या को मीमांसा-दर्शन के अनुसार कहा जाता है। अभिनव भारती के एक स्थल-विशेष पर लौल्लट के वचनों में मीमांसा के कुछ तत्व होने के आधार पर डा० पी०वी० काणे महोदय का अनुमान है कि लौल्लट थे मीमांसक थे। काव्य-प्रकाश के टीकाकार वामन भल्लकीकर ने एक प्रसंग में लौल्लट को भट्ट-मतोपजीवी मीमांसक लिखा है। किन्तु रस-व्याख्या में लौल्लट ने मीमांसा का क्या उपयोग किया था, यह कहना कठिन है। उसमें मीमांसा का कोई प्रत्यक्ष उपयोग या प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि मीमांसा एक उत्पत्तिवादी एवं वस्तुवादी दर्शन है। यदि मीमांसक लौल्लट मीमांसक रहे हों, तो उनकी व्याख्या मीमांसा के विपरीत नहीं जा सकती।

इस प्रकार अभिनव भारती में जुने हुए मतों में लौल्लट का सम्मिलित करना दार्शनिक दृष्टि-कोण की अपेक्षा ऐतिहासिक दृष्टि-कोण की अधिक सूचना देता है।

फिर भी लौल्लट के विवेचन में एक मोड़ दिखायी पड़ती है। जहाँ बलङ्कारवादी आचार्य रस के प्रश्न पर स्पष्ट दृष्टि से ही सोचते थे, वहाँ लौल्लट ने उसे कुछ मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक ढंग से सोचना प्रारम्भ किया। भावों की चित्तवृत्तित्व का प्रश्न उठाकर उन्होंने उसे स्पष्ट ही मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक क्षेत्र में उतारा है। परवर्ती शकुन्तल जैसे समीक्षकों ने जो उनकी बालोचना की है, उसमें प्रधान अंश उनको उनके ढंग से न समझते हुए अपने चश्मे से समझने का है। लौल्लट ने लौकिक भावोद्घोषन की प्रक्रिया की पर्याप्त-रूपेण स्पष्ट करने का प्रयत्न किया था। यदि वे अनुकार्य-गत भाव-स्थिति तथा सामाजिक-गत रस-स्थिति को बलग-बलग कर सकते, तो उनका योग-दान निश्चय ही महत्व-पूर्ण होता। अभिनव-कला में तद्रूपतानुसन्धान का सिद्धान्त सामने कर के उन्होंने एक बड़ी बात कही थी। उद्भटानुयायियों के विपरीत नट में रस की स्थिति स्वीकार की थी।

१- "लौल्लट एम्पियर्स टू हेव एडवान्स्ड हिज़ आर्ग्यूमेण्ट्स अगेन दी बेसिस आफ् दी पूर्व-मीमांसा; वाइड ई. जी. अ. भा. वा. २, पृ० १९६. "प्रत्येकप्रसङ्गत्वलाभात् क्रमस्यापदार्थत्ववत् नार्यप्रमाणकत्वान्मुख्यश्रुतपदार्थवाचकत्वमयुक्तं अतः वाक्यप्रमाणस्य बाधनादिति तु भट्ट-लौल्लटोक्तं प्रकृते सिध्यति विरोधाभावात्।" कम्पेयर दी बेल नोन सूत्र आफ् जैमिनि-  
"श्रुतिलिङ्गवान्प्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदोर्वत्यं०" ३, ३, १४।"

हिस्ट्री आफ् संस्कृत पौडटिक्स : पी०वी०काणे:पृ० १९१।

२- "अथ भट्टमतोपजीविनां भट्टलौल्लटादीनामभिमतं पक्षमाशङ्कते-वैतिवति।"

काव्य-प्रकाश:वामन भल्लकीकर:पृ० २२५।

३- डा० के०सी०पाण्डे का अनुमान है कि लौल्लट रस का कारण, उन्होंने "स्पन्दकारिका" पर एक "वृत्ति" लिखी थी। यह ठीक है कि दोमराज कृष्ण स्पन्दनिर्णय, पृ० ३४ पर, तथा अभिनव शास्त्रास्मालिनीविषय वा०, ५, ७७ पर वसुगुप्त की स्पन्दकारिका के वृत्तिलेखक के रूप में किन्हीं लौल्लट को उद्धृत करते हैं। देखिए? आर० ग्नोली, पृ० ३०। तथापि यह कहना कठिन है कि स्पन्द-कारिका के वृत्तिकार तथा नाट्य-शास्त्र के व्याख्याकार लौल्लट एक ही व्यक्ति थे। फिर, उनके रस-सिद्धान्त में शैव-दर्शन की कोई प्रत्यक्ष छाप नहीं मिलती। न वसुगुप्त का गौडती शैव दर्शन उसमें कोई गौडती प्रभाव छोड़ता है।

क-हिस्ट्री आफ् इण्डियन एस्थेटिक्स:डा०पाण्डे:पृ० २८।

४- अशि०भा०, भा० १, पृ० २६२।



## श्रीशकुन्तल

शकुन्तल का रस-सिद्धान्त "अनुमान-वाद" के नाम से प्रचलित है। उनकी मान्यता है कि रति, शोक, उत्साह आदि स्थायी भाव मूल रामादि पात्रों में ही होते हैं, नट उनका अनुकरण करता है। नट-द्वारा यह अनुश्रुतिमान स्थायी ही "रस" है। सामाजिक विभावादि लिङ्गों के आधार पर इसका अनुमान कर लेता है। सामाजिक की यह अनुमानात्मक प्रतीति ही "रस-निष्पत्ति" है।<sup>१</sup>

रस की व्याख्या करते समय शकुन्तल के समक्ष तीन सत्ताएँ हैं : एक मूल रामादि अनुकर्त पात्रों की, दूसरी उनका अनुकरण करने वाले नट की, तीसरी सामाजिक की। मूल पात्र में स्थायी होता है, नट उसका अनुकरण करता है, सामाजिक द्वारा उसका अनुमान होता है। शकुन्तल के सिद्धान्त को सामाजिक के रूप में दृष्टि जमा कर जिस प्रकार "अनुमान-वाद" कहा जा सकता है, उसी प्रकार नट पर दृष्टि जमाते हुए उसे "अनुकरण-वाद" भी कह सकते हैं। अभिनव तथा भट्ट तीनों के विवेचन में शकुन्तल के रस का अनुकरणात्मक मक्ष ही अधिक उभर कर आया है।

शकुन्तल के रस-सिद्धान्त को अभिनव ने भी प्रस्तुत किया है, मम्मट ने भी। दोनों के उपस्थापन में एक हल्का सा अन्तर है। अभिनव में सामाजिक रस का "पेसिव" प्रतीति है, मम्मट में "एक्टिव"। मम्मट मुख्यतः सामाजिक द्वारा अनुमीयमान रस की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, अभिनव मुख्यतः नट द्वारा अभिनीयमान रस को। दोनों को मिला कर हमारे समक्ष रस-निष्पत्ति की व्याख्या में आया उद्गुन्तल तीनों सत्ताओं - मूल पात्र, नट तथा सामाजिक - की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। तीनों के सम्बन्ध में शकुन्तल की निम्न धारणाएँ हमारे सामने आती हैं।

१- "हेतुभिर्विभावास्तैः कार्यैश्चानुभात्मभिः सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तेषां अभिमन्यमानैरनुकृत्यस्वत्वेन लिङ्गवत्ततः प्रतीयमानः स्थायी भावो मुख्यरामादि-गतस्थायमनुकरणरूपः, अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः।"

अभि० भा०, भा० १, पृ० २७२।

२- "विभावादिशब्दव्यपदेशैः संयोगात् गम्यगमकभावरूपात् अनुमीयमानोऽपि वस्तु-सौन्दर्यवत्तादुत्पत्तिरूपेणाभिमन्यमानविलक्षणः स्थायित्वेन संभाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रा-सन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्चमाणो रसः।" काव्य-प्रकाश, पृ० १०।



अनुकार्य पात्र- शांकुक के अनुसार "स्वायी भाव" की स्थिति अनुकार्य पात्र में ही होती है, जिसका नट अभिनय द्वारा अनुकरण करता है। लोल्लट ने अनुकार्य के इस स्थायी की दो वशाएँ मानी थीं : एक वासना-रूप दशा, दूसरी विभावादि-द्वारा उद्बुद्ध एवं परिपुष्ट दशा। पहिली को उन्होंने "भाव" कहा था, दूसरी को "रस"। वे "भाव" तथा "रस" दोनों की स्थिति अनुकार्य में ही मानते थे। शांकुक ऐसा नहीं मानते। वे "रस" को तो मूल पात्र में मानते ही नहीं, स्वायी भाव को भी उसमें तभी मानना चाहते हैं जब कि विभावादि उसके अनुमापक लिङ्ग विद्यमान हों। कात्पर्य यह कि शांकुक अनुकार्य में भी स्वायी को विभावादि से सम्बद्ध वासना-रूप में नहीं, विभावादि से सम्बद्ध उद्बुद्ध रूप में ही स्वीकार करते हैं।

मूल पात्र की भाव-स्थिति लौकिक धरातल से सम्बद्ध है। नायक-नायिकादि उसके कारण होते हैं, चेष्टादि कार्य, तथा चिन्तादि सहकारी कारण। इन्हीं के आधार पर एक व्यक्ति को दूसरे की भाव-दशा का ज्ञान होता है। इस लौकिक भाव-ज्ञान में कुशल व्यक्ति ही नाट्य में "रस" का अनुमान कर सकता है। यह लौकिक सामग्री जब अभिनय के क्षेत्र में आकर नट द्वारा उपस्थित की जाती है, तब सामाजिक के लिए अनुमापक का कार्य करती है। तब इसके कला-बीबी य नाम होते हैं क्रमशः "विभाक", "अनुभाव" तथा सव्यभिचारी भाव"।

अभिनेता नट- शांकुक की रस-व्याख्या में सबसे नागण्य किन्तु सबसे महत्व-पूर्ण सत्ता है नट की। शांकुक नाट्य-रस के व्याख्याता हैं, काव्य-रस के नहीं। काव्य-पाठ से पाठक को जो रस मिलता है, उससे उन्हें विशेष तरीकार नहीं। वे नाट्य-शास्त्र के व्याख्याता होने के नाते रस का प्रकृत क्षेत्र अभिनय की ही समझते हैं। बिना अभिनीत हुए उनका रस "रस" ही नहीं बन पाता। वस्तुतः आनन्दवर्धन से पूर्व आलोचना में, विशेषकर भरत नाट्य-शास्त्र के टीकाकारों में, काव्य-रस की उपेक्षा ही रही। रस के अनुक्रमण पक्ष पर विशेष बल देने के कारण शांकुक की समीक्षा में नट इस दृष्टि से उनके सिद्धान्त की रीढ़ बन जाता है।

१-"मुख्यरामादिगतस्वाय्यनकरणरूपः - रसः।" अभि० भा०, भा० १, पृ० २७२।

२-"विभावायोगे स्वायिनी लिङ्गाभावेनावगत्वनुपपत्तेः।" अभि० भा०, भा० १, पृ० २७२।

३-"- नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः - विभावादिशब्दव्यपदेशैः - - ।"

काव्य-प्रकाश, पृ० ८९।

४- "अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः।" अभि० भा०, भा० १, पृ० २७२।

"तेन रतिरनुक्रमणा शृंगार इति तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वं च युक्तम्।" वही, पृ० २७३।



दूसरी ओर शकुं के नट में रसकी स्थिति नहीं होती। लोल्लट जिस प्रकार मूल पात्र में स्थायी तथा रस दोनों की वास्तविक स्थिति मानते हैं, उसी प्रकार नट में भी दोनों का अवकाश स्वीकार करते हैं। किन्तु शकुं नट में स्थायी अथवा रस किसी एक की भी स्थिति स्वीकार करने के लिए तैयार प्रतीत नहीं होते।<sup>१</sup>

यही नट मूल रामादि के स्थायी का अनुकरण करता है। अनुकरण की प्रक्रिया में पढ़ कर ही उसका नाम बदल जाता है। फिर उसे "रसि" या "स्थायी" नहीं कहते, "शृंगार" या "रस" कहते हैं।<sup>२</sup> इन अर्थों में यदि हम चाहें तो कह सकते हैं कि रस नट-गत भी होता है, अर्थात् वास्तविक स्थिति के रूप में नहीं, अनुकरणात्मक स्थिति के रूप में।

अपने अभिनय के बल से नट इसी रस को सामाजिक तक पहुँचा देता है, अर्थात् उसकी अनुमानात्मक प्रतीति का विषय बना देता है। शकुं के अनुसार "अभिनय" का अर्थ है "अभि-नयन", अर्थात् रस की प्रतीति को भली प्रकार सामाजिक तक ले जाना। इस प्रकार सामाजिक को रस का अवगमन करा देने की दायता का नाम ही "अभिनय" है।<sup>३</sup>

अभिनय के लिए नट को विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारियों का प्रदर्शन करना पड़ता है। यह आवश्यक नहीं कि विभाव रूप में होने वाली सामग्री रंग-मंच पर किसी अभिनेत्री आदि के रूप में प्रत्युपस्थित हो हो। नट काव्य-शब्दों के द्वारा भी विभावों को सामाजिक के लिए प्रतीति-योग्य बना सकता है। सामाजिक नट द्वारा पठित काव्य-शब्दों से ही जनसंख्या अनुसन्धान कर सकता है कि नट-द्वारा अनुकृत प्रस्तुत भाव का विभाव क्या है।<sup>४</sup>

नट के अभिनय में शिक्षा (देनिहंग) का तथा उसके व्यक्तिगत अनुभव का बड़ा स्थान है। नट जो मूल रामादि के अनुभावों का अभिनय करने में सफल होता है, उसका कारण उसे दी हुई "देनिहंग" तथा उसका "अभ्यास" ही है। उसे सिखाया गया होता है, राम की अमुक अवस्था के प्रदर्शन के लिए तुम्हें अमुक चेष्टाएं प्रदर्शित करनी हैं। "अभ्यास" के द्वारा वह इस शिक्षा को और भी परिमाणित कर लेता है। अनुभावों के प्रदर्शन में तो स्वानुभव की

१-"तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्चमाणी रसः।" काव्य-प्रकाश, पृ० ९०।

२-"अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः।" अभि० भा०, भा० १, पृ० २७२।

३-"अवगमनशक्तिर्यभिनयनं वाचकत्वादित्या।" अभि० भा०, भा० १, पृ० २७३।

४-"विभावाः काव्यबलादनुसन्धेयाः।" अभि० भा०, भा० १, पृ० २७२।

"अथ सामाजिकस्य तथा प्रतीतियोग्याः श्रियन्ते इत्येतदेवानुसन्धानमुच्यते- -।" वही, पृ० २७५।

"सैव ममाहुंगेषु सुधारसच्छटा सुपूरकपूरशताकिका दृशोः।

मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता।"

देवादहमश तथा चपलायतनेत्रया विधुवतश्च।

अग्निरलविलोत्पलदः कालः समुपपन्नश्चायम्॥" इत्यादिकाव्यानुसन्धानबलात्- -नटैव प्रकाशितैः- -।" काव्य-प्रकाश, पृ० ६६।

५-"शिक्षाभ्यासनिवर्तितस्वकायप्रकटनेन।" वही पृ० ८९।



अपेक्षा शिक्षा का ही अधिक योग रहता है, किन्तु व्यभिचारियों के प्रदर्शन में शांकु शिक्षा की अपेक्षा स्वानुभव का योग अधिक मानते हैं। व्यभिचारी भाव कोई मूर्त चेष्टाएँ तो हैं नहीं, जिनका प्रदर्शन नट स्पष्टतः कर सके। उनका प्रदर्शन तो अनुभावों के द्वारा ही हो सकता है। व्यभिचारियों के प्रदर्शन के लिए वह जिन अनुभावों का प्रदर्शन करता है, उनमें उसका निजी अनुभव<sup>अधिक</sup> काम करता है। वह अपने जीवन में भ्रम में काँपा है, प्रसन्नता में खिलखिलाया है। मूल पात्रों के व्यभिचारी भावों को अभिनीत करने के लिए वह अपने जीवन में अनुभूत इन्हीं अनुभावों को रंग-मंच पर जुटा देता है, भले ही उसे यह काम निजी कारण न होने से कृत्रिमतया करना पड़े।<sup>२</sup>

इस प्रकार नट विभावों को काव्य-शब्दों के द्वारा, अनुभावों को शिक्षा तथा अभ्यास के द्वारा, तथा व्यभिचारियों को विशेषतः स्वानुभूत अनुभावों को जुटा कर इस रूप में उपस्थित कर देता है कि सामाजिक इस सामग्री को कृत्रिमतया पर ध्यान न देकर उसे वास्तविक रूप में ग्रहण करता है। विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारियों को सामाजिक के लिए अनुसन्धेय या प्रतीति-योग्य बना देना ही नट-कर्म की विशिष्ट सफलता है।

शांकु के अनुसार काव्य की "वाचक शक्ति" तथा नट-द्वारा सम्पादित "वाचिक अभिनय" दो बातें हैं। रति, शोक, शृंगार, करुण जैसे शब्द "वाचक" हैं। विभाव तथा रस का "अभिधान" या अर्थ-बोध तो करा सकते हैं, किन्तु "अवगमन" या "प्रतीति" नहीं करा सकते। अभिनय का मूल तत्त्व अर्थ-बोध नहीं, "अवगमन" ही है। शांकु यंत्रणा से परिचित नहीं, किन्तु अभिधा को सीमाओं को जानते हैं। अभिधा शक्ति भावों का सामाजिक की प्रतीति तक अभिनयन नहीं कर सकती। यह काम आंगिक, वाचिक, सात्विक तथा आहार्य अभिनयों के द्वारा ही हो सकता है।<sup>४</sup>

सामाजिक की सत्ता— शांकु में सामाजिक की सत्ता लोत्खट की अपेक्षा बहुत निखरी हुई है। मम्मट के प्रत्युपस्थापन में तो रस का "एंगिल" ही सामाजिक की ओर से है। सामाजिक द्वारा प्रतीयमान रस को व्याख्या ही उन्होंने प्रमुखतया प्रस्तुत की है।

१- "अनुभावाः शिक्षातः।" "व्यभिचारिणः कृत्रिमनिजानुभावार्जनवलात्।" अभि० भा०, भा० १, पृ० २७२-२३।

"शिक्षाभ्यासनिर्वर्तितस्वकार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितः।" काव्य-प्रकाश, पृ० ८९।

२- "कृत्रिम-निजानुभावार्जनवलात्।" अभि० भा०, भा० १, पृ० २७३।

३- "प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैस्त्वि तथानभिन्न्यमानैः।" अभि० भा०, भा० १, पृ० २७२।

४- "स्थायो तु काव्यबलादपि नानुसन्धेयः।" रतिः "शोक" इत्यादयो हि शब्दा रत्यादिक्रम भिषेयो कुर्वन्त्यभिधानत्वेन, न तु वाचिकाभिनयस्यैव रूपतया। वगमन्ति। न हि वागेव वाचिकम्, अपितु तथा निर्वृतम्; अहं गैरिवादि-गम्। - - - । अवगमनशक्तित्वाभिनयनं वाचकत्वादित्या।"

अभि० भा०, भा० १, पृ० २७३।



शंकु का सामाजिक अभिनव के सामाजिक के समान "विमल-प्रतिभानुदय" तथा "संविद्विश्रान्ति का अभ्यासों तो नहीं, तथापि उसे लौकिक भाव-भूमि का अच्छा-सा परिचय है। अपने-पराये हास-शोक का अनुभव करते-करते उसमें यह क्षमता आ चुकी होती है, कि वह किसी की टेढ़ी भवों से उसके हृद्गत क्रोध का, स्पन्दित मुस्कान से उसके स्नेह का, तथा उदास अश्रु-धारा से शोक का अनुमान उसी प्रकार करसके जिस प्रकार धूम को देख कर वह अग्नि का अनुमान कर सकता है। नट के द्वारा विभावादि-सामग्री उसके सामने प्रस्तुत की जाती है। वह इसके द्वारा अनुमान कर लेता है, "यह व्यक्ति शोक-ग्रस्त है" "यह आनन्द-मग्न है"। सामग्री इस अनुमान में "लिङ्ग" या "अनुमापक" का काम करती है।<sup>१</sup>

शंकु का सामाजिक जानता है, उसके समक्ष अभिनय-कर्ता नट उपस्थित है, राम नहीं। वह जानता है, नट-द्वारा शब्दों तथा अनुभावों के माध्यम से प्रदर्शित ये विभावादि और रंग-मंच पर उपस्थित ये सीतादि भी वास्तविक नहीं, कृत्रिम हैं। तथापि यहाँ वह सत्ता वस्तुओं के यथार्थ धरातल की अपेक्षा उनकी सौन्दर्य-शक्ति से अधिक प्रभावित होता है। फलतः वह राम का अभिनय करने वाले व्यक्ति को नट समझते हुए भी नट-रूप में ग्रहण नहीं करता। चित्र में बने घोड़े को हम केवल कुछ रंग-रेखाओं का खेल जानते हुए भी, घोड़ा ही समझते हैं। इसी "चित्रतुरग-न्याय" से सामाजिक नट को नट जानते हुए भी, नट न मान कर राम-रूप में ग्रहण करता है। कला के क्षेत्र में यह यथार्थ के ऊपर कल्पना की विजय है।<sup>२</sup> लिङ्ग और व्याप्ति के दायरे में चलने वाले शंकु ने स्वाकार किया है। चित्र-तुरग-न्याय से नट को राम समझने की यह प्रतीति सम्यक्, मिथ्या, संशय, तथा सादृश्यात्मक प्रतीतियों से भिन्न प्रकार की कहाँ गयी है। फिर भी शंकु इस को एक प्रकार से मिथ्या-का की प्रतीति ही मान कर चलते हैं। कारण स्पष्ट है। एक तो नट राम नहीं, दूसरे समस्त विभावादि सामग्री कृत्रिम है। भले ही सामाजिक उस समय उसे जान कर भी कृत्रिम-रूप में ग्रहण न करे।

१-"- रामोयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे- - नटेनैव प्रकाशितः कारणकार्यसहकारिभिः- - "संयोगात्" "गम्यगमकभावरूपात्" अनुमीयमानो- - रत्यादिभावः- - सामाजिकानां वासनया चर्वमाणो रसः॥" काव्य-प्रकाश, पृ० ८९-९०।

"अनुकृत्यत्वेन लिङ्गवत्ततः प्रतीयमानः स्वायत्त भावो मुख्यरामादिगतस्वायत्तनुकरणरूपः।" अधि० भा०, भा० १, पृ० १०२।

२- "गम्यगमकभावरूपादनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यवताऽसंशयित्वेनान्यनुमीयमानविलक्षणः" काव्य-प्रकाश, पृ० ९०।

३- "सम्यक्-मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणाया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे"। वही, पृ० ८८।

४- "अर्थक्रियाऽपि मिथ्याज्ञानाद् दृष्टा"। अधि० भा०, भा० १, पृ० १०३।



"चित्र-तुरग-न्याय" से नट की राम-रूप में प्रतीति को मिथ्या मान लेने पर ही शंकुक के समक्ष उसकी अर्थ-क्रिया का प्रश्न उठता है। उनसे पूछा जा सकता है : मिथ्या ज्ञान तो अर्थ-क्रिया-क्षम नहीं होता। यहां तो नट की राम-रूपा प्रतीति से सामाजिक को राम-गत स्थायी का अनुमान होता है। वह कैसे शंकुक इस प्रश्न का उत्तर बौद्ध धर्म-कीर्ति का सहारा लेकर देते हैं। धर्मकीर्ति के अनुसार मिथ्या-ज्ञान भी अर्थक्रिया-क्षम होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार सम्यग् ज्ञान। दो दिशाओं में दो चमकदार वस्तुएं दिखायी दे रही हैं। एक उनमें मणि है, दूसरी दीपक। दो दर्शक, जो उनके विषय में कुछ नहीं जानते, कोई सम्यग् ज्ञान नहीं रखते, उन्हें लेने दौड़ते हैं। दोनों का मिथ्या ज्ञान समान होते हुए भी, एक मणि प्राप्त करता है। दूसरा असफल होता है। दौड़े दोनों मणि समझ कर थे। इस प्रकार एक का मिथ्या ज्ञान भी अर्थक्रिया-क्षम हो गया। शंकुक का समाधान है, यहां भी नट की राम-रूपा प्रतीति मिथ्या-वार्ता की होते हुए भी अर्थक्रिया-क्षम हो सकती है।<sup>१</sup>

"चित्र-तुरग-न्याय" से नट सामाजिक द्वारा राम समझा जाता है। किन्तु इस समझ में पूर्ण निश्चयात्मक धारणा नहीं होती। "यह राम ही है" ऐसा नहीं, अपितु केवल "यह राम है" यह प्रतीति होती है। इस प्रतीति में न सन्देह उठता है, न रामत्व का निश्चय। और उसे राम-रूप में ग्रहण कर के कोई बाधक बुद्धि भी उदित नहीं होती। विरोधिनी बुद्धि के उदय होने पर ज्ञान मिथ्या हो जाता है। यहां विरोध बुद्धि के उद्भूत न होने के कारण अन्य शास्त्रीय मिथ्या ज्ञानों से इसमें विलक्षणता भी होती है। यह सामाजिक की चेतना में स्फुरित होता हुआ एक स्पष्ट अनुभव होता है।<sup>२</sup>

तो, नट जिन अनुभावादि का कृत्रिमता प्रदर्शन कर रहा था, सामाजिक उनकी कृत्रिमता से परिचित रह कर भी उन्हें कृत्रिम न मानते। उधर, उनके ही जाचपूर पर सामने उपस्थित कल्पित राम में राम के रति-शोक की सम्भावना कर लेता है। विभावादि उसकी इस सम्भावना में "लिङ्ग" या "गमक" का काम करते हैं, तब रस जिसे नट का वास्तविक स्थायी नहीं, उसके द्वारा अनुक्रियमाण एवं अभिनीयमान स्थायी कहना चाहिए इन लिङ्गों के जाचपूर पर सामाजिक को "गम्य" या "अनुमेय" हो जाता है। शंकुक के अनुसार भरत के सूत्र

१- "अर्थक्रियापि मिथ्याज्ञानाद् दृष्टाः-

"मणिप्रदोपप्रभोर्मणिवुद्ध्याभिधावतोः।

मिथ्याज्ञानाविशेषोऽपि मिथ्या-वार्ता-प्रतीतिः॥" अभि० भा०, भा० १, पृ० २७३।

२- "प्रतिभाति न सन्देहो न तत्त्वं न विपर्ययः।

धोरसाव्यमित्यस्ति नासाव्यमित्यपि।।

तत्रानुभूतिरसमदादिविवेचितविप्लवः।

युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः क्वा॥" हेमचन्द्रः अलं० चू०, पृ० ९३।

३- "गम्यगमकभावरूपात् अनुमीयमानो- - स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो- - तत्रासन्नपि - - रसः।" काव्य-प्रकाश, पृ० ९०।



"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" में आये "संयोग" शब्द का तात्पर्य इसी "गम्यगमक-भाव" से है।<sup>१</sup> विभावादि का स्थायी से यही गम्य-गमकभाव सम्बन्ध हो जाने पर रस की "निष्पत्ति" होती है; अर्थात् सामाजिक की विभावादिक गमकों के द्वारा रस नट द्वारा अनुश्रियमाण स्थायी की अनुमिति हो जाती है।

मम्मट ने जिस प्रकार लोत्तट के रस की सामाजिक-गत प्रतिक्रिया की अभिनव की अपेक्षा अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है, उसी प्रकार शकुन्तल के रस के विषय में भी। प्रश्न उठता है : नट की राम समझ लेने पर भी, उसमें राम के स्थायी की सम्भावना कर लेने पर भी सामाजिक उसका दूर से ही अनुमान कर सकता है, उसे स्वयं रस की चर्वणा नहीं हो सकती। मम्मट के उल्लेख के अनुसार शकुन्तल का और से इसका यह समाधान आता है : सामाजिक में स्थायी की चर्वणा का अवकाश है। सामाजिक की वासना के द्वारा उसकी चर्वणा हो जाती है। हेमचन्द्र ने इस चर्वणा को कुछ और स्पष्ट किया है : कोई व्यक्ति एक कषाय फल खा रहा है। उसके मुख की आकृति एवं चेष्टा हमें यह सूचना देती है कि यह व्यक्ति कषाय फल खा रहा है। और उस समय हमारे मुख में उसी प्रकार का पानी भर आता है जिस प्रकार का उस कषाय फल खाने वाले के मुख में भर रहा होगा, वा यदि हम कषाय फल खा रहे होते तो भर आता। वैसे, इसी प्रकार राम-रूप में अभिमत नट के स्थायी की देख सामाजिक की वासना के स्थायी में भी चर्वणा का अवकाश हो जाता है।<sup>२</sup> किन्तु यह मम्मट का समाधान है। अभिनव गुप्त इस परी पर विल्कुल मौन है। हेमचन्द्र ने मम्मट के दृष्टि-कोण की ही स्पष्टता देने का प्रयास किया है। अभिनव गुप्त के उल्लेख के अनुसार तो यह कहना भी कठिन है कि शकुन्तल स्थायी भाव की वासना रूप में स्वीकार भी करते हैं। अनुकार्य पात्र में विभावादि से असम्बद्ध, अर्थात् अनुमापक लिङ्गों से शून्य स्थायी भाव की सत्ता का उन्होंने स्पष्ट शब्दों में निषेध किया है। अतः अनुमान होता है कि सामाजिक की वासना के सहारे उसकी रस-चर्वणा की बात कहना मम्मट का समाधान है, शकुन्तल का अपना नहीं। वस्तुतः मम्मट के समय तक रस की अवस्थिति का स्थान सामाजिक निश्चित हो चुका था मम्मट उसके ऊपर होने वाली प्रतिक्रिया का ध्यान रस कर ही उन लोगों के मतों की भी प्रस्तुत कर देना चाहते थे, जिन्होंने स्वयं उस प्रतिक्रिया का ध्यान नहीं रखा।

१- "विभावादिशब्दव्यपदेशैः "संयोगात्" "गम्यगमकभावरूपात् अनुमीयमानः" काव्य-प्रकाश, पृ०, ८९-९०।

२- "स्वायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भाविस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनाया चर्वमाणो रसः।" काव्य-प्रकाश, पृ० ९०।

३- "—वस्तुसौन्दर्यवलात् कषायफलचर्वणपरपुरुषादर्शनप्रभवमुखसेककलनाकल्पनया रसनीयरूपतः अन्यानुमीयमानविलक्षणः स्वायित्वेन सम्भाव्यमानो—।" हेमचन्द्रः अलं० चू०, पृ० ९१-९२

४- "विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिङ्गाभावेनावगत्त्यनुपपत्तिः।"

अभि० भा०, भा० १, पृ० २४२।



इस प्रकार मूल पात्र के भाव का नट-द्वारा अनुकरण ही शंकु का "रस" है। सामाजिक द्वारा उसकी अनुमानात्मक प्रतीति "रस-निष्पत्ति" है। किन्तु शंकु नट के अनुकरण की तथा सामाजिक की प्रतीति की सर्वथा पृथक् करके नहीं देखते। वे विषय तथा विषयी पक्षों को परस्पर सम्बद्ध कर के ही देखते हैं। न तो नट का निरपेक्ष भावानुकरण ही रस है, और न ही सामाजिक का मात्र अनुमान ही। नट-द्वारा अनुश्रियमाण भाव सामाजिक को अनुमानात्मक प्रतीति का विषय बनता हुआ ही "रस" है।

शंकुके अनुकरण-वाद का अभिनव गुप्त ने भट्ट तोत के मुह से तीव्र विरोध प्रस्तुत किया है। भट्ट तोत के इस विरोध में अभिनव के अपने तर्क भी मिले-जुले हैं। तोत के अनुसार रस की अनुकरणात्मकता कहना सर्वथा असंगत है। न सामाजिक की प्रतीति की दृष्टि से, न नट के अभिप्राय से, न लौकिक दृश्य व्यवहार की छोड़ दार्शनिक दृष्टि से वस्तु-स्थिति का विवेचन करने वाले व्याख्यात-विशेषों की दृष्टि से, और न ही स्वयं भरत के दृष्टिकोण से रस की अनुकरण-रूपता बनती है। २ भट्ट तोत के सण्डन में प्रधान आग्रह रस की अनुकरण-रूपता का निराकरण ही है।

यद्यपि शंकु की रस-व्याख्या से रस की समस्या का अभीष्ट वास्तविक समाधान नहीं हुआ; और ऐसा कि भट्ट तोत के तर्कों से विदित होता है, शंकु की प्रमुख स्थापनाएं अधिक बल नहीं रखती; तथापि शंकु का विवेचन सर्वथा महत्व-शून्य नहीं है। उन्होंने लोल्लट की अपेक्षा रस-विषयक आचार्य-चेतना को बहुत आगे बढ़ने का अवसर प्रदान किया है। शंकु न्याय की सूखी प्रक्रिया का अवलम्बन करते हुए भी रसानुमिति को अन्य अनुमानों से भिन्न कोटि का "विलक्षण" कहते हैं। वस्तु-सौन्दर्य के फल-स्वरूप अन्य अनुमीयमान पदार्थों से रस एक विलक्षण पदार्थ है। रस के इस पक्ष को स्वीकार करने के कारण शंकु हमारे समक्ष सूखे नैयायिकों के समान दोषी नहीं रह जाते। कल्पना एवं कला के सौन्दर्य की ओर ध्यान से जाना, अभिनय कला में के उपादानों को महत्व प्रदान करना, सामाजिक की प्रतीति की लोल्लट की अपेक्षा सुल कर सामने लाना, विषय एवं विषयी पक्षों के सामंजस्य की ओर दृष्टि रखना उस युग को रस-चेतना की स्थिति को ध्यान में रखते हुए नगण्य बातें नहीं हैं। और दार्शनिक दृष्टि से रस की समस्या की सुलभाने का प्रयत्न करने वालों में तो शंकु का नाम ही निश्चय के साथ पहिले जाता है। यह दूसरी बात है कि शंकु उपर्युक्त दिशाओं में अधिक परिमार्जित दृष्टि-कोण प्रस्तुत नहीं कर सके थे, किन्तु उनके ऐतिहासिक महत्व से इनकार नहीं किया जा सकता।

अब हम शंकु की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि के महत्व-पूर्ण प्रश्न की ओर आते हैं।

१-"लिङ्गवत्तः प्रतीयमानः स्वायी भावो मुख्यरामान्ति तस्यायनुकरणरूपः-- रसः।"

"तेन रतिरनुश्रियमाणा शृंगारः।" "तस्मात् सामाजिकप्रतीत्यनुसारेण स्वायनुकरणं रस इत्यसत्।" अभि० भा०, भा० १, पृ० २७२, २७३, २७५।

२-"तदिदमपि अन्तस्तत्त्वशून्यमि न विमर्दकाममिति भट्टतोतः। तथाहि-अनुकरणरूपी रस इति युदुच्यते तत् किं सामाजिकप्रतीत्यभिप्रायेण; उत नटाभिप्रायेण; किंवा वस्तुवृत्तविवेकव्याख्यातु-बुद्धिस्तमवलम्बनेन, यथाहुः--व्याख्यातारः सत्त्वेन विवेचयन्ति" इति।"; अथ भरतमुनिवचनानुसारेण

हेमचन्द्रः अलं० सू०, पृ० ९३।



## शंकु की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि

शंकु का रस-सिद्धान्त न्याय-दर्शन पर अवलम्बित है। यहाँ एक प्रश्न हमारे समक्ष आता है : हमारा न्याय-साहित्य चार प्रमुख धाराओं में विभक्त है। प्राच्य न्याय, नव्य न्याय, बौद्ध न्याय तथा जैन न्याय। प्रथम दो धाराएं वैदिक न्याय की हैं, अन्तिम दो अवैदिक। तब, हमारे शंकु किस न्याय का अनुगमन करते हैं ?

नव्य न्याय का उदय तो वस्तुतः गणेश उपाध्याय लगभग १२०० ई० से माना जाता है। अतः शंकु के नव्य न्याय के अनुगमन का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अब तक सामान्यतः शंकु को प्राच्य न्याय का अनुगामी ही समझा जाता रहा है; अथवा यों कहिए, उनके विचारों में अवैदिक नैयायिक होने की शंका भी नहीं उठाई गयी। किन्तु अभिनव भारती में कुछ संकेत इस प्रकार के मिलते हैं, तथा स्वयं शंकु के सिद्धान्तों में कुछ ऐसे समान आदर्श मिलते हैं, जिनके आधार पर यह विश्वास किया जा सकता है कि शंकु बौद्ध नैयायिक थे। इन संकेतों को हम संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत कर सकते हैं।

१- हमने देखा है कि शंकु के अनुसार रस नट-द्वारा अनुकार्य-गत स्थायी का अनुकरण है। नट में रस की वास्तविक सत्ता नहीं होती। सामाजिक नट को चित्र-तुरग-न्याय से राम समझता है तथा राम के सुख-दुःखों से उसे जीत-प्रीत मानता है। "यः सुखी रामः, अस्माक्यमिति प्रतीतिरस्तीति"।<sup>१</sup> उसकी यह प्रतीति-सम्पन्न-न मिथ्या-वर्ण में आती है, शंकु इसे स्वीकार करते हुए उसको अर्थ-क्रिया-कारिता के प्रश्न को वैदिक दर्शन के सहारे नहीं, बौद्ध धर्मकीर्ति के सहारे सुलभताते हैं। और उनके प्रमाण-वार्तिक २, ५, ५७ से कारिका उद्धृत करते हुए यह दिखाते हैं कि मिथ्या-ज्ञान से भी अर्थ-क्रिया सम्भव है।

"अर्थक्रियाऽपि मिथ्याज्ञानाद् दृष्टाः-

"मणिप्रदोपप्रभोर्धर्णिर्बुद्ध्याभिधावतोः।

मिथ्याज्ञानाविशोऽपि विशोऽर्थक्रियां प्रति॥" २

२- शंकु द्वारा प्रयुक्त पदावली बौद्ध पदावली के अधि समीप है। हेतु, कार्य, संचारी, लिङ्ग जैसे शब्द तो बौद्ध तथा वैदिक दोनों न्यायों में सामान्यतः प्रयुक्त पाये जाते हैं; किन्तु "तत्त्व-ज्ञान" अथवा "यथार्थ-ज्ञान" के लिए "सम्यग्-ज्ञान" शब्द तो विशेषतः बौद्ध है। धर्म-कीर्ति अपने ग्रन्थों में तत्त्व-ज्ञान के लिए प्रायः "सम्यग्-ज्ञान" शब्द का ही प्रयोग करते हैं। हम जानते हैं कि ~~सम्यग्-ज्ञान~~ शब्द प्राचीन में शंकु विद्यमान थे, बौद्ध एवं वैदिक दार्शनिकों की घोर प्रशंसा की शताब्दियाँ थीं। ऐसे युग में किसी विशेष सम्प्रदाय की पदावली का प्रयोग कुछ न कुछ अर्थ रखता है। अब भट्ट तो शंकु का खण्डन करने के लिए उनका मत सामने रखते हैं तो "सम्यग्-ज्ञान" के लिए "तत्त्व-ज्ञान" शब्द को स्थानायन्त बना लेते हैं। प्रयुक्त पदावली के पीछे प्रयोजिता का व्यक्तित्व निहित रहता है।

१- अभि० भा०, भा० १, पृ० २७३।

२- अभि० भा०, भा० १, पृ० २७३। सन्दर्भ के लिए देखिए आर० गुनीली: दी एस्टेटिक्स एक्सपीरियन्स एकाहिङ्ग दू अभिनव गुप्त : पृ० ३६।

३- "यच्चोक्तं रामोयमित्यस्ति प्रतिपत्तिः, तदपि तदात्वे विनिश्चितं तदुत्तरकालवाचकव्युत्पा-  
भावे कथं न तत्त्वज्ञानं स्यात् ?" अभि० भा०, भा० १, पृ० २७५।



३- हमने देखा है कि शंकु अनुकार्य पात्र में स्थायी भाव की सत्ता तब तक स्वीकार नहीं करना चाहते जब तक वह विभावादि से सम्बद्ध न हो। इस मान्यता से दो बातें सामने आती हैं। एक तो विना लिङ्गों के प्रत्यक्षोत्तर पदार्थों की सत्ता को स्वीकार न करना। यह बात बौद्ध न्याय के अनुकूल पड़ती है। बौद्धों के अनुसार दो ही प्रमाण मान्य हैं। प्रत्यक्ष तथा अनुमान। सम्भवतः शंकु बौद्ध दर्शन के प्रभाव में ही लिङ्ग-हीन स्थायी की सत्ता को स्वीकार करने से इन्कार कर देते हैं। दूसरी बात यह कि लिङ्ग-हीन स्थायी की सत्ता की अस्वीकृति भाव के स्थापित्व की अस्वीकृति से सम्बद्ध प्रतीत होती है। यदि यह मान लिया जाय, तो शंकु की यह धारणा बौद्ध "दीर्घभावाद" के अनुकूल पड़ती है। जहाँ तक अनुभवों की समस्या आती है, इस विषय में उसकी व्याख्या "सन्तानवाद" के द्वारा की जा सकती है।

४- अभिनव गुप्त के गुरु भट्ट तीर्थ शंकु का खण्डन करते समय शंकु को बौद्ध मान कर चलते प्रतीत होते हैं। इस के दो बड़े ही उज्ज्वल प्रमाण अभिनव भारती में निहित हैं।  
क- शंकु के रस को भावानुकरण-रूप मानने के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए तीर्थ कहते हैं कि भावों का अनुकरण किसी दृष्टि से नहीं बनता। न सामाजिक की प्रतीति के अभिप्राय से, न नट के अभिप्राय से, न व्यावहारिक बुद्धि की छोड़ वस्तु-स्थिति पर दार्शनिक दृष्टि से विचार करने वाले व्याख्यात-विशेषों की दृष्टि से, और न ही भरत की दृष्टि से। यहाँ जो चार पक्ष बनाये गये हैं उनमें एक पक्ष व्याख्यात-विशेषों का है:-

"अनुकरणरूपी रस इति यदुच्यते, तत्किं सामाजिकप्रतीत्यभिप्रायेण, उत नटाभिप्रायेण, किंवा वस्तुवृत्तविवेक व्याख्यातबुद्धिखलमवबलम्भेन : यथाहुः- व्याख्यातारः सत्त्वेन विवेचयन्ति", अथ भरतमुनिवचनानुसारेण ?" २

यहाँ "व्याख्यातारः सत्त्वेन विवेचयन्ति" शब्दों से तीर्थ ने जिन व्याख्याताओं की ओर संकेत किया है, वे धर्मकीर्ति के मान्य व्याख्याता हैं। शब्द भी धर्मकीर्ति के शब्दों की स्मृति दिलाते हैं:-

"व्याख्यातारः सत्त्वेन विवेचयन्ति, न तु व्यवहर्तारः।" ३

भट्ट तीर्थ मानो कहना चाहते हैं : हम तुम्हारा ही नहीं, तुम्हारे गुरु धर्मकीर्ति का दृष्टि-कोण भी अपना लें, तो भी रस को अनुकरण-रूप सिद्ध नहीं किया जा सकता।

५- प्रमाण-वार्तिक के उपर्युक्त शब्द ही नहीं, स्वयं शंकु भी उन शब्दों में प्रतिपादित सिद्धान्त से प्रेरणा लेते प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि भट्ट तीर्थ ने शंकु के मूल पर आघात किया है। प्रमाण-वार्तिक का उक्त स्थल इस प्रकार है :

"ननु बाह्या विवेकिनः। न च तेषु विकल्पप्रवृत्तिः। क्वं तेषु भवतीति ?

व्याख्यातारः सत्त्वेन विवेचयन्ति, न तु व्यवहर्तारः। ते तु स्वात्मबलमेव अर्थाश्रया-योग्यं मन्यमानाः विकल्प्याथविकीकृत्य प्रवर्तन्ते। तदभिप्रायेणैवादिमुच्यते।" ४

१- "विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिङ्गाभावेनावगत्यनुपपत्तेः।" अभि० भा०, भा० १, पृ० २७२।

२- अभि० भा०, भा० १, पृ० २७४।

३- प्रमाणवार्तिक : धर्मकीर्तिः स्वार्थानुमानपरिच्छेद : पृ० १७० : राहुल साँसकरणा। वृत्ति से। सन्दर्भ : आर० गुनीली : पृ० ३९।

४- प्रमाण-वार्तिक : धर्मकीर्ति : पृ० १७० : स्वार्थानुमान-परिच्छेद स्ववृत्ति से।



प्रसंग सामान्य का है। सामान्य को बौद्ध अपोह या तदिभन्न-भिन्न-रूप मानते हैं, अतः वह कोई भाव-भूत पदार्थ नहीं। प्रश्न उठता है, तब अनेक घटों को देख द्रष्टा को सब में एकाकारा प्रतीति कैसे होती है? धर्मकीर्ति का समाधान इस प्रकार है :-

" पररूपं स्वरूपेण यथा संविणते धिया ।

एकार्षप्रतिभासिन्या भावानाश्रित्य भेदिनः ॥

तथा संवृतनानार्थाः संवृत्या भेदिनः स्वयम् ।

अभेदिन इवाभान्ति भावा रूपेण केनचित् ॥

तस्या अभिप्रायवशात् सामान्यं सत् प्रकीर्तितम् ।

तदसत् परमार्थेन यथा संकल्पितं तथा ॥

१

विवाचीय ही नहीं, सजातीय भी भावों या स्वलक्षण अर्थों का यह स्वरूप एक-दूसरे से भिन्न एवं विवक्षणा होता है। दस घट-व्यक्तियों के रूप-रंग-आकार एक से नहीं होते। किन्तु द्रष्टा की विकल्पिका बुद्धि में उनके ये भेद स्पष्ट नहीं रह जाते। विकल्पिका बुद्धि का यह स्वभाव ही है कि वह इन भेदों पर पर्दा डाल कर इनमें एकार्ष-प्रतिभास कर लेती है। वात यह है; बुद्धि देखती है, ये सभी घट जल-आवरण-धारण का एक सा ही कार्य करते हैं, एक सी ही मिट्टी आदि सामग्री से निर्मित हुए हैं। सामान्य का सम्बन्ध भावों के इसी बौद्ध धरातल से है, बाह्य से नहीं। इस प्रकार विकल्पिका बुद्धि के द्वारा भेद-संवरण करके एकार्ष-प्रतिभास करा देने से बाह्य अर्थ, जो परस्पर भिन्न होते हैं, अभिन्न से प्रतीत होने लगते हैं।<sup>२</sup>

वह विकल्प-बुद्धि-गत एकार्षता-प्रतिभास वस्तुतः कोई भाव-भूत पदार्थ नहीं होता, अभावात्मक अन्यापोह रूप होता है। किन्तु इस अन्यापोह का ग्रहण करते हुए भी ऐसा लगता है कि बुद्धि किसी भावात्मक पदार्थ का ग्रहण कर रही है। कारण, यह एकार्षता-प्रतिभास बाह्य भाव-भूत पदार्थ के दर्शन के माध्यम से आया होता है। अतः एकार्ष-प्रतिभासिनी बुद्धि के अभिप्राय से सामान्य सत् लगता है, है वह वस्तुतः असत् पदार्थ।

१- प्रमाण-वार्तिक : सामान्यचिन्ताः कारिका ७०-७१-७२ : पृ० १६६।

२- "बुद्धिर्विकल्पिका तदन्यव्यतिरेकिणो भावानाश्रित्य उत्पन्ना सवसासना-स्वभावमनुविद-पती एणां भावानामभेदमध्यस्य स्वयमेवाभिन्नाकारं तान् सृजन्ती मिश्रयन्ती संदर्शयति।"

प्रमाण-वार्तिकः वृत्तिः पृ० १६७-८।

३- "सा च एकसाध्यसाधनतयैव अन्येभ्यो विवेकिनां भावानां विकल्पस्य वासना ।" वही, पृ० १६८।

४- "स्वलक्षणा न्यनुभूय ययानुभवमसौ शुक्लो घटः कृष्णो न्यो वेत्येवं विकल्पबुद्धिष्वक्ष्ण्टाः घटाकारास्ते बुद्धिपरिवर्तिनी भावा ये, तेजामेव सामान्यं सम्बन्धि।"

प्रमाण-वार्तिकः कर्णिक-गौमि-टीकाः पृ० १६९।

५- "सा ज्य एवं प्रतिभासमाना संवृतिः। अन्या स्वरूपेण पररूपस्य संवरणात्। ते च संवृतभेदा भिन्नात्मानोऽपि केनचिद् रूपेणाभिन्नाहव प्रतिभासन्ति।" प्र० वा०ः वृत्तिः पृ० १६८।

६- "स एवान्यापोहः। तमेव ग्रहणती विकल्पानां प्रकृतिविभ्रमात् वस्तुग्राहिणीव प्रतिभाति। सा हि तदन्यविवेकिणु भावेज्येव भवन्ती विवेकविषयैति गम्यते।" वही, वृत्ति, पृ० १६९-१७०।

"अन्यापोह उच्यते अन्यविविक्तपदार्थदर्शनद्वारायातत्वात्।" वही, टीकाकर्णिकगौमिन्ः पृ० १७०।



इस प्रकार बाह्य स्वलक्षण परस्पर एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। एकार्यता का प्रतिभास दृष्टा को विकल्प-बुद्धि द्वारा आरोपित होता है। एकार्यता-प्रतिभास पदार्थ का विकल्पित रूप है। सामान्य व्यवहारी पुरुष दृश्य स्वलक्षण तथा विकल्प में भेद करके नहीं चलता। विकल्प को स्वलक्षण से मिला कर चलता है, और स्वलक्षण को ही, विकल्प से अभिन्न माने हुए स्वलक्षण को ही, अर्थक्रिया-योग्य समझता है। उसे उससे अर्थक्रिया की सफलता मिलती भी है। किन्तु जो तत्व से परिचित है, वस्तु-वृत्त के विवेचन की क्षमता रखते हैं, वे तो दोनों के अन्तर से परिचित होते हैं। फल यह होता है कि जहाँ व्यवहारी पुरुष को यह सामान्य सत् प्रतीत होता है, वहाँ तत्व-चिन्तक इस भ्रमावे में नहीं पड़ता।<sup>१</sup>

सामान्य के इस विवेचन में हमारे सामने लौकिक अनुभव की एक प्रक्रिया स्पष्ट होती है। व्यवहारी पुरुष का अनुभव तत्व-विवेचक से भिन्न होता है। व्यवहारी पुरुष बाह्य रूप तथा विकल्प-बुद्धि-गत रूप को एकाकार कर के देखता है। उस रूप को ही अर्थक्रिया-योग्य मानता है। तत्व-चिन्तक को दृष्टि से दोनों धरातल पृथक् होते हैं।

अब आइए शकुन्तल की ओर। शकुन्तल का सामाजिक एक व्यवहारी पुरुष है। वह न तो चित्र के अश्व को वास्तविक अश्व से पृथक् करके देखता है, न उसे इसकी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार वह नट को भी, जो कि राम का अभिनय कर रहा होता है, उस राम से जिसका रूप उसकी बुद्धि में काव्यादि के द्वारा निहित किया गया है, पृथक् करके नहीं देखता। व्यवहारी सामाजिक का बाह्य राम-रूप नट में और बुद्धि-गत वास्तविक राम में यह भेद ठीक उसी प्रकार का है जैसा कि धर्मकीर्ति का दृश्य एवं विकल्प अर्थ-रूपों का। किन्तु व्यवहारी सामाजिक चाहे इस भेद को करके न चले, तत्व-चिन्तक, वस्तु-वृत्त से परिचित व्याख्याता और विवेचक इस भेद-युक्त धरातल से परिचित होते हैं। यदि सामाजिक एक गीण को अपनी सामाजिकता के रूप से हट कर विवेचक-रूप अपना ले, तो वह भी चित्र-तुरग और वस्तु-तुरग का, नट और राम का अन्तर जान सकता है; किन्तु उन क्षणों में वह सामाजिक नहीं होगा, वस्तु-वृत्त का विवेचक होगा, तत्व-चिन्तक जालीचक होगा।

शकुन्तल के निम्न जैसे स्थल धर्मकीर्ति के विवेचन को सामने रख कर अधिक अच्छा प्रकार स्पष्ट किये जा सकते हैं:-

"न चात्र नर्तक एव सुखीति कतिपत्तिः, नाप्ययमेव राम इति, न चाप्ययं न सुखीति, नापि रामः स्याद्वा न कथमिति, न चापि तत्सदृश इति, किन्तु सम्बद्धमिष्ट्यासंशयसादृश्य-प्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगन्यायेन "यः सुखी रामः, असावयमिति" प्रतीतिरस्तीति।" २

६- भट्ट तीत द्वारा किये गये शकुन्तल के खण्डन में एक पंक्ति बड़ी महत्व-पूर्ण आती है। पहिले इस प्रकार है :-

"नर्तकान्तरेऽपि च रामोऽयमिति प्रतिपत्तिरस्ति, ततश्च रामत्वं सामान्यरूपमित्यार्यातम्

१-"ननु बाह्या विवेकिनः। न च तेषु विकल्पप्रवृत्तिः। कथं तेषु भवतीति। व्याख्यातारः सत्त्वेवं विवेचयन्ति, न तु व्यवहर्तारः। ते केन तु स्वावतम्बनमेव अर्थक्रियायोग्यं मन्यमानाः विकल्प्याश्रयिकीकृत्य प्रवर्तन्ते। तदभिप्रायवशादेवमुच्यते। तथा तत्कारितयाऽतत्कारिभ्यो भिन्नात् शब्देन प्रतिपादयन्तीत्युच्यते। तत्वचिन्तकास्तु प्रतिभासभेदादिभ्यो नाभेदमनुसन्वत्ते।"

प्रमाणवार्तिक-वृत्तिः पृ० १७०-१७१।

२-अभि० भा०, भा० १, पृ० २७३।



भट्ट तीत के तर्क का आशय यह है कि यदि शंकु की मान्यता स्वीकार कर ली जाय तो जहाँ एक अभिनय में एक नट को "रामोऽयम्" के रूप में समझना वहाँ दूसरे अभिनय में दूसरे नट को "रामोऽयम्" के रूप में समझना होगा। फल यह होगा कि इस प्रकार रामत्व के रूप में हमें एक सामान्य की सत्ता स्वीकार करनी होगी। इस तर्क के साथ यह बात विशेषण उल्लेखनीय है कि इसका पहिले तथा पीछे के अन्य तर्कों से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। प्रस्तुत तर्क इतने ही शब्दों में स्वतन्त्र रूप से शंकु के स्रष्टन में दिया गया है, और उसमें शंकु के अनुकरण-वाद के ऊपर सीधे-सीधे नहीं, अपितु उनके बौद्ध रूप पर सीधे आक्षेप किया गया है। हम जानते हैं कि बौद्ध सामान्य की सत्ता से इन्कार करता है। वह इसे अपोह के रूप में अभावात्मक मानता है। वैदिक न्याय तथा बौद्ध न्याय में सामान्य के ऊपर बड़े बड़े लम्बे विवाद हैं, और वैदिक न्याय में उन सबका अन्त इसी तर्क के साथ किया जाता है कि सामान्य एकभावात्मक पदार्थ है, उसकी सत्ता से कोई अनुभव-कर्ता इन्कार नहीं कर सकता। यदि भट्ट तीत शंकु की बौद्ध-रूपता की धारणा बना कर न चले होते तो निश्चय ही वे इस प्रकार के आक्षेप शंकु के प्रति नहीं उठाते। इस तर्क के द्वारा मानो शंकु से भट्ट तीत कह रहे हों : तुम्हारी बात मानने से तो तुम्हारे दर्शन की मूल-भित्ति पर ही आघात होगा महाशय !

७- शंकु की विवेचन-प्रक्रिया में कुछ दूर का एक और साम्य मिलता है। विज्ञान-वाद ज्ञान अथवा बुद्धि के अतिरिक्त किसी बाह्य पदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करता। धर्मकीर्ति कहते हैं कि नीले रंग तथा नीले रंग के ज्ञान में कोई भेद नहीं।<sup>१</sup> और जो बाह्य पदार्थ ज्ञान से भिन्न प्रतीत होता है, वह तो एक भ्रम है। वह तो स्वयं ज्ञान का ही एक अवभास है। बाह्य पदार्थ की सिद्धि ही इस लिये होती है कि हमें नीलात्मक ज्ञान होता है। नील पदार्थ से हमारा नीलात्मक ज्ञान उदित होता है। यह ज्ञान नील विषय के सदृश होता है। धर्मकीर्ति के अनुसार यह "अर्थ-सारूप्य" ही प्रमा का साधन अर्थात् प्रमाण है।<sup>२</sup> इसी नील-सारूप्य या "अर्थ-सारूप्य" के आधार पर हम नील की सत्ता का अनुमान कर सकते हैं।<sup>३</sup> इस प्रकार जो लोग बाह्य पदार्थों की वास्तविक सत्ता मान कर चलते हैं, उनके अनुसार तो यह मानना ठीक है कि "भाव" या अर्थ "ज्ञान" का जनक है, या ज्ञान भाव-पूर्वक होता है; किन्तु विज्ञान-वाद के अनुसार तो तात्त्विक दृष्टि से ज्ञान से ही भाव की सत्ता सिद्ध होती है, अतः "भाव" ही "ज्ञान-पूर्वक" होता है। इस प्रकार यहाँ भी व्यवहार-बुद्धि तथा तात्त्विक बुद्धि के दो फल हो सकते हैं। व्यवहार-बुद्धि से अभाव-पूर्वक सत्ता यदि विषय-विशेष की अपेक्षा कर के चलने पर ज्ञान की भाव-पूर्वकता कही जा सकती है, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से भाव की ज्ञान-पूर्वकता ही कही जायगी।

१-भारतीय दर्शन:दत्ता-वर्तनी:पृ० १५०।

२- "नान्योऽनुभावो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवो परः।

ग्राह्यग्राहकैर्ध्यास्ति स्वयं प्रकाशते।। - - - यश्चायं ग्राह्यग्राहकवित्तीनां युगवभासः, सः एकस्मिंश्चन्द्रमसि द्वित्वावभास इव भ्रमः। अवाप्यनादिक्लेशकरविच्छिन्नप्रवाहा भेदवासीनव निमित्तम्।" सर्वदर्शनसंग्रहः पृ० ३१-२:द० २:पं० १९४-१९९, २०१-४।

३-"अर्थसारूप्यमस्य प्रमाणम्।" न्याय-विन्दुः प्रथम परि०:पृ० २५।

श्री ७ सन्दर्भ अग्रिम पृष्ठ पर



"इस प्रकार "भाव" तथा "ज्ञान" की पूर्वापर स्थिति ठहरती है। अब आइए शंकु की ओर। रस-विवेचन में "भाव" तथा "रस" शब्द विरुद्ध दूसरा अर्थ रखते हैं। रस तो एक ज्ञान-विशेष ही है, किन्तु "भाव" यहाँ अर्थ-वाची नहीं। तथापि शंकु का इनके पूर्वापर-स्थिति-विषयक सम्बन्ध-निर्धारण ठीक उसी प्रक्रिया पर चला है। शंकु की मान्यता है कि पहिले अनुकर्ता में रस की स्थिति होती है, पीछे सामाजिक को अनुकार्य में प्रस्तुत भाव का ज्ञान। अतः प्रथम रस या ज्ञान होता है, पीछे भाव। लौकिकदृष्टि से यह कहा जा सकता है कि भाव से रस निष्पन्न होता है। यह दृष्टिकोण नाट्याचार्य द्वारा नट को दी हुई शिक्षा के आधार पर कहा जा सकता है। क्योंकि भावों का अनुकरण ही तो रस है। शंकु का विवेचन इन शब्दों में है:-

"श्रीशंकुस्त्वाह- अनुकर्तरि रसानास्वादयतीऽनुकार्ये भावप्रतीतिप्रयोगे। लोके प्रकृतिः रसं निष्पादयतीति। द्वित्यपेक्षो नाट्याचार्यभिप्रेतशिक्षानुसारेण।" १

"तस्मान्न भावपूर्वकत्वं रसस्य, अपितु तद्विपर्यय एवावर्तत हि मुनिना- "रसपूर्वकत्वं भावानां, भावपूर्वकत्वं रसस्य। विषयविशेषापेक्षायां प्रयोगे ह्यनुकर्तरि रसानास्वादयतीमनुकार्ये भावप्रतीति

#### गत पुच्छ के सुन्दर्भ

"यस्माद्विषयान्ज्ञानमुदेति तद्विषयसदृशं तदभवति। यथा नीलादुत्पद्यमानं नीलसदृशम्। तच्च सारूप्यं सादृश्यमाकार इत्याभास इत्यपि व्यपदिश्यते।" न्यायविन्दुः धर्मोत्तराचार्य-टीकाः

पृ० २५-२६।

१- "तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्ध्येरिति।" न्याय-विन्दुः धर्मकीर्तिः पृ० २६।

"नीलनिर्भासं हि विज्ञानं यतः, तस्मान्न तस्य प्रतीतिरवसीयते।"

न्या० वि०ः धर्मोत्तराचार्य कृत टीकाः पृ० २६।

५- यहाँ जनक का अर्थ उत्पादक नहीं, व्यवस्थापक-मात्र ही लेना चाहिए।

"न चात्र जन्यजनकभावनिबन्धनः साध्यसाधनभावः, - - । अपितु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन

६- अर्थसारूप्यमसि प्रमाणम्।" न्या० वि०ः पृ० २५।

ननु ज्ञानादव्यतिरिक्तं सादृश्यम्।" धर्मोत्तर-टीकाः न्या० वि०ः पृ० २६।

तद्वशादर्थप्रतीतिसिद्ध्येरिति।" न्या० वि०ः पृ० २६।

१- अभि० भा०, भा० १, पृ० २९२।



रूपत्वमिति प्रथमस्य पक्षस्योत्थान्मालीके तु भावदर्शनात् तत्स्वरूपरसनिष्पत्तिरिति।" १

रस-क्षेत्र में शंकु भी रस-रूप ज्ञान की भाव-पूर्वकता के प्रतिपादक हैं, और लील्हट की इस मान्यता का खण्डन करते हैं कि रसों से पहिले भावों की स्थिति होती है।

जाज शंकु को कोई मूल कृति हमारे समक्ष उपलब्ध नहीं है। यदि यह सौभाग्य रहा होता, तो हम उनके दार्शनिक आधार का वास्तविक विवेचन करने का अवसर प्राप्त कर सकते थे। उपर्युक्त तथ्य वस्तुतः संकेत-मात्र हैं। और इन संकेतों के आधार पर दिया हुआ निर्णय विवाद-ग्रस्त भी हो सकता है। किन्तु अभिनव-भारती के इन संकेतों तथा बौद्ध मान्यताओं से मिल जाती हुई शंकु की कुछ स्थापनाओं के रहते एक जागरूक पाठक को यह विश्वास जमता है कि शंकु वैदिक न्याय के अनुगामी न हो कर बौद्ध न्याय के ही अनुगामी थे। यह भी प्रतीत होता है कि उन्होंने विशेषतः बौद्ध धर्मकीर्ति का सहारा लिया है। वस्तुतः उनके रस-सिद्धान्त की व्याख्या बौद्ध-दर्शन की छाया में ही अधिक अच्छी की जा सकती है।

#### सांख्य-वादी व्याख्या

जैसा कि हम पीछे संकेत कर चुके हैं, अभिनव गुप्त ने लील्हट तथा शंकु के मत-विचन के अनन्तर तथा भट्ट नायक के मत से पूर्व एक सांख्य-वादी रस-व्याख्या प्रस्तुत की है।

व्याख्या इस प्रकार है :-

"सुख-दुःखजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव सांख्यदृशा सुख-दुःख-स्वभावा रसः। तस्यां च सामग्र्यां दलत्वानीया विभावाः, संस्कारका अनुभावव्यभिचारिणः, स्वायिनस्तु तत्सामग्र्यन्या आन्तराः सुख-दुःख-स्वभावा इति।" २

इसमें बताया गया है कि बाह्य विषय-सामग्री, जो कि सांख्य की दृष्टि से स्वतः सुख-दुःख-मय है, तथा भीक्षता अन्तःकरण में सुख-दुःख उत्पन्न करने की शक्ति रखती है, रस है। इस प्रकार यह व्याख्या स्थायी भावों को रस नहीं कहती, अपितु बाह्य विषय-सामग्री को ही रस कहती है। स्थायी भाव तो इसके अनुसार भीक्षता अन्तःकरण में उस सामग्री से उत्पन्न-दित सुख-दुःख हैं, जो कि स्पष्ट ही आन्तर हैं। यिआन्तर स्थायी रस नहीं, रस तो बाह्य सामग्री है।

यह व्याख्या रस की सामाजिक के अन्तःकरण में नहीं खोजती। इसका दृष्टि-कोण शुद्ध वस्तु-परक है। बाह्य सामग्री की यह स्थूल स्थिति अभिनव-परक दृष्टि अपना कर ही ठीक-ठीक बन सकती है। पद्य-काव्य में तो शब्दों के माध्यम से जानेके कारण विभावादि सामग्री सामाजिक के लिए आन्तर हो कर जा सकती, बाह्य नहीं रह जायगी। इससे प्रतीत होता है कि इस व्याख्या के कर्ता की दृष्टि अभिनव-क्षेत्र तक ही सीमित रही है। वस्तु-वादी दृष्टि-कोण, रंग-मंचीय सीमा, तथा व्यञ्जना के पहलू का अज्ञात-पन इस व्याख्या की ध्वनि-पूर्ववर्ती होने का संकेत देती है। अतः हमने इसे ध्वनि-पूर्व युग में ही रखना उचित समझा है।



इस व्याख्याकार के अनुसार तो स्थायी तथा रस में मौलिक भेद हो जाता है। दोनों की स्थिति भी दो जगह है। अतः यह मत भरत के विपरीत पड़ता है। भरत की तो मान्यता है- "स्वायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः"।<sup>१</sup> उनके अनुसार स्थायी तथा रस में मौलिक या जाति-गत भेद नहीं। इस भरत-विपरीत्य को यह सांख्य-वादी व्याख्याकार जानता है, और उसका समाधान करना चाहता है। उसके अनुसार भरत के ऐसे प्रयोग औपचारिक हैं जिनमें स्थायी तथा रस की एक-जातीयता प्रतिपादित की गयी हो। अभिनव गुप्त ऐसे व्यक्ति के तर्कों पर विचार भी नहीं करना चाहते। वह तो स्वयं जान-बूझ कर भरत-विपरीत हो रहा है। उनका कहना है कि इसने तो स्वयं अपने को भरत-विपरीत स्वीकार करके प्रामाणिक व्यक्ति को सण्ढन के कष्ट तथा मुखरता से बचा दिया।

"येन त्वभ्यधायि- "सुख-दुःखजननशक्तियुक्ता विषय-सामग्री बाह्यैव सांख्य-दृशा सुख-दुःख-स्वभावा रसः।- इति" तेन स्वायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम इत्यादावुपचारमहंगीकुर्वता ग्रन्थविरोधं स्वयमेव बुध्यमानेन दूषणाविष्करणमौख्यात् प्रामाणिकजनः परिरक्षित इति किमस्योच्यते। यत्त्वन्व्यत्तत्प्रतीतिवैषम्यप्रसङ्गादि तत्त्विकदोषोच्यताम्।" २

सांख्य के अनुसार २५ तत्त्व हैं, जिनमें दो मूल तत्त्व हैं- पुरुष तथा प्रकृति। शेष २३ तत्त्व प्रकृति के ही विकार हैं। पुरुष चेतन, किन्तु अकर्ता एवं साक्षि-मात्र है। प्रकृति बड़ किन्तु क्रिया-शील है। प्रकृति की क्रिया-शीलता चेतन पुरुष के सम्पर्क में आकर होती है। बाह्य स्थूल पदार्थ तथा अन्तःकरण दोनों ही प्रकृति के विकार हैं। वे "प्रकृति" ही हैं। अतः जब अन्तःकरण किसी बाह्य पदार्थ का अनुभव करता है, अथवा उनसे सुख-दुःख का संचय करता है, तो कहना चाहिए प्रकृति प्रकृति में ही बरतती है। "गुणा गुणेषु वर्तन्ते"। वस्तुतः पुरुष कोई व्यापार नहीं करता पुरुष-चेतन्य के प्रतिविम्बों से आभासित हुए प्रकृति के विकार अन्तःकरण ही अनुभवात्मक व्यापारों में प्रवृत्त होते हैं।<sup>३</sup>

प्रकृति त्रिगुणात्मक है। ये गुण हैं- सत्व, रजस् तमस्। सत्व प्रकाशात्मक तथा सुख-रूप है। रजस् प्रवृत्ति-कारी दुःख-रूप। तमस् नियमन-कारी, आवरण, मोह-रूप।<sup>४</sup> अतः प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ सुख-दुःख-मोह-स्वभाव हैं। प्रत्येक पदार्थ भोक्ता अन्तःकरण के लिए तद्गत सत्व-रजस्-तमस् की स्थिति के अनुरूप उसमें सुख-दुःख-मोह उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। एक ही रमणी अपने प्रिय के लिए सुख-दायिका, सपत्नियों के लिए दुःख-दायिका तथा अन्य व्यक्तियों के लिए मोह-दायिक हो सकती है।<sup>५</sup> इस प्रकार प्रकृति के बाह्य पदार्थ सांख्य को दृष्टि में स्वतः सुख-दुःख-मोह-स्वभाव ही हैं, तथा भोक्ता अन्तःकरण में सुख-दुःख-मोह उत्पन्न करने की क्षमता भी रखते हैं। यह सब गुणों की स्थिति के अनुरूप चलता है। सांख्य के सत्कार्य-वाद के सिद्धान्त के अनुसार

१-नाट्य-शास्त्र : पृ० २९९।

२-हेमचन्द्र : अलं० चू० : पृ० ९६।

३-सांख्य-कारिका : ईश्वर-कृष्ण : कारिका ३, १०, ११, ६५, ३५, ६२ के आधार पर।

४-सांख्य-कारिका : ईश्वर-कृष्ण : कारिका १२, १३ के आधार पर।

५-सांख्य-तत्त्व-कौमुदी : वाचस्पति मिश्र : कारिका १३ की व्याख्या के आधार पर।



कोई नयी उत्पत्ति नहीं होती, पूर्वतः विद्यमान तत्वों की अभिव्यक्ति ही उत्पत्ति है। अतः सुख-दुःख उत्पन्न होने का अर्थ है अन्तःकरण के सुख-दुःखों का बाह्य सामग्री के सम्पर्क में आकर अभिव्यक्त हो जाना।

इस सांख्य-वादी व्याख्या-कार ने भी अपने दार्शनिक दृष्टि-कोण के अनुरूप बाह्य सामग्री को सुख-दुःख-स्वभावा तथा सुख-दुःख-जनन-शक्ति-युक्ता कहा है। यही बाह्य सामग्री उसका रस है।

भरत-सूत्र का अनुगमन करते हुए यह व्याख्या-कार सामग्री में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी तीन को ही रखना चाहता है। विभाव दल या पत्रों के स्थानीय हैं, अनुभाव तथा व्यभिचारी संस्कारक-स्थानीय। दल-शब्द के प्रयोग से प्रतीत होता है यह व्याख्या-कार वनस्पति-दलों के निष्यन्द-रस के माध्यम से नाट्य-रस की व्याख्या करना चाहता है। वनस्पति-रसों का निष्यन्द-रूप रस निकाल कर तथा कुछ अन्य जीवधियों से संस्कृत करके स्वादु-पेय के रूप में या जीवध-पेय के रूप में हो सकता है। भरत जिस प्रकार पाक-रस का निदर्शन सामने रखते हैं, उसी प्रकार यह व्याख्या-कार वनस्पति-निष्यन्द का निदर्शन सामने रख कर चलता प्रतीत होता है। द्रष्टव्य यह है कि यह व्यभिचारी भावों को भी बाह्य स्थूल विषय-सामग्री के रूप में अपनाता है, फिर चाहे वे रंग-मंचीय पात्रों के ही क्यों न माने जायें।

इस मत की दुर्बलताएँ स्पष्ट हैं। सांख्य-दृष्टि से रस की व्याख्या करना पाय नहीं था। किन्तु उसकी वास्तविक व्याख्या तो होनी चाहिए थी। जैसा कि आगे चल कर भट्ट नायक ने स्पष्ट किया, व्याख्या में भोक्ता चित्त की स्थिति का स्पष्टीकरण होना चाहिए था। विभावादि विषय-सामग्री से सामाजिक किस प्रकार रसानुभूति करता है, उसके अन्तःकरण के सत्त्व, रजस्, तमस् का रसानुभूति में क्या अनुपात होता है, सत्त्व का किस प्रकार उद्रेक होता है, रसानुभूति किस प्रकार सुखात्मक बनती है, लोकानुभूति का रसानुभूति से क्या अन्तर है और क्यों है, अन्तःकरण तथा पुरुष चैतन्य का रसानुभूति में क्या सम्बन्ध रहता है — जादि प्रश्नों पर यदि सांख्य दर्शन को सतत रूप पर प्रकाश डाला जाता, तो निस्सन्देह इस व्याख्या का बड़ा महत्व होता। किन्तु इस व्याख्या को देने वाले व्यक्ति की दृष्टि अपनी गुण-ज्ञानाना में जीवदुष्य है। वे रंग-मंच के परातल से बाहर न आकर "विषय-सामग्री बाह्यैव रसः" तक सिमित कर रहे जाती है। फिर भी, इसका एक ऐतिहासिक महत्व है। हम भट्ट नायक के विवेचन में देखेंगे कि उन्होंने सांख्य का पर्याप्त सहारा लिया है। इस व्याख्या का उल्लेख हमें बताता है कि भट्ट नायक से पूर्व ही रस-व्याख्या के लिए लोगों की दृष्टि सांख्य की ओर भी जा चुकी थी, भले ही वह असफल रही हो।



### आनन्द-वर्धन

अब तक हमने ध्वनि-पूर्वीय रस-चेतना का परिचय प्राप्त किया है। इस युग में रस का वस्तु-वादी दृष्टि-कोण तथा दृष्टि की अभिनय-परकता विशेषतः उल्लेखनीय बातें हैं। भरत के टीकाकारों के बीच रस पर अपेक्षाकृत गम्भीर विचार प्रारम्भ हो गया था, यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में ध्वनिकार तथा आनन्द-वर्धन प्रणीत ध्वन्यालोक सामने जाता है।

आनन्द-वर्धन की कृति ने समीक्षा-चेतना में एक क्रान्ति-कारी परिवर्तन उत्पन्न किया। जिस प्रकार नाट्य-शास्त्र के रूप में अभिनय का एक सुदृढ़ शास्त्र उपस्थित था, उसी प्रकार पद्य काव्य का भी एक अपना शास्त्र ध्वन्यालोक के रूप में सामने आया। फल यह हुआ कि अब रस के समीक्षकों के सामने नाट्य-रस ही नहीं, काव्य-रस भी रहने लगा। ध्वनि-पूर्व-वर्ती तथा परवर्ती विवेचकों के निरूपणों की शब्दावली के तुलनात्मक अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। लीलाट-शंकु की अपेक्षा भट्ट नायक-अभिनव गुप्त के विवेचनों में काव्य का पक्ष भी स्पष्टतः सामने दिखायी पड़ता है। दूसरी बात यह कि विभिन्न काव्याङ्गों के एक समन्वय निरूपण के सामने आने के कारण विवेचकों की दृष्टि में पर्याप्त सफ़ाई आयी, और रस-विवेचन में विषय-पक्ष की अपेक्षा विषयि-पक्षीय दृष्टि का उन्मीलन हुआ। सहृदय-गत रस का वास्तविक विश्लेषण भट्ट नायक से प्रारम्भ होता है। ध्वनि-पूर्वीय आचार्यों में यह सफ़ाई नहीं दिखायी पड़ती।

आनन्द-वर्धन ने रस-स्वरूप पर पुनः से विचार प्रस्तुत नहीं किया। उन्होंने ध्वनि-नामक उत्तम काव्य के तीन रूप स्थिर किये: रस, वस्तु, अलंकार। तीनों ही प्रकारों का आधार व्यञ्जना है। रस भी व्यञ्ज्य होता है। किन्तु उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि विभाव-अनुभाव-व्यभिचारों की सामग्री द्वारा रस किस प्रकार व्यञ्जित होता है। भट्ट नायक के तीन पूर्व-पक्षों में से एक अभिव्यक्ति-वादी पक्ष आता है।<sup>१</sup> यह अभिव्यक्ति-वाद वही नहीं है, जो अभिनव द्वारा प्रतिष्ठित हुआ था। अतः अनुमान किया जा सकता है कि आनन्द-वर्धन की व्यञ्जना की लेकर कुछ लोग रस की अभिव्यक्ति-परक व्याख्या भी करने लगे थे। व्यञ्जना-विरोधी भट्ट नायक ने उसका निराकरण किया है। भट्ट नायक बड़े सामान्य तर्कों से ही अभिव्यक्ति-वाद का खण्डन करके सन्तोष को साध ले सके हैं, साथ ही उनके द्वारा सन्निहित अभिव्यक्ति-वाद बड़े स्थूल रूप का दिखायी पड़ता है। अतः हम अनुमान कर सकते हैं कि आनन्द-वर्धन तथा भट्ट नायक के बीच अभिव्यक्ति-वाद का एक सामान्य सा रूप ही बंध पाया था। सम्भवतः इस अभिव्यक्ति-वाद के अनुसार अन्तर्-रूप में स्थित स्वायी भाव विभावादि प्रकाशक सामग्री के द्वारा प्रकाशित या अभिव्यक्त हो जाते हैं। इस अभिव्यक्ति-वाद का आदर्श घट-प्रदीप-न्याय प्रतीत होता है। तभी भट्ट नायक इसका सहज निराकरण कर सके हैं। पाँचि इस दृष्टि-कोण में परिमार्जन हुआ, और घट-प्रदीप-न्याय के स्थान पर दध्यादि-न्याय समझे किया जाने लगा।

१- "न प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते।" अभि० भा०, भा० १, पृ० २७६।

२- "शक्तिरूपत्वेन पूर्वं स्थितस्वप्नपिशवादभिव्यक्तौ विजयार्जनतारतम्यापत्तिः। स्वगत-परगतत्वादि च पूर्ववद्विद्वत्पुत्रम्।" अभि० भा०, भा० १, पृ० २७६।

३- "यथा अन्धकारस्थघटादेरधिकाधिकाभिव्यक्तये तदुपायभूतालोकस्याधिकाधिकस्यार्जनं जनानां शीघ्रं अग्रिमं पृष्ठं पर।



इस अभिव्यक्ति-वाद के द्वारा रस की स्वगत-परगतता का समाधान भी नहीं हो सका है। यह साधारणकरण के प्रश्नों को भी नहीं, सुलझा पाया है। अतः यह अभिव्यक्ति-वाद आनन्द-वर्धन की व्यञ्जना के आधार पर खड़ा तो किया गया है, किन्तु इसका स्वरूप अधिक परिमार्जित नहीं हो पाया है। फिर भी, इस में कोई सन्देह नहीं कि आनन्द-वर्धन की कृति ने रस-समीक्षा को अभीष्ट गन्तव्य स्थान पर पहुँचने का ठीक-ठीक द्वार उद्घाटित किया।

अब हम मम्मट-पूर्विय युग के दूसरे भाग पर आते हैं। यही युग वस्तुतः रस-स्वरूप की परिनिष्ठा का युग है।

"सु" -- ध्वनि-परवर्ती युग      आनन्द-वर्धन से मम्मट तक      ८५०ई० से १०५०ई० तक ।

इस युग में भी दो प्रकार के आचार्यों का उल्लेख पीछे हुआ है : एक भरत के टीकाकार भट्ट नायक तथा अभिनव गुप्त, दूसरे कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थकार। प्रथम हम भट्ट नायक तथा अभिनव गुप्त के विवेचनों की ओर आते हैं ।

गत पुष्प के सन्दर्भ:-

प्रवृत्तिस्तथा वासनात्मक्या अन्तःस्तिस्म रसोदेरधिकाधिकाभिव्यक्तये तदुपायभूतस्य विभावा-  
देरधिकाधिकस्यानुभवरूपार्जनै सहृदयानां प्रवृत्तिः प्रसज्येतैत्यर्थः। अधिकाधिकविषयानुभवे वासनका  
भट्टित्यभिव्यक्तिलभवादिति भावः।"

श्रीरामभारतकृता बालप्रिया टीका : लोचन : चौखम्बा : पृ० १८२ ।

४- "व्यक्तो दद्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तिकृत एव रसो, न तु दीपेन घट इव  
पूर्वस्तिद्विषो व्यज्यते।"      साहित्य-दर्पणः तृतीय परि० : पृ० ६९-६५ ।

१- "नाप्यभिव्यक्तिः, शक्तिरूपस्य हि शृंगारस्याभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यप्रवृत्तिः  
स्यात्तात्त्रापि किं स्वगतोऽभिव्यज्यते रसः, परगतो वेति पूर्ववदेव दीपः।"

लोचन : पृ० १८२ ।



### भट्ट नायक

भट्ट नायक का रस-विवेचन अभिनव गुप्त ने अभिनव-भारती में इन शब्दों में प्रस्तुत किया है :-

"भट्ट नायकस्त्वाह— रसो न प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते । स्वात्वेन हि प्रतीयते करुणे दुःखित्वं स्यात् । न च सा प्रतीतिर्युक्ता— सीतादेरविभावत्वात्, स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्, देवतादी साधारणीकरणयोग्यत्वात्, समुद्रलह-धनादेरसाधारण्यात् । न च तद्वतो रामस्य स्मृतिः— अनुपलब्धत्वात्; न च शाब्दानुमानादिभ्यः तत्प्रतीती लोकस्य सरसता युक्ता, नायक्युगलकावभासे हि प्रायुत लज्जा-जुगुप्सा-स्पृहादि-स्वोचितचित्तवृत्त्यन्तरौदयव्यग्रत्यामिह रसत्व-कथापि स्यात् । तन्न प्रतीतिरनुभवस्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता । उत्पत्तावपि तुल्यमेतद् दूषणम् । शक्तिरूपत्वेन पूर्वं स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यापत्तिः । स्वगत-परगतत्वादि च पूर्ववद्विकल्पम् ।

तस्मात्काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनवरूपेण निविह-निजमोहसङ्कटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातौ द्वितीयेनाशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसो नुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोनुवेषवैचित्र्यबलादुद्विग-विस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वाद-सविषेन भोगेन परं भुज्यत "इति । १

यही विवेचन ध्वन्यालोक-लोचन में भी कुछ अधिक व्याख्यात्मक स्पष्टता के साथ उपस्थित हुआ है।<sup>२</sup>

इस विवेचन के दो भाग हैं। प्रथम भाग में भट्ट नायक द्वारा तीन पूर्वपक्षीय मान्यताओं का स-तर्क निराकरण आता है, द्वितीय भाग में उनका अपना सिद्धान्त पक्ष। पूर्वपक्ष में तीन मान्यताएँ हैं, प्रतीति-वाद, उत्पत्ति-वाद तथा अभिव्यक्ति-वाद की। इनके सणहन-रूप में प्रस्तुत किये गये भट्ट नायक के तर्कों के आधार पर भी हम उनके कई दृष्टि-कोणों का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु इसकी चर्चा हम पीछे करेंगे, पहिले यहाँ भट्ट नायक का सिद्धान्त-पक्ष जान लेना अधिक संगत रहेगा।

१- अभि० भा०, भा० १, पृ० २७६-७।

क-अभि० भा० - "लोकस्य सरसता प्रयुक्ता (सतापि युक्ता) प्रत्यक्षादिवा।"

काव्यानुशासन, "लोकस्य सरसता युक्ता"। पृ० ९६।

ख- अभि० भा० - "लज्जा-जुगुप्सा - - व्यग्रत्याकाश (यानेक) रसत्वमथापि स्यात्"।

काव्यानुशा० - " - व्यग्रत्या का सरसत्वकथापि स्यात्" पृ० ९६।

ग- अभि० भा० - "निजमोहसंकटताकारिणा"

काव्या० - " - संकटतानिवारणकारिणा"। पृ० ९६।

लोचन - "धनमोहान्वयसंकटतानिवृत्तिद्वारेण" पृ० १८९।

२- ध्वन्यालोक-लोचनः पृ० १८०-१९०।



भट्ट नायक के अनुसार काव्य में तीन व्यापार होते हैं-- अभिधा, भावकत्व, एवं भोग-कृत्व या भोजकत्व। जहाँ तक अभिधा-व्यापार का सम्बन्ध है, वह तो शब्द को आधार बना कर चलने वाले सभी शास्त्रों में उपलब्ध होता है, किन्तु शेष दो व्यापार काव्य-शब्दों को अपनी विशेषता हैं; इन्हीं के आधार पर काव्य अन्य शाब्दाधारी शास्त्रादिक से विशिष्ट एवं विलक्षण होता है। किन्तु यह अभिधा-व्यापार काव्य में भी वाच्यार्थ भर को उपस्थित कर सकने की क्षमता रखता है। वास्तविक कार्य भावकत्व एवं भोग-व्यापारों द्वारा होता है। इनमें भोजकत्व-व्यापार विशिष्ट विभावादिकों को साधारणीकृत रूप में उपस्थित करते हुए तथा सामाजिक की मोहसंकटता का निवारण करते हुए रसों को भावित कर देता है, तथा भोगकृत्व-व्यापार के द्वारा उन भावित रसों का भोग होता है। इस प्रकार अभिधा-व्यापार वाच्य-विषयक है, भावकत्व रसादि-विषयक तथा भोगकृत्व सहृदय-विषयक। इन्हीं तीन व्यापारात्मक नशों के आधार पर काव्य के शब्द अन्य शास्त्रादिक के शब्दों से विलक्षण हो जाते हैं।<sup>१</sup>

तो अन्य शास्त्रादि-गत शब्दों के समान ही काव्य के शब्दों से पहिले अभिधा-व्यापार द्वारा वाच्यार्थ उपस्थित होती है, तदनन्तर भावकत्व-व्यापार की प्रक्रिया आती है। अभिनव-भारती के गत उद्धरण में भावकत्व-व्यापार इन शब्दों में निरूपित है:-

"काव्ये दोषाभ्यवगुणालङ्कारमयत्वलक्षणो न नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण, निविड-निज-मोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयेनाशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसो - - - - भोगेन परं भुज्यते।" २

भट्ट नायक ब्रजना की तो स्वीकार नहीं करते, किन्तु भाषा के सामान्य तथा भाव-प्रवण प्रयोग से भली भाँति परिचित हैं। वे यह मान कर चलते हैं कि अभिधा-व्यापार की सीमा सामान्य पद-पदार्थ तक ही है, इसके औ का कार्य दूसरे व्यापार के द्वारा होता है। कवि अपनी भाषा के दोषों से बचाता है, गुणों एवं अलङ्कारों से सजाता है। इससे उसकी भाषा में एक विशेष प्रकार की क्षमता आ जाती है। यह तो रही शब्द काव्य की बात, दृश्य काव्य में यह क्षमता आंगिक-वाचिक-सात्विक-आहार्य अभिनयों के द्वारा आती है।

१- "तेन न प्रतीयते, नोपपद्यते, नाभिव्यज्यते काव्येन रसः, किन्त्वन्पशब्दविलक्षणं काव्यात्मनः शब्दस्य, त्र्यंशता प्रसादात्। तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम्, भोगकृत्वं सहृदयविषयम्।" हतिस्यो शङ्कता व्यापाराः। तत्राभिधाभागो यदि शुद्धः स्यात्, तत्तन्त्रातिभ्यः शास्त्रन्यायेभ्यः श्लेषावलङ्काराणां की भेदः? वृत्तिभेदवैचित्र्यं चाकिंचित्करम्। श्रुति-दुष्टादिकर्जनं च किमर्थम्? तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारः, यद्वशादभिधा विलक्षणीव।

व्यास-लोक-लोचन : पृ० १८२।

२- अभि० भा०, भा० १, पृ० २७६ ।



यों कहिए, शब्द-काव्य में भाषा का भाव-प्रवण कलात्मक प्रयोग तथा दृश्य-काव्य में अभिनय-कला का कौशल काव्यानुभूति के लिए पृष्ठ-भूमि तैयार कर देते हैं। भाषा के इसी भाव-प्रवण कलात्मक प्रयोग के फल-स्वरूप काव्य-गत विभावादि साधारणीकृत रूप में प्रतीत होने लगते हैं। और, इस विभावादि के साधारणीकरण का सहृदय की चेतना पर एक महत्व-पूर्ण प्रभाव यह पड़ता है कि वह अन्य समस्त मानसिक व्यापारों से निवृत्त हो जाती है। भट्ट नायक इसे "निजमोह-संकटता-निवारण" कहते हैं।

भट्ट नायक के भावकत्व व्यापार का विश्लेषण करने पर उसके सम्बन्ध में निम्न तथ्य सामने आते हैं :-

१- भावकत्व व्यापार तथा साधारणीकरण एकदम पर्याय-वाची नहीं हैं। भावकत्व व्यापार के अन्तर्गत तीन बातें आती हैं :

क- शब्द-काव्य में भाषा का भाव-प्रवण कलात्मक प्रयोग दोषाभाव-गुणात्कृकार-योजना तथा दृश्य काव्य में चतुर्विध अभिनय या अभिनय-कला का कौशल ।

ख- विभावादि का साधारणीकरण ।

यह समस्त भावकत्व में सर्वाधिक महत्व-पूर्ण अंश है। इसे भावकत्व की आत्मा कहा गया है--"विभावादिसाधारणीकरणात्मना - - - भावकत्वव्यापारेण"।

ग- "निजमोहसंकटता-निवारण" अर्थात् प्रमातृ-चेतना के मोहावरण का नाश।

यह "साधारणीकरण" का अथवा यों कहिए "भावकत्व-व्यापार" का एक फल है। भावकत्व-व्यापार को ही निजमोहसंकटतानिवारणकारी कहा गया है--  
"निजमोहसंकटतानिवारणकारिणा भावकत्वव्यापारेण" ।

२- यद्यपि "साधारणीकरण" स्वयं "भावकत्व-व्यापार" का एक अंग है, तथापि अपने महत्व के कारण उसे भावकत्व की आत्मा कहा गया है। अभिनव गुप्त ने भावकत्व को जो भाषा तथा साधारणीकरण दोनों के परातल पर दिखाया है, वह इसी महत्व के कारण मोटे तौर पर। सम्बद्ध स्थल इस प्रकार हैं :-

क- "तन्मोहं भावकत्व नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य, तद्विभावादीनां साधारणत्वा-पादनं नाम " १

ख- "भावकत्वमपि समुचितगुणात्कृकारपरिग्रहात्मकमस्माभिरिव वितत्य वक्ष्यते"। २  
अतः अभिनव गुप्त के प्रथम उद्धरण पर ही दृष्टि जमा कर साधारणीकरण को भावकत्व-व्यापार का पर्याय समझना भूल होगी।

साधारणीकरण तथा भावकत्व के परस्पर सम्बन्धों पर विचार करने के लिए हम व्यापार के स्वरूप की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं। यों तो व्यापार-शब्द का प्रयोग विभिन्न शास्त्रों में होता है, किन्तु इसका प्रमुख दोष न्याय का है। तर्कभाषा-कार ने इसे इन शब्दों में निरूपित किया है :-

"तन्जन्यत्वे सति तन्जन्यजनकोऽवान्तरव्यापारः। यथा कुठारजन्यः, कुठारदारुसंयोगः,  
कुठारजन्यच्छिदावनकः"। ३



व्यापार उसे कहते हैं जो अपने करण से उत्पन्न होता है, तथा करण से ही पार्यन्तिक रूप में अन्य फल का जनक होता है। इसे यों समझिए। हम कुल्हाड़े से लकड़ी फाड़ते हैं। कुठार तथा काष्ठ का संयोग होता है; यह एक व्यापार है, जो एक ओर तो कुठार से उत्पन्न होता है, दूसरी ओर कुठार के पार्यन्तिक फल काष्ठ-छिदा का जनक भी होता है। इस प्रकार कुठार-दारु-संयोग एक व्यापार है। प्रत्येक व्यापार का कोई फल होता है।

इस उदाहरण में एक बात और ध्यान देने की है। काष्ठ-छिदा रूप फल में कुठार-दारु-संयोग को जो अवान्तर-व्यापार कहा गया है वह इस व्यापार की प्रमुखता के आधार पर ही; अन्यथा इस व्यापार में कई छोटे-मोटे व्यापारों की एक परम्परा सम्मिलित है। कुठार ऊपर को उठता है, वेग से नीचे गिरता है, काष्ठ से उसका संयोग होता है, वह काष्ठ में प्रविष्ट होता है आदि। अर्थात् उत्पत्ति-निपत्ति-संस्पर्श-प्रवेश आदि की एक अवान्तर-व्यापार-परम्परा यहाँ कुठार-दारु-संयोग में सम्मिलित है, प्रमुखता के कारण ही उसे नामकरण का आधार बनाया गया है।

ठीक यही स्थिति हमारे भावकत्व तथा साधारणीकरण की है। भावकत्व एक अपेक्षा-कृत व्यापक व्यापार है जिसमें साधारणीकरण भी कुछ अन्य व्यापारों के साथ सम्मिलित है। हम पीछे देख चुके हैं कि भावकत्व में तीन प्रमुख बातें सम्मिलित हैं।

व्यापार के जनक तथा अन्य तत्वों के आधार पर भी साधारणीकरण तथा भावकत्व का अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है। भावकत्व काव्य-शब्दों का एक व्यापार है, अतः काव्य-शब्द-जन्य है, तथा फल-रूप में रस-भावन का जनक है। किन्तु साधारणीकरण का क्षेत्र कुछ सीमित है। साधारणीकरण विभावादि का व्यापार है, वह रस भाषा के कलात्मक एवं भाव-प्रवण प्रयोग के फल-स्वरूप उत्पन्न होता है, विभावादि में रहता है, तथा फल-रूप में प्रमातृ-चेतना के मोह-संकट का निवारण करता है। दोनों की स्थिति निम्न प्रकार से रही जा सकती है :-

व्यापार	करण, व्यापार का जनक अथवा आश्रय	व्यापार का अन्य, या करण का पार्यन्तिक फल
-----	-----	-----
भावकत्व	काव्य-शब्द काव्य में भाषा का भाव-प्रवण कलात्मक प्रयोग, दृश्य में अभिनय- कीरात	रस-भावन यहाँ रस का अर्थ है स्वाधि-भाव
साधारणीकरण	विभावादि	प्रमातृ-चेतना का मोह- संकटता-निवारण। मोटे तौर पर यह भा का ही फल है।

इस प्रकार भट्ट नायक का साधारणीकरण उनके व्यापक भावकत्व व्यापार का एक अंग है, किन्तु है अत्यन्त महत्व-पूर्ण अंग।



भट्ट नायक के भावकत्व-व्यापार की प्रतिष्ठा मोमांसा के आधार पर हुई है। इस तथ्य को समझने के लिए हमें मोमांसा का "भावना-वाद" समझना होगा।

मोमांसक क्रिया को "भावना" कहता है। इसी कारण उसे "भावना-क्रिया-वादी" कहा जाता है। उदाहरण के लिए एक श्रुति-वाक्य लीजिए--"स्वर्ग-कामो यजेत", अर्थात् स्वर्ग-कामना करने वाला यजन करे। इस वाक्य से हम साधारणतया समझते हैं कि यज्ञ से स्वर्ग-प्राप्ति होती है। किंतु मोमांसक इस बात को इस प्रकार कहेगा--"यजन-क्रिया से स्वर्ग भावित होता है"। यजन-क्रिया "भावना" है और उसका "साध्य" है स्वर्ग, जो कि मोमांसा की भाषा में "भाव्य" है। "भावना" का पारिभाषिक अर्थ है--साध्य की सिद्धि के अनुकूल व्यापार "भावना नाम भवितु-र्भवनानुकूलो व्यापारः"।

यह भावना दो प्रकार की होती है-- एक शाब्दी, दूसरी अर्थोक्तिपर की "यजेत" क्रिया में दो प्रमुख अंश हैं-- यज्-धातु तथा प्रत्यय। प्रत्ययांश में आस्थातत्त्व तथा लिङ्गत्व दोनों सम्मिलित हैं। धातु तथा प्रत्यय के दोनों अंश मिल कर "भावना" का ही प्रतिपादन करते हैं। इनमें तो यज्-धातु का अर्थ है "यज्ञ करना", उसका सम्बन्ध है अर्थो भावना से। भावना के साध्य के विषय में तीन बातें अपेक्षित होती हैं : १- क्या सिद्ध करना है ? २- किस प्रकार करना है ? ३- किन साधनों से करना है ? मोमांसक इन तीनों सप्रश्न अंशों का क्रमशः साध्य, साधन तथा इतिकर्तव्यता कहता है। उपर्युक्त उदाहरण में ये बातें इस प्रकार घटित होती हैं :-

साध्य-- यजन-क्रिया का साध्य या भाव्य स्वर्ग है।

साधन-- यज्ञ उस साध्य का साधन या "करण" है।

इतिकर्तव्यता-- प्रयाज आदि यज्ञ के क्रिया-कलाप इतिकर्तव्यता में हैं।

इस प्रकार अर्थो भावना तीन आकांक्षाओं को पूर्ति करती है :-

१- किं भावयेत् ? २- केन भावयेत् ? ३- क्व भावयेत् ?

भट्ट नायक ने इसी परिपाटी का अनुसरण करते हुए काव्य-शाब्दों में भावकत्व-व्यापार का प्रतिपादन किया है। इस व्यापार के अनुसार काव्य "भावक" है तथा रस "भाव्य"।

१- अर्थ-संग्रह : लीलादिभास्कर : निर्णय-सागर :

"भावना नाम भवितुर्भवानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः।" पृ० १०।

"यजेतेत्यत्रास्यंशाद्धं, यजि-धातुः प्रत्ययश्च। - । उभाभ्यामप्यंशाभ्यां भावनैवोच्यते।" पृ० १-१०।

"सा द्विधा--शाब्दी भावना, अर्थो भावना चेति। तत्र पुरुषाप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापार-विशेषः शाब्दी भावना। - । सा च भावनांशक्यमपेक्षते, साध्यं साधनमितिकर्तव्यतां च।

- । तत्र साध्याकांक्षायां वक्ष्यमाणांशक्योपेक्षा अर्थो भावना साध्यत्वेनान्वेति।" पृ० १-११।

"प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापार अर्थो भावना। सा चास्थातत्वांशेनोच्यते। - । साध्य-शक्यमपेक्षते, साध्यं साधनमितिकर्तव्यतां च।" किं भावयेत् ? केन भावयेत् ? क्व भावयेत् ? तत्र स्वर्गादि फलं साध्यत्वेनान्वेति। साधनाकांक्षायां यागादिः करणत्वेनान्वेति। इतिकर्तव्यताकांक्षायां प्रयाजसंगजातमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति।" पृ० ११-२२।



सामान्यतः अभिनव गुप्त को रस-प्रक्रिया में यह मीमांसा-प्रणाली स्वकार्य नहीं। तथापि वे भट्ट नायक को मीमांसा-शैली में ही इसका समाधान देते हैं। भावकत्व व्यापार को व्यंजना-व्यापार से पृथक् अनावश्यक बताते हुए वे कहते हैं :- काव्य का भावकत्व तो हमें भी स्वकार्य है। किन्तु जैसा कि आप मानते हैं, केवल काव्य-शब्द ही भावक नहीं, शब्द तथा अर्थ दोनों ही। और फिर शब्द और अर्थ भी व्यंजना के सहारे ही रस-भावक होते हैं। अतः इस प्रक्रिया में भावकत्व-व्यापार को पृथक् मानना व्यर्थ है। यदि मीमांसकों की प्रणाली अपना भी ले, तो भी भावकत्व-व्यापार अनावश्यक है। रस के सम्बन्ध में भावना के उपर्युक्त तीनों अंशों की स्थिति तब इस प्रकार होगी :-

- |                           |       |  |
|---------------------------|-------|--|
| १-साधनाकांक्षा या "भाव्य" | ----- | रस, जिसके भावक काव्य के शब्द तथा अर्थ दोनों होते हैं।  |
| २-साधनाकांक्षा या "करण"   | ----- | व्यंजना-व्यापार, जिसके द्वारा काव्य के शब्द तथा अर्थ रस को भाव्य बनाते हैं।                              |
| ३-इतिकर्तव्यताकांक्षा     | ----- | गुण-अलंकार आदि का प्रयोग, औचित्य का समावेश आदि, अर्थात् भाषा का भाव-प्रवण कलात्मक प्रयोग तथा अभिनय-कौशल। |

इस प्रकार अभिनव गुप्त के अनुसार रस तक पहुँचने का एक-मात्र साधन व्यंजना ही भावना के साधनांश के स्थान पर स्वकार्य करना होगी। व्यंजना तो अपरिहार्य है। तब उससे भिन्न आपके भावकत्व-व्यापार की कल्पना व्यर्थ है।<sup>१</sup>

अभिनव गुप्त द्वारा भट्ट नायक के भावकत्व का इस रूप में किया गया विश्लेषण तथा उसका मीमांसा की प्रणाली पर किया गया निराकरण इस बात के प्रमाण हैं कि भट्ट नायक का भावकत्व-व्यापार मीमांसा पर आधारित है। उसमें प्रयुक्त भाव्य, भावन, भावक आदि अनेक शब्द सीधे मीमांसा के क्षेत्र से उठाये गये हैं, और अपनी मूल धेतनाओं के साथ ही प्रयुक्त हुए हैं।

अभिधा-व्यापार द्वारा वाच्यार्थोपस्थिति होने पर इसी भावकत्व-व्यापार के द्वारा रस भावित हो जाते हैं, तदनन्तर उन भावित रसों का भोग-कृत्व व्यापार के द्वारा "भोग" होता है। भाषा का कलात्मक भाव-प्रवण प्रयोग, विभावादि का साधारणीकरण, प्रमादु-चेतना का मोह-संकटता-निवारण आदि सभी बातें इसी भावकत्व व्यापार में जाती हैं। अतः सिद्धान्त-यक्षा को और और आगे बढ़ने से पूर्व भट्ट नायक के साधारणीकरण के सम्बन्ध में कुछ और विचार कर लेना समीचीन होगा। और जैसा कि हमने पीछे सूचित किया था, वहाँ पूर्वपक्ष के विवेचन से हमें कुछ विशेष प्रकाश मिलेगा।

१-"भावकत्वमपि समुचितगुणालङ्कारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते, किमेतदपूर्वम् ? काव्यं च रसान्प्रति भावकमिति यदुच्यते, तत्र भवितव्यं भावनादुत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः। न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्, अर्थापरिज्ञाने तदभावात्। न च केवलानामर्थानाम्, शब्दान्तरेणार्थमाणात्वे तदयोगात्। द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्तं "यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थं व्यक्तः" इत्यत्र। तस्माद् व्यञ्जकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालङ्कारौचित्यादिक्येति कर्तव्यतया काव्यं रसान् भावयति, इति श्रुतायां भावनायां करणांशो ध्वननमेव निपतति।" लोचनः पृ० १८६-९।



"साधारणीकरण" शब्द "चिव"-प्रत्यय के योग से बनता है- साधारण+चिव+करण। चिव-प्रत्यय "अभूत-तद्भाव" में होता है।<sup>१</sup> अर्थात् जो वस्तु पहिले से जैसी नहीं थी, उसका वैसा वैसा हो जाना। तब "साधारणीकरण" का अर्थ हुआ "असाधारण का साधारण बन जाना"। अतः साधारणीकरण के लिए यह अपेक्षित है कि पहिले वस्तु की असाधारण स्थिति हो। वहाँ पहिले से असाधारणता किमानतही, वहाँ साधारणीकरण की भी अवकाश नहीं। यदि वस्तु पहिले से ही असाधारण स्थिति में है, या साधारण रूप में ही उत्पन्न हुई है, तो वहाँ "साधारण्य" का ही क्षेत्र समझना चाहिए, साधारणीकरण का नहीं।

तब विभावादि के साधारणीकरण का यह अर्थ हुआ कि काव्य-शब्दों के द्वारा जो विभावादि उपस्थित किये जाते हैं, वे अभिधा की सीमा में असाधारण ही होते हैं, उनका स्वरूप विशेष ही होता है, और प्रमाता के मानस-पट पर उनका प्रथम अर्थ-ग्रहण विशेष-रूप ही होता है, पीछे भाषा के कलात्मक प्रभाव के फलस्वरूप साधारणीकृत हो जाते हैं।

"विभावादि साधारणीकृत हो जाते हैं" इसका अर्थ यह नहीं कि उनका व्यक्तित्व ही समाप्त हो जाता है, अपितु वे प्रमाता के द्वारा साधारण रूप में ग्रहण किये जा सकने योग्य हो जाते हैं। साधारण रूप में ग्रहण का अर्थ है उन्हें किसी अपने-पराये के विशेष सम्बन्धों के साथ न अपनाया जाना। मम्मट ने अभिनव का मत प्रस्तुत करते हुए साधारणीकृत विभावादि की स्थिति इस प्रकार निरूपित की है:- "विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्द-व्यवहार्यमैवेते, शत्रोरेवेते, तटस्थस्यैवेते; न ममैवेते, न शत्रोरेवेते, न तटस्थस्यैवेते- इति सम्बन्ध-विशेषस्वीकारपरिहारनियमानव्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैः" २

इस प्रकार साधारणीकृत विभावादि किसी नियत सम्बन्ध की जेतना न रह जाने से "साधारण्य" के साथ ग्रहण किये जाते हैं। अतः साधारणीकरण का अर्थ हुआ काव्य में वर्णित असाधारण अथवा विशेष सम्बन्धों के साथ आयी हुई सामग्री का इस प्रकार करना कि वह प्रमाता के द्वारा विशेष-सम्बन्ध-रहित रूप में ग्रहण की जा सके।

इधर आधुनिक समीक्षा में यह प्रश्न उठाया जाता है कि साधारणीकरण किसका होता है? इस प्रश्न के विविध प्रकार के समाधान सामने किये जाते हैं। यहाँ उनसे हमारा विशेष प्रयोजन नहीं, तथापि यहाँ हम यह अवश्य जानना चाहेंगे कि भट्ट नायक को किन किन का साधारणीकरण अभिप्रेत है। साधारणीकरण के लिए विषय तथा विषयी पदा -- दोनों ओर की सामग्री पर विचार किया गया है। विषय पदा में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी आते हैं, विषयी-पदा में सामाजिक, उसके भाव, तथा उसकी भावानुभूति की परवर्तिनी अश्रु-कम्प आदि शारीर प्रतिक्रियाएँ आती हैं। वस्तु या विषय पदा के अन्तर्गत ही उपर्युक्त तीनों तत्वों में आश्रय तथा आलम्बन अपनी समस्त परिस्थिति के सहित अन्तर्भूत होते हैं। वस्तु-पदायीय सामग्री को मोटे तौर पर हम इस प्रकार रख सकते हैं:--

१-"कृ-भ्वस्तियोगे सम्प्रकर्तरि चिवः" पाणिनिः : ५।४।५०।

"अभूततद्भाव इति वक्तव्यम्" वार्तिका।

२-काव्य-प्रकाशः उ० ४ : पृ० ९१-९२।



## काव्य-गत वस्तु या विषय-पक्ष

### १- विभाव

क- आलम्बन विभाव ।

ख- आलम्बन के स्वरूप में ही अन्तर्भूत चैष्टादिक जो किसी भाव की प्रतिक्रिया स्वरूप न उद्बुद्ध हुई हों।

ग- उद्दीप्त विभाव ।

१- बाह्य प्राकृतिक उपादान।

२- "हृ" में परिगणित चैष्टादिक जो उद्बुद्ध भाव को उद्दीप्त करने की क्षमता रखते हों।

घ- आश्रय ।

सामाजिक के भावोद्बोधन को दृष्टि से आलम्बन के सहान काव्य-गत आश्रय भी विभाव का कार्य करता है, अतः उसे भी विभावों में परिगणित किया जा सकता है। काव्य-गत-मात्र दृष्टि से उसे विभावों में नहीं गिना जा सकता।

### २- अनुभाव

आश्रय पात्र में भावानुभूति के फल-स्वरूप उद्बुद्ध होकर रस के अनुभावन में योग देने वाले मानसिक एवं शारीर प्रतिक्रियाएँ।

### ३- व्यभिचारी भाव

आश्रय-पात्र में उठने वाले छोटे-छोटे भाव।

ये भाव आलम्बन-रूप में चित्रित पात्र में भी हो सकते हैं, किन्तु वह भी उस वशा में एक प्रकार से भाव का आश्रय होने के कारण "आश्रय-पात्र" ही होगा। सामान्यतः व्यभिचारियों को विभाव-गत कह दिया जाता है।<sup>१</sup>

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के अन्तर्गत आलम्बन तथा आश्रय अपनी समस्त परिस्थिति के साथ अनुस्कृत हैं। इसके अतिरिक्त एक चीज और सामने की जा सकती है-- काव्य-गत आश्रय पात्र का स्थायी भाव। किन्तु वास्तविक बात यह है कि काव्य में आश्रय पात्र का स्थायी भाव अभिधा के घरातल पर आता ही नहीं। केवल लोत्सव को छोड़ इन प्रमुख आश्रयों में कोई भी स्थायी की वाच्यता को स्वीकार नहीं करता। शकुं भी नहीं अर्द्ध नायक भी नहीं। भरत-सूत्र में भी उसका उल्लेख नहीं।

अब आइए विषयि-पक्ष की ओर। विषयि-पक्ष में हम निम्न चीजें मान सकते हैं:-

### विषयि-पक्ष

१- प्रमाता सामाजिक की सत्ता ।

२- प्रमाता का भाव-वस्तु अर्थात् स्थायी तथा संचारी भाव ।

३- प्रमाता की भावानुभूति या कहिए रसानुभूति के फल-स्वरूप होने वाली कुछ शारीर विकृतियाँ, जैसे करुणानुभूति में अश्रु-पात, भ्रमानक अथवा अद्भुत को अनुभूति में कम्प या रोमांच आदि।

४- "रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्" जैसी व्युत्पत्तियाँ।

<sup>१</sup> अभिनवगुप्त : अभि० भा०, भा० १, पृ० २६ पर विवेचन ।



इनमें "ग" तथा "घ" में परिगणित वस्तुएं तो रस-समीक्षा के बाहर की पड़ती हैं। रसानुभूति की परवर्तिनी प्रतिक्रियाओं को इयत्ता की सीमा में बांधा भी नहीं जा सकता। विशुद्ध मनोवैज्ञानिक बुद्धि उन पर जान सपा सकती है। साधारणीकरण के प्रश्न के लिए भट्ट नायक या अभिनव गुप्त ने उन्हें छेड़ा भी नहीं है।

इन तत्वों को सामने दृष्टि में रख कर यह जिज्ञासा उठ सकती है कि भट्ट नायक को किस-किस का साधारणीकरण अभिप्रेत है। भट्ट नायक विभावादि का साधारणीकरण कहते हैं। सीधे-सीधे पूछा जा सकता है— विभावादिक में वे किसे-किसे मानते हैं ?

भट्ट नायक ने या अभिनव गुप्त ने साधारणीकरण के प्रसङ्ग में यह कहीं भी स्पष्ट नहीं किया कि विभावादि के अन्तर्गत साधारणीकरण के लिए अमुक-अमुक वस्तुएं जाती हैं। भट्ट नायक के विचारों के ऊपर सामंजस्यात्मक दृष्टि डालने से यहाँ प्रतीत होता है कि उन्हें वस्तु-पक्षीय सामग्री बर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों का ही साधारणीकरण अभिप्रेत है। हम देखते हैं कि यह समस्त रस-विवेचन भरतके सूत्र "विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः" के प्रसंग में ही आया है। भरत-सूत्र में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी तान का ही स्पष्ट परिगणन है। मूल में अभीष्ट सामग्री का स्पष्ट उल्लेख होने के कारण ही न तो भट्ट नायक को, और न अभिनव गुप्त को "विभावादि" में परिगणित तत्वों को स्पष्ट करने की आवश्यकता पड़ी थी। अतः यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि भट्ट नायक को विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव — तीनों का साधारणीकरण अभिप्रेत है। किन्तु विषय-पक्ष-गत सामाजिक क सत्ता तथा उसके स्थायी भावों के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता।

यहाँ तक सामाजिक के स्थायी भावों का प्रश्न है, भट्ट नायक का वक्तव्य है कि वे भावकत्व व्यापार से "भावित" होते हैं। उन्हें उनका "साधारणीकरण" नहीं, अपितु "भावन" अभिप्रेत है। "विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसो- - - भोगेन परं भुज्यते"। यहाँ रस-शब्द स्थायी भावों के लिए ही आया है। फिर, जैसा कि अभिनव गुप्त ने प्रतिपादित किया है, साधारणीकृत विभावादि सामग्री के द्वारा सामाजिक में साधारण ही स्थायी भाव उद्बुध होते हैं, असाधारण-रूप में नहीं। और हम यह दिखा चुके हैं कि साधारणीकरण के लिए पहिले वस्तु की असाधारण स्थिति होना अपेक्षित है। अतः भट्ट नायक के अनुसार स्थायी का साधारणीकरण नहीं बनता।

अब जाता है सामाजिक की सत्ता के साधारणीकरण का प्रश्न। किन्तु भट्ट नायक के अनुसार प्रमाता सामाजिक के साधारणीकरण की बात भी नहीं बनती। यद्यपि उन्होंने प्रमातृ-चेतना के मोह-संकटता-निवारण की बात कही है, और "निजमोह-संकटता-निवारण" का अर्थ यही है कि सामाजिक की चेतना अपने व्यक्ति-गत विशिष्ट भ्रंशों से मुक्त हो जाय; तथापि यह "मोहसंकटतानिवारण" भट्ट नायक के अनुसार प्रमाता का साधारणीकरण नहीं कहा जा सकता। उनके अनुसार यह तो साधारणीकृत रूप नहीं, स्वयं साधारणीकरण का फल है— "निविड-निजमोह-संकटता-निवारण-कारिणा विभावादि-साधारणीकरणात्मना - - - भावकत्वव्यापारेण" ।

"निविडनिजमोहसंकटतानिवारण" के सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने की है। भट्ट नायक ने "मोहसंकटतानिवारण" को तो "भावकत्व-व्यापार" की सीमा में रखा है,



तथा सत्त्वोद्रेक को "संविद्विश्रान्ति" के साथ मिला कर "भोगकृत्व" व्यापार की सीमा में। "निविडनिमोहसंकटतानिवारणकारिणा- - भावकत्वव्यापारेण- भावमानो रसो- - - सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिवसंविद्विश्रान्तिलक्षणो- - - भोगेन परं भुज्यते"। इस का तात्पर्य तो यह हुआ कि भट्ट नायक मोहसंकटता-निवारण को तो भावकत्व-व्यापार से मानते हैं, किन्तु चेतना के सत्त्वोद्रेक को भोगकृत्व से वैसे तमस् का उपशम तथा सत्त्व का उद्रेक एक ही क्रिया के दो पहलू कहे जा सकते हैं, किन्तु भट्ट नायक दोनों में अन्तर करके चलते हुए प्रतीत होते हैं। उनके अनुसार "मोहसंकटता-निवारण" एक अभावव्यवस्थक निषेध-रूप (Negative) प्रतिश्रिया बैठता है, जबकि "सत्त्वोद्रेक" एक विधि-रूप (Positive)। वेदान्ती लोग भी एक ऐसा ही उदाहरण प्रस्तुत किया करते हैं। अंधकार में रहे हुए घट को दीप-शिखा प्रकाशित करता है, इस उदाहरण में वे दो व्यापार मानते हैं। एक तो दीप-प्रकाश के द्वारा अंधकार का नाश दूसरा घट-वस्तु का प्रकाशन। पहिला व्यापार ध्वंसात्मक होता है, दूसरा भावात्मक। इस वेदान्ती उदाहरण को प्रस्तुत करने का तात्पर्य यह नहीं कि भट्ट नायक यहाँ वेदान्त से प्रभावित हैं। केवल इतना ही उद्देश्य है कि एक ही स्थूल व्यापार को दो पहलुओं से देखा जा सकता है, और दो व्यापारों के क्षेत्र में रखा जा सकता है।

इस प्रकार मोह-संकटता-निवारण में भावात्मक की अपेक्षा निषेधात्मक पक्ष प्रमुख है। किन्तु साधारणीकरण में निषेधात्मक की अपेक्षा भावात्मक पक्ष की प्रमुखता है। उसमें असाधारणता के भाव की अपेक्षा साधारणत्वा प्रतीति का पक्ष ही रसानुभूति का आधार है। इस प्रकार निषेध-प्रधान मोहसंकटता-निवारण को विधि-प्रधान साधारणीकरण के साथ एकाकार नहीं कहा जा सकता। तब सामाजिक की सत्ता का साधारणीकरण होता है, यह बात भट्ट नायक के अनुसार नहीं कही जा सकती।

अब हम साधारणीकरण के सम्बन्ध में एक दूसरे प्रश्न की ओर आते हैं। साधारणीकरण का जन्म-दकता कौन है ? सामान्य धारणा के अनुसार इस सिद्धान्त का मूल उद्भावक भट्ट नायक को ही समझा जाता है, मद्यपि अभिनव गुप्त ने या किसी प्राचीन प्रमुख आचार्य ने इस बात का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया। किन्तु पीछे अभिनव गुप्त द्वारा उपस्थापित भट्ट नायक के रस-विवेचन के पूर्व-पक्ष सम्बन्धी भाग पर दृष्टि डालने से यह प्रतीत होता है कि इस सिद्धान्त की कल्पना भट्ट नायक से पूर्व ही रस के समीक्षा-क्षेत्र में आ चुकी थी।

हम पीछे यह कह चुके हैं कि भट्ट नायक के पूर्व-पक्ष में तीन मान्यताएँ जाती हैं-- एक प्रतीतिवाद की, दूसरी उत्पत्तिवाद की, तीसरी अभिव्यक्तिवाद की। तीनों के विरुद्ध भट्ट नायक का सामान्य तर्क है रस की प्रतीति, उत्पत्ति या अभिव्यक्ति उसे न तो पर-गत मान कर बन सकती है, न ही स्वागत मान कर। पर-गत मानने पर सामाजिक उससे असम्बद्ध हो

१- वेदान्त-सार : पृ० ८८।

"यथा प्रदीपप्रमाणसंज्ञासंज्ञायां चरति विषयस्य तद्वत्त्वकानि सन्निधौ सन्ति"

तन्मयप्रमाणसंज्ञासंज्ञायां चरति १०

२- अभिनव-भारती : पृ० २७६ : भा० १। "उत्पत्तावपि त्वयमेतदुदाहरणम्" "स्वागतत्व-परगतत्वादि च पूर्ववद्विकल्पम्"। लोचन : पृ० १८२--"तत्रापि किं स्वागतोऽभिव्यज्यते रसः परगतो वेति पक्ष-वदेव दोषः। माणिक्यचन्द्रः काव्य-प्रकाश-संकेतः पृ० ४६--"किंचोत्पत्तिपक्षो- - तन्नोत्पत्तिरपि"।



जायगा। घड़े में भरे हुए जल का आस्वाद दूर से असम्बद्ध व्यक्ति को कैसे हो सकता है।<sup>१</sup> और स्वगत प्रतीति, उत्पत्ति या अभिव्यक्ति मानने पर सामाजिक का उससे व्यक्तिगत सम्बन्ध जुड़ जायेगा, तब नौक मनोवैज्ञानिक आपत्तियाँ उठ खड़ी होंगी।

इन उपर्युक्त तीनों पूर्व-पक्षीय मान्यताओं में से प्रतीति-वाद के खण्डन में ही भट्ट नायक सर्वाधिक प्रयास-शील दिखायी पड़ते हैं। अभिनव गुप्त भट्ट नायक द्वारा विवेचित इस प्रतीति-वाद को लोल्लट के उत्पत्ति-वाद से मिला कर ही देखना चाहते हैं, किन्तु इस प्रतीति-वाद में अश्विनी की जिन रूप-रेखाओं को ध्यान में रख कर भट्ट नायक ने अपने खण्डनात्मक तर्क दिये हैं उनके आधार पर यह लोल्लट के उत्पत्ति-वाद से भिन्न प्रतीत होता है। हाँ, यह हो सकता है कि लोल्लट का उत्पत्ति-वाद विभिन्न परवर्ती आचार्यों के हाथों मंजूर हुआ भट्ट नायक के समय तक उस विकसित रूप में पहुँच गया हो जो उसके मूल रूप से भिन्न दिखायी पड़ता है। और अभिनव गुप्त उसकी ऐतिहासिक वस्तु-स्थिति से परिचित होने के कारण उसे लोल्लट के उत्पत्ति-वाद का ही एक रूप समझते हों।

रस की सामाजिक में आत्म-गत प्रतीति मान कर उसके दो विकल्प सामने रखे गये हैं— एक अनुभव रूप, दूसरे स्मृति-रूपायों प्रतीति के अन्य रूपों की सम्भावना की भी गुंजाइश मानी गयी है। अनुभवात्मक आत्म-गत प्रतीति का मूल रूप है सामाजिक के अपने ही व्यक्तिगत एवं विशिष्ट स्थायी भाव की उत्पत्ति, तथा स्मृत्वात्मक आत्म-गत प्रतीति का मूल रूप है रति-उत्साह-युक्त राम की स्मरणात्मक प्रतीति। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रथम विकल्प भँरस का सम्बन्ध सामाजिक से बिल्कुल साक्षात् रूप से सम्बद्ध है। इस अनुभवात्मक स्वगत प्रतीति के निराकरण के लिए निम्न तर्क दिये गये हैं:—

- १- रामादि का चरित चित्रित करने वाले काव्य से सामाजिक की स्वगत प्रतीति नहीं हो सकती
- २- स्वगत प्रतीति का दूसरा अर्थ हुआ सामाजिक में रस की उत्पत्ति मानना। तब तो करुण रस की अनुभूति में सामाजिक की दुःखी होना चाहिए, तब कोई करुण-प्रधान अभिनय दुबारा क्यों देखने लगा ?

१- लोचनः पृ० १८१ "रसो यदा परगतत्वा प्रतीयते तर्हि ताटस्थमेव स्यात्"।

काव्य-प्रकाश-संकेतः पृ० ४६ "तद्गतत्वेन हि रतिप्रतीती घटादिवन्न रसनीयत्वं स्यात्"।

२- लोचनः पृ० १८०-१८१।

"ननु क्व भट्ट नायकेन—रसो यदा परगतत्वा प्रतीयते— --व्युत्पत्तिनामाप्रधानमेवेति।

अत्रोच्यते—रसैवरूप एव तावद्विप्रतिपत्तयः प्रतिवादिनाम्। तथा हि—एवमिच्छायां यः स्था-  
या, स एव व्यभिचारिसम्पादादिना प्राप्तपरिणामो नुकार्यगत एव रसः। नाट्ये तु प्रयुज्य-  
मानत्वान्नाट्यरस इति केचित्। - - - - - किंचन सकलमेव समुदायं रसादुरित्यलं बहुना  
- - - एवंस्थिते प्रथमपक्ष एवैतानि दूषणानि प्रतीतिः स्वपरगतत्वादिविकल्पेन ।"

३- अभि० भा०, भा० १, पृ० २७६ "तन्न प्रतीतिरनुभवस्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता"।

४- लोचनः पृ० १८१ "स्वात्मगतत्वेन च प्रतीती स्वात्मनि रसस्योत्पत्तिरेवाभ्युपगता स्यात्"।

५- लोचनः पृ० १८१ "न चोत्साहादिमान् रामः स्मरति, अननुभूतत्वात्। शाब्दादपि तत्प्रतिपत्ती  
न रसोपजनः; प्रत्यक्षादिव नायकमिथुनप्रतिपत्ती"।

अभि० भा०, भा० १, पृ० २७६ "प्रत्यक्षादिव नायकयुगलकावभासे हि प्रत्युत लज्जाजुगुप्सा—  
व्यप्रतया का सरसत्वक्यापि स्यात्"।



- ३- स्वात्म-गत प्रतीति का अर्थ होगा सामाजिक में रस की उत्पत्ति। यह तब तक नहीं हो सकती जब तक सीतादि को सामाजिक की ही संधि विभाव न मान लिया जाय, क्योंकि बिना विभाव के किसी का भावोदय नहीं हो सकता। किन्तु सीता सामाजिक की विभाव नहीं हो सकती।

यहां पूर्व-पक्ष की ओर से दो समाधानों की सम्भावना की जा सकती है। एक तो यह कि सीता में एक सामान्य पक्ष कामिनोत्व या कान्तात्व का भी है। वही पक्ष सामाजिक की वासनात्मक रति को विकसित होने का अवसर प्रदान करता है। दूसरा समाधान यह हो सकता है कि सीता-विषयक रति के आस्वाद के समय सामाजिक के मानस-पट पर उसकी अपनी प्रेयसी की मूर्ति आ जाती है, और वह उसके प्रति अपनी रति का आस्वाद लेता है।

भट्ट नायक को ये दोनों समाधान अमान्य हैं। न तो कान्तात्व जैसे सामान्य धर्मों के आधार पर होने वाले "साधारणीकरण" का, और न ही "स्वकान्तास्मृति" का। रस-दशा में विभावादि की उपस्थिति के तथा आनन्दानुभूति के बीच "स्वकान्ता-स्मरण" जैसी चीज स्वीकार करना भट्ट नायक अनुभव के विपरीत समझते हैं। और जहां तक सीता के कान्तात्व को सामने कर के उसके साधारणीकरण की बात है, वे इस प्रकार का साधारणीकरण भी उचित नहीं समझते। क्योंकि यदि सामान्य धर्मों के आधार पर साधारणीकरण का सिद्धान्त किसी प्रकार सीता-विषयक रति के उदाहरण में निभा भी लिया जाय, तो भी जहां किसी देवी पात्र के अलोक-सामान्य कार्यों का वर्णन है, या रामादि अलौकिक पुरुषों के समुद्र-मन्थन जैसे अद्भुत कार्य हैं, या फिर हनुमान् के समुद्र-तट-वन का स्थल है, यह सिद्धान्त पूरा नहीं उतरेगा। समुद्र-तट-वन या सेतु-बन्ध जैसे कार्य अलोक-सामान्य तथा असाधारण हैं। वे जन-सामान्य की अनुभूति के सामान्य विषय नहीं बन सकते, अतः भट्ट नायक उनमें "साधारणीकरण" की सम्भावना नहीं मानते।

"न च सा प्रतीतिर्युक्ता; सीतादेरविभावत्वात्, स्वकान्तास्मृत्यसंविदनात्, देवतादी साधारणीकरणायोग्यत्वात्, समुद्रतट-वनादेरसाधारण्यात्"। १

"सा चामुक्ता, सीतायाः सामाजिकं प्रत्यविभावत्वात्, कान्तात्वं साधारणं वासना-विकासहेतुविभावतायां प्रयोजकमिति चेत्— देवतादी तदपि क्वम् ? न च स्वकान्ता-स्मरणं मध्ये संविद्यते। अलोकसाधारणानां च रामादीनां ये समुद्रसेतुबन्धादयो विभावास्ते क्व साधारण्यं भवेयुः ? " २

यहां यह स्पष्ट है कि भट्ट नायक ने अनुभवात्मक प्रतीति के लण्डन के प्रसंग में कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में साधारणीकरण का अवकाश अस्वीकृत कर दिया है। हम पीछे देख चुके हैं कि भट्ट नायक ने अपने साधारणीकरण व्यापार को हमारे सामने इसीलिए रखा है कि काव्य-गत विभावादि अपने विशेष या असाधारण रूप से छूट कर अपनी साधारणता सामने करते हुए हमारे विभावादिक बन सकें। यदि वे अपनी असाधारणता से न छूट सकें तो "साधारणीकरण" का उपयोगिता ही क्या रह गयी ? तो एक ओर तो यह कहना कि सामान्य कान्तात्वादि धर्मों के आधार पर भी "विभाव" नहीं बन सकते, राम के सेतु-बन्ध जैसे कार्य या हनुमान् के समुद्र-तट-वन जैसे विभावों में साधारणीकरण का अवकाश नहीं, दूसरी ओर इसी प्रकार की बाधाओं से बचने के लिए स्वयं "भावकत्व" के अन्तर्गत "साधारणीकरण" को सामने करना



ये कौन परस्पर विरोधी प्रतीत होती है। निम्न स्थलों को सामने-सामने रख कर पढ़ने से यह विरोध साफ़-साफ़ सामने आ जाता है। एक ओर तो वे यह कहते हैं:-

"न च सा प्रतीतिरुक्ता; सीतायाम्बुदेरविभावत्वात्, - - - देवतादी साधारणीकरणा-योग्यत्वात्, समुद्र-लङ्घनादेरसाधारण्यात्" अभि० भा०।

"न च कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतुविभावतायां प्रयोजकमिति चेत्— देवतावर्गनादी तदपि कथम् ? अलोकसामान्यानां रामादीनां ये विभावका समुद्रसेतुबन्धादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भवेयुः ? " लोचन ।

दूसरी ओर उनकी यह स्थापना है :--

"तस्मात् काव्ये दोषाभाव-गुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन - - - निविहनि-मोह-संकटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मनाभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसो - - भोगेन परं भुज्यते" । अभि० भा०।

इस स्पष्ट विरोध का कोई विशेष कारण होना चाहिए। हमें इस विरोध का समाधान खोजना होगा। इसके समाधान के लिए हम दो बातें कह सकते हैं :--

१- एक तो यह कि भट्ट नायक एक बहुत ही सोमित क्षेत्र में साधारणीकरण का अवकाश मानते हैं। साता जैसे अद्वेष पात्रों में, देवतादि के शृंगारों या अद्भुत चरित्रों में, रामादि के सेतु-बन्ध जैसे कार्यों में, या फिर हनुमान् जैसे वीर-कर्मा व्यक्तियों के समुद्र-लङ्घन जैसे कार्यों में, जहाँ-जहाँ सी भी "अलोक-सामान्यता" है तथा जन-सामान्य की अनुभूति के लिए "असाधारणता" है, भट्ट नायक के "साधारणीकरण" की अवकाश नहीं।

यदि ऐसा माना जाय तो भट्ट नायक के साधारणीकरण का मूल्य ही क्या रह गया ? काव्य की असाधारण परिस्थितियों में साधारणता लाने के लिए ही उसकी उद्भावना हुई है। हनुमान् के समुद्र-लङ्घन जैसे कार्यों में भी साधारणीकरण का प्रवेश नहीं रह गया, तो फिर वह "साधारणीकरण" एक खिलवाड़ मात्र होगा। भट्ट नायक की ऐसा साधारणीकरण अभिप्रेत नहीं कहा जा सकता।

२- दूसरा समाधान यह हो सकता है। प्रतीति-वाद के सण्ढन के प्रसंग में भट्ट नायक ने जिस "साधारणीकरण" की अस्वीकार किया है, वह उनके अपने साधारणीकरण-सम्बन्धी दृष्टि-क्षेत्र से अवश्य कुछ भिन्न है।

भट्ट नायक के विवेचन में पढ़ने वाले परस्पर विरोध के लिए यही समाधान उपयुक्त प्रतीत होता है। "प्रतीतिवादों" का "साधारणीकरण" अभिधा के घरातल पर होना चाहिए, तथा उसका यह अर्थ होगा कि काव्य की सीता अभिधा की सीमा में रह कर "सीता" ही है, वे सामाजिक की रति का विकासक विभाव नहीं बन सकती। हनुमान् का समुद्र-लङ्घन "हनुमान् का समुद्र-लङ्घन" है, वह सामाजिक के लिए "असाधारण" है। इस घरातल पर न तो साता का कान्तात्व सामने आ सकता है, न देवतादि में साधारणीकरण की गुंजाइश हो सकती है। जब तक "प्रतीतिवादी" का साधारणीकरण इस घरातल पर न मान लिया जाय तब तक यह संभावना ही नहीं बनती कि भट्ट नायक उसका विरोध करें। अभिधा के घरातल पर होने वाले इस "साधारणीकरण" की यह क्षमता ही नहीं हो सकती कि वह प्रमाता की अपने-पराये की सीमाओं को शिथिल करे। तभी यह कहा जा सकता है कि सीता में कान्तात्व का सामान्य पक्ष होते हुए भी वह सामाजिक का विभाव नहीं बन सकती।



इस प्रकार हमारे समक्ष यह महत्व-पूर्ण तथ्य आता है कि भट्ट नायक के सामने विभावादि के साधारणीकरण का एक स्थूल रूप अवश्य विद्यमान था। जो आचार्य भट्ट लौत्खट को परम्परा में रस की प्रतीति-परक व्याख्या कर रहे थे वे भट्ट नायक से पूर्व ही विभावादि के साधारणीकरण का सुझाव पेश कर चुके थे। किन्तु उनका साधारणीकरण भाषा की अभिधा शक्ति की ही सीमाओं में ही सीमित था। अर्थात् वे यह मान कर चलते थे कि रस-सीता आदि की लौकिक या वास्तविक स्थिति तो "असाधारण" ही होती है, किन्तु काव्य-शब्दों के बीच आकर वह "साधारण" हो जाती है। इसीलिए वे लोग इसका नाम "साधारणीकरण" रख सके थे। किन्तु उन्हें यह सब अभिधा के भीतर ही दिखायी पड़ता था।

भट्ट नायक ने इस साधारणीकरण का परिष्कार किया। उन्होंने काव्य-शब्दों में तीन व्यापारों की कल्पना की। अभिधा की सीमा पद-पदार्थ तक ही निर्धारित करते हुए उन्होंने "साधारणीकरण" को दूसरे भावकत्व-व्यापार की सीमा में रखा। अभिधा से साधारणीकरण की जलन करने के कारण वे उसके फल-रूप में प्रमातृ-चेतना के मोह-संकटता-निवारण को भी सामने कर सके। इससे यह हुआ कि वहाँ पुराना साधारणीकरण सत्ता के कान्तात्व आदि सामान्य धर्मों को पुरस्कृत करके भी उनमें विभावता नहीं ला सका था, वहाँ नया साधारणीकरण इस कार्य को सहज ही पूरा कर सका। वहाँ पुराना साधारणीकरण अभिधा का फल था, वहाँ भट्ट नायक ने उसे भाषा के भाव-प्रवण कलात्मक प्रयोग तथा अभिनय-कौशल का फल माना।

इस प्रकार भट्ट नायक "साधारणीकरण" के मूल उद्भावक नहीं, एक परिमार्जक-मात्र रह जाते हैं, उसे अभिधा के क्षेत्र से निकाल कर भावकत्व के क्षेत्र में लाने वाले। किन्तु ऐसे परिमार्जक तो स्वयं अभिनव गुप्त भी थे। उन्होंने भी साधारणीकरण की भावकत्व के अनावश्यक व्यापार के चंगुल से छुड़ा कर संधि व्यंजना की परिधि में लाकर रखा है। यही कारण प्रतीत होता है कि स्वयं अभिनव गुप्त ने या किसी उनके समीपवर्ती प्राचीन आचार्य ने साधारणीकरण की अक्षुण्ण मौलिकता का श्रेय जेले भट्ट नायक को नहीं दिया।

जब तक भट्ट नायक के सिद्धान्त-पक्ष का विवेचन करते हुए "अहङ्ग-कीर्तन" तो नहीं, हाँ "अहङ्ग-विस्तृति" कुछ अवश्य हो गयी है। किन्तु वह आदिङ्गक समस्याओं के महत्व के कारण ही करनी पड़ी है। जब हम पुनः भट्ट नायक के सिद्धान्त-परिचय की ओर जा सकते हैं। हम देख चुके हैं कि भट्ट नायक के अनुसार अभिधा-व्यापार से वाच्यार्थोपस्थिति होती है, तदनन्तर भावकत्व व्यापार से विभावादि का साधारणीकरण होते हुए सामाजिक के स्थायी भाव भावित हो जाते हैं। भावकत्व-व्यापार से ही प्रमातृ-चेतना का मोह-संकट निवृत्त हो जाता है। इसी से भावित रसों के "भोग" का अवकाश प्रशस्त होता है। इस "भोग" की सफलता "भोगकत्व" या "भोग-कृत्व" नामक तृतीय व्यापार पर निर्भर है।

यहाँ एक बात विशेष उल्लेखनीय है। भट्ट नायक "सिद्धि" रस का भोग मानते प्रतीत होते हैं। भावकत्व व्यापार से रस भावित हो जाता है, तब भोग-कृत्व द्वारा उसका "भोग" होता है:—

"भाविते च रसे तस्य भोगः" १



भोगी-कृत रूप से सिद्धि-मान् रस ही व्याप्त होता है:-

"अभिधा भावना चैव तद्भोगीकृतमेव च।

अभिधाधामतां याते शब्दार्थालङ्कृती ततः॥

भावनाभाव्य एवोऽपि शृंगारादि गणो मतः।

तद्भोगीकृत रूपेण व्याप्यते सिद्धिमान् रसः॥" १

रस एक प्रकार से सिद्ध होकर भोग-व्यापार का विषय बनता है, इस बात पर निम्न स्थल में प्रयुक्त "परं" शब्द बड़ा स्पष्ट प्रकाश डालता है:-

"तस्मात्- - - भावकत्व-व्यापारेण भाव्यमानो रसो- - - परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यते"। २

वतः भट्ट नायक के अनुसार "रसो भुज्यते" का अर्थ "ओदनं भुज्यते" के समीप समझना चाहिए, "ओदनं पचति" के समान नहीं। प्रतीत होता है, भट्ट नायक की समीक्षा करते हुए अभिनव गुप्त ने इस बात की सफाई की आवश्यकता अनुभव की थी। वे सम्भवतः भट्ट नायक को ही लक्ष्य बना कर कहते हैं:-

"रसाः प्रतीयन्ते" इति ओदनं पचतीतिवद् व्यवहारः। प्रतीयमानो हि रसः।" ३

इस प्रकार भावकत्व-व्यापार से भावित रस को भोग होता है। इस "भोग" का स्वरूप इन शब्दों में निरूपित किया गया है:-

"- - - भावकत्व-व्यापारेण भाव्यमानो रसो नुभवस्मृत्यादिविलक्षणो रजस्तमोनुवेधवैचित्र्यबलाद् दृतिविस्तारविकासलक्षणो सत्त्वोदेकप्रकाशानन्दमयनिजस्वीविश्रान्ति-लक्षणो परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यते।" ४

लोचन में भी भोग का स्वरूप यही है:-

"भाविते च रसे तस्य भोगः; योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षणा एव, दृतिविस्तर- ५ विकासलक्षणा रजस्तमोनुविधसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणाः, परब्रह्मास्वादसविधः"

इन उद्धरणों से पता चलता है कि भोग अनुभव-स्मृति आदि ज्ञान के सामान्य रूपों से भिन्न है। इसमें चित्त की तीन दशाएं होती हैं- दृति, विस्तार एवं विकास।

१-अभि० भा०: भा० १: पृ० २७७। - - - - - क-अभि० भा०: "शृंगारादिगणो भविष्यत्" पृ० २७७।

२-अभि० भा०: भा० १: पृ० २७७। स- " " " व्याप्यते सिद्धिमान् नरः" पृ० २७७।

३-लोचन: पृ० १८७। क-हेमचन्द्र: "शृंगारादिगणो मतः" पृ० १७।

भट्ट नायक के प्रतीति-वाद-संकेत स-हेमचन्द्र: "व्याप्यते सिद्धिमान् नरः" पृ० १७।

की समीक्षा में अभिनव गुप्त।

४-अभि० भा०: भा० १: पृ० २७७।

५-लोचन: पृ० १८३।



यहाँ दो बातें ध्यान देने की हैं। एक तो यह कि भट्ट नायक ने रस-भोग में चित्त की दशा में केवल सत्त्व की स्थिति नहीं मानी, उसमें रजस् तथा तमस् का अनुवेष भी माना है। यह बात दार्शनिक दृष्टि से भी ठीक है, और साहित्यिक दृष्टि से भी। सांख्य के अनुसार किसी गुण का सर्वथा अभाव कभी सम्भव नहीं, दबी-उभरी स्थिति ही होती है। फिर साहित्य में करुण और शृंगार जैसे कोमल रस ही नहीं होते, वीर-रौद्र जैसे कठोर रस भी होते हैं। उनकी अनुभूति में चित्त में रजस्-तमस् का अनुवेष होना ही स्वाभाविक है। अतः "रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते" का कर विश्वनाथ जैसी के द्वारा भोग-चित्त की व्याख्या करना उचित नहीं। दूसरी बात यह कि दृति, विस्तार तथा विकास क्रमशः सत्त्व, रजस् तथा तमस् के कारण नहीं। अर्थात् यह धारणा होगी कि दृति को सत्त्व के उद्रेक में, विस्तार को रजस् के उद्रेक में या विकास को तमस् के उद्रेक में कहा जाय। उद्रेक सत्त्व का ही होता है। अन्य गुणों के अनुवेष की धारणा ही न्यूनाधिक होती है। अतः उसी सत्त्व-प्रधान चित्त की तीन दशाएँ बन जाती हैं। यहाँ प्रतीत होता है, भट्ट नायक ने आनन्द-वर्धन के त्रिगुण-वाद से प्रेरणा ली है। तभी विविध रसों में चित्त की तीन दशाओं की कल्पना वे कर गये हैं। उन तीन दशाओं की व्याख्या सांख्य के त्रिगुण-वाद के आधार पर कर दी है। हम आगे देखेंगे, यह त्रिगुण-वाद भी सीधे सांख्य से नहीं, शैव-दर्शन के माध्यम से भट्ट नायक तक आया है। और अभिनव ने तब ही चित्त दशाओं को स्वीकार नहीं किया।

यह रस-भोग ब्रह्मास्वाद-सहोदर होता है। उसमें दो पक्ष सामने किये गये हैं:- एक रजस्तमोनुविद्ध-सत्त्वोद्रेकी चित्त का, दूसरा विश्रान्त संविद् का। अतः रस-दशा की परा या शुद्ध संविद् नहीं कहा जा सकता। किसी भी दर्शन का सहारा ले, का व्यानुभूति में वैषम्यिक संस्पर्श स्वीकार करना ही पड़ता है, चाहे वह कितना ही परिमार्जित क्यों न हो। फलतः रस-भोग ब्रह्मानन्द नहीं, ब्रह्मानन्द-सहोदर ही कहा जाना चाहिए।

"रजस्तमोनुविद्ध-सत्त्वोद्रेकी चित्त" का विवेचन सांख्य के गुण-वाद के सिद्धान्त पर कहा जा सकता है, किन्तु भट्ट नायक के विवेचन में सांख्य इससे अधिक आगे बढ़ कर नहीं आया है। सांख्य का प्रकृति-विकार चित्त की समस्त अनुभवादि प्रतियोगियों का आधार होता है, पुरुष उससे निःसंग होता है। भट्ट नायक की संविद् उनसे निःसंग नहीं। वस्तुतः सांख्य एक ऐसा दर्शन रहा है जिसकी पुरुष-प्रकृति-विषयक धारणाओं को छोड़ प्रकृति-विकार-सम्बन्धी धारणाओं से कोई दर्शन सर्वथा अछूता नहीं रहा है। वेदान्त तथा कश्मीरी शैव दर्शन ने भी उसकी एतद्विषयक मान्यताओं को अपने सिद्धान्तानुसूल मोड़ कर स्वीकार कर लिया है। इन दोनों दर्शनों में प्रकृति के सत्त्व, असत्त्व के विषय में सांख्य से मत-भेद भले ही हो, किन्तु उसका त्रिगुण-वाद ज्यों का त्यों स्वीकृत है। भट्ट नायक ने केवल उसी त्रिगुण-वाद का सहारा लिया है।

रस-भोग की दशा में न शुद्ध चित्त है, न ही शुद्ध चैतन्य। दोनों का एक मिश्रित रूप है। "रजस्तमोनुविद्धसत्त्वमय-निचित्स्वभावनिरवृत्तिविश्रान्तलक्षणाः"। इसमें "निजचित्स्वभाव-निरवृत्तिविश्रान्ति" "प्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्ति" के लिए ही प्रयुक्त हुआ है, यह हमें अभिनव भारत के शब्दों से विदित हो जाता है:- "सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तलक्षणाः"



इस प्रकार भट्ट नायक द्वारा विवेचित रस-चेतना के स्वरूप में दो पक्ष हमारे सामने आते हैं— एक चित्त का, दूसरा आत्मा का या चेतना का। चेतना-पक्ष के स्वरूप-निरूपण में "प्रकाश" चित् "संविद्" शब्दों का प्रयोग हुआ है। ये शब्द विभिन्न चेतनाओं के साथ विभिन्न दर्शनों में प्रयुक्त होते हैं। हम जिस दर्शन का सहारा ले लें, उसी दर्शन की छाया में भट्ट नायक के भोग-वाद की व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है। उदाहरण-स्वरूप "चित्" शब्द को "चित्त", "चेतन्य" तथा "ज्ञान" या "सविदन" के अर्थ में लिया जा सकता है। प्रथम अर्थ लेने पर भोग की व्याख्या सांख्यानुकूल की जा सकती है। द्वितीय अर्थ लेने पर उसे वेदान्तानुकूल दिखाया जा सकता है। तृतीय अर्थ अपनाने पर उसमें मोमांसा के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। तोचन में "चित्" शब्द का प्रयोग हुआ है, अभिनव भारती में उसके स्थान पर "संविद्" शब्द आया है। अतः "चित्" को "संविद्" का पर्याय मान कर व्याख्या को कश्मीरी शैव मत के अनुकूल भी दिखाया जा सकता है। जब तक व्याख्याकार के समक्ष भट्ट नायक का दार्शनिक सिद्धान्त स्पष्ट न हो तब तक उनके भोग-वाद की व्याख्या भी ठीक-ठीक करना कठिन है।

भट्ट नायक शैव थे, इस बात के सकेत कई प्रमाणों से मिलते हैं :-

- १- अभिनव गुप्त ने अभिनव भारती, भाग १, अध्याय १, पृ० ६ पर भट्ट नायक का एक श्लोक उनके हृदय-दर्पण से उद्धृत किया है। डा० काणे के अनुसार यह हृदय-दर्पण का महंगल-श्लोक होना चाहिए। यह श्लोक शिव-स्तुति-परक है :-

"नमस्त्वैलौक्यनिर्माणकव्ये शम्भवे यतः।

प्रतिक्षणं जगन्नाट्यप्रयोगरसिको जनः॥"

- २- अभिनव गुप्त ने प्रत्यभिज्ञा-वृत्ति-विमर्शिनी, भाग ३, पृ० ९६ पर भट्ट नायक का निम्न शिव-स्तुति-परक एक और श्लोक उद्धृत किया है :-

"महान्ति पातकान्याहुर्गदाज्ञावशातः सुराः।

पावनानि नमस्तस्मै स्वच्छन्दाय वराय ते॥"

इस श्लोक का शिव के लिए "स्वच्छन्द" विशेषण इस दृष्टि से विशेष महत्त्व-पूर्ण है। यह कश्मीरी शैव-मत की ओर ही संकेत करता है।

- ३- लोमराज ने स्पन्द-निर्णय, पृ० १८ पर भट्ट नायक का एक स्तोत्रांश प्रस्तुत किया है, जो शिव-परक है। इसको लोमराज ने शैव-दर्शन के सिद्धान्त-पक्ष में उत्पलाचार्य के वचनों के समान ही प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत किया है, तथा वेदान्त के विपरीत शैव-दृष्टि से संगति लगायी है।

"नमुसन्निव नान परं त्रुम फलैतिक्यत् ?

त्वत्पीरुणी नियोज्जी चेन्न स्यात्त्वद्भक्तिसुन्दरी॥"

इस प्रकार लोमराज भी भट्ट नायक को शैव-दर्शनानुयायी मान कर चले हैं।

१- डा० पी० वी० काणे : हिस्ट्री आफ़ संस्कृत पौडटिक्स : पृ० २१४ ।

२- सन्दर्भ— डा० जार० गुनोली : दी एस्थेटिक एक्सपीरिएन्स एट० : पृ० ५०।

३- सन्दर्भ— डा० जार० गुनोली : दी एस्थेटिक एक्सपीरिएन्स एट० : पृ० ५०।



भट्ट नायक मीमांसा दर्शन से भी अत्यन्त प्रभावित थे, इसके भी प्रमाण मिलते हैं :--

१- अभिनव गुप्त ने कई स्थानों पर उनके मीमांसक रूप का स्पष्ट संकेत दिया है:-

क- प्रत्यभिज्ञा-वृत्ति-विमर्शिनी, भाग ३, पृ० ९६ पर अभिनव उन्हें "मीमांसकाग्रणी" कहते हैं:-<sup>१</sup>

"यथाह मीमांसकाग्रणी भट्टनायकः।"

ख- अभिनव भारती, भाग ३, अध्याय २०, पृ० ३०९-३१० पर सिद्धियों के विवेचन-प्रसङ्ग में अभिनव गुप्त भट्ट नायक को जैमिनि की मान्यताओं का अनुसरण करते हुए बताते हैं:-<sup>२</sup>

"यत्तु भट्ट नायकेनोक्तं-- सिद्धेरपि नटादेरङ्गत्वं ब्रह्मन्त्यास्तत्पक्षो यमिति, तेन नाट्याङ्गता समर्थितफलं च (समर्थिता फलं च ?) पुरुषार्थत्वादिति केवलं जैमिनिरनुसृत इत्यलमनेन।"

ग- लोचन में "निश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते" इस पङ्क्ति पर भट्ट नायक के दृष्टिकोण की समीक्षा करते हुए अभिनव गुप्त कहते हैं :-<sup>३</sup>

"न च - - - कल्पना युक्ता। जैमिनिसूत्रे त्वैवं योज्यते, न काव्येपीत्यसम्।"

२- हम देख चुके हैं कि भट्ट नायक का भावकत्व व्यापार मीमांसा की मान्यताओं को लेकर ही प्रतिष्ठित हुआ है। स्वयं अभिनव गुप्त ने उस व्यापार का सङ्केत मीमांसा के ढाँचे में ही दिया है। अभिनव गुप्त यह स्वीकार करके चलते हैं कि भट्ट नायक का भावकत्व मीमांसा की देन है।

कश्मीर की दार्शनिक-चेतना के इतिहास पर दृष्टि-पात करने से हमें विदित होता है कि भट्ट नायक से पूर्व ही नवम शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में वसुगुप्त के द्वारा प्रस्तुत शिव-सूत्रों के माध्यम से अद्वैती शैव-मत की रूप-रेखा खिंची गयी थी, उनके शिष्य कल्हट ने शताब्दी के मध्य में उसे और प्रौढ़ता प्रदान की थी। यों तो शैव-मत कश्मीर का एक बहुत प्राचीन धर्म था। उसके अनेक आगम तथा तन्त्रों की परम्परा चली आ रही थी। किन्तु उसमें गहरी दार्शनिकता का समावेश नवम शती से ही प्रारम्भ हुआ। शताब्दी के अन्तिम दशकों में जाकर सोमानन्द द्वारा "शिव-दृष्टि" की रचना हुई। और उनके शिष्य उत्पल के द्वारा अद्वैती शैव-मत का एक व्यवस्थित ढाँचा "प्रत्यभिज्ञा-दर्शन" के नाम से सजा दिया गया। वसुगुप्त तथा कल्हट के कार्य स्पन्द-शाखा के संचालक हुए और सोमानन्द तथा उत्पल के प्रत्यभिज्ञा शाखा के। दोनों ही शाखाएँ मूल सिद्धान्तों में समान हैं एवं अद्वैती शैव-मत का प्रतिपादन करती हैं। इस विचार-धारा ने कश्मीर की तात्कालिक चेतना को बड़े पैमाने से प्रभावित

१- सन्दर्भ: हिस्ट्री आफ् संस्कृत पीडटिक्स: पी०वी०काणे: पृ० २१४।

२- सन्दर्भ: हिस्ट्री आफ् संस्कृत पीडटिक्स: पी०वी०काणे: पृ० २१४-५।

३- सन्दर्भ: हिस्ट्री आफ् संस्कृत पीडटिक्स: पी०वी०काणे: पृ० २१५।



किया। सोमानन्द के उल्लेख के आधार पर अद्वैती शैव-मत के उदय के इतिहास को और भी पीछे ले जाया जा सकता है, जैसा कि उन्होंने अपने को इस परम्परा का उन्नीसवाँ व्यक्ति बताया है। और धार्मिक-विश्वास-परम्परा के आधार पर तो उसके लिए अनादित्व की घोषणा की गयी है, परन्तु कश्मीर-चेतना को प्रभावित करने की क्षमता उसमें नवम शती के उत्तरार्ध में ही दिखायी पड़ती है। इतना होते हुए भी अभी इस अद्वैती शैव-मत की अपनी पूर्ण प्रतिष्ठा के लिए अभिनव जैसे ग्रीड प्रतिभा-शाली आचार्य की प्रतीक्षा थी। भट्ट नायक के समय तक उसमें प्रभवन-शीलता आगयी थी, अजेयता नहीं आ पायी थी।

स्वयं अभिनव गुप्त के उल्लेखों के आधार पर यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि शैव-मत को अद्वैती धारा ही नहीं, द्वैत-वादी तथा द्वैतद्वैतवादों धाराएँ भी प्रचलित थीं, और अद्वैती धारा से प्राचीन थीं। जिस प्रकार वेदान्त-परम्परा में वेदान्त-सूत्र, गीता एवं विविध उपनिषदों की अपने-अपने दृष्टि-कोण से अद्वैत-वादी, विशिष्टाद्वैत-वादी तथा शुद्धाद्वैत-वादी व्याख्याएँ की गयीं, उसी प्रकार कश्मीरी शैव-मत की परम्परा में विभिन्न तन्त्रों एवं आगमों की अपने-अपने दृष्टि-कोण से विविध व्याख्याएँ प्रस्तुत की गयीं। सोमराज के आधार पर विदित होता है कि कुछ द्वैत-वादी व्याख्याएँ अद्वैत-वादी स्थापनाओं से पूर्व से ही चली आ रही थीं। इस प्रकार कश्मीर के शैव-धर्म का द्वैत-वाद उसके अद्वैत-वाद से भी प्राचीन है। ये सभी धाराएँ अभिनव गुप्त की पर्याप्त व्यवस्थित रूप में उपलब्ध हुई थीं। इन सब धाराओं के आधार आगम तन्त्र-ग्रन्थ थे, जो बहुत प्राचीन काल से चले आ रहे थे।

कश्मीर के शैव-धर्म की इन सभी धाराओं में तथा उनके आधार-ग्रन्थों में "भोग-वाद" की चर्चा मिलती है। एक शब्द में कहें तो कह सकते हैं कि कश्मीरी शैव-धर्म "भोग-वादी" है, भले ही उसके प्रतिपादन की प्रक्रिया में मत-भेद रहता हो। भट्ट नायक अपने युग की प्रसूति थे। उनकी चिन्तन-धारा अपने युग की समस्त उपलब्धियों से प्रभावित हो रही थी। अथर्वश्रुति के अनुसार द्वैत-वादी शैवों में भी भोग-वाद प्रचलित था। समीप्योति शिव ने तो एक "भोग-कारिका" नामक ग्रन्थ की ही रचना की थी, जो उस युग में अत्यन्त प्रचलित थी।

शैव-धर्म के साथ-साथ उस समय कश्मीर की भूमि में अन्य वैदिक तथा बौद्ध धर्म भी पल रहे थे। वैष्णव-मत तथा बौद्ध मत बहुत प्राचीन काल से प्रचलित थे। अन्य दर्शनों के साथ सभी वैदिक दर्शनों का प्रचार था। स्वयं सोमानन्द ने अपनी स्थापनाओं के साथ विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं को समीक्षा की है। बौद्ध न्याय का प्रभाव हम शकुन पर देख ही चुके हैं, तब मीमांसा का कृष्ण भट्ट नायक पर स्पष्ट हो है। खाल्य एक ऐसा दर्शन था जो अपनी आवश्यक्ताओं के अनुरूप सभी के द्वारा अपनाया जा रहा था। शैव-मत कर्माखण्ड की द्वैत-वादी धाराएँ कर्मकाण्ड-प्रधान थीं। मीमांसा भी एक कर्म-काण्ड-प्रधान दर्शन है। मीमांसा को अद्वैत-वादी अपेक्षा द्वैत-वाद से अधिक समझीते की गुंजाइश थी।

कश्मीर-चिन्तन-धारा को इस पृष्ठ-भूमि को सामने रख कर ही हम भट्ट नायक के "भोग-वाद" को भली प्रकार समझ सकते हैं।

#### १- आधार ग्रन्थ:-

क- अभिनव गुप्त : कान्तिचन्द्र पाण्डेय : पृ० ६९-१४३ : हिस्ट्री ऑफ़ कल्चर ऑफ़ कश्मीर : डॉ० सुनील चोपड़ा : पृ० १४०-१८९ : हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर : डॉ० यदुवंशा : अध्याय ५-६-७।



भट्ट नायक के "भोग-वाद" में ४ बातें सामने आती हैं:—

- १-भट्ट नायक शैव थे। उनके भोग-वाद की पदावली एवं सिद्धान्त शैव-दर्शन से उठाये हुए हैं। अपनी शताब्दी में वेग से उठने वाले शैव-अद्वैत-वाद की उपलब्धियों से उनका प्रभावित होना ही स्वाभाविक था।
  - २-भट्ट नायक मीमांसा से अत्यन्त प्रभावित हैं। यह दृष्टव्य है कि भट्ट नायक के मीमांसकत्व का ही अनेकत्र अभिनव स्पष्टन करते हैं। उनके भोग-वाद का नहीं। "भोग" के स्वरूप में उन्हें अधिक आपत्ति नहीं, आपत्ति है उस भोग के लिए एक व्यंजना से पृथक् "भोग-कृत्व" व्यापार मानने पर।
  - ३-भट्ट नायक के रस में वस्तु-वादिता की एक क्षीण रेखा है। रस के आत्म-पक्षा में भी यह रेखा उनके द्वैत-वादों दृष्टि-कोण का पता देती है। वे सिद्ध रस का भोग मानते प्रतीत होते हैं।
  - ४-जैसा कि हम देखेंगे, उनके भोग-वाद की व्याख्या शैव-दर्शन के आधार पर ही सर्वाधिक समझस रूप में की जा सकती है। हम यह भी देखेंगे कि उनके रसात्मक अनन्द की चेतना ब्रह्म संविद् के उस सूक्ष्म परातल पर नहीं पहुँचती, जिस पर अभिनव की।
- इन तथ्यों को छाया में हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भट्ट नायक शैव थे। वे द्वैत-वादी थे। इसीलिए मीमांसा से उनका सहज समझीता निभ सका था। फिर भी वे अपने युग के अद्वैती शैव-मत की चेतनाओं से प्रभावित हुए थे। उन्होंने उसका उपलब्धियों का पूर्ण उपयोग किया था, किन्तु अपने द्वैत-वादी संस्कारों के अनुरूप उन्होंने उन उपलब्धियों को एक सोमा में ही ग्रहण किया था।

डा० कान्ति-चन्द्र पाण्डेय ने भट्ट नायक को अभिनव भारती के ग्रंथ उद्घरण के आधार पर वेदान्ती माना है। और, उसी एक स्रोत पर जाग्रित रह कर यह मान लिया है कि भट्ट नायक जिस प्रकार आनन्द-वर्धन की व्यंजना से अप्रभावित रहे उसी प्रकार अपने युग में वेग से उठने वाले भी अद्वैती शैव-मत की छायाओं से अस्पृष्ट रहे। पहिले तो केवल एक ही किसी उद्घरण पर अवलम्बित रह कर ऐसे व्यापक निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते; फिर उस उद्घरण में भट्ट नायक की ओर से जो विचार-धारा प्रस्तुत की गयी है, वह वेदान्त की ही है— यह भी निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार की विचार-धारा शैव-ग्रन्थों में भी मिलती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उस स्थल की व्याख्या शैव-दर्शन की छाया में भी ~~होती है।~~

प्रसंग भरत के प्रथम श्लोक के "नाट्य-शास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम्" की व्याख्या के साथ जुटा है। अभिनव भट्ट नायक की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, ध्यान देने की बात है कि वे इस की कोई आलोचना नहीं करते। यदि यह व्याख्या शुद्ध वेदान्त-परक होती तो शैव अभिनव ने इसकी आलोचना का अवसर शायद ही हाथ से जाने दिया होता। स्थल इस प्रकार है:—

- 
- १- हिस्ट्री आफ़ इण्डियन एस्थेटिक्स : कान्ति-चन्द्र पाण्डेय : पृ० ६०-१ : इण्टेलिक्चुअल बैकग्राउण्ड आफ़ भट्ट नायक : वेदान्तिक टेण्डेन्सिज़ आफ़ भट्ट नायक ।



"भट्ट नायकस्तु— ब्रह्मणा परमात्मना यदुदाहृतमविद्याविरचितनिस्सारभेदगृहे यदुदाहरणी-  
कृतं तन्नाट्यं, तद्विद्यामि। यथा हि कल्पनामात्रसारं तत एवानवस्थितैकरूपं दानेन कल्पनाशतसहस्रसहं  
स्वप्नादिविलक्षणमपि सुष्ठुतरां हृदयग्रहनिदानमत्यन्तस्वात्मन्ब्रह्मकल्पनटोपरचितं रामरावणा-  
दिचेष्टितमुसृज्यं कुतोप्यभूताद्भुतवृत्त्या भाति। तथा भासमानपि च पुमर्घोपायतामेति। तथा  
तादृगेव विश्वमिदमसत्यनामरूपपृथक्वात्मकमथ च श्रवणमननादिवशेन परमपुमर्घप्रापकमिति लोकोत्तर-  
परमपुरुषाण्यसूचनेन शान्तरसोपक्षोपोयं भविष्यति। "स्वं स्वं निमित्तमादाय शान्तादुत्पद्यते रसः  
ना०शा०६"। तदनेन पारमार्थिकं प्रयोजनमुक्तम्।" इति व्याख्यानं सद्गुरुदर्पणे पर्यग्रहीतुमिदाह-

"नमस्त्रैतो ज्यनिर्माणकव्ये शम्भवे यतः।

प्रतिदणं जान्नाटप्रयोगरसिको जनः।" इति। "

१- अभिनव नरती : भाग १ : अध्याय १४ पृ०५-६।

इस उद्धरण के रेखाङ्कित शब्द विशेषतः ध्यान देने योग्य हैं। "अविद्या" शैव-दर्शन  
का एक तत्त्व है, जिसके आधार पर समस्त नाम-रूपात्मक जगत् की सृष्टि होती है। भेद-मय जगत्  
उसी से बनता है। किन्तु शैव-दर्शन उन भेदों को शिव से भिन्न नहीं मानता, वतः जो भी भेद  
है, वास्तविक नहीं, निस्सार है:—

इ-चिदाकाशमये स्वाद्गे विश्वालेख्यविद्यायिने।

सर्वादभुतोद्भवभुवे नमो विष्णमचक्षुणे॥ शिवदृष्टिः प्रथमा हि नकम्:१।

ख-"विष्णमचक्षुणे इति- यदिप प्रमाणप्रमेयलक्षणं विश्वं तद्भेदाभासेन मिथ्यैवेति नेत्रद्वित-  
येन द्योत्यते भगवता। परमार्थतस्तद्वत्तायामपि स्वात्मस्फुरत्तामात्ररूपत्वादस्य विश्वस्य  
न त्वापि भेदकत्वं कदो जकल्पनेति तृतीयनेत्रेण द्योत्यते।" टीकाः वही : पृ० १।

ग- तथाहि परापरावस्थायां सदाशिवेश्वररूपत्वे विश्वमहमिति विश्वरूपत्वमेव संविदि  
स्फुरति। अपरावस्थायामपि अहं नटमिमं वेदिम घटोयमिति वा द्वैतदृष्टी चिदात्मकतां  
विना प्रकाशमानतेव नोपपद्यते इति तदुपरीत, किन्तु मायाशक्तिवृक्षवशादभेदपरामर्शविके  
इति सर्वदा स्वरूपप्रसरणमेवेति कथं गृहीतव्यम्। अभेदपरामर्शानमेव भ्रान्तिरूपं कुत्सितं, तच्च  
न किञ्चित् अस्वातिरूपमात्रत्वात्।" उत्पलाचार्य-वृत्तिः पृ० १३-४।

जिस प्रकार दत्तपल ने स्वरूप-प्रसरण रूप विश्व को अगृहीत कहा है, उसी प्रकार  
भट्ट नायक ने भी "परमपुमर्घप्रापक"।

वेदान्तों विश्व को स्वप्न-तुल्य कहता है, भट्ट नायक ने स्वप्न-विलक्षण कहा है। नट की  
विद्या है "अत्यन्तस्वात्मन्ब्रह्म"। यह धारणा भी  
शैवानुकूल है। विभिन्न आभासमान भेदों में शिव का मूल-रूप अदीत एवं अत्यन्त रहता है।  
बाह्य भेदों का आधार सत्य है अतः वे सत्य हैं, किन्तु उनकी भेदता एवं अनेकता तो मिथ्या  
एवं असत् ही है। भट्ट नायक के नट का आदर्श शिवदृष्टि का उपर्युक्त कारिका में तथा निम्न  
कारिका में बोधा जा सकता है:-

"तदेवं प्रसृतो देवः कदाचिच्छक्तिमात्रके। विभर्ति रूपमिच्छातः कदाचिज्ज्ञानशक्तितः।

आत्मप्रच्छादनक्रोहां कुर्वतो वा कथंचन। मायारूपमितीत्यादि षट्त्रिंशत्तत्त्वस्वरूपताम्।।

विभ्रद् विभर्ति रूपाणि तावता व्यवहारतः। यावत्स्थूलं जडाभासं सहतं पार्थिवं घनम्।

प्रथम आहिनकः कारिका २९-३०, ३२, ३३।



कश्मीरी शैव दर्शन अद्वैत-वादी है। उसके अनुसार आत्म-तत्त्व-रूप परम शिव से भिन्न कुछ भी नहीं। सब कुछ तत्प्रसूत होने के कारण ही "सत्" है।<sup>१</sup> परम तत्त्व के दो रूप हैं- एक विश्वो-त्तीर्ण, दूसरा विश्वमय या विश्वात्मक। प्रथम रूप वेदान्त के शुद्ध ब्रह्म के समान ही अतर्क्य है। विश्वात्मक रूप "प्रकाश-विमर्श-मय" है। वस्तुतः "विमर्श" के बिना केवल "प्रकाश" विचार को सीमा से परे है। यही रूप शिव-शक्ति-मय है। विमर्श या शक्ति प्रकाश से भिन्न नहीं, उसका एक पक्ष ही है। प्रकाश पक्ष दर्पण के समान आधार-तत्त्व है, और विमर्श-पक्ष प्रति-बिम्ब-रूप।<sup>२</sup> इसी प्रकाश-रूप आधार में शक्ति अपने समस्त विकास-रूपों के सहित सन्निहित है। विमर्श या शक्ति प्रकाश से भिन्न न होने के कारण सब कुछ शिव-रूप तथा तत्त्वतः "सत्" है। यही इस दर्शन का वेदान्त से भेद हो जाता है, जहाँ माया या प्रकृति को परमार्थतः "असत्" माना जाता है। दूसरी ओर यह दर्शन सांख्य से भी भिन्न हो जाता है जिसमें शक्ति या प्रकृति को स्वतन्त्र स्थान प्राप्त है। शक्ति को शिव की समवर्तिनी मानने वाले शैव-सिद्धान्त से भी वह भिन्न हो जाता है।<sup>३</sup>

शक्ति के असंख्य रूप हैं, और वह सूक्ष्म-स्थूल नाना धरातलों में बिखरी हुई है।<sup>४</sup> फिर भी उसके पाँच प्रमुख रूप हैं-- चित् शक्ति, आनन्द शक्ति, इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति एवं क्रिया शक्ति।<sup>५</sup> इनमें मूल शक्ति "चित्" शक्ति है, अन्य सब उसकी ही अवस्थाएँ हैं।

१-आत्मैव सर्व-भावेण स्फुरन् निर्वृतचिद्विभुः।

अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः।"

शिवदृष्टिः : प्र०आ०:२।

२-अभिनव गुप्त : कान्तिकन्द पाण्डेय : पृ० १९९।

३-"सर्वमैव भावजातं बोधगणे प्रतिबिम्बमात्रं प्रतिबिम्बलक्षणापेतत्वात्। इदं हि प्रतिबिम्ब-लक्षणात्-- यत् भेदेन भासितम् अशक्तम् अन्यथा मिश्रित्वेनैव भाति तत्प्रतिबिम्बम्, मुखरूपमिव दर्पणे।" तन्त्रसार : अभिनव गुप्त : तृ०आ० : पृ० १०।

४-शैव मत : डा० यदुवंशी : पृ० १७२ : अ० ७।

५-शक्तयोः असंख्याः। तन्त्र-सार:आ० ४१, कश्मीर शैविज्म:वे०सी०चटर्जी:पृ० ४३।

६-"परमेश्वरः पंचभिः शक्तिभिर्निभरः"। तन्त्रसार:आ० २। कश्मीर शैविज्म:पृ० ४३।

"तस्य च सस्वस्व स्वातन्त्र्यम् आनन्दः शक्तिः, तन्त्रमत्कारः इच्छा-शक्तिः, प्रकाशरूपता चित् शक्तिः, आमर्शात्मकता ज्ञान-शक्तिः, सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः -- इत्यैव मुख्याभिः शक्तिभिः युक्तोऽपि वस्तुतः इच्छाज्ञानक्रियाशक्तियुक्तः अवच्छिन्नः प्रकाशो निजानन्दविश्रान्तः शिवरूपः, स एव स्वातन्त्र्यात् आत्मानं संकुचितम् अवभासन् अणुरित्युच्यते।"

तन्त्र-सार:आह्निक १-पृ० ६।



"चित् शक्ति" ही "अनुत्तर" विमर्श है। इसे ही "स्वतन्त्र" कहते हैं। यह "प्रकाश" का ही एक रूप होने के कारण "प्रकाशरूप" है। वस्तुतः प्रकाश की "प्रकाशरूपता" ही "चित् शक्ति" है। इसके सम्बन्ध से ही "परम शिव" "शिव" कहलाते हैं।<sup>१</sup> "चित्-शक्ति-मय शिव" ही आत्मा का वास्तविक रूप है। यही उसका "स्व-भाव" है। यह "स्व-भाव" ही परम उपादेय है।<sup>२</sup> "स्वभाव" "प्रकाश-रूप" एवं "स्वतन्त्र" है।<sup>३</sup> जिस प्रकार इसकी प्रकाशरूपता चित् शक्ति है, उसी प्रकार इसका "स्वातन्त्र्य" "आनन्द शक्ति"। यों भी कहा जा सकता है कि अनुत्तर विमर्श-रूप चित् शक्ति में विश्रान्ति ही आनन्द शक्ति है।<sup>४</sup>

इस प्रकार "चित् शक्ति" ही विभिन्न रूपों में फैली हुई है। अतः इस दर्शन में "संविद्" के अनेक रूपों की स्वीकृति मिलती है। तत्त्वतः ये संविद्-रूप परा संविद् के ही रूप हैं, और अन्त-तोगत्वा शिवाभिन्ने ही हैं। किन्तु फिर भी विवेचनाई उसके अनेक रूपों की चर्चा मिलती है।<sup>५</sup>

यह चिति ही सृष्टि-स्थिति-संहार का हेतु है। सर्जन में यह उन्मिषित हो कर फैल जाती है, संहार में अन्तर्मुखी होकर अपने में लीन हो जाती है। जब जब उसका बहिर्मुख रूप अपने स्वरूप में विश्रान्त हो जाता है, बाह्य वस्तुओं का उपसंहार हो जाता है, तब आन्तरिक प्रशान्त पद की उपलब्धि हो जाती है।<sup>६</sup>

१- "यस्य तस्य च - - - प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः"। तन्त्रसारः भा० १: पृ० ६।

२- कश्मीर शैविज्य : जे० सी० चटर्जी: पृ० ४१-४।

३- "तत्रैह स्वभाव एव परमोपादेयः, ।" तन्त्रसारः भा० १: पृ० ५।

४- "स च सर्वभावानां प्रकाशरूप एव, - - - एक एव प्रकाशः, स एव च्छी संविद्। - -  
स च प्रकाशो न परतन्त्रः - - - न च प्रकाशान्तरं किञ्चित् अस्ति इति स्वतन्त्रः एकः  
प्रकाशः ।" तन्त्रसारः भा० १: पृ० ६।

५- "तस्य च स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः"

"- - प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः"। तन्त्रसारः भा० १: पृ० ६।

६- "अनुत्तर एव विश्रान्तिरानन्दः"। तन्त्रसारः भा० ३: पृ० १२।

७- "- - इति एता द्वादश भगवत्यः संविदः प्रमातृन् एकं वापि उद्दिश्य - - -"। तन्त्रः भा० ४  
पृ० ३०।

"- - इयं तुरीया संविद्भट्टारिका तत्तत्सृष्ट्याभिधान् उद्गमन्ती संहरन्ती च - - स्थिता।  
प्रत्यभिज्ञा-हृदयम् : पृ० ४७।

"तथापि परापरावस्थायां सदाशिवेश्वररूपत्वे विश्वमहामिति विश्वरूपत्वेव संविदि  
स्फुरति।" शिवदृष्टिः उत्पल-वृत्तिः प्र० भा० : पृ० १४।

८- चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः ॥१॥ प्रत्यभिज्ञा-हृदयम्: पृ० २०।

"विश्वस्य सदाशिवादेः भूम्यन्तस्य सिद्धौ निष्पत्तौ प्रकाशानि स्थित्यात्मनि परप्रमातृ  
विश्रान्त्यात्मनि च संहारे पराशक्तिरूपा चित्तिरेव भावती स्वतन्त्रा अनुत्तरविमर्शमयी  
शिवभट्टारकाभिन्ना हेतुः कारणम्।" उत्तम-वृत्तिः वही: पृ० २०-२१।

९-संदर्भ अग्रिम पृष्ठ पर



इस प्रकार शैव दर्शन में आनन्द का मूल कारण होता है किसी न किसी प्रकार से अपनी संविद् की विश्रान्ति।<sup>१</sup> प्रश्न उठ सकता है संविद् के किस स्तर की विश्रान्ति? क्योंकि संविद् को तो विभिन्न स्तरों पर स्वीकार किया गया है। उसकी तो अनेक भूमिकाएँ हैं।<sup>२</sup> शुद्ध प्रकाश भी परा संविद् है, और विश्व का स्थूल रूप भी संविद् से भिन्न नहीं।<sup>३</sup> हम देख चुके हैं कि चित् शक्ति या अनुत्तर-विमर्श के धरातल पर होने वाली विश्रान्ति को ही आनन्द शक्ति कहा गया है। परावस्था में होने वाले इसी "स्व-भाव" या "स्व-स्वभाव" के, जिसे निर्वृत-चित् कहा गया है, धरातल पर होने वाली विश्रान्ति ही आनन्द है।<sup>४</sup>

चित् शक्ति जब परानपेक्षा एवं पूर्ण होती है, निर्वृत कहलाती है।<sup>५</sup> जब यह निर्वृति त्र्योन्मुख होती है तब कर्मावच्छिन्न होती है; किन्तु जब कर्म से अनवच्छिन्न, विश्रान्त एवं निर्वृति-मान होती है, तो "आनन्द-शक्ति" कहलाती है। इसीलिए चित् शक्ति में विश्रान्ति को पीछे आनन्द शक्ति कहा गया है।

इस प्रकार शैव दर्शन के अनुसार आनन्द का स्वरूप "संविद्" की वह विश्रान्त दशमूय है जहाँ एक पक्ष "प्रकाश" का है, दूसरा "आनन्द शक्ति" का। इसे ही "प्रकाश-आनन्दमय संविद्" कह सकते हैं। आनन्द शक्ति के स्वरूप की और स्पष्ट करने के लिए इसे चित् की स्वभाव-निर्वृत्त दशा में विश्रान्ति कह सकते हैं। "स्वभाव" अर्थात् आत्मा या शिव का मूल रूप जो प्रकाश-विमर्शमय है, "निर्वृत-चित्" है, स्वाभिन्न-शक्ति-मय शिव है।<sup>६</sup>

गत पृष्ठ का सन्दर्भ:-

"यदा यदा बहिर्मुखं रूपं स्वरूपं विश्राम्यति तदा तदा बाह्यवस्तुपसंहारः, जन्तः प्रशान्तपदा-वस्थितिः, तत्सङ्क्षेप्यत्संवित्सन्तत्यासूयणं इति सृष्टिस्थितिसंहारमेलनरूपा इयं तुरीया संविद्-भट्टारिका तत्तत्सृष्ट्यादिभेदान् उद्धमन्ती संहरन्ती च सदा पूर्णा च कृशा च - ।"

प्रत्यभिज्ञा-हृदयम्: पृ० ४६।

१- "तद्विश्रान्तिं विना ज्ञो ज्ञात एव न भवति"। शिवदृष्टि: उत्पल-वृत्ति: पृ० ८।

२- "तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः"। ॥ ८ ॥ प्रत्यभिज्ञा-हृदयम्: पृ० ४०।

"एवं एकस्यैव चिदात्मनो भावतः स्वातन्त्र्यावभासिताः सर्वा इमा भूमिकाः स्वातन्त्र्य-प्रच्छादनोन्मीलनतारतम्यभेदिताः।" प्रत्यभिज्ञा-हृदयम्: पृ० ४४।

३- "संविन्मयं हि विश्वं चैतन्यस्य व्यक्तित्वानम्"। तन्त्रसार: भा० ३: पृ० १२।

४- "परावस्थायां पुनः पूर्णा हिमित्येव स्व-स्वभावः प्रकाशते"। शिवदृष्टि: उत्पल-वृत्ति: पृ० ७

"स यदास्ते चिदाह्लादमात्रानुभवतत्त्वयः।

चिदूपाह्लादपरमो निर्विभागः परस्तदा ॥ ३-४ ॥ शिवदृष्टि: प्र० भा०: पृ० ६।

५- निर्वृता के अनिराकांक्षा पूर्णा चित्स्य सः" निर्वृतचिद्विभुः शिवः की व्याख्या में उत्पल।

६- "कर्मावच्छिन्ना निर्वृतिरौन्मुख्यम्, शिवदृष्टि: उत्पल-वृत्ति: प्र० भा०: पृ० ५-६।

अनवच्छिन्ना निर्वृतिमात्रमनन्देशक्तिरिति यावत्"। वही: उत्पल-वृत्ति: प्र० भा०: पृ० १७।

७- "चिदूपस्य शिवभट्टारकस्य धर्मः स्वभावो यो विभवः पञ्चविधकृत्यनिर्वृत्तियोग्यता" शिवदृष्टि: उत्पल-वृत्ति: पृ० १०: प्र० आह्निक।



जब हम शैव दर्शन में मान्य इस आनन्द के स्वरूप से भट्ट नायक द्वारा विवेचित रस-भोग के स्वरूप को मिला सकते हैं:—

तौजनः— "दृतिविस्तरविकासआत्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्यसत्त्वमय-निजचित्स्वभावनिरवृत्तिविश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधः।" १

अभि० भा०:— "रजस्तमोनुवेषवैचित्र्यबलाद् दृतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमय-निजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यते।" २

कहने की आवश्यकता नहीं कि तौजन का "निजचित्स्वभावनिरवृत्तिविश्रान्तिलक्षण" तथा

अभिनव भारती का "प्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षण" सीधा शैव दर्शन की भूमिका से आया हुआ भोग-स्वरूप है। किन्तु यह तो हुआ शैव दर्शन के अनुसार "ब्रह्मानन्द" का स्वरूप-विवरण। भट्ट नायक के अनुसार काव्य-रस ब्रह्मानन्द नहीं, ब्रह्मानन्दसविध है। उनके ऐसा मानने का कारण स्पष्ट है। काव्यास्वाद में प्रमात्ता के चित्त की भी तो सत्ता रहती है।

शैव दर्शन के अनुसार "चित्त" भी "चित् शक्ति" का ही एक रूप है। वह "संकुचित चित्" है जिसका सम्बन्ध विषयों से रहता है:—

"चित्तिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसंकोचिनो चित्तम्" ३

"स्वातन्त्र्यात्मा चित्तिशक्तिरेव ज्ञानक्रियामायाशक्तिरूपा पशुदशायां संकोचप्रकर्णात् सत्त्व-रजस्-तमः-स्वभावचित्तात्मतया स्फुरतीति श्रीप्रत्यभिज्ञायामुक्तम्।" ४

यह चित्त "सत्त्व-रजस्तमःस्वभाव" है। शैव दर्शन में भी गुणों का स्वभाव सांख्य के समान ही स्वीकृत है। चित्त का सम्बन्ध "चित् शक्ति" के उस संकुचित रूप से है जिसे "चेतन" या "जीव" कहते हैं:—

"चित्तिसंकोचात्मा चेतनोऽपि संकुचितविश्वमयः" ५

इसीलिए उत्पल ने चित्त का सम्बन्ध प्रत्यभिज्ञा में "पशु" के साथ जोड़ा है। भट्ट नायक अपने रस-भोग में "विश्रान्त संविद्" को मात्र "प्रकाशानन्दमय" या "निजचित्स्वभावनिरवृत्त" रूप नहीं बल्कि चेतन के परातल पर लेते हैं। इसी कारण उनका "भोग" "ब्रह्मास्वाद" नहीं "ब्रह्मास्वादसविध" है। उसका सम्बन्ध "पशु" या "चेतन-जीव" के "चित्त" की एक उत्कृष्ट अनुभूति से है। इस प्रकार भट्ट नायक का भोग-वाद शैव दर्शन की मूल मान्यताओं की ही

१-तौजनः पृ० १८३।

२-अभि० भा०: भा० १: पृ० २७७।

३-प्रत्यभिज्ञा-हृदयम्: ५: पृ० ३४।

४-प्रत्यभिज्ञा-हृदयम्: वृत्तिः पृ० ३४।

५-प्रत्यभिज्ञा-हृदयम्: ४: पृ० ३०।



अपना कर चला है, यह निस्सन्देह कहा जा सकता है। रती चित्त के धरातल पर सांख्य के त्रिगुण-वाद को अपनाने का वातावरण हम पीछे कह चुके हैं कि सांख्य के तत्त्वों को शैव दर्शन भी अपना कर चलता है। अन्तर केवल पुरुष-प्रकृति सम्बन्धी दृष्टि-कोण का रहता है। अन्यथा शैव दर्शन ने सांख्य के २५ तत्त्व अपने ३६ तत्त्वों में ज्यों के त्यों अन्तर्भूत कर लिए हैं। अतः भट्ट नायक के रस-स्वरूप में सांख्य का योग सीधे नहीं, शैव दर्शन के माध्यम से ही मानना चाहिए। बल्कि यों कहना चाहिए कि वह भी शैव दर्शन से ही आया है।

अभिनव गुप्त भट्ट नायक के इस भोग-वाद को स्वीकार कर लेते हैं। केवल इसमें वे दो सुधार सामने रखते हैं— एक तो यह कि काव्य के क्षेत्र में भावकत्व तथा भोग-कृत्व व्यापार की कल्पना अनावश्यक है। वह कार्य व्यञ्जना के द्वारा ही सम्पादित होता है। दूसरा यह कि वे भट्ट नायक के रस-भोग को व्यष्टि-चेतना के धरातल से उठा कर समष्टि-चेतना के धरातल पर ले जा कर रख देते हैं। व्यष्टि चित्त की संकुचित सीमाओं में सीमित चित्ति तक ही रस का सीमा निर्धारित करना उन्हें नहीं रुचता। अतः वे सामाजिक-सामान्य के स्तर पर रसानुभूति के विश्लेषण को ले जाते हैं:—

"अत एव सर्वसामाजिकानामेकधनत्वस्य प्रतिपत्तिः सुतरां रस-परिपोषणाय। सर्वेषाम-नादिवासनाचित्रोक्तव्यचेतसां वासनासंवादात्।" १

अभिनव गुप्त के इस सीमा-विस्तार में निस्सन्देह उनका द्वैत-वादी दृष्टि-कोण सहायक था, तथा उनकी चिन्तन-धारा व्यापक क्षेत्र को समेट कर चल सकी थी। किन्तु भट्ट नायक की सीमित रेखाएँ उनके द्वैत-वादी दृष्टि-कोण के कारण आयी हुई हैं प्रतीत होती हैं।

अभिनव गुप्त भट्ट नायक को इस मान्यता को भी स्वीकार नहीं करते कि रसानुभूति में चित्त की दृष्टि-विस्तार-विकास तीन ही दशाएँ होती हैं। उन्हें चित्त का भी इस प्रकार का सीमा-संकोच स्वीकृत नहीं। जितनी रस-प्रतीतियाँ, भावानुभूतियाँ, सत्त्व आदि गुणों के परस्पर अद्भुतादि-ग-वैचित्र्य से उतनी ही चित्त-दशाएँ हो सकती हैं:—

"अथैकं यावन्ती हि रसास्तावन्त एव रसनात्मानः प्रतीत्यो भोगीकरणास्वभावाः। सत्त्वादिगुणानां चाद्भुतादि-ग-वैचित्र्यमनन्तं कल्पमिति का त्रित्वेनैव त्ता"। २

इस प्रकार हम देखते हैं कि भट्ट नायक के विवेचन में कुछ स्थूलताएँ रह जाती हैं। अभिनव उनका परिमाणन करते हैं तथा रस-विवेचन को पूर्णता प्रदान करते हैं। इन स्थूलताओं के मूल में भट्ट नायक की द्वैत-दृष्टि ही प्रमुखतया प्रतीत होती है।

१- शैव दर्शन में ये ३६ तत्त्व माने गये हैं:— शिव, शक्ति, सदा-शिव, ईश्वर, सद्ब्रह्मा, माया, पुरुष, निपति, काल, राग, क्रिया, कलापे ३३ २ तत्त्व शैव दर्शन में सांख्य से अधिक हैं। अष्टविध प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मनस, श्रवण, स्पर्श-दर्शन-रसन-ग्राह्य ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध ५ तन्मात्राएँ, वाग्-हस्त-पाद-पायु-उपस्थ ५ कर्मेन्द्रियाँ, आकाश-वायु-अग्नि-अप्-पृथिवी ५ भूतानि २४ तत्त्व शैव दर्शन में सांख्य के ज्यों के त्यों हैं।

कश्मीर शैविज्यः वे० सी० चटर्जीः पृ० १४३-५।

२-लोचनः पृ० १८९। ३-अभि० भा०ः भा० १ः पृ० २७९। ४-अभि० भा०ः भा० १ः पृ० २७७।



## अभिनव गुप्त

रस के इतिहास में अभिनव की व्यवस्था सर्वाधिक महत्व-पूर्ण है। परवर्ती युग उन्हें ही आदर्श मान कर चला है। अभिनव एक महान् काव्य-शास्त्रीय आचार्य ही नहीं थे, एक महान् दार्शनिक भी थे। उत्पल के प्रत्यभिज्ञा-सिद्धान्त को एक महान् दर्शन का रूप देने का श्रेय उन्हीं को है। इसी अद्वितीय शैव दर्शन की छाया में अभिनव गुप्त ने काव्य-रस की व्याख्या करके उसे चरम प्रतिष्ठा प्रदान की।

हम देख चुके हैं कि शैव दर्शन के अनुसार आनन्द का मूल है "संविद्विश्रान्ति"। जब और जहाँ चित्त की बहिर्गामिता रुक कर विश्रान्त अवस्था होती है, आनन्द की सम्भावना हो जाती है। इस दृष्टि से ब्रह्मानन्द, काव्यानन्द अथवा वैष्णविक आनन्द में स्वरूपात्मक भेद नहीं रह जाता। भेद केवल प्रक्रिया का अवाविश्रान्ति की मात्रा का रह जाता है। वैष्णविक आनन्द में आत्म-परामर्श में विषयों का व्यवधान रहता है; काव्यानन्द में उनका साक्षात् व्यवधान तो नहीं रहता, तथापि उनके संस्कारों का अनुबेध तो होता ही है। किन्तु ब्रह्मानन्द में तो शुद्ध संवेदन-रूपता होती है, स्वतन्त्र चित्त का पूर्ण आत्म-परामर्श होता है। अतः वही "परमानन्द" है, सच्ची "निर्वृति" है।<sup>१</sup>

"आनन्द" को विषयानन्द, काव्यानन्द तथा परमानन्द के तीन वर्गों में रख कर अभिनव उनका विवेचन इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं:—

**"स्वरूपस्य स्वात्मनः परिपूर्णनिजस्वभावप्रकाशनमेव परामर्शमयतां दधदानन्द इत्युच्यते।"**

तथाहि देहादिसंकोचकलुषापरिपूर्ण-प्रत्यगात्माहंभाव-निष्ठत्वेन शरीरस्य रिक्ततया क्षुधा-तुरस्य व्यतिरिक्तान्नाभिलाषाविवशीकृतमतेरात्मपरामर्शोऽयमेकधनवृत्त्या यतो न सम्भवति, ततोऽयमानन्द इवास्ते। सति आत्मपरामर्शमये स्वानन्दे यदा तु अन्नपरिपूर्णवृद्धता अस्य, तदा तद्रिक्तततोद्वेकरूपा तावदपूर्णता विनष्टा। संस्काररूपतया तु तदानीं यदभिलाषणीयं कान्तालिङ्गनादि परामर्शनीयं स्थितं— तद्योगादपूर्णो यमानन्द इति परमानन्दोऽयं न भवति। सांसारिक-श्च सर्वोऽस्य आनन्दो— व्यतिरिक्ताकाङ्क्षाविच्छेदमयतां सर्वात्मना न स्वीकुरुते इति ततोऽपि अपूर्ण एवायस्तु आनन्दाशस्तत्र स्वात्मपरामर्शरूपतैव प्रयोजिकेति।—

यत्रापि अत्यन्तमन्यवाभावमतिक्रम्य सुखमास्वाधत्ते अर्जनादिसम्भाव्यमानविघ्नान्तरनिरासात् वैष्णविकानन्दविलक्षणशृंगारादौ नाद्यन्तव्यादिविषये, तत्र त्रीतविघ्नत्वादेव असी रसना चर्वणा निर्वृतिः प्रतीतिः प्रमातृताविश्रान्तितरेव, तत एव हृदयेन परामर्शलक्षणेन प्रधान्यात् व्यपदेशया व्यवस्थितस्य अपि प्रकाशभागस्य कैवलिश्रान्तस्य अनादरणात् सहृदयता उच्यते इति निर्विघ्नः स्वादरूपाश्च रसनात्गोचरीकार्याश्चित्तवृत्तयो रसा नव इत्यमर्योऽभिनवभारत्या नाद्यवेदविवृतौ वितत्य व्युत्पादितोऽस्माभिरिति तत्कुतूहली तामेव अवलोक्येत्। इह तु प्रकृत-विघ्नकारित्वात् न विततः।

तस्मादनुपचरितस्य संवेदनरूपतानन्तरीयत्वेन अवस्थितस्य स्वतन्त्रस्यैव रसजैकधनतया परामर्शः परमानन्दो निर्वृतिश्चमत्कार उच्यते। तस्मात् युक्तमाह— चमत्कृतेरभावात्। मधुरादिरसास्वादे तु विषयस्पर्शव्यवधानम्। ततोपि काव्यनाट्यादौ तद्व्यवधानशून्यता, तद्व्यवधानसंस्कारानुबेधस्तु। तत्रापि तु तयोदितव्यवधानां शक्तिरस्त्रियासावधानहृदया सन्त एव परमानन्दम्, यथोक्तं—



"वर्णिषपानकृतोत्सासरसानन्दव्यवस्थितः"। वि० भ० ६२। इत्यादि।" १

वैष्णविक आनन्द क्या है ? वे एक उदाहरण लीजिए। एक दुधार्त व्यक्ति है। देहादि-संकीर्णों की सीमा में सीमित उसकी जीव-चेतना शरीर की रिक्तता को अनुभव करती हुई अन्न की अभिलाषा में लीन है। उसकी बुद्धि में रौटी छापी हुई है। भला ऐसी दशा में उसे आत्म-परामर्श का अवसर कहाँ ? यही उसकी अनानन्द की अवस्था है। उसे राटी मिलती है, पेट भरता है, और उसकी एक अपूर्णता समाप्त होती है। उसकी चेतना को आत्म-परामर्श का अवसर मिलता है। बस, उसे आनन्दोपलब्धि हो जाती है। यह आनन्द उसके आत्म-परामर्श का है। हम समझते हैं, रौटी से मिठा है। अब आगे चलिए। जैसे ही उसकी चेतना एक क्षण के लिए आत्म-परामर्श कर सकी, जैसे ही उसकी दूसरी भूख जाग उठी, दूसरे अभावों की ओर चेतना मुड़ गयी। पेट की भूख न सही, संस्कार रूप से न जाते कितने विषयों की अभिलाषाएं उसमें सन्निहित हैं। उन अभावों की ओर बढ़ जाने के कारण दुध-तृप्ति पर होने वाला आत्म-परामर्श-जन्य आनन्द कभी परमानन्द की कोटि तक पहुँच ही नहीं पाता। फिर भी, यहाँ जो भी आनन्द का अंश है, वह स्वात्म-परामर्श से ही है। यही हाल समस्त वैष्णविक आनन्दों का है। उसमें अन्य विषयों की आकांक्षा का न पूर्ण अभाव हो, और न आनन्द स्थायित्व लाभ कर पाये।

दूसरा है काव्यानन्द। इसमें वैष्णविक आनन्द से यह बिलक्षणता है कि जहाँ वैष्णविक आनन्दों में चेतना दूसरे विषयों की ओर दीवती है, काव्यानन्द की अनुभूति में किसी भी विषय के अर्जन-विसर्जन की बात नहीं होती। इसी कारण इसे "वीत-विघ्ना" कहा जाता है। परन्तु यह भी परमानन्द नहीं होती। कारण यह है कि इस प्रतीति में दो भाग होते हैं— एक प्रकाश-मयी संविद् का, दूसरा चित्तवृत्तियों का। प्रकाश-भाग केव-विश्रान्त होता है, व्यवस्थित होता है, किन्तु चित्तवृत्ति वाले भाग से गीण होता है। चित्तवृत्ति-भाग में हृदय-तत्त्व की प्रधानता होती है, अतः इस रस-प्रतीति को "सहृदयता" भी कहा जाता है। सहृदयता कहने से यह स्पष्ट है कि इसमें "प्रकाश" तत्त्व का अपेक्षा हृदय-तत्त्व प्रधान है। इस प्रकार विषय-संस्कारों के अनुबेध होने के कारण काव्यानन्द भी परमानन्द की कोटि तक नहीं पहुँच पाता।

तीसरा है "परमानन्द" या "ब्रह्मानन्द"। इसमें विषयता का स्पर्श भी नहीं होता। शुद्ध संवेदन-रूपता ही होती है। "स्वतन्त्र" या चित् का एक-यनता से इसमें परामर्श होत है। निर्विघ्न, विषयों के संस्पर्श तथा उनके संस्कारों के संस्पर्श से सर्वथा शून्य, चित्तसंवेदन-मात्र यह पूर्ण स्वात्म-परामर्श ही परमानन्द कहलाने योग्य होता है।

इस प्रकार वैष्णविक आनन्द तथा काव्यानन्द में परमानन्द से स्वरूपात्मक अन्तर नहीं, आत्म-जन्य आनन्दों का अन्तर है। जो सधि चित्त के लोग हैं, वे तो वैष्णविक तथा काव्य-जन्य आनन्दों को भी परमानन्द-प्राप्ति का साधन बना लेते हैं। साधन का प्रश्न ही नहीं, वह आनन्द तो स्वरूपतः एक ही है। बस, परवर्ती व्यवधानों से सावधान रहने की आवश्यकता है।

अतः अभिनव के अनुसार संविद्विश्रान्ति ही आनन्द का मूल है। इस विश्रान्ति का एक-मात्र प्रयोजिका है आत्म-परामर्श-रूपता। आत्म-परामर्श के द्वारा संविद् की यह विश्रान्ति विभिन्न भूमिकाओं में हो सकती है— विषयों की भूमिका में भी, भावों की भूमिका में भी, और "निज-

१-ईश्वर-प्रत्याभिज्ञा-विवृति-विमर्शिनः : भाग २: पृ० १७७-९।

सन्दर्भ: आर० ग्नीती: दी एस्थेटिक एक्सपीरियेन्स एट०: पृ० ८७-९०:



चित्-स्वभाव को भूमिका में भी। इनमें से भावों की भूमिका में होने वाली संविद्विश्रान्ति ही काव्य का रस है। आनन्द की व्याख्या के लिए संविद्विकास का यह सिद्धान्त अभिनव के पूर्व से ही आगमों तथा सोमानन्द और उत्पल के ग्रन्थों में आ चुका था। अतः उसकी सर्वाङ्गीण मौलिकता का श्रेय अभिनव को नहीं दिया जा सकता है। भट्ट नायक ही उनसे पूर्व इसी मार्ग को अपना चुके थे। किन्तु काव्य-रस के लिए उसे ही मूलधार बना कर पूर्णव्यवस्थात्मक योजना अभी नहीं हो पायी थी। मान्यताएं सामने आ चुकी थीं। अभिनव ने उनका शोधन कर के उन्हें एक सुव्यवस्थित प्रतिष्ठित प्रदान की। और कहने की आवश्यकता नहीं, कि इस प्रतिष्ठा का मूल्य किन्हीं मूल स्थापनाओं से किसी प्रकार कम नहीं है।<sup>१</sup>

तो, अभिनव गुप्त के अनुसार भावों की भूमिका में आत्म-परामर्श होने से जो संविद्विश्रान्ति होती है, वही "रस" है। यहाँ प्रश्न उठता है, किस प्रकार के भावों की भूमिका में ? यों तो भावों का अनुभव अपने दैनिक लौकिक जीवन में भी करते हैं। उत्तर है, शुद्ध, साधारणीकृत भावों की भूमिका में। जब भाव किसी अपने-पराये के सम्बन्ध-विशेष से सम्बद्ध हो कर सामने आते हैं, तब तो नियमित रूप से लौकिक सुख-दुःख को, हानोपादान की प्रतिक्रियाएं लाते हैं। उदाहरण-स्वरूप "भय" का भाव है। मैं भीत हूँ, यह मेरा शत्रु-मित्र-तटस्थ भीत है—इस प्रकार की चेतना तो निस्सन्देह कुछ न कुछ हानोपादान की प्रतिक्रिया लायेगी ही। किन्तु काव्य में जब साधारणीकृत विभावादि के माध्यम से प्रमाता के हृदय में भावोद्बोध होता है, तो वह निर्विशेष, देश-काल-व्यक्ति की सीमाओं से असंकुचित, शुद्ध भाव-मात्र होता है। ऐसे भाव की साधारणात्मक स्थिति में जो प्रमातृ-चेतना घुलती है, वह न तो अपने को उससे सर्वथा अलग रख कर और नहीं अपनी व्यष्टि-गत विशेषताओं को पूरा उभरा रखते हुए।<sup>२</sup>

शाकुन्तल के प्रसिद्ध उदाहरण:-

"ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्ध-दृष्टिः,  
पश्चाद्वैनं प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।  
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा,  
पश्योदग्रप्लुतत्वाद् विधति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥" ३

को लेकर सामाजिक-गत अनुभव का विश्लेषण करते हुए, उसकी चेतना में उद्बुद्ध भय का निरूपण अभिनव इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं:-

१- "आन्नायसिद्धे किमपूर्वमेतत् संविद्विकासेऽपिगतागमित्वम्।

इत्थं स्वयं ग्राह्यमहाहीतुद्वन्द्वेन किं दूषयिता न लोकः ?

तस्मात्सतामय न दूषितानि मतानि, तान्येव तु शोषितानि।

पूर्व-प्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति॥"

अभि० भा० : भा० १ : पृ० २४८।

२- अभि० भा० : भा० १ : पृ० २४९।

३- अभिज्ञान-शाकुन्तलम् : अं० १ : श्लो० ।



"- - - भयमेव परं देशकालावनालिङ्गितम्, तत एव "भीतोऽहं, भीतोऽयं शत्रुर्ष्यस्यो मध्यस्थो वा" इत्यादिप्रत्ययेभ्यो दुःख-सुखादिकृतहानादिवुद्ध्यन्तरोदयनियमवन्तया विलक्षणं, निर्विघ्नप्रतीतिप्राप्त्यं, साक्षादिव हृदये निविशमानं, चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं, भयानको रसः तणाविधे हि भये नात्माऽत्यन्ततिरस्कृतो, न विशेषत उल्लिखितः।" १

इस साधारणीभूत भाव को भूमि तक पहुंचने के लिए कुछ विषय-पक्षीय तथा कुछ विषय-पक्षीय योग्यताएं अपेक्षित होती हैं। जहां एक ओर असहृदय व्यक्तियों को नाट्य-काव्य से रसानुभूति नहीं होती, जहां निजी दुःख-शोक में डूबे सहृदय व्यक्ति को भी यह आनन्द नहीं मिलता; वहां दूसरी ओर रंग-भवन में जाकर, अनेक सहृदयों के बीच बैठ, एक असहृदय व्यक्ति भी मण्डप की सज्जा, गीत-वाद्य-नृत्य की योजना तथा कलात्मक वातावरण से प्रभावित होकर सहृदय बन जाता है और रसास्वादन का अवकाश प्राप्त कर लेता है। २

अतः उक्त साधारण भाव-भूमि तक पहुंचने के लिए उभय-पक्षीय योग्यताएं अपेक्षित होती हैं। इन योग्यताओं के अभाव से रसात्मक-प्रतीति में विघ्न पड़ता है। अभिनव ने इसी दृष्टि से सात प्रकार के रस-प्रतीति के विघ्नों का निरूपण किया है। ३

अभिनव रसानुभूति का प्रमुख नींव नाट्य को ही मानते हैं। सहृदय-चेतना को प्रभावित करने वाले तत्वों की जितनी सादृश्य योजना नाट्य में होती है, उतनी पद्य काव्य में हो ही नहीं सकती। वहां काव्यार्थ साक्षात्कारक ही होता है। तभी असहृदय तथा कला के अमर्जित व्यक्ति भी उससे प्रभावित होते हैं। पद्य काव्य में इस की बहुत कम सम्भावना होती है। पद्य में भी नाट्य की सी व्यापकता की बहुत कुछ अपनाने के कारण प्रबन्ध काव्य में रस का अधिक अवकाश रहता है। मुक्तक में जो रसास्वाद होता है वह तो बहुत कुछ सहृदय की कल्पना और काव्यानुशीलन के अभ्यास पर निर्भर करता है। उसमें सहृदय को पूर्वापर प्रसंग की, कला और अवसर की, और न जाने क्या क्या पृष्ठभूमि के रूप में कल्पना करनी होती है। फिर भी प्रतिभान-शाली सामाजिक वहां रसास्वाद कर ही लेते हैं। किन्तु नाट्य में तो उन्हें भी रसानुभूति अपेक्षाकृत अधिक सफल एवं निर्मल होता है। ४

प्रमाता की व्यक्तिशः रसानुभूति की अपेक्षा सामाजिक रसानुभूति अधिक पूर्ण होती है। इसका अवसर नाट्य में ही आता है। किसी भी अभिनय, संगीत-गोष्ठी, मल्ल-युद्ध, धार्मिक उत्सव आदि में सहृदय-समाज की संख्या जितनी प्रचुर होती है, आनन्द की धारा भी उतनी

१- अभि० भा० : भा० १ : पृ० २७९।

३- "विघ्नाश्च न स्यान् कृतिपत्तावयोग्यता सम्भावनाविरहो नाम, स्वातन्त्र्य-परगतत्वं नियमेन देशान्न कालविशेषावेशो, निजसुखादिविवशोभावः, प्रतीत्युपायवैकल्यं, स्फुटत्वाभावो, अप्रधानता, संशययोगश्च।" अभि० भा० : भा० १ : पृ० २८०-२।

२- "- - - शब्दादिविधयमयीभिः (मयै) रातोवगानगानविचित्रमंडपपदविदग्धगणिकादिभि-रुपरजनं समाश्रितम्, येनाहृदयोऽपि सहृदयवैमल्यप्राप्त्या सहृदयोऽव्यभिक्तः।" अभि० भा० : भा० १ : पृ० ४-

४- "तच्च प्रबन्ध एव भवति। वस्तुतस्तु दशरूपक एवायदाह वामनः--"सन्दिग्धेन दशरूपकं श्रेयः। तद्विचित्रं चित्रपटवद्विशेषसाकल्यात्" काव्या० सू० १।३।३०-१। इति। तदुपरसर्वणपरया तु प्रबन्धे भाषावेष्टाप्रवृत्त्यौ चित्यादिकल्पनात्। तदुपजीवनेन तु मुक्तके। तथा च तत्र सहृदयाः पूर्वापरमुचितं परिकल्प्य ईदृगत्र वक्ताऽस्मिन्नवसरे इत्यादि बहुतरं पठित्वन्धरूपं विदधते। तेन ये



होती है। जब सामाजिकों का एक विशाल समूह एकाग्र होकर अभिनयादि में लगे हो जाता है तब उस दृश्य-नृत्य-गीतादि को अमृत का सागर समझता है। ऐसी स्थिति में समस्त प्रमाताओं का तादात्म्य हो जाता है। इसका कारण यह है कि इन सामाजिक अवसरों पर देह-भेद से संकुचित हुई सर्वात्मिका संविद् विकसित होती हुई परस्पर संघट्ट प्राप्त करती हुई एक-दूसरे में प्रतिबिम्बित होती है, और जिस प्रकार अनेक दर्पणों में प्रतिफलित सूर्य-रश्मियों का प्रकाश और भी अधिक दीप्त हो उठता है, उसी प्रकार आत्म-तत्त्व की रश्मियाँ विभिन्न चेतना-दर्पणों में प्रतिफलित हो कर और भी अधिक प्रकाशित होने का अवसर प्राप्त करती हैं। अतः प्रस्तुत दृश्य मेक्सन का एक ही नहीं अनेक प्रमातृ-चेतनाओं के साथ एक-साथ तन्मयीभाव हो जाता है। इस प्रकार परमात्म-चैतन्य को सामूहिक अवसरों पर पूर्णतः विकसित हो कर, अधिकाधिक प्रकाशित होने का अवसर मिलता है। इसका मूल कारण आत्म-चैतन्य की अद्वैतता है।

**अतः पृष्ठ का शेष उद्घरणः-**

काव्याभ्यासप्रावृत्तनपुण्यादिहेतुबलादिभिः सद्वास्तेषां परिमितविभावाद्युन्मीलनेपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति। अत एव तेषां काव्यमेव प्रीतिव्युत्पत्तिकृदनपेक्षितनाः द्रव्यमपि। तेषामपि तु नाट्यं "नियतिताः स्फुरिताः शशिरश्मयः" इति न्यायेन सुतरां निर्मल-करणम्। अहदयानां च तेषां नैर्मल्यायामि, यत्र प्रतीता मतिवाग्गणिकादयो न व्यसनितायै पर्यवस्यन्ति।" अभि० भा० : भा० १ : पृ० २७।

१-"तथा एकाग्रसकलसामाजिकजनः सलानृत्तं गीतं सुधासारसागरत्वेन मन्यते॥

तत एवोच्यते मल्लनटप्रेक्षोपदेशेन । सर्वप्रमातृ-तादात्म्यं पूर्णरूपानुभावकम्।

तावन्मात्रार्थसंवित्तितुष्टः प्रत्येकशो यदि। कः सम्भूय गुणस्तेषां प्रमाणीक्य भवेच्च किम् ? यदा तु तत्तद्देवत्वधर्मं सन्दर्भगर्भितम्। तद्वस्तु शुष्कात् प्राग्रूपादन्यद् युक्तमिदं तदा॥"

तन्त्रालोकः अभिनव गुप्तः १०।५।८५।

२-"संवित्सर्वात्मिका सेव देहभेदाद् या संकुचिता तु सा। मिलैत्योन्यसंघट्टप्रतिबिम्बाद्विकस्वरा।

उच्छस्त्रान्निरश्मयोऽयः संवित्सु प्रतिबिम्बितः। बहुदर्पणवद् दीप्तः सवयिताप्ययत्नतः॥

अत एव नृत्तगीतप्रभृती बहुपर्णदि । यः सर्वतन्मयीभावो ह्लादो न त्वैककस्य सः॥

आनन्द-निर्भरा संवित् प्रत्यक्षां सा तथेक्ताम्। नृत्तादा विषये प्राप्ता पूर्णानन्दत्वमश्नुते।

ईर्ष्यासूयादिसंकोचकारणाभावतोऽत्र सा। विकस्वरा निष्प्रतिषं संविदानन्दयोगिनी॥

अतन्मये तु कस्मिंश्चित् तत्रस्थे प्रतिहन्यते। स्वपुटस्पर्शवत् संविद्विजायतया स्थिते॥

अतश्चाज्जनेषु विवातोऽयमतन्मयम्। नैव प्रवेशयेत् संवित्संकोचनिबन्धनम्॥"

तन्त्रालोकः अभिनव गुप्तः २॥५।३७३।

३-"इह तु दर्शने व्याप्तिप्रवृत्त्यावस्थायां यावन्तस्तद्देशसम्भाव्यमानसद्भावाः प्रमातारस्तावता-मेकोऽसौ प्रमाभासश्च वदन्त्याभासश्च बाह्यनय एव, तावन्ति तेषां परमेश्वरेणैव चिन्तितम्"।

ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनीः २।४।१२। डा० का० चं० पा० द्वारा भास्कराः भा० ३ : पृ० १७८ पर अनुवित।

सन्दर्भ १, २, ३ आर० गुनोलीः दी एस्थेटिकम्बसपी रियेन्स

एकार्दिङ्ग टू अभिनव गुप्तः पृ० ६९, ७०, ६८ पर उद्धृत।



इस प्रकार अभिनव भाव की साधारणीभूत स्थिति वाली भूमिका को भी व्यक्ति-सामाजिक तक ही सीमित कर के नहीं, समष्टि-सामाजिक की व्यापक भूमि तक फैला कर देखते हैं। भट्ट नायक ने इस व्यापकता की ओर ध्यान नहीं दिया था।

रसानुभूति का अधिकारी "सहृदय" कुछ विशेष योग्यताओं से विशिष्ट व्यक्ति होता है। काव्य-सामग्री के द्वारा उद्बुध शुद्ध भाव-भूमि में आत्म-परामर्श की कामता ही वस्तुतः "उसकी" "सहृदयता" है। यह कामता उसकी बड़ी तीव्र होती है। यह कामता उसमें एक दिन में नहीं आ जाती। काव्यानुशीलन का अभ्यास करते करते आती है। वर्णनीय के साथ तन्मय होने की कामता उसे इसी अभ्यास से मिलती है।<sup>१</sup> जिनमें यह कामता नहीं होती, विभावादि सामग्री के रसोपयोगी होने पर भी उससे तन्मयता स्थापित नहीं कर पाते और रसानुभूति उनके लिए दूर की बात ही रह जाती है। अपनी शुद्ध भाव-भूमि में आत्म-परामर्श, जिसे "स्वहृदय-संवाद-भाजकता" कहा गया है; साधारणीकृत विषय-सामग्री के साथ तन्मयी-भवन-योग्यता, तथा कवि-हृदय के साथ तादात्म्य-स्वापन की योग्यता सहृदय की सहृदयता के तीन पक्ष हैं। वर्ण्य विषय के साथ सहृदय भी उसी भाव की अनुभूति करता है, जिस की कवि करता है। प्रश्न उठता है, काव्य-गत आश्रय पात्र के साथ, अथवा कवि के साथ सहृदय यह तादात्म्य कैसे स्थापित कर पाता है ? उत्तर बड़ा स्वाभाविक तथा मनोवैज्ञानिक दिया गया है। हृदय की विमलता के आधार पर, जिसे सुकुमारता कहते हैं, आज की मनोवैज्ञानिक भाषा में समानुभूति का तत्त्व कह सकते हैं। एक व्यक्ति कंकड़ियों से भरा भूमि पर चल रहा है। एक सुकुमार-हृदया रमणी उसे देखती है, और वेदना से घिरक उठती है। मानो उसका आत्मा उस व्यक्ति में प्रविष्ट हो गया हो। वस्तु यही सुकुमारता सहृदय में होती है, जिसके आधार पर वह "तादात्म्य" की योग्यता प्राप्त करता है।<sup>२</sup> सहृदय का हृदय निर्मल दर्पण के समान जो होता है।<sup>३</sup>

१- "हृदयेन परामर्शविधानेन प्राधान्यात् व्यपदेश्या व्यवस्थितस्य अपि प्रकाशभागस्य वैश्वविश्रान्तस्य अनादरणात् सहृदयता उच्यते असी रसना चर्वणा निर्वृतिः प्रतीतिः प्रमातृताश्च विश्रान्तिः"। ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनीः भाग२: पृ० १७९।

२- "यैषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः"। लोचनः पृ० ३८।

३- "सहृदयत्वं हृदयस्य हि कविहृदयतादात्म्यसमापत्तिर्योग्यतैव उत्कर्षः"। अभि० भा०: भा० २: पृ०

३३९। सन्दर्भ-आर० गुनोली: दो इण्डियन एस्थेटिक्स एकाडिई० गट् अभिनवगुप्तः पृ० ६५।

४- "यथा हि कर्कशाशर्करानिकरकण्टकिते देशे दुस्संचारे संचरज्जनं पश्यन्त्या अपि सुकुमारहृदयाया प्रमदायास्तदात्मानुप्रवेश इव जायमानं सेदमतितरामादत्ते प्रहारपातादौ वा, तथा सहृदयस्य स एव मार्गः; सुकुमारता हि वैमल्थापरपर्याया, सहृदयत्वं हृदयस्य हि कविहृदयतादात्म्यापत्ति-योग्यतैव उत्कर्षः।" अभि० भा०: भा० २: पृ० ३३९।

५- "विमलमुकुरकल्पोभूतनिजहृदयः" अभि० भा०: भा० १: पृ० ३६।



सहृदय को कल्पना-शक्ति भी बड़ी प्रीति होती है। काव्य-विषय का एक साक्षात्कार-कल्प पूर्ण विषय उसके मानस-पटल पर उपस्थित करने का कार्य उसको कल्पना-शक्ति ही करती है। नाट्य को अनुभूति में तो इस प्रकार की कुछ हलकों कल्पना-शक्ति वाले सहृदयों का भी कार्य चल जाता है, किन्तु काव्यानुभूति में हर-किसी को पूर्ण साक्षात्कार-कल्पा प्रतीति नहीं होती।<sup>१</sup> प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक काव्य के अस्वादन में तो सहृदय को प्रसंगादि की उद्भावना का एक विशेष अभ्यास एवं योगता प्राप्त करनी होती है।<sup>२</sup>

सहृदय एक विशिष्ट नैतिक धरातल का व्यक्ति होता है। नाट्य में गीत, वाद्य, गणिका आदि का प्रयोग होता है। नैतिक दर्शक के मन में इनसे कुत्सित वासनाएं भी उद्बुद्ध हो सकती हैं। काव्य-नाट्य उन्हीं व्यक्तियों पर निर्मल प्रभाव छोड़ सकते हैं जिनका मानसिक धरातल नैतिकता-पूर्ण हो।<sup>३</sup>

रसानुभूति के लिए सहृदय में दो बातें और अपेक्षित हैं। एक तो उसकी चेतना अन्य सांसारिक भावों से विनिवृत्त होनी चाहिए, दूसरे काव्य की सामग्री से उसका स्वागत या पर-गत सम्बन्ध नहीं जुड़ना चाहिए। "निजसुखादि-विवशीभाव" तथा "स्वागतत्व-परगतत्व-नियमन देशकालविशेषावेश" दोनों रस-प्रतीति के विघ्न होते हैं।<sup>४</sup> अन्य सांसारिक भावों से निवृत्त होने पर ही उसकी चेतना में निर्मलता जाती है। यह कार्य दो तत्वों से होता है। कुछ तो नाट्य देखने से पहिले से ही, जैसे-जैसे वह वहां जाने का संकल्प करता है, उसका मानसिक वातावरण तदनुकूल बनता है। समस्त परिणत को मिलने वाले आनन्द में साक्षीदार बनने की वह कल्पना करता है, लोकोत्तर वस्तुओं के दर्शन-श्रवण की सम्भावना करता है। और कुछ वहां पहुंचने पर उसी वातावरण के अनुरूप गीत-वाद्य-रंगमंचीय-सज्जा आदि की उसे योजना मिलती है।<sup>५</sup> इतना होते हुए भी यदि वह गहरे निजी दुःख-शोक में डूबा होगा तो उसको रसानुभूति सम्भव नहीं। और विभावादि सामग्री के साधारणीकृत रूप में उपस्थित होने के कारण दूसरे विघ्न का भी निराकरण हो जाता है। रंगमंचीय सज्ज-सज्जा का सौन्दर्य इसमें विशेष सहायक होता है।<sup>६</sup>

१-"अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः"। अभि० भा० : भा० १ : पृ० २७९।

२-"काव्ये तु गुणालङ्कारमनोहरशब्दार्थशरीरे लोकोत्तररसप्रमाणके हृदयसंवादवशात् निमग्नाकारिका तावद्भवति चित्तवृत्तिः। किन्तु सर्वस्य प्रत्यक्षासाक्षात्कारकल्पा तत्र न धीरुदेति"।

अभि० भा० : भा० १ : पृ० ३६।

३-अभि० भा० : भा० १ : पृ० २८७।

४-"तेन ये काव्याभ्यासप्राक्तनपुण्यादिभिः सहृदयास्तेषां परिमितविभावाद्युन्मोलेनऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति। अत एव तेषां काव्यमेव प्रीतिव्युत्पत्तिमूदनपेक्षातना-द्यमपि। तेषामपि तु नाट्यं - - सुतरां निर्मलीकरणम्। अहृदयानां च तदेव नैर्मल्यधायायि यत्र प्रतीता गीतवाद्यगणिकादयो न व्यसनितायै पर्यवस्यन्ति।" अभि० भा० : भा० १ : पृ० २८७।

५-"उचितगीतातोषचर्चणा विस्मृतसांसारिकभावतया विमलमुकुरकल्पीभूतहृदयः"। अभि० भा० : भा० १ : पृ० ३६।

६-अभि० भा० : भा० १ : पृ० २८०-१।

७-अभि० भा० : भा० १ : पृ० २८०।

८ तथा ९- पृष्ठ अग्रिम पर।



साधारण भावों की अभीष्ट भूमि तक पहुंचने के लिए जिस प्रकार प्रमाता सामाजिक एक विशिष्ट स्तर का व्यक्ति चाहिए, उसी प्रकार रस की सामग्री भी रसोपयोगिनी होनी चाहिए। सहृदय को रस की भूमिका तक पहुंचाने के लिए इस वस्तु-पक्षा का भी महत्व कुछ कम नहीं है।

विषय-सामग्री हमारे सामने दो रूपों में आती है। एक तो दुष्यन्त, शकुन्तला, राम, सीता, उनको परिस्थितियाँ आदि। दूसरे नट, उसकी वेष-भूषा, रंग-मंचीय उपकरण, गीत-वाच, नर्तकी आदि। प्रथम प्रकार की सामग्री को हम सुविधा के लिए "मूल सामग्री" कह सकते हैं, दूसरी प्रकार की को "नटादि सामग्री"। काव्य काव्य में दूसरी प्रकार की सामग्री का स्थान काव्य-शब्दों की विशिष्ट सज्जा, भाषा का लालित्य, दोष-दान, गुणालङ्कार-योजन आदि होते हैं।<sup>१</sup>

मूल सामग्री का परातल लौकिक है। लौकिक परातल पर किसी भाव से सम्बद्ध परिस्थिति को "विभाव" "अनुभाव" "व्यभिचारी भाव" आदि पारिभाषिक नाम नहीं दिये जाते, उन्हें "कारण" "कार्य" और "सहचारी" ही कहा जाता है। हम पीछे कह चुके हैं कि मूल सामग्री में ऐतिहासिक वास्तविकता, जन-मानस पर पड़े संस्कारों की परम्परा, विभिन्न कवियों की भावना प्रस्तुत कवि की कल्पना एवं व्यक्तित्व, आदि अनेक बातों का योग रहता है। कार्पणिक कथानकों में जन-संस्कारोपयोगी कवि-कल्पना का स्थान विशिष्ट समझना चाहिए।

गत पृष्ठ के अवशिष्ट सन्दर्भ-

८-नाट्ये तु पारमार्थिकं किञ्चिदद्य मे कृत्यं भविष्यतीत्येवभूताभिसन्धिसंस्काराभावात्सर्वपरिण-  
त्साधारणप्रमोदसाराप्यन्तविरसनादरण्यमलोकोत्तरदर्शनश्रवणयोगी भविष्यामीत्यभिसन्धि-  
संस्कारादुचितगीतातीतचर्चणाविस्मृतसांसारिकभावतया विमलमुकुरकपोभूतनिजहृदयः"।

अभि० भा० : भा० १ : पृ० ३६।

९-"तदङ्गाकरणे "कार्यो नातिप्रसंगोत्र"- - - - -। ततः स एष स्वपरनियतता विधनापसरण-  
प्रकारो व्याख्यातः।" अभि० भा० : भा० १ : पृ० ३९।

१- "का वैऽपि च लोकनाट्यधर्मिस्थानीयेन स्वभावोक्तिवक्रोक्तिप्रकारद्वयेनालौकिकप्रसन्नमधुरो-  
जस्विशः सदसम्पर्माणविभावादियोगादियमेव रस-वार्ता।"

लोचन : पृ० १८६।

"तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वे परिपोषिका नटादिसामग्री"।

अभि० भा० : भा० १ : पृ० १७९।

"काव्यं तावन्मुष्यती दशरूपात्मकमेवातत्र एयुचितार्थावृत्तिकाकुतैपश्यप्रभृतिभिः पूर्यते  
रसवत्ता।- - - तत्र ये स्वभावतो निर्मलमुकुरहृदयास्त एव संसारोचितक्रोधमोहाभिलाषपरवश-  
मनसो भवन्ति।- - ये त्वत्तयाभूतास्तेषां प्रत्यक्षोचिततथाविधचर्चणालाभाय नटादिप्रक्रिया।"

अभि० भा० : भा० १ : पृ० २९१।



मूल सामग्री के सम्बन्ध में अग्निव का दृष्टि-कोण है कि वह प्रख्यात होनी चाहिए। उसमें संभाव्यता का गुण होना चाहिए। वह लोक-सामान्य वस्तु पर आधारित होनी चाहिए। असंभाव्य अथवा असामान्य वस्तु में सामाजिक की चेतना को विचलित होने का अवकाश भागे को बढ़ता ही नहीं।<sup>१</sup> उसका संविधान अत्यन्त स्फुट होना चाहिए। अस्फुटता के कारण सामाजिक के मानस पटल पर साक्षात्कार-कल्पा प्रतीति ही नहीं हो सकती, जो रस के लिए नितान्त अपेक्षित है।<sup>२</sup> उसका आधार जन-मानस की स्पर्श करने की सामान्य क्षमता रखने वाले प्रधान स्थायी भाव रति-शोक आदि ही होने चाहिए। इन भावों में सर्व-संस्कार-स्पर्शिता होती है।<sup>३</sup> साथ ही मूल-सामग्री के विषय में किसी प्रकार का संशय-योग भी नहीं होना चाहिए।<sup>४</sup> मूल-सामग्री जितनी ही लोक-मानस के समीप होगी, उतनी ही रसानुभूति में सहायिका हो सकेगी।

नटादि सामग्री में दो प्रकार के तत्व आते हैं। एक रंग-मंचीय सज्जा, गीत-वाज, नर्तकी आदि; दूसरे सामाजिक का अनुकरण करने वाला नट, उसकी वेश-भूषा, उसके द्वारा सम्पादित चतुर्विध अभिन्न आदि। प्रथम प्रकार की सामग्री सामाजिक की व्यक्ति-चेतना को उसकी सांसारिक भाव-भूमि से हटाकर रसानुभूति के अनुकूल वातावरण की सृष्टि करती है। दूसरी प्रकार की सामग्री विभावादि की निर्विशेषता सम्पादित करती है। दोनों प्रकार की ही सामग्रियाँ मिल कर यद्यपि साधारणता का अनुकूल वातावरण बनाती हैं, किन्तु नटादि-सामग्री के द्वारा मूल सामग्री के प्रत्यक्षीकरण का मार्ग प्रशस्त होता है। उससे रामदि-रूपता का अध्यवसाय सम्पन्न होता है।<sup>५</sup>

नट के माध्यम से मूल सामग्री सहृदय सामाजिक के मानस-पट पर प्रत्यक्ष-कल्प रूप में उपस्थित की जाती है। सामग्री अपने मूल धरातल पर लौकिक थी, अतः देश, काल, व्यक्ति की सीमाओं में आबद्ध थी। ये सीमाएँ किसी भी प्रमाता की वस्तु को स्वगत अथवा परगत रूप में ग्रहण करने के लिए बाध्य करती हैं। लौकिक धरातल से हट कर सामाजिक के मानसिक धरातल पर उपस्थित होकर यह सामग्री उन विशिष्ट सम्बन्धों से छूटने का अवसर पाती है। यही विभावादि का साधारणीकरण कहा गया है।

१-"सर्वामसम्भाव्यमानः सर्वे संविदं विनिवेशयितुमेव न शक्नोति, कश्चित् का तत्र विश्रान्तिः। तदपसारणे हृदयसंवादो लोकसामान्यवस्तुविषयः। अलोकसामान्येषु तु चेष्टितेषु अस्पष्टतत्त्वप्रसिद्धिं जनितगाढारूढप्रत्ययप्रसरकारो प्रख्यातरामादिनामधेयपरिग्रहः। अत एव निस्सामान्योत्कर्षोपदेश-व्युत्पत्तिप्रयोजने नाटकादौ प्रख्यातवस्तुविषयत्वादि नियमेन निरूपयिष्यते।" अभि० भा० : १। २००।  
२-"अस्फुटप्रतीतिक्वरिशर्द्धतिहं गम्येपि न प्रतीतिर्विश्राम्यति, स्फुटप्रतीतिरूपप्रत्यक्षोचित-प्रत्ययसाक्षात्वात्।" अभि० भा० : भा० १ : पृ० २०१।

३-अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद्विश्राम्यति? - अतो प्रधानत्वं जे विभावानुर्वो व्यभिचारिनिचये च संविदात्मकेऽपि नियमेनान्यमुखप्रेक्षाणि संभवतोति तदतिरिक्तः स्थाय्येव तत्र सर्वणापात्रम्।  
अभि० भा० : भा० १ : पृ० २०१।

४-अभि० भा० : भा० १ : पृ० २०१। सप्तम विष्णु।

५-"उचितगीतातौ च वर्णा विस्मृतसांसारिकभावतया विमलभुक्कल्पीभूतनिजहृदयः।" अभि० भा० : १ : ३६

६-"नटप्रश्रियोद्धारोदितातिस्फुटाध्यवसायविषयोक्तो नियतकालावस्पृष्टो- -अर्थो- -"। वही : २६



यहां दो बातें स्पष्ट होती हैं। विभावादि का वास्तविक धरातल सामाजिक का मानस पट है, बाह्य धरातल तो वहां तक पहुंचाने का साधन मात्र था। काव्य में तो यह साधन-सम्पादन शब्दों के माध्यम से ही होता है, शीघ्र की पूर्ति सामाजिक की कल्पना ही करती है। और, काव्य के शब्दों से तो बुद्धि के धरातल पर अर्थ-ग्रहण मात्र होता है, यह साक्षात्कल्प बिम्ब-ग्रहण तो हृदय के धरातल पर ही होता है। इसी धरातल पर उपस्थित हुई मूल सामग्री विभावादि की क्षमता प्राप्त करती है, अतः यहीं जाने पर उसे "विभाव" अनुभाव" तथा "व्यभिचारी" सार्थक नाम दिये जाते हैं, इससे पूर्व के धरातलों पर तो उसके लिए इन नामों का प्रयोग औपचारिक ही समझना चाहिए। दूसरी बात यह कि इसी मानस-धरातल पर आकर विभावादि साधारणीकृत होते हैं, निर्विशेषता को भूमिका प्राप्त करते हैं। वस्तुतः निर्विशेष सामग्री में ही विभावादि की क्षमता जाती है, तभी वे वास्तविक "विभावादि" कहलाने योग्य हैं।

प्रश्न उठता है, सामाजिक के मानस-पट पर उपस्थित यह सामग्री निर्विशेषता कैसे प्राप्त करती है? अथवा इस के दो प्रमुख कारण सामने रखते हैं, जिनका आधार अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है। किसी भी वस्तु की विशेषता के तीन आधार हैं-- देश, काल तथा व्यक्ति। प्रमाता की विशेषबुद्धि इन्हीं के आधार पर चलती है। किन्तु इन विशेषताओं का प्रभाव "वर्तमान-काल" से ही होता है। इनको अर्थक्रिया-रूप फलौत्पादकता अतीत के हाथों धुलती जाती है।<sup>१</sup> दूसरी बात यह कि सामाजिक जब राम-रूपता के अध्यवसान के साथ नट को देखता है, तो उसके अन्तर्भूत में दोनों बातों की चेतना टकराती है। एक ओर तो उसकी चेतना जानती है कि यह व्यक्ति वास्तविक राम नहीं है, नट है। दूसरी ओर एक विशिष्ट वातावरण में मुकुट आदि विशेष वेषादि के साथ वह नट को राम-रूप में देखता है। इस प्रकार उसकी चेतना के धरातल पर वस्तु-स्थिति के तथा कल्पना के दो तत्वों की टकराहट होती है। और, इस प्रकार प्रस्तुत सामग्री सम्यक्, मिथ्या, संशयादि प्रतीतियों से भिन्न, अपने विशिष्ट सम्बन्धों से रहित साधारणीकृत रूप में प्रमातृ-मानस में रह जाती है।<sup>२</sup> एक ओर काव्यार्पित वस्तु के देश-काल-

१-"काव्येऽपि हृदय एव तावत्साधारणोभावो विभावादीनां जातः"। अभि० भा० : भा० १ : पृ० ३६।

२-"तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकबिद्गदशनि- -- लौकिकीं कारणत्वादिभुवमति-  
क्रान्तेर्विभावानुभावानुसुपरंजकत्वमात्रप्राणीः, अत एवालौकिकविभावादिब्यपदेशभागिभः- --  
सामाजिकधियि सम्यग्योगं सन्त्यैकाग्र्यं वासादित्वन्दिभः- --"। अभि० भा० : भा० १ : पृ० ३८४।

३-"तदा विशेषबुद्धिः यद्यपि रामायणप्रायादेकस्मान्महावाक्यादुत्प्लवति, तथापि वर्तमानतयैव विशेषाणां सम्भाव्यमानार्थक्रियासामर्थ्यात्मिककालदाण्यपर्यवसानात्। न च तेजां वर्तमानतेव्युपगत तावद्विशेषबुद्धिः"। अभि० भा० : भा० १ : पृ० ३५-६।

४-"वाक्यार्थप्रतीतेरनन्तरं मानसो साक्षात्कारीत्मिको पहसिततत्तद्वाक्योपात्तकातादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते।" अभि० भा० : भा० १ : पृ० २७९।

"पाठ्याकणन-पात्रान्तरप्रवेशवशात् समुत्पन्ने देशकालविशेषावेशानातिद्वगते सम्यक्-  
मिथ्यासंशयसम्भावनादिज्ञानविक्षेपत्वपरामर्शानास्पदे रामरावणादिविषयाध्यवसाये"



तथा व्यक्ति होते हैं, जिनके विषय में एक तो अवास्तविकता को धारणा सामाजिक के मन में होती है, अर्थात् अनुभूति के समय, घटनाएं वास्तविक नहीं, यह वह जानता है। उनको अतीत-गामिता भी उनको लौकिक अर्थक्रिया-कारिता को समाप्त कर देती है। दूसरी ओर रंग-मंचीय देश-काल-व्यक्ति होते हैं। एक विशिष्ट देश-काल का नट <sup>२</sup> कि उसके सामने होता है। इस प्रकार उभय-विषय देश-कालादि को सीमाएं परस्पर टकरा कर, एक-दूसरे की सीमा का अपहरण कर, सामग्री को विशेष-रूपका-रहित कर देती हैं। यही निर्विशेष सामग्री सामाजिक के लिए हृदय-संवादोपयोगिनी होती है। सामाजिक की चेतना, एक सामाजिक की ही नहीं, सामाजिक-मात्र की चेतना के साथ उसका तन्मयोभाव होता है। इस प्रकार एकव्यापक भाव-भूमि-साधारण्य का मार्ग प्रशस्त होता है। इसी भाव-भूमि में आत्म-परामर्श हो जाने पर रस होता है।

रस-विषयक इस चिन्तन-धारा के साथ अभिनव कालिदास के पूर्वोक्त "ग्रीवाभंगाभिरामं" इत्यादि श्लोक को सामने रखते हुए रस का विवेचन निम्न शास्त्रों में प्रस्तुत करते हैं:-

"यथा हि "रात्रिरासत्" "तामग्नौ प्रादात्" इत्यादावर्थितादिलक्षितस्याधिकारिणः प्रतिपत्तिमात्रादतितोऽप्ररोचितात्प्रथमप्रवृत्तादनन्तरमधिकैवोपात्तकालतिरस्कारेणैवासे-प्रददामी-त्यादिरूपा संक्रमणादिस्वभावा यथादर्शने प्रतिभाभावनाविधुयोगादिभाषाभिर्व्यवहृता प्रतिपत्तिस्तथैव काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकास्ति प्रतिपत्तिः। अधिकारी साव विमलप्रतिभनृदयः।

"तस्य च ग्रीवाभङ्गाभिरामं" इत्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिकाऽपहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते। तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद् "भीत" इति त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालानालिङ्गितं, तत उह "भीतोऽहं, भीतोऽयं शत्रुर्व्यस्यो मध्यस्थो वा" इत्यादिप्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतदानादिबुद्ध्यन्तरोदयनियमवत्तथा विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणां, निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं, साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं, भयानको रसः। तथाविधे हि भये नात्मात्यन्ततिरस्कृतः, न विशेषत उल्लिखितः।

"तत एव न परिमितमेव साधारण्यम्, अपितु विततम्। व्याप्तिग्रह इव धूमाग्नयोः भयकम्प-योरेव वा। तदत्र साक्षात्कारायमाणत्वे परिपोषिका नटादि-सामग्री। - - अत एव सर्व-<sup>२</sup> सामाजिकानामेक्यनतया प्रतिपत्तिः सुतरां रस-परिपोषाय। - - सा चाविघ्ना संवित् समत्कारः।

१-तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति, तस्य विशेषरूपत्वाभावाद् भीत इति त्रासकस्यापारमार्थिकत्वात् -।" अभि० भा० : भा० १ : पृ० २७९।

"मुकुटप्रतिशोर्षकादिना तावन्नटबुद्धिराच्छाति। गाढप्राक्तनसंवित्संस्काराच्च काव्य-बलानीपमानाऽपि न तत्र रामयोर्विश्राम्यति। अत एवोभयदेशकालत्यागः।" वही : पृ० २८५।

"तेन साधारणीभूता सन्तानवृत्तेरेकस्या एव न संविने तेनैव भूता रतिः शृंगारः। साधारणीभावना च विभावादिभिरिति।" वही : पृ० २८५-६।

"यस्यावस्तुसतां काव्यार्पितानां च देशकालमात्रादीनां नियमहेतूनामन्योन्यप्रतिबन्ध-बलादत्यन्तमपसारणो स एव साधारणीभावः सुतरां पुष्यति।" वही : पृ० २७९।

२-अभि० भा० : भा० १ : पृ० २७८-९। - - तिरस्कारेणास्ते से प्रददामीत्यादिरूपा" पृ० २७८।



इस विवेचन से स्पष्ट है कि अभिनव वाच्यार्थोपस्थिति के अनन्तर एक दूसरी साक्षात्कारात्मिका मानसी प्रतीति मानते हैं। इसमें नाट्य-सामग्री या काव्य-शब्दों द्वारा वस्तु का बिम्ब-ग्रहण होता है। यह वस्तु-बिम्ब विशेष-रूप-हीन होता है। उक्त श्लोक के अनु-शीलन के अनन्तर सामाजिक के मानस-पट पर जो मृग-शिशु बिम्बित हुआ है, उसमें देश-कालादि की विशेष सीमाएं गलित हो चुकी हैं। उसके भय के कारण, दुष्यन्त का शर-पातादि भी वास्तविक नहीं, सामाजिक की चेतना यह जानती है। अतः उसे वह "भीत"-मात्र प्रतीत होता है। इस प्रकार के निर्विशेष विभाव से सामाजिक की चेतना में भी साधारण, समस्त विशेष सम्बन्धों से शून्य केवल भय का उदय होता है। यदि भय की भावना किसी विशिष्ट से सम्बद्ध होती, तो प्रतिक्रिया-स्वरूप सामाजिक में दुःख-सुख को, रक्षाणादिक की भावना उठती। ऐसी भावनाएं ही तो आनन्दात्मक प्रतीति को विध्वन होती हैं। इस निर्विशेष भय की प्रतीति में इस प्रकार के विध्वनों की समाई नहीं। यह भय साधारणीभूत, देशकालादि-सीमाओं से अनालिङ्गित होता है। किन्तु सामाजिक की चेतना में यह इतना उभरा हुआ होता है कि साक्षात् चक्षुओं के समक्ष वर्तमान सा प्रतीत होता है। इस प्रकार के भय में सामाजिक की चेतना न तो सर्वथा तटस्थ रहती है, और न अपनी दृष्टि-विशेषताओं को अपनाये रख कर इल्लिखित। इसी भय की भूमिका में आत्म-परामर्श होने पर प्रमाता की चित् को विनान्त होने का अवसर मिलता है। आत्म-तत्त्व के ऐकात्म्य तथा अद्वैत के कारण यह भय सहृदय-मात्र को एक साथ अनुभव होता है। यही "भयानक रस" है।

अभिनव अपने रस-विवेचन में एक व्यापक भूमि में "साधारण्य" की कल्पना करते हैं। समस्त विषय-पक्षीय सामग्री का साधारणीकरण, प्रमाता की चेतना का लौकिक भाव-भूमि से मुक्ति प्राप्त कर एक शुद्ध प्रमाता मात्र शेष रहना, तथा भाव का ऐसी साधारण-रूपता में उदय होना कि वह देश-कालाअनालिङ्गित भय-मात्र ही तथा सहृदय-सामान्य की संविद् का विषय बन सके— यह सब एक अत्यन्त व्यापक साधारणीभावना की दृष्टि है। शुद्ध अद्वैती दृष्टि के लिए ही यह व्यापक धारणा सम्भव थी। भट्ट नायक उसी दार्शनिक पृष्ठ-भूमि को अपना कर भी द्वैत-वादी संस्कारों के फल-स्वरूप इतनी व्यापक दृष्टि नहीं पा सके थे। सम्भवतः भट्ट नायक के दृष्टि-संकोच को ही ध्यान में रख कर यह अभिनव अपने व्यापक दृष्टि-कोण को प्रस्तुत करते हैं:-

"तत एव न परिमितमेव साधारण्यम्, अपितु विततम्"। १

दार्शनिक दृष्टि से यद्यपि अभिनव आनन्द-तत्त्व का श्रेय संविद् के एक सूक्ष्म धरातल को ही देते हैं, विमर्श-रूपा चित् शक्ति में आनन्द-शक्ति की विश्रान्ति को। किन्तु वे "रस" में हृदय-तत्त्व या भाव-तत्त्व को ही प्रधानता मानते हैं, यह हम विवृति-विमर्शिनी के एक स्थल की विवेचना करते हुए देख चुके हैं। अतः संविद्-ग्राह्य शुद्ध भाव ही रस है, उनकी ऐसी नान्यता है:-

"सर्वथा रसनात्मकवीतविध्वनप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः"। २

वैसे तो उनके दर्शन के अनुसार भाव या हृदय-तत्त्व भी संविद् का ही एक रूप है, विमर्श से भिन्न नहीं। किन्तु आनन्द के स्वरूप में धरातलों का प्ररन है। यह धरातल परमानन्द के धरातल से निस्सन्देह निचला है। तभी तो ब्रह्मास्वाद-सहोदर है।



अब तक हमने भरत-नाट्यशास्त्र के टीकाकारों की परम्परा में हुए इस युग के रस-विवेचन का परिचय प्राप्त किया है। अब इसी युग के कुछ प्रमुख स्वतन्त्र ग्रन्थ-कारों की रस-चेतना का परिचय प्रस्तुत करना चाहते हैं। इस युग में पांच नाम प्रमुख हैं:- धनिक एवं धनंजय, कुन्तल, महिम भट्ट तथा भोज। इन नामों के साथ अभिनव-समकालीन रस-चेतना के विविध रूपों का इतिहास जुड़ा हुआ है। किन्तु महत्व के हिसाब से इन आचार्यों के रस-विषयक दृष्टि-कोण अपना कोई विशिष्ट स्थान नहीं रखते। अभिनव ने रस-चिन्तन को उस भूमि पर पहुँचा दिया था कि उससे अधिक इन आचार्यों के पास उससे कहने के लिए मानी कुछ था ही नहीं। फिर भी इन की विचार-धाराओं पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि अभिनव का चिन्तन सर्वांगीण होते हुए नत-मस्तक होकर स्वीकार नहीं कर लिया गया। उसकी शिरोधार्यता मम्मट के अनन्तर ही प्रतिष्ठित हुई। हम इन आचार्यों के रस-विषयक दृष्टि-कोण अत्यन्त संक्षेप में यहाँ रखना चाहते हैं।

घनजय एवं घनिक



धनेजय तथा धनिक के इस अति-मीमांस्ता-वाद का तथा ध्वनि-विरोधी दृष्टि-कोण का निराकरण करने का अवसर अभिनव को नहीं मिला था। यह कार्य मम्मट द्वारा हुआ।

कुन्तल

कुन्तल अभिनव के समकालीन वर्तमान थे। उनके परस्पर परिचय के सम्बन्ध में निश्चय-पूर्वक कुछ कहना कठिन है। कुन्तल एक असाधारण प्रतिभा के व्यक्ति थे। उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मान कर उसे ध्वनि के समान ही एक व्यापक क्षेत्र में प्रसारित कर के फैलने का प्रयत्न किया है।

रस-स्वरूप के विषय में कुन्तल ने कोई उल्लेखनीय विचार प्रस्तुत नहीं किया है। जहाँ तक काव्य में उसकी महत्ता एवं उपादेयता का सम्बन्ध है, कुन्तल उससे पूर्ण परिचित हैं। प्रवरण-वक्रता तथा प्रबन्ध-वक्रता में सौन्दर्य का आधार रस ही है। रस अलंकार्य तत्त्व है, अतः रस-वत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वी, समाहित जैसे अलंकार भी अलंकार नहीं, अलंकार्य-कोटि में रसने चाहिए। इस प्रकार रस को आधार बना कर विभिन्न विवेचन करने पर भी उसके स्वरूप के विषय में

गत पृष्ठ के उद्धरण-

"यथा लौकिकवाच्येषु - - श्रियैव कारकौचिता वाक्यार्थस्तथा काव्येष्वपि - -  
साक्षाद्भावकषेतसि विपरिवर्तमानो रत्यादिः स्थायी - - संस्कारपरम्परया परं प्रौढिमानो-  
यमानो - - वाक्यार्थः।" दशरूपकावलीकः पृ० १५४-५।

५- "तात्पर्याव्यतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः।" दशरूपकावलीकः पृ० १५६:का० १।

६- "तत्र विभावादयः चदार्थस्यानीयास्तत्संस्पृष्टो रत्यादिर्वाच्यार्थः।" वही: पृ० १५५।

७- "यथा हि "रात्रिरासत" "तामग्नी प्रादात्"- - शब्दादधिकारिणोऽपि काऽस्ति  
प्रतिपत्तिः"। अभि० भा०: भा० १: पृ० २७८।



उनका कोई पृथक् उल्लेखनीय दृष्टि-कोण नहीं है।

### महिम भट्ट

हम पीछे देख चुके हैं कि आनन्दवर्धनोत्तर काल में रस की महत्ता का प्रश्न इतना नहीं रह जाता जितना उसकी प्रक्रिया का रह जाता है। रस ध्वन्यमान है, भाव्य है, अनुमेय है, आदि-आदि ही विषय विवेचन के प्रमुख पहलू रह जाते हैं। रस की स्थिति सामाजिक में होती है, वह काव्य में सब से उपादेय तत्व है, इस विषय में किसी की विप्रतिपत्ति नहीं रह जाती। महिम की भी रस की काव्यात्मा मानने तथा परम उपादेय तत्व स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं। किन्तु वह व्यंग्य है, इसमें उन्हें महान् आपत्ति है। वे ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव करने का आग्रह ले कर चले थे।<sup>१</sup>

महिम के अनुसार रस अनुमेय है। जहाँ भी विभावादि लिङ्गों के द्वारा भावों का अव-गमन हो जाता है, प्रमाता को रसास्वादोदय हो जाता है, यह काव्य की स्वाभाविक प्रक्रिया है। उनके अनुसार रस का स्वरूप इस प्रकार है:-

"तैरेव कारणादिभिः कृत्रिमै विभावाद्यभिधानै असन्त एव रत्यादयः प्रतिविम्बकल्पाः स्थायिभावव्यपदेशाभावः कविभिः प्रतिपत्तृप्रतीतिपथमुपनीयमाना हृदयसंवादादास्वाद्यत्वमुप-यन्तः सन्तः रसा इत्युच्यन्ते।" ४

यहाँ स्पष्ट है कि महिम ने अभिनव के "हृदय-संवाद" एवं "प्रतिपत्तृ-प्रतीति" को लेकर शंकु के अनुमान-वाद में अवतरित करने का प्रयत्न किया है। वे शंकु से बहुत प्रभावित प्रतीत होते हैं। मिथ्या-ज्ञान से प्रामाणिक फल कैसे होता है, इसके लिए भी शंकु का ही तर्क अपन गया है:-

"तदुक्तं भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमाः-

मणिप्रदोपप्रभयोः मणिवुद्ध्याभिधावतोः।

मिथ्याज्ञानाविशेषोऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति।" ५

विभावादि को कृत्रिम होते हुए भी कृत्रिम न माना जाना तथा भावों को सामाजिक में अवस्थित मान कर चलना "असन्त एव रत्यादयः" शंकु का ही प्रभाव प्रतीत होता है। फिर भी वे इन असत् भावों को शैव-प्रतिविम्ब-वाद के माध्यम से ही अपनाते हैं। प्रकाश-रूप चैतन्य में विमर्श-पक्षीय स्थायिभावों की प्रतिविम्बात्मक स्थिति, हृदय-संवाद से मिल कर आस्वाद्य कौटि पर पहुँचता हुई रस है- इस मान्यता में स्पष्टतः अभिनव का प्रभाव है। किन्तु जहाँ अभिनव स्थायियों की वासनारूप में मान कर चलते हैं, वहाँ महिम, सम्भवतः शंकु के प्रभाव से "असत्" मान कर। महिम कश्मीरी ही थे, सम्भवतः शैव ही थे। किन्तु शंकु के पद-चिह्नों पर चल रहे थे। बोध्य होने के कारण नहीं, स्वयं नैयायिक होने के कारण। वैदिक न्याय भी पंचावयव-प्रपञ्च ही चला था। वे उसके ही प्रपञ्च में फँसे थे। ध्वनि का विरोध करते हुए उन्हें शंकु आत्म-पक्षीय लगे, और उन्हें उन्होंने अपना समर्थन प्राप्त किया। अतः य आवश्यक ही नहीं कि महिम भी शंकु के समान ही बोध्य हों। वस्तुतः महिम के सिद्धान्त में यदि कुछ मौलिकता है, तो पूर्वोक्त 'आग्रह' को। इसी लिए उन्हें कोई अनुवर्ती नहीं मिल सके।

महिम के नैयायिक तर्कों का न्याय की भाषा में निराकरण करके मम्मट ने रस के विषय में न्याय के आग्रह का द्वार सदा के लिए बन्द कर दिया।<sup>६</sup>

१-"काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः" "काव्यारम्भस्य साफल्यमिच्छता

- - रसात्मकत्वमकथ्यमभ्युपगन्तव्यम्"। व्यक्तिविवेकः पृ० २२, २०।

२-वहीः पृ० ११। ३-वहीः पृ० १३। ४-वहीः पृ० १६। ५-वहीः पृ० १४। ६-का० पृ० ३०५।

सन्दर्भ-१:२:३:४:५:६। शंकरनेत।



## भोज

ग्यारहवीं शती के पूर्वार्ध में राज भोज द्वारा रस का स्वरूप कुछ ऐसी भाषा में सामने रखा गया कि सर्वथा नया प्रतीत हो। किन्तु उसका दार्शनिक विश्लेषण करने पर वेदा नवीन नहीं रह जाता। परवर्ती युग भोज के दृष्टि-कोण को भी नहीं अपना सका।

वात्सल्य को मिला कर प्राचीन आचार्यों ने दश रस माने हैं, किन्तु भोज केवल एक ही रस "शृंगार" को मान्यता देते हैं। वस्तुतः दार्शनिक दृष्टि से आनन्द-तत्त्व का विश्लेषण करने पर "रस" एक एवं अखण्ड ही सिद्ध होता है। अभिनव भी जब उसे चित् के धरातल पर आनन्द-शक्ति का विश्रान्ति के रूप में स्वीकार करते हैं, तब उसकी एकता एवं अखण्डता को ही स्वीकार करते हैं। पण्डितराज भी उसे "भग्नावरणा चित्" कह कर उसका एकत्व स्वीकार करते हैं। किन्तु हृदय की विभिन्न वृत्तियों के भेद के कारण रसों के औपचारिक भेद स्वीकार किये जाते हैं।

भोज कहते हैं, मन का अनुकूल प्रतीति को ही हम सुख कहते हैं। सुखादि अनुभूतियों में अनुभव का हेतु "अभिमान तत्त्व" है। संविद् इसी अभिमान के धरातल पर सुखादि की अनुभूति करती है। अतः वह अभिमान यह अहंकार तत्त्व ही रस है, उसी का नाम शृंगार है। शैव दर्शन की पृष्ठभूमि में जो रस-व्याख्याएं भोज के युग में चल रही थीं, उनमें भी रस का जो धरातल स्वीकार किया गया था, वह लगभग यही था। उसके अनुसार रस शुद्ध "अहं" की भूमि में नहीं, चित् को "अहमिदम्" की भूमि में होता है। पारिभाषिक रूप में रस "परम शिव" के धरातल पर नहीं, "शिव" के धरातल पर भी नहीं, "ईश्वर" के धरातल पर होने वाला अनुभव है। सांख्य की दृष्टि से भी समस्त अनुभूतियों के आश्रय अन्तःकरण का मूल "अहंकार" तत्त्व ही है। और, वेदान्त की दृष्टि से भी जब शुद्ध चैतन्य "अहमस्मि" के धरातल पर उतर कर जाता है, तभी अहं-तत्त्व की सृष्टि हो जाने पर ही अनुभूतियों का द्वार खुलता है। भोज ने शैव-दर्शन की पृष्ठ-भूमि में ही अहं-तत्त्व को लेकर उसे सुखादि-अनुभूतियों का मूल तत्त्व स्वीकार किया।<sup>१</sup> उस तत्त्व की एकता के कारण भोज रस की एकता प्रतिपादित कर सके।

अभिनव ने रति आदि चित्तवृत्तियों की भूमिका में संविद् की विश्रान्ति की रस कहा था। चित्तवृत्ति-रूप भूमिका को प्रपन्न मानने के कारण रसों के नवत्व का प्रतिपादन भी सहज हो सकता है। भोज अभिनव की इस मान्यता का निराकरण करते प्रतीत होते हैं। रस तो वही "अहं-तत्त्व" है, चित्तवृत्तियां तो उसे चारों ओर से परिवृत किये रहती हैं। सूर्य को परिवृत किये

१- शासन-काल १०१८-१०५४: डा० सांकरनः सम् शास्त्रेवदसः: पृ० १३७।

२- शृंगारवीरकरुणादुभतरौ ददास्यवीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।

आम्नासिषुर्दश रसार् सुधियो, यत्र तु शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः।" शृ० प्र०: भा० १: पृ० २-

३- एवं ३- अप्रातिकूलिकतया मनसो मुदादेव्यः संविदोनुभवहेतुरिहाभिमानः।

ज्ञेयो रसः स रसनीयतया त्मशब्दे रत्यादिभूमिनि पुनर्वितया रसोक्तिः।।"

४- डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेयः इण्डियन एस्थेटिक्स: पृ०

५- असाधारणं तु प्रत्यगागतामादिवासनानुश्रितव्यवन्धि धर्मकार्यं भवितुमर्हति। तै चात्मनोऽहंकारगुण विशेषं ब्रूमः। स शृंगारः, सौभिमानः, स रसः। तत एव रत्यादयो जायन्ते।" शृ० प्र०: पृ० ३५५।

शेष अभिप्र पृष्ठ पर।



रहने वाली 'सौमियों' के समान ये 'चित्तवृत्तियाँ' भी उसी अहंकार-रूप रस को परिवृत्त किये रहती हैं। अतः रस तो एक अहंकार ही है, उसी का नाम "शृंगार" है।

रसानुभूति में सभी विचारकों को दो तत्व स्वीकार करने पड़ते हैं— एक संविद् या चैतन्य का दूसरा चित्तवृत्तियों का। अभिनव ने दूसरे पक्ष पर कुछ अधिक बल दिया था, भोज ने प्रथम पक्ष पर। वस, इससे अधिक भोज की कोई बात मौलिक नहीं रह जाती।

अहंकार-तत्त्व की भूमिका में रस मान लेने के कारण जिस प्रकार रसों का अनेकत्व नहीं रह जाता, उसी प्रकार स्थायी, संचारी, व्यभिचारी, सात्त्विक में से केवल स्थायी ही रस बनते हैं, वह मान्यता भी समाप्त हो जाती है। चिर-अचिर स्थिति के आधार पर स्थायी-व्यभिचारी का भेद तुन्हें मालूम नहीं। चिर-अचिर-स्थिति, विभावादि-विषयातिशयित्व अथवा वासना रूप में अवस्थिति सभी भावों में समान है। अतः कोई स्थायी नहीं, कोई संचारी नहीं, कोई सात्त्विक नहीं। अवस्था-वशा सभी स्थायी हैं, सभी संचारी हैं, सभी सात्त्विक हैं। इस प्रकार रसि आदि सभी सामान्यतः भाव हैं, रस है केवल एक शृंगार। बस, भावों से तथा विधवादि से प्रकाशित होकर आनन्द-रूप में परिणत होने वाला अहंकार ही रस है, उसी का नाम शृंगार है।<sup>४</sup>



"अहंकार-तत्त्व" को शृंगार मान लेने पर भोज को यह भी मान्य नहीं रह जाता कि शृंगार रति-प्रभव है। समस्त भावों की उत्पत्ति अहं-तत्त्व से होती है, अतः शृंगार से ही रति-आदि उत्पन्न होते हैं, उनके अनुसार यही कथन उपयुक्त है।<sup>१</sup>

अहं-वृत्ति को शृंगार नाम देकर भोज उसका वही व्यापक भूमिका में कल्पना करते हैं। शृंगार के दो रूप हैं—एक पर, दूसरा अपर। अपर रूप तो अन्य आचार्यों का माना हुआ शृंगार-रस है जिसके विप्रलम्भ तथा संभोग दो भेद होते हैं। पर शृंगार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार प्रकार का होता है। उपनिषदों के अनुसार "एकाकीं न रमते, सोऽकामयत्— एकोऽहं बहु स्याम्" में शुद्ध चैतन्य में जिस "काम" अथवा "वृत्ति" का उदय हुआ, वही समस्त दृष्टि का मूल हुई। ऐसी ही व्यापक वृत्ति चतुर्वर्ग-कारण कही जा सकती है। भोज को पर-शृंगार की कल्पना वैसी ही व्यापकता लिये हुए है।<sup>२</sup> वे विकास का दृष्टि से शृंगार की तीन कौटियाँ मानते हैं— प्रकृष्ट, भाव-रूप तथा आभास। इस प्रकार भोज बड़े व्यापक क्षेत्र में शृंगार की फैला कर देखते हैं।

वस्तुतः भोज का शृंगार शब्द परम्परा से एक भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण अशुभ है। परम्परा-प्राप्त को अर्थ में होने वाले प्रयोग को वे भी सर्वथा छोड़ नहीं सके। फिर, दार्शनिक दृष्टि से भी उसमें कोई तात्त्विक स्थापना नहीं हुई। पुरानी मान्यताओं को ही अव्यवस्थित रूप में नये सिरे से जोड़ कर रखी हुई योजना के समान उनकी मान्यताएँ काव्य-शास्त्र के विद्वानों को सुलझने की अपेक्षा उलझने का अधिक अवसर खोलती हैं। यही कारण प्रतीत होता है कि परवर्ती आचार्यों ने उनके मतों को पूर्व-पक्ष के लिए भी नहीं अपनाया।

१—"तत्र केचिदाचक्षते "रतिप्रभवः शृंगार"इति। ना०शा०पृ० ३००+ , क्वं तु मन्यामहे— रत्या-दीनामयमेव प्रभव इति। शृंगारिणो हि रत्यादयो जायन्ते, नाशृंगारिणः। शृंगारी रमते, स्व स्मयते, उत्सहते, स्निह्यति इति। ते तु भाव्यमानत्वाद् भावाः, न रसाः।" शृ०प्र० भा० २:पृ० ३१४।

२- शृंगार-प्रकाशः अध्याय २३।

३- शृंगार-प्रकाशः अध्याय १८-१९-२०-२१।

४- "शृंगार एवैकः चतुर्वर्गकारण, स रस इति।" वही: भा० १:पृ० ३।



### मम्मट

अब तक हमने मम्मट-पूर्ववर्ती युग की रस-चेतना के पद-क्यों पर दृष्टि-पात किया है। हमने देखा है कि किस प्रकार रस-स्वरूप का चिन्तन अभिनव गुप्त के हाथों एक परिनिष्ठित चरमता को प्राप्त करा दिया गया। अभिनव और मम्मट के बीच कोई उत्प्रेक्षणीय दृष्टि-कोण सामने नहीं आया। फिर भी ध्वनिक, धनिक, महिम भट्ट तथा कुन्तक की स्थापनाओं में ध्वनि का विरोधी पक्ष बढ़े बल के साथ उभर कर आया। इन विरोधी स्वरो के रहते अभिनव की रस-व्याख्या पूर्ण प्रतिष्ठित नहीं कही जा सकती थी। मम्मट ने इन विरोधी स्वरो का अपने प्रबल तर्कों से मुख-मुद्रण करते हुए व्यंजना की पृष्ठ-भूमि में शैव-गद्वित-वाद की चिन्तन-धारा के माध्यम से व्याख्यात अभिनव के रस-सिद्धान्त को चिर-काल तक प्रतिष्ठित रहने की क्षमता प्रदान कर के एक महत्व-पूर्ण कार्य किया।

मम्मट अभिनव ने पूर्व-पक्ष के रूप में लोत्तट, शकुन्तल तथा भट्ट नायक के सिद्धान्तों को भी प्रस्तुत किया है। इन मतों के उपस्थापन में अभिनव से एक भिन्न दृष्टि-कोण दिखायी पड़ता है। सभी मतों पर सामाजिक के कोण से खड़े होकर दृष्टि-पात किया गया है। इस अन्तर का उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। वैसे मम्मट ने स्वयं जो रस का स्वरूप प्रस्तुत किया है वह अभिनव के ही अनुरूप है।<sup>१</sup> मम्मट द्वारा सभी आचार्यों के मतों का उपस्थापन बड़ी सूक्ष्म एवं सार-गर्भित पदावली में हुआ है। प्रत्येक आचार्य के मूल दृष्टि-कोण की चेतना उन-उन मतों में प्रयुक्त पदावली के पीछे सन्निहित है। किन्तु दो बातें बड़ी ध्रामक हैं। एक तो विवेचन इतना संक्षिप्त है कि किसी भी आचार्य के विषय में सभी पदों पर साफ़ दृष्टि-कोण सामने नहीं आता। अभिनव गुप्त को बिना साय लिए बहुत सी बातें उनके विषय में कुछ को कुछ समझी जा सकती हैं। दूसरी बात यह कि उन मतों में प्रयुक्त पदावली के आधार पर किसी आचार्य की दार्शनिक चेतना का स्पष्ट पता लगाना बड़ा ही कठिन है। "प्रकाश" "आनन्द" "चिति" "संविद्" "विज्ञान्ति" आदि ऐसे ही शब्द हैं, जिनके विषय में यदि प्रस्तुत आचार्य की मूल दार्शनिक दृष्टि का पता न हो तो उसके मत को दूसरे दर्शन की छाया में भी व्याख्यात किया जा सकता है। प्रायः हुआ भी ऐसा ही है। काव्य-प्रकाश परवर्ती युग का एक आदर्श ग्रन्थ रहा है। उसकी महत्ता का कारण यही है कि उसमें विभिन्न दृष्टि-कोण अत्यन्त संक्षेप के साथ निर्भ्रान्त रूप में प्रस्तुत किये गये हैं तथा काव्य-शास्त्र का एक व्यवस्थित ढांचा आनन्द-वर्णन तथा अभिनव के ग्रीड सिद्धान्तों के ऊपर खड़ा किया गया है। मूल सिद्धान्त उसमें मूल ग्रन्थों की अपेक्षा और भी सफ़ाई से पाठक को मिल जाते हैं। किन्तु काव्य-प्रकाश की महत्ता का एक और विपरीत प्रभाव पड़ा। उसकी महत्ता के पीछे भट्ट नायक, अभिनव आदि के ग्रन्थ सामान्य पाठक को अनावश्यक प्रतीत होने लगे, और शनैः शनैः मूल ग्रन्थों का अनुशीलन कम होता चला गया। परवर्ती युग में काव्य-प्रकाश पर जितनी टीकाएँ लिखी गयीं हैं, उतनी किसी काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ पर नहीं। वे बताती हैं कि किस प्रकार परवर्ती चेतना मम्मट के ही आस-पास चक्कर लगाने लगी। मूल ग्रन्थों से दूर पढ़ने के कारण काव्य-प्रकाश

१- "कारणान्यय कार्याणि सहकारीणि यानि च।

रत्यादेः स्थायिनी लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः। २७॥

विभावा अनुभावास्तत्तु क्वयन्ते व्यभिचारिणः।

व्यक्तः स ते विभावाधिः स्थायी भावो रसः स्मृतः। २८॥

का० प्र० : ३०४ : पृ० ८५-६।



के विचार्यों को बहकने की बहुत गुंजाइश हो गयी। कश्मीरी प्राचीन टीकाकार तो भट्ट नायक तथा अभिनव की शैव पृष्ठ-भूमि से परिचित थे, अतः कोई बात नहीं। किन्तु उत्तर काल में एक तो काव्य-शास्त्रीय अध्ययन का केन्द्र कश्मीर से हटा, जहाँ शैवादित-वाद की अपेक्षा शांकर बौद्ध-वाद का प्रचलन अधिक था। दूसरे स्वयं शैवादित का अध्ययन कम होता गया। इन कारणों से और भी जल्दी रस-सिद्धान्तों के पीछे से उनकी ठीक-ठीक दार्शनिक चेतना अलग हो गयी। अभी काव्य-प्रकाश की टीकाओं की ही लेकर काव्य-शास्त्र के विकास का अध्ययन हमारे सामने कोई नहीं आया है। किन्तु उनके आधार पर यह देखा जा सकता है कि किस प्रकार शनैः शनैः शैवादित के स्थान पर शांकर बौद्ध के प्रवेश की गुंजाइश होती गयी। अभिनव तथा मम्मट द्वारा रस की प्रतिष्ठा के अनन्तर मानों तान्त्रिक आचार्यों का उस पर एकाधिकार स्वीकार कर लिया गया हो। उसके लिए "तान्त्रिक रस" शब्द का प्रयोग भी किया जाने लगा था। जहाँ प्राचीन टीकाओं में उसकी शैव पृष्ठ-भूमि इस प्रकार स्पष्ट थी, वहाँ विश्वनाथ जैसे टीकाकारों के आते आते उसका रूप बहुत कुछ बदल गया। उत्कल के विश्वनाथ कश्मीर की दार्शनिक चेतना को सुरक्षित नहीं रख सके। हम देखेंगे कि उनमें वेदान्त की प्रभावशालिता छाया जा पड़ी है। इस प्रकार शनैः शनैः कश्मीरी शैव दर्शन के स्थान पर अभिनव के रस की व्याख्या में वेदान्त का प्रवेश होने लगा। यदि काव्य-प्रकाश में कुछ व्याख्यात्मक दृष्टि भी अपनायी गयी होती तो यह भी ही होता कि तीव्र स्वतन्त्र दृष्टि से रस की वेदान्ती व्याख्या प्रस्तुत करते किन्तु यह अवसर सम्भवतः नहीं आता कि अभिनव के मत की व्याख्या वेदान्ती मत समझ कर की गयी होती।

मम्मट के अनन्तर अब हम एक दूसरे युग में प्रविष्ट होते हैं। मम्मट की व्यवस्था के अनन्तर रस के विजय में अभिनव की व्याख्या ही सर्वमान्य हो गयी। अन्य आचार्यों को पूर्व-पक्षीय दृष्टि से ही देखा जाने लगा। दूसरी बात यह हुई कि रस-समस्या को प्रायः मम्मट के काव्य-प्रकाश के माध्यम से ही देखा जाने लगा।

मम्मट-परवर्ती युग - - - - मम्मट के अनन्तर पण्डित राज बगन्नाथ से पूर्व

हमने अभी देखा है कि मन्सटोत्तर युग की दिशा मम्मट के प्रभाव-स्वरूप किस ओर की मुड़ी। इस युग में हमने निम्न लिखित प्रमुख आचार्यों का उल्लेख किया है:-

सूय्यक	वाग्भट प्रथम	हेमचन्द्र	जयदेव	विवाधर	विजानाथ
वाग्भट द्वितीय	विश्वनाथ	भानुदत्त	रूप-गोस्वामी	केशव मिश्र	अप्पय्य

इन ग्रन्थकार आचार्यों के अतिरिक्त अनेक काव्य-प्रकाश के टीकाकार आचार्य हैं। इस युग ने सामान्यतः अभिनव के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। जानन्द-वर्धन के ध्वनि-वाद की भी पूर्ण मान्यता मिल गयी है, और दोनों आचार्यों के सिद्धान्तों को समझने का प्रमुख आधार मूल कृतियों की अपेक्षा मम्मट का काव्य-प्रकाश है। यह युग फिर एक बार

१-"लौकिकरसापेक्षया कार्यत्वमनुभावानाम्। तान्त्रिकरसे तु व्यञ्जकत्वा कारणकोटिप्रवेश एव।"

साहित्य-जूहामणिः भट्ट गोपालः काव्य-प्रकाशः भा० १ः पृ० १०२।

भट्ट गोपाल का समय क्रि. चक्रवर्ती ११वीं शती का प्रारम्भ से बहुत पूर्व पड़ता है।

शारदा तनय ने स्वयं को भट्ट गोपाल का पुत्र कहा है। डा० काणे के अनुसार शारदा तनय का समय ११७५-१२५० ई० है। यदि भट्ट गोपाल शारदा तनय के पिता हैं, तो उनका समय १२वीं शती का उत्तरार्ध होना चाहिए। का० प्र० भा० १ः भट्ट गोपाल व्याख्याः पृ० १-२ भूमिका



अलंकारों के महत्व को और मुहता दिखायी देता है। रस के क्षेत्र में उसके स्वरूप को अपना उसके भेदोपभेदों अथवा नायिका-भेदादि विषयों को और अधिक प्रवृत्त होता है। रसों में शृंगार को और अधिक प्रवृत्ति बढ़ती है। शृंगारी प्रवृत्ति के साथ नायिका-भेद की विवेचनाएँ भानुदत्त को रस-मंजरी जैसे ग्रन्थों में मिलती हैं।

रस की व्यञ्जना के क्षेत्र में स्वीकार कर लिया गया है। त्रिवेन्द्रम सीरीज़ में रुय्यक के नाम से १९३४ई० में एक साहित्य-मीमांसा नामक पुस्तक प्रकाशित हुई है। इसमें रस की धन धन एवं धनिक के समान तात्पर्या वृत्ति से वाक्यार्थ-रूप माना गया है, न कि व्यंग्य।<sup>१</sup> किन्तु अलंकार-सर्वस्व के आधार पर रुय्यक स्पष्ट ध्वनि-वादों प्रतीत होते हैं। वा तो यह कृति रुय्यक की नहीं, या फिर उनकी प्रारम्भिक रचना हो सकती है। इस प्रकार की सामान्य रेखाओं को छोड़ रस के विषय में व्यञ्जना की स्वीकृति ही मिली हुई दिखायी देती है।

१६वीं शता के प्रारम्भ में रूप-गोस्वामी द्वारा बङ्गाल के भक्ति-शान्दोलन से प्रभावित होकर कृष्ण-भक्ति के शृंगारी स्वरूप को काव्य-शास्त्रीय रूप प्रदान करते हुए "भक्ति-रस" की प्रतिष्ठा की गयी। इसमें कृष्ण को आलम्बन मान कर, मधुरा रति को स्थायी भाव स्वीकार करते हुए, नायिका-भेद के पूर्ण समावेश के साथ बड़े ऊहापोह के साथ "मधुर रस" का निरूपण मिलता है। किन्तु इसका प्रमुख क्षेत्र "भक्ति-क्षेत्र" ही रहा। हिन्दी के कृष्ण-भक्ति काव्य को उससे अवश्य प्रेरणा मिली एवं रीतिकालीन हिन्दी आचार्यों को शृंगार को और बढ़ाने का नैतिक साहस मिला, किन्तु संस्कृत का काव्य-शास्त्र उससे अप्रभावित ही रहा।

इस समस्त युग में एक विश्वनाथ का नाम ही महत्व-पूर्ण है। उनका ग्रन्थ सरलता के कारण बहु-प्रिय हुआ। अपने ग्रन्थ में रस के स्वरूप पर भी विचार करने का अवसर विश्वनाथ ने निकाला है। उसकी समीक्षा हम अभी प्रस्तुत करने जा रहे हैं।

रस-स्वरूप के विषय में चर्चा का अवसर इन ग्रन्थकार आचार्यों की अपेक्षा काव्य-प्रकाश के टीकाकारों को ही मिला। किन्तु यह युग भरत के टीकाकारों के समान मौलिक प्रतिष्ठापनाएँ नहीं लिए। दुर्व्याख्येय काव्य-प्रकाश के शब्दों की सरल या पाण्डित्य-पूर्ण व्याख्या एवं संगति ही प्रमुखतया इन आचार्यों का उद्देश्य रहा है। अतः ये आचार्य भी कोई नूतन उद्भावना नहीं कर सके। फिर भी रस से सम्बन्धित अनेक फुटकत समस्याओं के ऊपर इन आचार्यों की प्रासंगिक दृष्टि गयी है। उनके विवेचनों में अनेक वैकल्पिक मान्यताएँ बिसरी हैं। पण्डित राज में हम स्वान-स्थान पर "इत्यन्ये" "इत्यपरे" "इति केचित्" की प्रतिध्वनियाँ सुनते हैं। उनमें से अनेक के आधार पर टीकाकार आचार्य ही हैं।

हम अभी कह चुके हैं कि इस युग में आचार्य ~~विश्वनाथ का नाम~~ प्रसिद्धि-प्राप्त है। अब हम उनके दृष्टि-कोण के परिचय का गौर जाते हैं।



## विश्वनाथ

विश्वनाथ का रस-सिद्धान्तभट्ट नायक एवं अभिनव गुप्त की मान्यताओं का मिला-जुला रूप है। उन्होंने भट्ट नायक के भावकत्व-व्यापार में से साधारणीकरण व्यापार को पृथक् निकाल कर उसे विशेष महत्व प्रदान कर दिया है, और उनके प्रभाव से ही साधारणीकरण हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में पृथक् चर्चा का विषय बन गया है। विश्वनाथ एक और साधारणीकरण के विषय में भट्ट नायक से प्रभावित होते हैं, दूसरी ओर उसकी व्यापकता के विषय में अभिनव का दृष्टि-कोण अपनाते हैं। रस-स्वरूप के दृष्टि-कोण में वे शैव दर्शन की पृष्ठ-भूमि से अपरिचित प्रतीत होते हैं। रस-विवेचन में शैव-चेतना के साथ प्रयुक्त होने वाली उसी पदावली का प्रयोग वे वेदान्ती चेतना से करते प्रतीत होते हैं। किन्तु यह सब पण्डितराज के समान व्यवस्थित दृष्टि का फल प्रतीत नहीं होता, अतः उसमें सामंजस्य का यत्र-तत्र अभाव झलक ही जाता है।

विश्वनाथ रस का स्वरूप इन शब्दों में निरूपित करते हैं:—

"सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।

वेदान्तरस्पर्शान्मयो ब्रह्मानन्दसहोदरः॥

लोकौत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः।

स्वाकारवदभिन्नैकमिमांसास्वाद्यते रसः॥"१

मम्मट के शब्दों में भट्ट नायक ने कहा था:—

"— भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विशान्ति-सतत्त्वेन भोगेन भुज्यते।"२

विश्वनाथ ने मम्मट से भट्ट नायक की पदावली ली:—

"सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः"

भट्ट नायक तथा अभिनव द्वारा प्रयुक्त "सत्त्व" "प्रकाश" "चिन्मय" "चमत्कार" जैसे शब्दों को प्रयुक्त करते हुए भी उनकी चेतनाएं मूल प्रयोक्ताओं से भिन्न प्रतीत होती हैं। यहाँ हम कुछ प्रमुख शब्दों पर विचार कर सकते हैं:—

"सत्त्व"— भट्ट नायक ने "सत्त्व" को शैव दर्शन में स्वीकृत सांख्य के अनुसार "गुण-विशेष" के अर्थ में लिया था। उसमें रजस् तथा तमस् के अनुषेध की भी स्वीकृति थी। फल-स्वरूप, उन्हें चित्त की द्रुति-विस्तार-विकास तीन दशाएं मान्य थीं। मम्मट ने शब्द-लौभ में रजस्तमो-नुषेध की बात उड़ा दी थी। शायद वह इसलिए कि अभिनव की रसानुभूति में चित्त-दशाओं की तीन रूपों में ही बांधना स्वीकृत नहीं था। विश्वनाथ में भट्ट नायक का परिचय मम्मट के माध्यम से जाने के कारण केवल "सत्त्वोद्रेक" ही रह गया, जिसका अर्थ उन्होंने किया:—

"रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिदोच्यते" ५

काव्य-प्रकाश के टीकाकार भट्ट गोपाल भी अपनी साहित्य-चूड़ामणि में "सत्त्व" की यही व्याख्या कर चुके थे।<sup>३</sup>

१-साहित्य-दर्पणःपरि०३:पृ०६५। २-काव्य-प्रकाशःउ०४:पृ०९०। ३-अभि०भा०:भा०१:पृ०२७७

४-साहित्य-दर्पणःपरि०३:पृ०६६। ५- "सा०चू०:का०प्र०:भा०१:पृ०१११-२।



**"प्रकाश"**- विश्वनाथ का प्रकाश शब्द भी शीव दर्शन की परम्परा का नहीं। वे उसे वेदान्तो चेतना के साथ लेते हैं:-

"रत्यादिर्ज्ञानतादात्म्यादेव यस्माद्रसो भवेत्।

अतो स्य स्वप्रकाशात्वमखण्डत्वं च सिध्यति॥" १

वेदान्तियों का "ज्ञान" शब्द ब्रह्म-वाची है। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" २ वह स्व-प्रकाशात्मक है। स्वप्रकाशाता का अर्थ है किसी अन्य के द्वारा ज्ञेयता की अपेक्षा न रहना। विश्वनाथ इसी ज्ञान के साथ रत्यादि के तादात्म्य की बात कहते हैं। स्वप्रकाश ज्ञान से रत्यादि का तादात्म्य होने पर वह भी ज्ञान-रूप हो जाते हैं अतः वे भी स्वप्रकाश हैं तथा अखण्ड हैं।

"यदि रत्यादिकं प्रकाशशरीरादतिरिक्तं स्यात्, तदेवास्य स्वप्रकाशात्वं न सिद्ध्येत्। न च तथा, तादात्म्याद्गोकारात्।" ३

सत्ता की प्रकाश-विमर्श-मय मानने वाला शीव प्रत्यभिज्ञा-वादो भी इसी पदावली को प्रयुक्त कर सकता था। दर्पण-रूप प्रकाश-शरीर से वह भी किसी विमर्श की पृथक् नहीं मानता। किन्तु विश्वनाथ के शब्दों के पीछे वह चेतना नहीं। वे तो "प्रकाश-तादात्म्य" की नहीं, "ज्ञान-तादात्म्य" की बात कहते हैं। उन्होंने अभिनव के इस सिद्धान्त को वेदान्त की छाया में ही ग्रहण किया है कि रस्यमान-रूप होने के कारण रस प्रकाश-शरीर हैं भिन्न नहीं हैं: "रस्यमानतामात्रतारत्वात् प्रकाशशरीरादनन्य एव हि रसः" ४

उनकी वेदान्तो चेतना इस विषय में और भी सुख जाती है। यदि आप ज्ञान की स्व-प्रकाश न मानने वाले न्यायिक जैसे व्यक्ति हैं, तो आपको वेदान्तियों का डण्डा याद रखना चाहिए:-

"ज्ञानस्य स्वप्रकाशमनद्गोर्कुर्वतामुपरि वेदान्तिभिरेव पातनीयो दण्डः" ५

**"अखण्ड"**

विश्वनाथ का "अखण्ड" शब्द भी वेदान्तो पदावली से जाया प्रतीत होता है। किन्तु उसका अर्थ अखण्ड चेतन्य के र्म रूप में ग्रहण नहीं किया गया। रसानुभूति में एतत्त्व मिल कर एकाकार प्रतीत होते हैं, अतः वह "अखण्ड" है। ये तत्त्व हैं- विभावादि, रत्यादि, ज्ञान, ज्ञानन्द, एवं चमत्कार।

"अखण्ड इत्येक एवायं विभावादिरत्यादिप्रकाशासुचमत्कारात्मकः" ६

उक्त पाँचों बातों को पृथक्-पृथक् तत्वों के रूप में नहीं लिया गया, अपितु ज्ञान से तादात्म्य करते हुए एक विशेष ज्ञान के रूप में लिया गया है।

**"चमत्कार"** विश्वनाथ ने चमत्कार को रस का एक आवश्यक तत्वस्वीकार किया है। अभिनव में भी हम चमत्कार को रस का प्रमुख लक्षण पाते हैं, और फण्डतराज ने भी उसे रसानुभूति में महत्व-पूर्ण स्थान दिया है। किन्तु क्या विश्वनाथ का "चमत्कार" अभिनव का ही "चमत्कार" है ? उत्तर निस्सन्देह नकारात्मक है। अभिनव के चमत्कार का स्वरूप निम्न है:-

१-सा०द०:परि०३:पृ०८६।

२-शां०२ भा०२:पृ० १०८

३-सा०द०:परि०३:पृ०८७।

४-सा०द०:परि०३:पृ०८८।

तेजोशील उपनिषद्, ३।१।९

४क- "व्यवसायस्यावमात्रविषयत्वमनुभूयते, न तु स्वविषयत्वमपि; गौरवेण तस्य स्वविषय-भानतया प्रवृत्त्येतत्त्वात्" "विवादोऽप्यसितमिन्द्रियजन्यं ज्ञानं, नैकज्ञानविषयताश्रयं, एतत्त्वनकेन्द्रियसन्निर्गमनिर्गम्यते" अनुव्यवसाय-चिन्तामणि: गौरीपाध्याय: सा०द०:पृ०८८।

५-सा०द०:परि०३:पृ०८८।

६-सा०द०:परि०३:पृ०८६।

अभि० भा०



"तस्मादनुपचरितस्य सवेदनस्पतानान्तराधिक्येन अवस्थितस्य स्वतन्त्रस्यैव रसैक्यनतया परामर्शः परमानन्दो निर्वृतिश्चमत्कारः।" १

किन्तु विश्वनाथ का चमत्कार विस्मय का पर्याय-मात्र है:-

"चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः" २

अपनी इस मान्यता में विश्वनाथ अपने पूर्वज नारायण से प्रभावित हुए हैं, जो समस्त रसों में चमत्कार-तत्त्व की प्रधानता से, समस्त रस-स्थितियों में चित्त-विस्तार मान कर सर्वत्र एक अद्भुत रस ही मानते हैं। यह मान्यता ठीक वैसी ही कही जा सकती है जैसी सर्व्व दृष्टि की प्रधानता देकर सर्व्व करुण रस मानने वाले भवभूति की।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्वनाथ की चेतना से अभिनव के रस को प्रस्तुत करने में उनका शीव अद्वैत-वाद हट गया है, और उसका स्थान वेदान्त ने लिया है। किन्तु वेदान्त को भी किसी चिन्तनात्मक व्यवस्था से नहीं अपनाया गया। फल यह हुआ है कि इसकी सर्वांगीण पृष्ठभूमि विश्वनाथ में नहीं बन पाती।

विश्वनाथ ने भट्ट नायक की साधारणीकरण-सम्बन्धी चेतना को अभिनव के समान ही स्वीकार कर लिया है। किन्तु अभिनव ने उसे उतना पृथक् महत्त्व नहीं दिया जितना विश्वनाथ ने। अभिनव ने उसे अपने व्यापक साधारण्य-सिद्धान्त में अन्तर्भूत कर लिया है। भट्ट नायक ने साधारण्य को कुछ सीमित रूप में अपनाया था, अभिनव ने उसे व्यापकता दी। इसी दृष्टि से उन्होंने व्यवस्था दी थी-- "तत एव न परिमितमेव साधारण्यमपितु विततम्"।<sup>३</sup> विश्वनाथ ने भी साधारणीकरण को अभिनव के प्रभाव से व्यापक भूमि में अपनाया है--

"व्यापारोस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः।

तत्प्रभावेण यस्यासन् पायोधिप्लवनादयः।।

प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।

उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानः।

नृणामपि समुद्रादिलक्षणादी न दुष्यति।।

साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते।" ४

इस प्रकार विश्वनाथ साधारण्य की व्यापकता में अभिनव के साथ हैं।

विश्वनाथ ने करुणादि दुःखात्मक भावों की अनुभूति में भी अभिनव के समान ही आनन्द की स्थिति मानी है। किन्तु वे अभिनव के समान उसके दार्शनिक कारण नहीं बता सके। अभिनव स्वात्म-परामर्श एवं संविद्विबान्ति का सिद्धान्त सामने रखते हैं, किन्तु विश्वनाथ ऊपर-ऊपर की बातें कह कर रह जाते हैं, जिसे पाठक की चिन्तन-प्रधान बुद्धि को सन्तोष नहीं होता। विश्वनाथ ने इस विषय में कुछ अधिक नहीं कहा है, और सम्भवतः इसी कारण विश्वनाथ भी इस विषय में कुछ अधिक नहीं कह सके। उनका अभिनव से परिचय मम्मट के माध्यमसे ही अधिक प्रतीत होता है।

१-प्रवृत्ति-विवृति-विमर्शिनीः भा० १: पृ० १७९। २- सा० द०: परि० ३: पृ० ६७।

३- "रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते। तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यनुभूयते।।

तस्मादद्भुतमेवाह कृता नारायणो रसम्"। सा० द०: परि० ३: पृ० ६७।

४- "एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद् भिन्नः पृथ्क्पृथक्निवाश्रयते विवर्तान्।" उत्तर रामचरित

५- अभि० भा०: भा० १: पृ० २००। ६- सा० द०: परि० ३: पृ० ७९। ७ एवं च अग्रिम पृष्ठ पर।



विश्वनाथ की शेष मान्यताएं भी सामान्यतः अभिनव के ही अनुरूप हैं। सब मिला कर उनकी कोई नूतन दृष्टि सामने नहीं आती। केवल ऐतिहासिक दृष्टि से रस-विवेचन में वेदान्त के प्रवेश की कहानी में कुछ अवश्य जुड़ जाता है।

यहां तक हमने पण्डितराज के रस-विवेचन की पृष्ठ-भूमि का अध्ययन किया है। इस अध्ययन से स्पष्ट है कि पण्डितराज से पूर्व अभिनव गुप्त का सिद्धान्त सर्वमान्य हो चुका था। मम्मट के द्वारा की हुई उसकी विर-प्रतिष्ठा नतमस्तक हो स्वीकार की जा चुकी थी। किन्तु अध्ययन की पृष्ठ-भूमि में से शैव दर्शन शनिः शनिः खिसक रहा था, और जाने-अनजाने शांकर वेदान्त उसका स्थान ले रहा था। मम्मटोत्तर युग में कोई ऐसी प्रतिभा सामने नहीं आयी थी जो कहने योग्य कुछ बात सामने रखती। अब तक जो भी वेदान्त का समावेश था, लगभग अभिनव की ठीक-ठीक न समझने के कारण था। रस-चिन्तन की दिशा उसके स्थूल-पक्षों- नायिका-भेद जैसे विषयों की जो मुड़ गयी थी। एक प्रकार से ग्रीक चिन्तन की परम्परा सों समाप्त होने लगी थी। ऐसी स्थिति में पण्डितराज ने गदित-वाद की ग्रीक भित्ति पर रस की स्थापित कर के उसका स्वरूप प्रस्तुत किया। किन्तु इस स्वरूप का पूर्ण आदर्श अभिनव गुप्त ही रहे।

इस पृष्ठ-भूमि के साथ अब हम पण्डितराज के रस-विवेचन की और जाते हैं।

गत पृष्ठ के उद्धरण:-

६-"ननु दुःखोपालम्भकाले तावदहमिति अस्ति, न च तत्र चमत्कारात्मा अस्ति आनन्दः।"

क एवमाह नास्तीति ? तथाहि- दुःखमपि अयमास्वाद्यमानोऽन्तरेव विश्राम्यति। तां तु अन्तर्विश्रान्तिं बाह्येन अर्थां तं च विनष्टममभिसमीक्षमाणोऽनादरतिरस्कृतत्वात् सतीमपि न अभिमुखते। उपदेशविशेषादिशा तु मायाविगलने तद्बाह्यरूपानादरणे सैव विश्रान्तिरु-  
न्मिषति। तथाहि शिवदृष्टिः- "दुःखेऽपि प्रविकासे- - - "५।९।" इत्यादि।"

ई० प्र० वृ० वि० भा० २: पृ० १८१।

८-"सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।"

किंच तेषु यथा दुःखं न कोपि स्वात्तदुन्मुखः।"

तेभ्यश्च सुरते दन्तपातादिभ्य इव सुखमेव जायते।"

सा० द० परि० ३: पृ० ७०-२।



## पण्डितराज जगन्नाथ

हम प्रारम्भ में ही उल्लेख कर चुके हैं कि पण्डितराज ने रस-स्वरूप के सम्बन्ध में ११ मत प्रस्तुत किए हैं। इन मतों में केवल ४ ही महत्व-पूर्ण हैं। यहाँ हम इनहीं चार मतों पर विवेचन प्रस्तुत करेंगे। इन चार मतों में प्रथम है अभिनव गुप्त का मत, द्वितीय भट्ट नायक का है, तृतीय एवं चतुर्थ दो नवीनों के नाम से प्रस्तुत किये गये मत हैं। क्रम पण्डितराज का अपनाया हुआ ही है। प्रथम अभिनव गुप्त का सम्मत अभिव्यक्ति-वादी मत आता है।

### अभिव्यक्ति-वादी मत

पण्डितराज ने सर्व-प्रथम सिद्धान्त रूप में अभिनव-सम्मत अभिव्यक्ति-वादी मत इस रूप प्रकार प्रस्तुत किया है:-

"समुचितललितसन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितः सहृदयहृदयं प्रविष्टैस्तदीयसहृदयता-सहकृतेन भावनाविशोषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलीकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेशैः शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैश्चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैरश्रुपातादिभिः कार्यैश्चित्तादिभिः सहकारिभिश्च संभूय प्रादुर्भावितेनालीकिनेन व्यापारेण तत्काल-निर्वर्तितानन्दांशावरणाज्ञानेनात एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिवर्धनेण प्रमात्रा स्वप्रकाश-तया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राश्विनिविष्टवासनारूपी रत्यादिरेव रसः।" १

इस रस-स्वरूप पर दृष्टि-पात करने से दो प्रमुख तथ्य सामने आते हैं:-

१- पण्डितराज ने अभिनव की समस्त मुख्य मुख्य उपलब्धियों को बड़ी ही सूत्र-मयी भाषा में इस विवेचन में सन्निहित कर दिया है।

२- इस विवेचन की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि शैव दर्शन की नहीं, शुद्ध अद्वैत-वाद की है।

यद्यपि जिस प्रकार वेदान्ती टीकाकार काव्य-प्रकाश में प्रस्तुत अभिनव के मत की वेदान्ती व्याख्या करते रहे, वैसे ही कुछ ही प्रयत्न से पण्डितराज के उपर्युक्त शब्दों की भी शैव दर्शन के अनुकूल व्याख्या की जा सकती है; तथापि उनके <sup>शब्दों</sup> को आत्मा को पूर्ण विकास अद्वैत-वादी दृष्टि अपना कर ही दिया जा सकता है। रस के विषय में सिद्धान्तिक मतभेद न होते हुए भी पण्डितराज का अभिनव से दार्शनिक मत-भेद है। पण्डितराज अभिनव का सिद्धान्त अपनाते हैं, दर्शन नहीं। अभिनव एवं मम्मट के सिद्धान्तिक सार को ही उन्होंने लिया है, इस बात को पण्डितराज इस अभिव्यक्तिवाद के उपसंहार में स्वतः ही स्पष्ट कर देते हैं:-

"इत्थं चाभिनवगुप्त-मम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भूनावरणाचिद्विशिष्टो रत्यादिः स्वायी भावो रस इति स्थितम्"। २

यहाँ "स्वारस्य" शब्द ध्यान देने योग्य है। अभिनव एवं मम्मट के ग्रन्थों का "स्वरस" निकाल कर, सिद्धान्त-मात्र लेकर, ही पण्डितराज उसे प्रस्तुत कर रहे हैं। सिद्धान्त अभिनव का, दर्शन पण्डितराज का; 'स्वारस्य' शब्द यही सक्ति देता है।

तो, एक शब्द में हम कह सकते हैं कि पण्डितराज ने अभिनव एवं मम्मट के सिद्धान्त का वेदान्तीकरण किया है। रस के इतिहास में उसका सफल वेदान्तीकरण सर्वप्रथम पण्डितराज के सबल करों से हुआ। पण्डितराज की यही सब से बड़ी रस-समीक्षा को देन है। पण्डितराज की दृष्टि में रस का प्रश्न अभिनव से अधिक दार्शनिक है।



इस वेदान्तोक्तिरेण को हम पण्डितराज के शब्दों पर विचार करते हुए ही भली प्रकार समझ पायेंगे।

पण्डितराज के अनुसार अपने आत्म-चैतन्य के ही स्वरूप-भूत ज्ञानन्द के साथ गौचर किये हुए, प्रमाता के अपने ही वासना-रूप में निहित रहने वाले रति आदि स्थायी भाव ही रस हैं।

रति आदि स्थायी भाव जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों के फल-स्वरूप हमारे जन्तःकरण में वासनारूप में विनिविष्ट चले जाते हैं। जब-जब इनकी उद्बोधक सामग्री जुट जाती है, ये उद्बुद्ध हो जाते हैं। काव्य-सामग्री द्वारा एक विशिष्ट रूप में उद्बुद्ध ये ही स्थायी भाव रस-रूप में परिणत हो जाते हैं। "— प्रमाता— निजस्वरूपानन्देन सह गौचरोत्थिक्काणः— रत्यादिरेव" काव्य के संविधान में दो ऐसी प्रमुख विशेषताएँ होती हैं जो सहृदय प्रमाता को प्रभावित करती हैं। ये हैं— औचित्य एवं लालित्य। काव्य के सन्निवेश में औचित्य पहिली शर्त है। शब्द अथवा अर्थ के किसी धरातल का औचित्य विषय में प्रमाता की चेतना को लीन ही नहीं होने देता। औचित्य के समान लालित्य भी काव्य की प्रभविष्णुता के लिए अनिवार्य तत्व है। अभिनव के अनुसार इसी लालित्य से प्रमातृ-चेतना सांसारिक भाव-भूमि के भँभटों से ऊपर उठने का अवसर प्राप्त करती है। औचित्य एवं लालित्य दोनों काव्य की ये विषय-पक्षीय आवश्यकताएँ हैं, जो सहृदय को यथार्थ के संकुचित धरातल से उठाकर कल्पना के रमणीय धरातल पर पहुँचाने में सहायता करती हैं। अभिनव ने जो रस-प्रतीति के कई प्रकार के विघ्नों का उल्लेख किया है, उनमें से कई के निवारण का श्रेय अभिनय-संविधान के ललित उपकरणों को ही दिया है। काव्य में यह स्थान शब्दार्थ-संविधान के औचित्य को एवं लालित्य को प्राप्त है।<sup>१</sup>

इस समुचित एवं ललित सन्निवेश से चारु काव्य के द्वारा समर्पित किये गये ही विभावादि सहृदय के हृदय में पूर्ण विभावन की क्षमता प्राप्त कर पाते हैं। "समुचितललित-सन्निवेश-चारुणा काव्येन समर्पितः सहृदयहृदयं प्रविष्टैः"

सन्निवेश-चारुता अनुभूति की विषय-पक्षीय आवश्यकता है। किन्तु प्रमाता में जब तक "सहृदयता" नहीं होगी, काव्य-चारुत्व भी व्यर्थ जायेगा। निर्मल दर्पण में ही पदार्थ प्रतिफलित हो सकते हैं, काष्ठ-भित्ति अथवा पाषाण में तो नहीं।<sup>२</sup> सहृदय-संवाद की भूमि में ही विभावादि-सामग्री लोकोत्तर रूप हो कर रसोष्णोगिनी बनती है।<sup>३</sup>

इस प्रकार काव्य-चारुत्व की विषय-पक्षीय ग्राह्यता तथा सहृदय की विषय-पक्षीय ग्राह्यता— दोनों के कारण प्रमाता की चेतना में एक भावना-विशेष उद्बुद्ध होती है। आधुनिक शब्दावली में इसे तो कह सकते हैं कि सामाजिक की कल्पना-शक्ति क्रियाशील हो जाती है। इसी भावना-विशेष — ~~हृदय-संवाद~~ विभावादि का साधारणीकरण सम्भव होता है। "तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिः"।

१—"सर्वेधमभाष्यमानः सर्वे संविदं विनिवेशयितुमेव न शक्नोति। कातत्र विश्रान्तिः"। अभि०

२—"देखिए पृ०

भा०: भा० १: पृ० २२।

३- अभि० भा०: भा० १: पृ० २२-२३।

४- लोचनः पृ० १८६। काव्येपि च — — इयमेव रसवार्ता"।

५- स्वासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।

निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुट्याश्मसन्निभाः।" सा० द०: परि० ३: पृ० ७३।

६- "तन्निदानभूताया हृदयसंवादापुपकृताया विभावादिसामग्र्या लोकोत्तररूपत्वात्।"

लो०: पृ० १८७।



जगत् के यथार्थ परातल पर नायिकादि कारण-कार्य-सहचारी नाम से अभिहित होते हैं, काव्य-लोक में उन्हें विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी नाम दिये जाते हैं। कारण स्पष्ट है- काव्य द्वारा समर्पित एवं सहृदय का सहृदयता से गृहीत, उसकी कल्पना-भूमि में उपस्थित होकर ये उसके भाव-जागरण के विषय में कारण-कार्य सम्बन्ध से काम नहीं करते, विभावन-अनुभावन-एवं संचारण का काम करते हैं। यही इनकी अलौकिकता है, लोक-भिन्नता है।

इस लोक-भिन्नता का प्रमुख कारण है, इनका साधारणीकृत रूप में उपस्थित होना। काव्य-चारुत्व, सहृदय को अपनी सहृदयता, एवं उसकी उद्बुद्ध कल्पना-शक्ति की महिमा से उसके मानस-पटल पर उपस्थित ये विभावादि अपने विशेष सम्बन्धों से रहित हो जाते हैं।

"-चारुणा काव्येन समर्पितः- -सहृदयहृदयं प्रविष्टैस्तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेष-महिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिः अलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेशैः"

विभावादि का यह साधारणीकरण काव्य-प्रक्रिया के बीच पड़ कर उनका अपना स्वभाव है। वे अपने विभावन, अनुभावन तथा संचारण के कार्यों के आधार पर ही तो ये नाम पाते हैं। इस प्रकार भट्ट नायक के समान उनके लिए कोई पृथक् व्यापार मानने की आवश्यकता नहीं। यदि विषय-गत दृष्टि से देखा जाय, तो यह सम्बन्ध-विगलन उपर्युक्त भावना या कल्पन के द्वारा ही हो जाता है। भावना एक विषय-गत प्रतिक्रिया ही तो है। विषय-गत दृष्टि से भी, जैसा कि भट्ट नायक मानते हैं, उसके लिए पृथक् भावकत्व जैसा व्यापार अपेक्षित नहीं। अभिनव की स्वाकृति के साथ हम कह सकते हैं कि भावकत्व तो शब्दों तथा अर्थों दोनों में ही रहता है, और वह व्यंजना द्वारा ही सम्पादित हो जाता है। हम देख चुके हैं कि भट्ट नायक के साधारणीकरण को अभिनव के "साधारण्य" के व्यापक सिद्धान्त में एक वांगिक स्थान ही मिला है। पण्डितराज ने भी उसे निष्पत्ति-प्रक्रिया में एक स्वाभाविक अंग-व्यापार के रूप में ही अपनाया है। एक बात यहां विशेष उल्लेखनीय है। पण्डितराज ने साधारणीकरण की सफलता का श्रेय काव्य-चारुत्व के प्रभाव से उद्बुद्ध होने वाली सहृदय को भावना को दिया है। "भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिः"। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि भावुक मन में ही विभावादि अपने साधारणीकृत रूप में उपस्थित हो पाते हैं। पण्डितराज की दृष्टि अपेक्षाकृत विषय-गत है।

यथार्थ जगत् में भले ही भाव-जागरण का सामग्री की असंभूय-कारिता हो, काव्यानुभूति की प्रक्रिया में तो विभाव-अनुभाव-व्यभिचारी भाव सामाजिक के मानस-पटल पर उपस्थित होकर समग्र रूप में ही प्रभावी ढालते हैं। उनके इस समग्र प्रभाव से ही प्रमाता की चेतना में एक विशिष्ट प्रक्रिया बनती है, जो सामान्य लोकानुभवी में नहीं होती। "विगलितदुष्यन्तरमणीत्वदिभिरलौकिकविभादिशब्दव्यपदेशैः- - सम्भूय प्रादुर्भावितेन अलौकिकव्यापारेण" यही व्याप या प्रक्रिया सामान्य लोकानुभूति तक पहुंचाती है।

इस अलौकिक प्रक्रिया से प्रमाता के आनन्द-स्वरूप चैतन्य पर पड़े हुए अज्ञान का आवरण आंशिक रूप से निवृत्त हो जाता है। "अलौकिकव्यापारेण तत्कालनिवर्तितानन्दशावरणा-ज्ञानेन - - प्रमात्रा"।

१-"न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्" इत्यादि।" लोचनः पृ० १८९। व्यपदेशा एवं साधा० हे  
"विभावादि व्यापारवत्त्वादलौकिकशब्दव्यवहार्यैः" "ममैवेति, शत्रोरेवेति-इत्यादि"। का० पृ० :  
उ० ४ : पृ० ९२, ९१।



वेदान्त के अनुसार आत्मा सत्-चित्-ज्ञानन्द-स्वरूप है। यद्यपि वह पूर्ण एवं असंख्य है, प्रकाश-मय है, तथापि अज्ञान के आवरण से आच्छादित होकर बद्ध-वत् प्रतीत होती है। अज्ञान सत्-असत् से अनिर्वचनीय, त्रिगुणात्मक एवं भावात्मक एक अनिर्वचनीय पदार्थ है। उसकी सत्ता पारमार्थिक नहीं, प्रातिभासिक है। उसी के समर्क से नित्य-शुद्ध-बुद्ध आत्मा अपने को विभिन्न रूपों में आवद्ध पाती है। अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं— आवरण एवं विलोप। प्रथम के द्वारा चैतन्य का स्वरूप आच्छादित हो जाता है, दूसरी के द्वारा विभिन्न प्रातिभासिक रूपों की सृष्टि। आवरण के विभिन्न धरातल हैं। स्वयं चित्त भी स्वयं अज्ञान का ही एक धरातल है। मुक्ति का अर्थ है ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति। वह वस्तुतः आत्मा की विशुद्ध स्थिति ही है। उस दशा में आत्मा के आवरण को पूर्ण एवं आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाती है, एवं विशुद्ध, पूर्ण, अद्वैत, असंख्य आत्मा की सत्ता मात्र रह जाती है।<sup>१</sup>

काव्य की विभावित सामग्री के द्वारा जो अलौकिक प्रक्रिया उदित होती है, उससे भी चैतन्य का आवरण-भङ्ग होता है। किन्तु यह आवरण-निवृत्ति आत्यन्तिकी नहीं होती, न ही पूर्ण होती है। अज्ञान की पूर्ण निवृत्ति की कल्पना इस स्थिति में की भी कैसे जा सकती है। यहाँ चित्त मौजूद है, उसमें निहित वासना एवं संस्कार मौजूद हैं, विभावादि विषय-सामग्री भी मौजूद है। वस, केवल इतनी सी बात विशेष है कि यह सामग्री किसी विशेष सम्बन्ध के साथ वन्तःकरण का विषय नहीं बन रही। दूसरी बात यह कि यह सामग्री कल्पना-दोष की होने के कारण वास्तविक भी नहीं कही जा सकती। फिर भी विषयानुबन्ध न सही, विषय-संस्कार-ानुबन्ध तो उससे होता ही है। फल यह होता है कि पूर्वोक्त अलौकिक प्रक्रिया के द्वारा जो अज्ञानावरण का भङ्ग होता है वह आंशिक-रूप तक ही सीमित रह जाता है।

प्रश्न उठता है, इस अंशावरण की निवृत्ति होने पर प्रमातृ-चेतना की क्या स्थिति होती है? सामान्यतः आवृत प्रमातृ-चेतना व्यष्टि-गत सुख-दुःख, राग-द्वेष की परिमित सीमाओं में आवद्ध होती है। अभिनव के शब्दों में यह "निवसुखदुःखादिविवशीभाव" है, जो रसानुभूति का प्रबल विघ्न है। उपर्युक्त अलौकिक व्यापार से जैसे ही प्रमातृ-चेतना का अंशावरण निवृत्त होता है, उसका यह परिमित-प्रमातृत्व भी समाप्त हो जाता है। वह प्रमाता रहता है, परिमित प्रमाता नहीं। "अत एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिवर्धनेन प्रमात्रा"। यह स्वाभाविक ही है। हमारी चेतना की प्रतिक्रिया बहुत कुछ विषयानुरूप होती है। विशेष विषय के प्रति होने वाली प्रतिक्रिया भी विभिन्न विशेषताओं से युक्त होती है, किन्तु निर्विशेष सामग्री सामने आने पर उसके प्रति निर्विशेषता ही स्वाभाविक है। परिमित सम्बन्धों से विमुक्त सामग्री प्रमातृ-चेतना की भी परिमित सीमाओं से बाहर निकलने का द्वार खोलती है।<sup>२</sup>

तो, काव्य-शक्ति के द्वारा प्रादुर्भूत उपर्युक्त अलौकिक व्यापार से चैतन्य के अन्य स्थूल आवरण निवृत्त हो जाते हैं। यदि कोई आवरण है तो केवल काव्य-सामग्री के द्वारा ढाला हुआ अपना। आधुनिक कलावादों कहता है, कला पर कोई प्रतिबन्ध नहीं, उसके कोई नियम नहीं; प्रतिबन्ध हैं तो उसके अपने, कोई नियम हैं तो उसके अपने। मम्मट भी कवि-भारती को नियतकृत-नियमरहिता और अनन्य-परतन्त्रा कहते हैं। कुछ वैसी ही बात है। चैतन्य के सभी आवरण निवृत्त यदि कोई आवरण शेष है, तो विभावादि सामग्री द्वारा विभावित अथवा व्यंजित स्थायी भावों का।

इस प्रकार के मुक्त हृदय, न कि निर्दय, प्रमाता की चेतना द्वारा गोचरीकृत रत्यादि रस उभलाते हैं।



हमारा चैतन्य प्रकाश-रूप है, आनन्द-स्वरूप है। त्रिगुणात्मक वह प्रातिभासिक वस्तु उसी के प्रकाश से भासित होता है। यहाँ तक कि चित्तवृत्ति भी, जो कि स्वयं अज्ञान का ही एक रूप है, उसी के प्रकाश से प्रकाशित हो कर वह पदार्थों को प्रकाशित करती है। और तो और पूर्ण मुक्तावस्था से पूर्व जब चित्तवृत्ति बलण्डाकाराकारित होती है तब भी उसी के प्रकाश से प्रकाशित हो कर<sup>१</sup>। तो हमारे अनावृत चैतन्य के प्रकाश में, जिसका कि आनन्द अपना ही स्वरूप है, जब रत्यादि गीचर होते हैं, तो वे भी आनन्द-रूप ही बन जाते हैं। यही रस है। "प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गीचरोऽग्रिमाणः प्राग्विनि-विष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि पण्डितराज के रस-स्वरूप-विवेचन को मूल चेतना वही है जो अभिनव गुप्तकी है। पण्डितराज ने इस कृष्ण को बड़ी ईमानदारी के साथ स्वीकार किया है। वहाँ तक उसके दार्शनिक आधार का प्रश्न है, उसमें शैव दर्शन के स्थान पर बड़ी सफलता के साथ वेदान्त की प्रतिष्ठित किया गया है।

पण्डितराज ने अभिनव की मान्यताओं का ही वेदान्तीकरण नहीं किया, उनके मत के सर्वश्रेष्ठ उपस्थापक मम्मट के शब्दों का भी वेदान्तीकरण किया है। मम्मट रस का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहते हैं:-

"व्यक्तः स तैर्विभावैः स्थायी भावो रसः स्मृतः" १

पण्डितराज मम्मट के इस "व्यक्ति-वाद" को भी वेदान्ती व्याख्या करते हैं। "व्यक्तः" का अर्थ है "व्यक्ति का विषय बनना", और "व्यक्ति" का अर्थ है- "वह चैतन्य जिसका आवरण-भंग हो चुका है" "भूनावरणा चित्"। जिस प्रकार एक दीपक किसी सकोरे से ढंका होने के कारण न तो स्वयं प्रकाशित हो सकता है, न किसी समीप पदार्थ को प्रकाशित कर सकता है। इसी प्रकार अज्ञानावृत चैतन्य की स्थिति है। दीपक के ऊपर से सकोरा हटा दीजिए, वह स्वयं भी प्रकाशित होगा, और समीपस्थ पदार्थों को भी प्रकाशित करेगा। ठीक इसी प्रकार चैतन्य पर से काव्य के बादू से जैसे ही अज्ञान का अंशावरण दूर होता है, वह अपने वास्तविक प्रकाश से स्वयं भी प्रकाशित होता है, तथा विभावदि-संवलित रत्यादि को भी प्रकाशित करता है और, इसी प्रकाश-मयी स्थिति को तो हम "रस" कहते हैं।

"वि-पूर्वक अन्ध-धातु" के इस प्रकाश-रूप अर्थ की वेदान्ती संगति विश्वनाथ नहीं लगा सके थे।<sup>२</sup> पण्डितराज ने उसके रहस्य को वेदान्त की मर्मज्ञता के सहारे स्पष्ट किया।<sup>३</sup> "व्यक्त" का सामान्यतः प्रचलित अर्थ था "व्यंजना-प्रतिपादित", किन्तु व्यंजना की दार्शनिक व्याख्या इस रूप में वेदान्त के द्वारा ही सामने आयी।

गत पृष्ठ का अवशिष्ट :-

२-"नियतवमातृ-गतत्वेन स्थितोपि साधारणोपपन्न-विनिर्णयितप्रमातृत्वश्री-न्मिषितवेदान्तरसम्पदशून्यापरिमितेन प्रमात्रा- -"। का० प्र० : ३०४ : पृ० ९२।

१-का० प्र० : ३०४ : पृ० ८६।

२-"व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तोक्त एव रसो, न तु दीपेन घट इव पूर्वसि-दधो व्यन्यते"। सा० द० : परि० ३ : पृ० ६४।

३-"व्यक्तो व्यक्तविषयोक्तः। व्यक्तश्च भूनावरणा चित्। यथाहि शरावादिना पिहितो

शोण अग्रिम पृष्ठ पर



यहाँ एक प्रश्न आप वेदान्ती से पूछ सकते हैं। "व्यक्ति" को व्याख्या में बताया गया है कि शैतन्यवर्ण अंशावरण निवृत्ति होते ही चैतन्य स्वयं भी प्रकाशित होता है, और विभावादि-संवलित रत्यादि को भी प्रकाशित करता है। तो रत्यादि तो वासना-रूप से अन्तःकरण में विद्यमान होते हैं, किन्तु विभावादि तो वहाँ नहीं होते। फिर अविद्यमान का प्रकाशन कैसा ? वेदान्ती पण्डितराज के पास इसका सरल समाधान है। अन्तःकरण जड़ होते हुए भी साक्षात् चैतन्य के प्रकाश से प्रकाशित होकर ही क्रिया-शील होता है। सूर्य-रश्मियों से भासित होकर दर्पण स्वयं भी सूर्य-वत् हो जाता है, और अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। वतः वेदान्ति के अनुसार समस्त अन्तःकरण-धर्म साक्षात्-भास्य होते हैं। तभी तो स्वप्न में वस्तुतः अविद्यमान भी पदार्थ, तथा शुक्ति में आभासित होने वाली रजत, अविद्यमान रहते हुए भी साक्षात्भास्य अन्तःकरण के द्वारा प्रकाशित हो जाते हैं। इस प्रकार वस्तुतः अविद्यमान भी विभावादि की साक्षात्भास्यता के सिद्धान्त पर प्रकाशित होना बन जाता है।<sup>१</sup>

दूसरा प्रश्न उठता है- जब रस आत्म-चैतन्य का स्वरूपानन्द है, जो कि मात्र रत्यादि के आवरण में रह कर नास्वादित होता है, तो फिर वह नित्य होना चाहिए, उसकी उत्पत्ति एवं विनाश क्यों ? पण्डितराज इसका भी उत्तर उसी वेदान्ती आवरण-भ्रम की प्रक्रिया से देते हैं।<sup>२</sup> रस का प्रधान श्रेय है आवरण-भ्रम को। यह आवरण-भ्रम क्या है ? जिसे आप चर्वणा कहते हैं, वही तो है। व्यङ्ग्य विभावादि की चर्वणा जब तक रहती है, तब तक रसास्वाद रहता है। चर्वणा समाप्त होने पर वह भी समाप्त हो जाता है। उत्पत्ति-विनाश रस के लिए औपचारिक है, उनका वास्तविक सम्बन्ध तो चर्वणा से है।

गत पृष्ठ के शेष उद्धरण:-

दापिस्तन्निवृत्तौ सन्निहितान्पदवर्णान् प्रकामशयति स्वयं च प्रकाशते, एवमात्मचैतन्यं विभावादिसंवलितरत्यादौ न।" रंगः पृ० २२।

१-"तैर्विभावादिभिर्व्यजितः स्थायी भानो रसः स्मृतः। विभावादिभिर्व्यजितः स्थायी -"

सम्प्रदाय-प्रकाशिनोः विनाशवर्तोः भा० १: पृ० १०२।

"व्यक्तः स इति- व्यक्तश्चर्वणेति पार्थिवः। सा च विशेषणम्। तथा च व्यक्तविशिष्ट एव स्थायी रसः।" काव्य० प्र० प्रदीपः पृ० ८८-९।

"व्यक्तः व्यङ्ग्यं वृत्त्या प्रतिपादितः" वामन भट्टकोकरः पृ० ८६।

"व्यक्तः स इति व्यजितः स्थायी रस इत्यर्थः।" सारबोधिनीकारः का० प्र० भट्टको० पृ० ८६।

१-"अन्तःकरणधर्माणां साक्षात्भास्यत्वाभ्युपगतेः विभावादौनां स्वप्नतुरगादीनामिव रहोग्रवतादौनामिव साक्षात्भास्यत्विभ्युपविरुद्धम्।" रंगः पृ० २२।

२--व्यङ्ग्यविभावादिचर्वणाया आवरणभ्रमस्य वीत्युत्पत्तिविनाशाभ्यामुत्पत्तिविनाशौ रसे उपर्ज्येते। वर्णनित्यतायामिव व्यङ्ग्यतात्वादि व्यापारस्य गकारादी। विभावादिचर्वणावधित्वादावरणभ्रमस्य निवृत्तायां तस्यां प्रकाशस्यावृत्तत्वाद् विद्यमानोऽपि स्थायी न प्रकाशते।"

रंगः पृ० २२।



रस-व्याख्या के विविध प्रसंगों में अभिनव गुप्त ने "तन्मयीभवन" के सिद्धान्त का बहुशः प्रयोग किया है। वस्तुतः अभिनव की व्याख्या में "तन्मयीभवन" का बड़ा महत्व-पूर्ण स्थान है। अतः पण्डितराज अभिनव के रस-सिद्धान्त की तन्मयीभवन के माध्यम से वैकल्पिक रूप में प्रस्तुत करते हैं। जहाँ तक मूल सिद्धान्त का सम्बन्ध है, वह अविद्यात एवं वही है, अन्तर केवल समझाने की प्रक्रिया का है। किन्तु यहाँ उल्लेखनीय यह है कि पण्डितराज ने अभिनव के "तन्मयीभवन" को भी वेदान्तोक्त रूप में ही प्रस्तुत किया है। पण्डितराज की यह वैकल्पिक व्याख्या इस प्रकार है:-

"यद्वा विभावादिचर्वणा-महिम्ना सहृदयस्य निजसहृदयतावशोन्मिश्रितेन,  
तत्तत्स्थाययुपहित-स्वस्वरूपानन्दाकारा चित्तवृत्तिरुपजायते, तन्मयीभवनम्" इति यावत्।"

१- क-"येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदी-भूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता  
ते हृदय-संवादभाजः सहृदयाः"।

ख-"इत्यत्रानुभावविभावबोधनोत्तरमेव तन्मयीभवनमुक्त्या तद्विभावानुभावोचितचित्तवृत्ति-  
वासनानुरजितस्वसंविदानन्दचर्वणागोचरोऽथी रसात्मा"। लोचनः पृ० ८१।

ग-"- - सहृदयसंवादबलाद् विभावानुभावप्रतीती तन्मयीभावेनास्वाद्यमान एव रस्यमानतैक-  
प्राणः सिद्धस्वभावसुखादिविलक्षणः परिस्फुरति।" लोचनः पृ० ७९।

घ-"पुनरनुभावप्रतिपादने हि पुनरुक्तितरतन्मयीभावो वा"। लोचनः पृ० ८२।

ङ-"त्रौचन्द्रवियोगेन- - - यः शोकः- - स एव तथाभूतविभाव-तदुत्थाकृन्दाद्यनुभाव-  
चर्वणाया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः"। लोचनः पृ० ८५।

च-"लौकिकेन कारणकार्यानुमानादिना संस्कृतहृदयो विभावादिर्कं प्रतिपद्यमान एव न ताट-  
स्थेन प्रतिपद्यते, अपितु हृदयसंवादापरपर्यायसहृदयत्वपरवशीकृततया पूर्णाभिबिम्बद्रसा-  
ह-नुस्वादाह-कुरीभावेनानुभवस्मरणादिसरणिमनारुह्यैव तन्मयीभवनोचितचर्वणा-  
प्राणतया"। लोचनः पृ० १५५-६।

छ-"अनुभावोऽप्यलौकिक एव।" यदनुभावयति वागङ्गसत्त्वकृतोभिनयस्तस्मादनुभाव" इति।  
तच्चित्तवृत्तितन्मयीभवनमेव।" लोचनः पृ० १५६। ह्यनुभवनम्"। लोचनः पृ० १५६।

२- रंगः पृ० २३।



सामाजिक की सहृदयता के सहारे जो विभावादि का चर्चणा होती है, वह एक विशेष आनन्द-मयी चेतना को उद्बुद्ध करती है। इसे ही हम रस कहते हैं। प्रश्न उठता है— इस अनुभूति में चित्तवृत्ति का क्या स्वरूप होता है ? यहाँ चित्तवृत्ति तो होती ही है, क्योंकि यह स्थिति विशुद्ध चैतन्य की तो है ही नहीं। वेदान्तों तो चित्तवृत्ति की स्थिति शुद्ध ब्रह्म की स्थिति आने से अव्यवहित-पूर्व तक मानता है, भले ही वह अलण्डाकाराकारित-मात्र हो। तो इस विषय में पण्डितराज का निरूपण है कि रसानुभूति में चित्तवृत्ति "तत्तत्स्थायुपहित-स्वस्वरूपानन्दाकारा" होती है। वेदान्त के अनुसार चित्तवृत्ति का स्वभाव है प्रेयाकारा परिणति। जब वह बाह्य घटादिक को अपना विषय बनाती है, तब तत्तद्विषयाकाराकारित होती है, और जब "अलण्ड चैतन्य" को विषय बनाती है, तब अलण्डाकाराकारित होती है। वस, वस्तु एवं अलण्ड को विषय बना कर चलने में अन्तर यही होता है कि बाह्य-विषयक अज्ञान का नाश करके वह उन्हें प्रकाशित भी कर सकती है, किन्तु अलण्ड को विषय बना कर तद्विषयक अज्ञान का नाश करके स्वयं भी अज्ञान का ही एक अंश होने के कारण स्वयं ही समाप्त हो जाती है, अलण्ड को प्रकाशित करने को उसकी क्षमता नहीं होती। अलण्ड चैतन्य तो स्वयं प्रकाश है। जो भी हो, चित्तवृत्ति की परिणति होती विषयाकाराकारित हो है। रसानुभूति में शुद्ध चैतन्य की स्थिति नहीं, अन्य उपाधियों से मुक्त, किन्तु रति-आदि तत्तद् स्थायी भावों की उपाधि से उपहित चैतन्य या आनन्द की स्थिति होती है। आनन्द वेदान्त के अनुसार चैतन्य का स्वरूप ही है, शैव दर्शन के स्थान एक शक्ति नहीं। रसानुभूति में चित्तवृत्ति इसी स्वरूप-चैतन्य के उपहित स्वरूप में आकारित होती है। जिस रस को अनुभूति हो रही हो, उसी के अनुरूप स्थायी की उपाधि से आवृत अपने ही स्वरूप-भूत चैतन्य या आनन्द के आकार को। इसी चित्तवृत्ति-मय होना रस है।

स्पष्ट है, तन्मयीभवन के माध्यम से यह अभिनव के रस को शुद्ध वेदान्ती उपस्थिति है। इसमें चित्तवृत्ति को विषयाकारा परिणति एवं प्रमातृ-चेतना की चित्तवृत्त्याकारता या चित्तवृत्ति-मयता का उल्लेख है। यह सब वेदान्त के अनुरूप है।

१-“एवमाचार्येणाध्यारोपापवादपुरःसरं तत्तत्त्वं पदार्थो शोधयित्वा वाक्येनालण्डार्थैर्वदीधिते सर्वाधिकारिणोऽहं - - ब्रह्मास्मीति अलण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरुदेति। सा तु चित्प्रतिबिम्बसहिता सती -परब्रह्म विषयोऽकृत्य तद्गताज्ञानमेव बाधते। तदत्र पटकारणतन्तुदाहे सति तत्कार्यस्थानस्य बाधितत्वात् तदन्तर्भूतालण्डाकाराकारिता चित्तवृत्तिरपि बाधिता भवति।” “तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यमपि यथा प्रदीपप्रभा आदित्यप्रभावभासनासमर्था सती तथाभिभूता भवति तथा स्वयंप्रकाशमान- - ब्रह्मावभासनानर्हत्या तेनाभिभूतं सत् स्वोपाधिभूतालण्डवृत्तेर्बाधितत्वाद् दर्पणाभावे मुखप्रतिबिम्बस्य मुखत्वमात्रवत्प्रत्यगभिन्नपरब्रह्ममात्रं भवति” “जहद्विषयाकाराकारितचित्तवृत्तेर्विशेषोऽस्ति। तथाहि- अयं घट इति घटानोराकारितचित्तवृत्तिर्ज्ञातं घटं विषयाकृत्य तद्गताज्ञाननिरसनपुरःसरं स्वातन्त्र्यदाभासेन जहमपि घटं भासयति, यदुक्तं- - “बुद्धितत्स्थचिदाभासो द्वावपि व्याप्नुतौ घटम्। तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटं स्फुरेत्”। इति। यथा प्रदीपप्रभामण्डलमन्धकारगतं घटादिकं विषयोऽकृत्य तद्गतान्धकार-निरसन-पुरःसरं स्वप्रभया तदवभासयति।”

वेदान्त-सारः पृ० ८५, ८६, ८८।



किन्तु अभिनव के तन्मयीभवन में चेतना एवं चित्तवृत्ति को विषयाकार परिणति के स्थान पर विषय की ही निरस्तवृत्ति चेतना-रूपता होती है। अभिनव के तन्मयीभवन को समझने के लिए हमें उनकी अभि अनुभव-प्रक्रिया समझनी होगी।

हम एक घट का प्रत्यक्ष करते हैं। घट हमारी चक्षुरिन्द्रिय पर प्रतिफलित होकर हमारे मानस-पटल पर उपस्थित होता है। मनःपटल व्यष्टि-चेतना का ही एक प्रसृत रूप है, विमर्श का ही एक स्फुरित या स्पन्दित स्वरूप है। इस प्रकार बाह्य घट हमारी प्रकाश-विमर्श-मयी सत्ता का ही एक अंग बन जाता है। विषय की यह आत्माकारा परिणति ही "तन्मयीभवन" है। अभिनव इसका विवेचन इस प्रकार करते हैं:-

"तथा च घटो मम स्फुरतीति कोर्षः ? मदीयं स्फुरणं स्पन्दनमाविष्टः मद्रूपता-मापन्न एव, चिन्मयत्वात्।"<sup>१</sup>

भास्कर कण्ठ अभिनव के मन्तव्य को और भी स्पष्टता देते हुए कहते हैं:-

"ग्रहणसमये भावस्य मायया भावत्वेन भासितं निबं सहजशुद्धप्रकाशाख्यं स्वरूपमेव प्रमातारं प्रति स्फुटीभवति यतः, तदा प्रमाता तद्वस्तु प्रति दिदृक्षासमये व्यापकीभवति। यदुक्तम्:-

"दिदृक्षायेव सर्वार्थान् यदा व्याप्यावतिष्ठते।

तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवाभ्योत्स्यते।।"

व्यापकीभवंश तद्वस्तु स्वात्मसात्करोति तन्मयीभावासादनं च वस्तुनः शुद्धप्रकाश-रूपत्वासादनमेव, प्रमातुः शुद्धप्रकाशमात्ररूपत्वात्।<sup>२</sup>

बाह्य भाव-पदार्थों का जो स्वरूप प्रमाता की चेतना के समक्ष आता है, वह मूलतः शुद्ध प्रकाश से भिन्न नहीं, तथापि माया के द्वारा पृथक् रूप में भासित होता हुआ संकुचित चेतना के सामने आता है। प्रमाता की चेतना उस वस्तु के साक्षात्कार के समय व्यापक होकर फैल जाती है, और फैल कर उस वस्तु को अपना अंग बना लेती है। पदार्थों की यह आत्म-रूपता की प्राप्ति ही "तन्मयीभाव" है।

इस प्रकार अभिनव के "तन्मयीभाव" का अर्थ है, प्रेम की आत्माकारा परिणति, जब कि पण्डितराज के तन्मयीभाव में चित्तवृत्ति को विषयाकारा परिणति न्न उल्लेख है। अभिनव के तन्मयीभवन में प्रक्रिया बाहर से भीतर की ओर है, पण्डितराज में भीतर से बाहर की ओर। इसका कारण है: अभिनव के अनुसार तो सभी बाह्य सत्ताएं प्रकाश-रूपता से भिन्न नहीं, अतः आत्मा की परिणामी न मानते हुए भी उनके अनुसार उक्त उकार से विषयों की आत्माकारा परिणति बन सकती है; किन्तु पण्डितराज के अनुसार अज्ञान-रूपा चित्तवृत्ति ही विभिन्न रूपों में परिणत हो सकती है, आत्म-पक्ष अप्रभावित रहना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पण्डितराज ने अभिनव के विवेचन में "तन्मयीभवन" के सिद्धान्त को अधिक महत्व दिये जाने के कारण उसके माध्यम से भी अभिनव के रस की व्याख्या तो प्रस्तुत की, किन्तु यहां भी सिद्धान्तिक दृष्टि-कोण ही स्वीकार किया, मूल की गति हात रखते हुए उसकी दार्शनिक पृष्ठ-भूमि अवश्य बदल दी।

१-ई० प्र० वृ० : भा० १ : पृ० ४२ : बृहता-विमर्शानी से उद्धृत : सन्दर्भ गुप्तः पृ० २६१।  
२-अभिनव गुप्त : डा० का० चं० पा० द्वारा उद्धृत : पृ० २६-७।



साहित्यिक तन्मयीभवन में वैषयिक तन्मयीभवन से अभिनव भी अन्तर स्वीकार करते हैं, और पण्डितराज भी। उसमें विषय-पक्षीय तथा विषयि-पक्षीय- उभय-प्रकारक राग-प्रवणो-पयोगिता के तत्त्व अपेक्षित रहते हैं:-

"अनुभावविभावोक्ताद्यनोत्तरमेव तन्मयीभवनमुक्त्या तद्विभावानुभावोचितचित्तवृत्ति-वासनानुरञ्जितस्वसंविदानन्दानन्दगोचरोऽर्थो रसात्मा- - " १

"लौकिकेन कायकारणानुमानादिना संस्कृतहृदयो विभावादिकं प्रतिपद्यमान एव न ताट-स्येन प्रतिपद्यते, अपि तु हृदयसंवादापरपर्यायसहृदयत्वपरवशीकृततया पूर्णाभिविष्यद्दसाहं-कुरी-भावेनानुभूतस्मरणादिसरणिमनारुह्यैव तन्मयीभवनोचितचर्चणाप्राणतया।" २

अभिनव का यही सिद्धांत पण्डितराज के निम्न शाब्दों में केवल दार्शनिक पृष्ठ-भूमि के परिवर्तन के साथ सन्निविष्ट है:-

"यदा विभावादित्त्वर्चणामहिम्ना सहृदयस्य निजसहृदयतावशोन्मिषितेन तत्तत्स्थाययु-पहित-स्वस्वरूपाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्तिरुपजायते, तन्मयीभवनमिति।" ३

इस प्रकार पण्डितराज ने अभिनव को चर्चणा को भी वेदाङ्गों में रंग दिया है।

"आवरण-भङ्ग" तथा "तन्मयीभवन" दो रूपों में रस-स्वरूप को व्याख्या होने के कारण चर्चणा को भी दो रूपों में समझा जा सकता है। एक तो चिदागत आवरण के भङ्ग-रूप में, दूसरे स्थाय्युपहित-आनन्द-काराकारित चित्तवृत्ति के रूप में।<sup>४</sup>

"आवरण-भङ्ग" के रूप में समझते हुए भी हम यह जानते हैं कि इसमें अंश-आवरण का ही भङ्ग हुआ है। अथवा यों कहिए, अज्ञान के एक परिमार्जित अंश का आवरण रहता ही है। रस सोपाधिक चैतन्य है, निरुपाधिक नहीं। दूसरे आवरण-भङ्ग का कारण काव्य का एक व्यापार-विशेष माना गया है। यह चर्चणा केवल इसी व्यापार से ही होती है, अन्य किसी व्यापार से नहीं।<sup>५</sup>

"तन्मयीभवन" के रूप में अथवा उपहित-चैतन्याकाराकारित चित्तवृत्ति के रूप में चर्चणा को मानने पर भी इसे "शाब्दी" ही माना जायगा, क्योंकि यह केवल शब्द-व्यापार से ही उदित होती है, अन्य साधनों से नहीं। दूसरे इसमें प्रत्यक्षा आत्मानन्द की अनुभूति होती है, अतः यह "अपरोक्ष-सुख-रूपा" है। सामान्यतः शब्द-जन्य ज्ञान "प्रत्यक्षा" नहीं माने जाते। न्यायादि के अनुसार शब्द-प्रतीतियां परोक्ष-प्रतीतियां ही मानी गयी हैं। किन्तु काव्य-प्रतीति को यह विशेषता है कि वह शाब्दी होते हुए भी प्रत्यक्षात्मिका होती है। यह मान्यता भी वेदान्त के ही अनुकूल है। वेदान्त वाक्य-जन्या तत्त्व-प्रतीति को शाब्दी होते हुए भी अपरोक्ष ही मानता है।<sup>६</sup>

१-लौकिकः पृ० ८१।

२-लौकिकः पृ० १५५-६।

३-रंगः पृ० २३।

४-"चर्चणा चास्य चिदागतावरणभङ्ग एव, प्रागुक्ता तदाकारान्तःकरणवृत्तिर्वा।" रंगः पृ० २३।

५-"इयं च परब्रह्मास्वादसमाधेर्विलक्षणा, विभावादिविषयसंवलितचिदानन्दालम्बनत्वात्।"

भाष्या च अस्मिन् काव्य-व्यापारप्राप्तात्।" रंगः पृ० २३।

६-"येयं द्वितीयपक्षे तदाकारचित्तवृत्त्यात्मिका रसचर्चणोपन्यस्ता, सा शब्दव्यापार-भाव्य-त्वाद् शाब्दी, अपरोक्षसुखालम्बनत्वाच्चापरोक्षात्मिका, तत्त्वं वाक्यजबुद्धिक्त्।"

रंगः पृ० २३।



इहात्मक आनन्द का स्वरूप जहाँ एक ओर ब्रह्मानन्द से भिन्न होता है, वहाँ लौकिक सुखों से भी दूसरी ओर भिन्न होता है। उसकी लौकिक-सुख-भिन्नता का निरूपण पण्डितराज इन शब्दों में करते हैं:-

"आनन्दो ह्ययं न लौकिकसुखान्तरसाधारणः, अनन्तःकरणवृत्तिरूपत्वात्।" १

आनन्द का यह स्वरूप हमारे सामने लौकिक-आनन्द, काव्यानन्द एवं ब्रह्मानन्द--तीनों का परस्पर भेद निरूपित कर देता है। लौकिक आनन्द को पण्डितराज अन्तःकरण-वृत्ति रूप मानते हैं। हम पीछे देख चुके हैं कि चित्त का स्वभाव है विषयाकारा परिणतिवैजायिक अनुभूतियों में यही चित्तवृत्ति चैतन्य के आभास से आभासित हो कर कार्य करती है। उस दशा में मिलने वाला सुख आनन्द का शुद्ध रूप नहीं, आनन्द का आभास मात्र है। सुख-दुःखादि को वेदान्त भी सांख्य के समान ही चित्तवृत्ति-रूप ही मानता है। उन स्थितियों में जो भी आनन्द आभासित होता है, चैतन्य का नहीं, चैतन्याभास का होता है। अतः उसे हम वृत्ति-रूप ही कह सकते हैं। किन्तु ब्रह्मानन्द की स्थिति तो वृत्ति-शून्य होता है। वह आनन्द ही सत् एवं आत्मा का वास्तविक स्वरूप-भूत आनन्द होता है। काव्यानन्द पण्डितराज के अनुसार वृत्तियों का आनन्द नहीं, आत्म-स्वरूप का ही आनन्द है, अन्तर केवल इतना है कि वह अन्य उपाधियों से रहित होते हुए भी एक सात्विक एवं शुद्ध रत्यादि की उपाधि से उपहित होता है। जहाँ तक उसके स्वरूप का सम्बन्ध है, वह ब्रह्मानन्द का सजातीय है, लौकिक आनन्द का नहीं। काव्यानन्द स्वरूपतः आत्मानन्द है, अन्तर है एक कानि परदे का, एक अत्यन्त क्षीण एवं सत्व-प्रधान आवरण का। अतः पण्डितराज के दृष्टि-कोण से त्रिविध आनन्द को हम इस प्रकार रख सकते हैं:-

लौकिक सुख	आनन्दाभास	चैतन्याभास से आभासित अन्तःकरण की वृत्तियों के सम्मन्ध से विषय-सामंजस्य से मिलने वाला, अतः अन्तःकरण-वृत्ति-रूप।
ब्रह्मानन्द	आत्मानन्द	निरुपाधिक चैतन्य का स्वरूपानन्द।
काव्यानन्द	आत्मानन्द-सोपाधिक	सोपाधिक चैतन्य का आनन्द। विशुद्धरत्यादिको उपाधि से उपहित-चैतन्या-काराकारित चित्तवृत्ति का आनन्द।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह आनन्द का स्वरूप भी अभिनव के आनन्द का वेदान्ती रूप ही है। अभिनव के अनुसार जहाँ वैजायिक आनन्द भी तत्त्वतः आत्मानन्द है, वहाँ वेदान्त की दृष्टि से वह वृत्तियों का आनन्द है, आत्म-स्वरूप का नहीं। प्रत्येक बाह्य विषय की विमर्श का ही रूप मान कर, उसे प्रकाश-विमर्श-मयी सत्ता का ही रूप समझ कर, उसकी प्रत्येक स्थिति में मिलने वाले सुख को अभिनव तत्त्वतः एक कह सकते थे। उनके लिए अन्तर केवल आत्म-परामर्श की मात्रा का था, परवर्तिनी विषयीन्मुखिता का था। किन्तु वेदान्ती के लिए तो वृत्तियों का एवं विषयों का क्षेत्र आत्म-स्वरूप से सर्वथा भिन्न है। वह उनके आनन्द को आत्मानन्द का सजातीय नहीं कह सकता। पण्डितराज के दृष्टि-कोण में अभिनव से यही अन्तर पड़ता है। सबसे बड़ा बात तो यह है कि प्रत्यभिज्ञा-वादी अभिनव के लिए आनन्द आत्म-तत्त्व की एक शक्ति है, जब कि वेदान्ती जगन्नाथ के लिए वह आत्मा का स्वरूप।



अभिनव के रस-सिद्धान्त का निचोड़ पण्डितराज इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं:-

"इत्थं चाभिनवगुप्तमम्मटभट्टादिग्रन्थस्वारस्येन भूनावरणाचिद्विशिष्टो रत्यादिः  
स्वायो भावो रस इति स्थितम्"। १

अभिनव के सिद्धान्त को इतने संक्षेप और सच्चाई से प्रस्तुत करने के लिए शायद ही और अधिक उपयुक्त शब्द मिलते। हम पीछे अभिनव के विवेचन में देख चुके हैं कि वे रसानुभूति में संवित्-पक्ष की अपेक्षा चित्तवृत्ति-पक्ष को प्रधान मानते हैं। अतः पण्डितराज ने उनका मत "भूनावरणाचिद्विशिष्टो रत्यादिः रसः" इन शब्दों में ठीक ही प्रस्तुत किया है। इसमें दो अंश हैं- एक भूनावरणा चित् का अंश है, दूसरा रत्यादि चित्तवृत्ति का। चित्तवृत्ति अंश को पण्डितराज ने "विशेष्य" बनाया है, तथा चिदंश को "विशेषण"। अतः इस स्वरूप में चित्तवृत्ति-अंश को विशेष्य बना कर अभिनव के अनुरूप ही प्रधानता दी गयी है।

यहाँ पण्डितराज को अभिनव के सिद्धान्त पक्ष से कोई असहमति नहीं। रसानुभूति शुद्ध चैतन्य की स्थिति नहीं, उसमें चित् तथा चित्तवृत्ति के दो तत्व हैं, यह बात भट्ट नायक, तथा अभिनव गुप्त के समान पण्डितराज को भी स्वीकृत है। किन्तु अपनी वेदान्ती दृष्टि के कारण उन्हें इनकी विशेष्य-विशेषणात्मक स्थिति के सम्बन्ध में आपत्ति है। प्रश्न यह है कि रसानुभूति में जो आनन्द का अंश है, उसका श्रेय किस को दिया जाय ? चित् को या चित्तवृत्ति को ? वेदान्ती पण्डितराज के अनुसार आनन्द का आधार चित्-अंश के अतिरिक्त और कुछ ही हो नहीं सकता। चित्तवृत्ति तो स्वयं अज्ञान का एक विकार होने के कारण आनन्द का आधार बन ही नहीं सकती। पण्डितराज की दार्शनिक चेतना के अनुसार, "भूनावरणाचिद्विशिष्टो रत्यादिरेव रसः" ऐसा कहने में "रत्यादि" को "रस" कहना पड़ेगा, वह सर्वथा असंगत होगा। रस-रूप आनन्द तो आत्मा का स्वरूप है, अतः उसका श्रेय चिदंश के अतिरिक्त किसी और को दिया ही नहीं जा सकता। तब रस का स्वरूप "रत्यादि-विशिष्ट भूनावरणा चिद् एव रसः" इस प्रकार होना चाहिए। चित्-पक्ष को ही विशेष्य बनाना चाहिए।

आभास-वादी अभिनव के लिए यह अन्तर महत्व-हीन हो सकता था। उनके लिए चित् के समान ही चित्तवृत्ति भी एक ही सत्ता का रूप थी। विमर्श-रूपा चित्तवृत्ति को प्रकाश-विमर्श-मयी सत्ता का ही एक रूप समझना चाहिए। उनके अनुसार संविद् के स्थूल से स्थूल धरातलों पर उसी आत्मिक आनन्द की उपलब्धि हो सकती है। अतः यदि चित्तवृत्ति-तत्त्व को आनन्द का आधार मान कर विशेष्य का स्थान दे भी दिया जाय, तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं। किन्तु एक वेदान्ती के लिए चैतन्य तत्त्व को छोड़ अज्ञान के एक विकार को आनन्द की व्याख्या के लिए "विशेष्य" बनाना सह्य नहीं हो सकता। आनन्द को उपाधि-पक्ष से सम्बद्ध कर देने पर तो उसके मूल की आधार-भित्ति ही हिल जायगी। वह तो "रति-आदि अंश" को रस कहने की अपेक्षा "चित्-अंश" को ही रस कहना उपयुक्त समझेगा।

"रत्याद्यवच्छिन्ना भूनावरणा चिदेव रसः" उसकी यही मान्यता हो सकती है।



आभास-वादी अभिनव के अनुसार आनन्द आत्मा का रूप नहीं, उसकी एक शक्ति है— यह हम पीछे कह चुके हैं। किन्तु वेदान्ती पण्डितराज के अनुसार वह आत्मा का स्वरूप है। यह दृष्टि पण्डितराज की श्रुति-सम्मत दिखायी पड़ती है, अतः उसे वे छोड़ नहीं सकते। आनन्द का आत्म-तत्त्व से स्वरूप-सम्बन्ध है, यह दिखाने के लिए, और केवल यही दिखाने के लिए, पण्डित-राज श्रुति का सहारा लेते हैं:-

"रसो वै सः" १

"रसं ह्येवायं तन्वा नन्दीभवति" २

डा० साकिरन ने इस तथ्य को न समझने के कारण पण्डितराज की आलोचना की है।<sup>३</sup> मानो पण्डितराज भी डा० साहिब की भांति रस की हिस्ट्री लिख रहे हों।

इस प्रकार पण्डितराज द्वारा अभिनव के सिद्धान्त-पक्ष को स्वीकार कर लेने पर भी, उनके ही मत की मान्यता देकर उपस्थित करते हुए भी, उनके दार्शनिक पक्ष को अस्वीकृत कर दिया गया है। दोनों महान् आचार्यों के रस-विषयक दृष्टि-कोणों में यह एक बड़ी भारी दार्शनिक टक्कर है। वेदान्त और शैव दर्शन में कौन सा श्रेयस्कर है, और साधक को कौन सा सरलतया परमार्थ-प्राप्ति करा सकेगा, अथवा किसी दार्शनिक स्थिति अधिक सबल है— यह सब विवेचन 'रस शोध-प्रबन्ध' का विषय नहीं। तत्त्व-विज्ञानियों के लिए मूल ग्रन्थों का द्वार खुला है। हमारे सामने तो प्रश्न रस की दार्शनिक व्याख्या का है। हम यहाँ कह सकते हैं कि रस के आनन्द तत्त्व की चैतन्य के प्रकृत रूप से सम्बद्ध करके पण्डितराज ने रस-विवेचन की सूक्ष्मता की चरम सीमा पर पहुँचा दिया, जहाँ से आगे बढ़ने को स्थान नहीं। आनन्द-तत्त्व की चित्ति के स्वरूप से सम्बद्ध कर के उन्होंने जो व्यवस्था दी है, उस तक केवल मनोविज्ञान के सहारे ही नहीं पहुँचा जा सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसी सूक्ष्म व्यवस्था के कारण हम अभिनव की अपेक्षा पण्डितराज के साथ हैं।

इस दार्शनिक मत-भेद के होते हुए भी पण्डितराज अभिनव से समझौता कर के व्यावहारिकता का मार्ग अपन सकते हैं। भारतीय दर्शनों में वेदान्ती सब से अधिक समझौता-वादी। पारमार्थिक सत्ता के विषय में वह किसी से समझौता नहीं करेगा, किन्तु व्यावहारिक धरातल पर वह सब के लिए कुछ न कुछ राह निकाल सकेगा। रस-प्रतीति भी एक व्यावहारिक

१-र०गं०:पृ० २३। तिल्लिरायी पणिच्चत्तु: २। ७।

२-र०गं०:पृ० २३।

<sup>३</sup>-But it must be distinctly understood that the two texts quoted above do not at all, in the context where they occur, contain the germs of the theories of Rasa conceived of developed by later writers on poetics. And to read into the text "Raso Vai Sah" etc. any of the later ideas, as Panditraj Jagannath does, believing in the ultimate authority of the Veda and seeking to obtain scriptural sanction for his views, is wholly unhistorical.

P.3. -- The Theories of Rasa and Dhvani: by A. Sankara



जगत् की ही प्रतीति है। पण्डितराज ने भी वेदान्त की अपेक्षा कुछ स्थूल त्रिक-दर्शन के साथ रस के विषय में समझौता स्वीकार कर लिया है:-

"सर्वथैव चास्या विशिष्टात्मनो विशेषणं विशेष्यं वा चिदंशमादाय नित्यत्वं स्वप्रकाशकत्वं च सिद्धम्, रत्याद्यंशमादाय त्वनित्यत्वमितरभास्यत्वं च"। १

आप चाहे भूनावरणचिद्विशिष्ट स्थायी को रस कहें या स्थाय्यवच्छिन्न भूनावरणा चित् को, रस में नित्यता, स्वप्रकाशता, एवं आनन्द का तत्त्व चिदंश का ही मानना होगा; अनित्यता, प्रकाशता का उत्तरदामों चित्तवृत्त्यंश ही बनाया जा सकता है। यह समझौता भी भाषा के क्रमों का है, व्यावहारिकता का है, दार्शनिक दृष्टि-कोण को परित्याग करते हुए नहीं अपनाया गया। पदावली और चेतना सब वेदान्ती है, प्रत्यभिज्ञावादी नहीं।

एक बात यहां विशेषतः उल्लेखनीय है। अब तक के रस के इतिहास में हमारे सामने रस के स्वरूप के विश्लेषण तो बहुत आते रहे हैं, किन्तु उसका स्वरूप प्रस्तुत करने वाली ऐसी कोई शाब्दावली नहीं आयी जिसे रस का ठीक-ठीक मानों में 'लक्षण' कह सकें। अभिनव द्वारा रस के स्वरूप की निरधारण किये शताब्दियां बीत चुकी थीं, किन्तु रस का शास्त्रीय लक्षण, जैसा की लक्षण की सूत्र-त्मक शैली होती है, कोई प्रस्तुत नहीं किया जा सका। पण्डितराज द्वारा यह आवश्यकता पूर्ण हुई। "स्थाय्यवच्छिन्ना भूनावरणा चिदेव रसः" इन शब्दों में रस का एक शास्त्रीय लक्षण निष्पन्न हुआ।

अब हम पण्डितराज द्वारा प्रस्तुत भट्ट नायक के मत की ओर आते हैं।

भट्ट नायक का भुक्ति-वादी मत

अभिनव गुप्त के वेदान्तीकृत अभिव्यक्ति-वाद के अनन्तर पण्डितराज ने भट्ट नायक का भुक्ति-वाद इन शब्दों में निरूपित किया है:-

"तादस्थेन रसप्रतीतावना स्वाधत्त्वम्; आत्मगतत्वेन तु प्रत्ययो दुर्घटः, शकुन्तलादीनां सामाजिकान्प्रत्यविभावत्वात्, विना विभावमनात्मनस्य रसादेरपूतिपत्तेः। न च कान्तात्वं साधारणाविभावतावच्छेदकमत्राप्यस्तीति वृच्चम्, अप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गितागम्यात्वप्रकारकज्ञानविरहस्य विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य विभावतावच्छेदकोटावश्यं निवेश्यत्वात्। अन्यथा स्वग्रादेरपि कान्तात्वादिना तत्त्वामत्तेः। एवमशौच्यत्वकापुरुषत्वादिज्ञानविरहस्य तथाविधस्य करुणारसादौ। तादृशज्ञानानुत्पादस्तु तत्प्रतिबन्धकान्तरनिर्वचनमन्तरेण दुरुपपादः। स्वात्मनि दुष्यन्तावधेदुर्दिशरेव तथेति चेत्, न; नायके घराधीरेत्यर्थो रत्वादेरात्मनि चाधुनिकत्वकापुरुषत्वादेर्वैधर्मस्य स्फुटं प्रतिपत्तेरभेदबोधस्यैव दुर्लभत्वात्। किंच केयं प्रतीतिः? प्रमाणान्तरानुपस्थानाच्छाब्दीति चेत्, न; व्यावहारिकशब्दान्तरजन्यनायकमिथुनवृत्तान्तवित्तीनामिवास्या अप्यवृत्त्यत्वापत्तेः। नापि मानसी, चिन्तोपनीतानां तेषामेव पदार्थानां मानस्याः प्रतीतेरस्या वैलक्षण्यात्। न च स्मृतिः, तथा प्रागनुभवात्।

"तस्मादभिधया निवेदिताः पदार्था भावकत्वव्यापारेणागम्यत्वादिरसविरोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेणावस्थाप्यन्ते। एवं साधारणीकृतेषु दुष्यन्तशकुन्तलादेशकालवयोवस्थादिषु पङ्क्तौ पूर्वव्यापारमहिम्नि, तृतीयस्य भोगकृत्वव्यापारस्य महिम्ना निगार्णयोरवस्तमसोरुद्विगतसत्त्वजनितेन निवर्चितस्वभावनिरवृत्तिविश्रान्तिलक्षणेन २ साक्षात्कारेण विजयीकृतो भावनोपनीतः साधारणात्मा रत्यादिः स्थायी भावी रसः।



जहाँ तक भट्ट नायक के मत से परिचय प्राप्त करने की बात है, हम पीछे उसे पा ही चुके हैं। यहाँ केवल पण्डितराज द्वारा उसके उपस्थापन की बात है। हम देखते हैं कि उन्होंने भट्ट नायक के मत को मम्मट की अपेक्षा और अधिक उभार कर प्रस्तुत किया है। उसमें साधारणीकरण की सीमाएँ तथा तादात्म्य की अनावश्यकता और भी स्पष्ट होकर सामने आ गयी हैं। भावकत्व व्यापार की आवश्यकता के लिए नौ पूर्व-पक्षीय मान्यताएँ भट्ट नायक ने निराकरण के हेतु प्रस्तुत की थीं, उनमें साधारणीकरण की लेकर विरोध पड़ता था। पण्डितराज ने भी उस विरोध की सम्भावना की है, ऐसा प्रतीत होता है। तभी उन्होंने उसका समाधान करने की एक नवीन तर्क प्रस्तुत किया है। साधारणीकरण के द्वारा कान्तात्व-आदि साधारण धर्मों के जागे आ जाने भर से सामाजिक की रसानुभूति नहीं हो सकती। विभावों के विषय में सामाजिक की चेतना में ऐसा कोई ज्ञान विभव-के-नर-में नहीं आना चाहिए जो किसी प्रकार से उसके प्रति अगम्यात्व-आदि का भावना जगाता हो। ऐसे ज्ञान का प्रतिबन्ध होना ही होना चाहिए। साधारणीकरण के साथ इस प्रकार के रसानुभूयी ज्ञान के प्रतिबन्धन के लिए ही भावकत्व-व्यापार की उद्भावना भट्ट नायक करते हैं। प्रतीत होता है, पण्डितराज भी यह मान कर चले हैं कि भट्ट नायक से पूर्व ही साधारणीकरण की उद्भावना हो चुकी थी। किन्तु उस अधूरे साधारणीकरण से तो कुछ नहीं बनता। इसी कारण भट्ट नायक अपेक्षाकृत एक भावकत्व व्यापार की उद्भावना करते हैं, जिसमें साधारणीकरण भी अन्तर्निविष्ट है। पण्डितराज द्वारा प्रयुक्त "एवं" शब्द यही बताता है कि इस प्रकार के, विरोधी-ज्ञानों के प्रतिबन्धकत्व को शक्ति लेकर चलने वाले, और तब विभावादि का साधारणीकरण करने वाले भावकत्व-व्यापार के द्वारा रसानुभूति का मार्ग साफ़ होता है:-

"तस्मादभिध्या निवेदिताः पदार्था भावकत्वव्यापारेण अगम्यात्वादिरसविरोधिज्ञान-प्रतिबन्धद्वारा कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेणावस्थाप्यन्ते। एवं साधारणीकृतान् दुष्यन्त-शकुन्तलादेशकालक्योवस्थादिषु- - "। १

"भोग" को भी मम्मट की अपेक्षा परिमार्जित रूप में प्रस्तुत किया गया है। उसमें भट्ट नायक को मूल शीव चेतना को अधिक स्पष्टतः प्रतिपादित करने वाले लोचन के शब्दों को अपनाया गया है। मम्मट के समान "सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्ति" न कह कर लोचन के अनुरूप "निजचित्तैवभावनिर्वृतिलक्षणो न" कहा गया है। निस्सन्देह पण्डितराज के शब्द मम्मट की अपेक्षा असंदिग्ध हैं। मम्मट ने उसमें सत्त्वोद्रेक के साथ रजस्तमोनुबेध की बात छोड़ दी थी। यह बात विश्वनाथ जैसे लोगों को भ्रम का मार्ग खोल सकती थी। पण्डितराज ने उसे भी स्पष्ट रूप में लिया है। किन्तु मम्मट के समान ही चित्त की तीन स्थितियों के उत्प्रेषण वाली बात को उन्होंने भी छोड़ दिया है। अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त किया था। इस प्रकार भट्ट नायक का मत पण्डितराज द्वारा मम्मट की अपेक्षा अधिक ठीक, एवं अधिक परिमार्जित रूप में प्रस्तुत किया गया है, जिसमें मम्मट की अपेक्षा अधिक सफ़ाई आ गयी है।

पण्डितराज ने भट्ट नायक का मत उपस्थित तो उसकी मूल दार्शनिक चेतना के साथ किया है, किन्तु उसकी आलोचना अपनी दार्शनिक चेतना से प्रस्तुत की है। आलोचना में आलोचक के अविश्रुत दृष्टि-कोण का सन्निविष्ट हो जाना स्वतः स्वाभाविक है। आलोचना इस प्रकार की गयी है:-



"मतस्यैतस्य पूर्वस्मान्मताद्भावकत्वव्यापारान्तरस्वीकार एव विशेषः। भोगस्तु व्यक्तिः। भोगकृत्वं तु व्यञ्जनादविशिष्टम्।"अन्या तु सैव सरणिः।"१

संक्षेप में यह बड़े पते की आलोचना है। अभिनव सभी को स्वीकृत है, भट्ट नायक के भोग को अभिनव स्वीकार कर ही चुके थे। वह रस का प्रतीति पदा हो था। रही भोगकृत्वं नामक व्यापार की बात, वह व्यञ्जना से कुछ विशेषता नहीं रखता। बस भट्ट नायक के मत में एक भावकत्व को मानने की ही विशेषता रह जाती है, अर्थात् मीमांसा के प्रभाव की। इस मीमांसा के प्रभाव को निकाल दिया जाय, तो भट्ट नायक तथा अभिनव के मतों में कोई अन्तर नहीं। केवल रस-स्वरूप में ही अन्तर न हो यह बात नहीं, उसकी पद्धति में भी कोई मूल अन्तर नहीं रह जाता। "अन्या तु सैव सरणिः"। सरणि की भी एक मानना यही बताता है कि पण्डितराज भट्ट नायक तथा अभिनव की समान प्रक्रिया तथा समान दार्शनिक पृष्ठ-भूमि के तथ्य से अवगत हैं। रही भोग के स्वरूप की बात, सी उसे वे अभिनव के व्यक्ति-वाद से मिला कर अपनी दार्शनिक चेतना के अनुरूप "भूनावरणा चित्" के रूप में ही ग्रहण करते हैं। "व्यक्तिश्च भूनावरणा चित्"२। भट्ट नायक का मत भी तो उसी दार्शनिक चेतना को लिए था जो अभिनव में थी। अतः उससे भी वही दार्शनिक मत-भेद होना पण्डितराज के लिए स्वाभाविक था। अतः उसमें भी वे व्यक्ति-वाद के समान सुधार एवं विकल्प पेश कर देते हैं:-

"तत्र भुज्यमानो रत्यादिः, रत्यादिभोगो वेत्युभयमेव रसः"। ३

दूसरा विकल्प भोग को व्यक्ति मान कर, व्यक्ति को भूनावरणा चित् समझ कर, तथा चित् को ही आनन्द तत्व का व्यापार मान कर समझे जाने पर पण्डितराज के दार्शनिक मतभेद को संकेतित कर देता है।

अभिनव तथा भट्ट नायक के मतों के अनन्तर दो नवीन मतों की सर्जना जाती है।

दो नवीन मत

पण्डितराज ने रस-स्वरूप के विषय में दो नवीन मत प्रस्तुत किये हैं। इन के साथ उनके उद्भावक किसी आचार्य का नाम नहीं दिया गया। इनमें जो विचार-धारा निहित है, वह अपने समग्र रूप में किसी आचार्य के विवेचन में नहीं मिली। हमें इनके उद्भावक आचार्य के विषय में जानकारी देने वाले कोई बाह्य प्रमाण भी नहीं मिल सके।

इन मतों में रस के ऊपर साहित्यिक दृष्टि-कोण को छोड़, शुद्ध दार्शनिक दृष्टि डाली गयी है। ये मत पण्डितराज की ही चिन्तन-प्रधान दार्शनिक बुद्धि की प्रसूति प्रतीत होते हैं। रस-गंगाधर में पण्डितराज अनेक नवीन मतों के नाम से अपनी व्यक्ति-गत मान्यताएं प्रस्तुत करते हुए अन्य नवीन आचार्यों की नूतन मान्यताओं को प्राचीन आचार्यों के सामने वैकल्पिक स्थान देते हैं, उसी भांति अपने को भी कभी कभी उन्हीं नवीनों के बीच प्रकट कर देते हैं। इस प्रकार यह सम्भावना होती है कि यहां पण्डितराज ने रस की समस्या पर इन मतों में शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से विचार प्रस्तुत किया है।



दार्शनिक दृष्टि में रस एक ज्ञान-विशेष ही ठहरता है। भट्ट नायक का निराकरण करते हुए अभिनव ने ठीक ही कहा था कि रस है एक प्रतीति-विशेष ही, भले ही उसे भोग-रसना-चर्वणा-आदि कुछ भी नाम क्यों न दिया जाय। यह माना कि भुज्यमान या आस्वाद्यमान दशा में ही वह रस की संज्ञा प्राप्त करता है, वह पूर्व-सिद्ध नहीं होता; तथापि वह एक अनुभव-विशेष है, इस तथ्य से कौन इन्कार कर सकता है।

जब रस एक ज्ञान-विशेष है, तो दार्शनिक बुद्धि में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि वह कैसा ज्ञान है, यथार्थ या अयथार्थ? भारतीय दर्शनों में ज्ञान के प्रकार, स्वरूप, प्रमाण, प्रामाणिकता, प्रकाश्यता, प्रकाशकता आदि को लेकर बड़ी सूक्ष्मता के साथ विचार करते हुए अनेक मत प्रस्तुत किये गये हैं; तथापि सभी दर्शन यथार्थ एवं मिथ्या ज्ञान के दो वर्ग बना कर चलते ही हैं। तब रस-रूप ज्ञान के विषय में भी उक्त जिज्ञासा स्वाभाविक ही है।

दार्शनिक दृष्टि में रस अयथार्थ ज्ञान की ही कोटि में आता है। बात यह है कि रस कल्पना-क्षेत्र की वस्तु है। उसकी मूल सामग्री विभावादि हैं, जो स्वतः कल्पना की सर्जनाएँ हैं; उनको वास्तविक सत्ता कोई प्रमाणित नहीं कर सकता। अतः कोई वस्तु-वादी या आत्म-वादी दार्शनिक रस की प्रमा या तत्त्व-ज्ञान की कोटि में तो रस ही नहीं सकता। तब उसे अयथार्थ ज्ञान की कोटि में ही रखा जायगा। यथार्थ और अयथार्थ, या तत्त्व-ज्ञान तथा भ्रमात्मक-ज्ञान के बीच उसके लिए कोई स्वतन्त्र स्थान बनाया जा सकता था, किन्तु भारतीय दर्शन की परम्परा में उसकी सर्वथा स्वतन्त्र सत्ता के लिए किसी ने प्रयत्न नहीं किया। यह तो साहित्यिक हो रहे जो मिथ्या ज्ञानों के वर्ग में अपने लिए एक उत्कृष्ट एवं कौमल स्थान चुन कर, उसे अन्य लौकिक संवेदनों से विलक्षण एवं अलौकिक कह कर सन्तोष करते रहे।

तो, साहित्य के विद्यार्थी को चाहे यह अप्रिय लगता हो, किन्तु यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि शुद्ध दार्शनिक दृष्टि में रस भ्रमात्मक ज्ञान की कोटि में ही आता है। और, फिर रस में एक भ्रमात्मक अंश की स्वीकृति साहित्यिक भी किसी न किसी प्रकार से देता है।

इन दोनों नवीन मतों में रस को एक भ्रमात्मक ज्ञान मान कर ही उस पर दार्शनिक दृष्टि से विचार प्रस्तुत किया गया है।

"भ्रम" के विषय में भारतीय दर्शन एक-मत नहीं है, दर्शन का विद्यार्थी इस तथ्य से परिचित है। उसके विषय में अनेक स्यातियाँ प्रचलित हैं। विज्ञानवादियों की "आत्म-स्याति", शून्य-वादियों की "असत्स्याति", प्रभाकर मीमांसकों की "अस्याति", भाट्ट मीमांसकों की "विपरीत-स्याति", न्यायियों की "अन्यथा-स्याति", रामानुजीयों की "सत्स्याति", वेदान्तियों की "अनिर्वचनीयता-स्याति", इस प्रकार अनेक स्यातियों की चर्चा भ्रमात्मक ज्ञान के विषय में हमें दार्शनिक ग्रन्थों में मिलती है। कौन दर्शन भ्रम के विषय में क्या दृष्टि-कोण रखता है, इससे हमारा यहाँ विशेष प्रयोजन वरन् संबंधित बात है— एक वह वर्ग है जो भ्रम को "अनिर्वचनीयता" कहता है, दूसरा वह वर्ग है जो भ्रम के स्वरूप की किसी न किसी प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत करता है। अनिर्वचनीयतावादी वर्ग में सर्व-प्रमुख वेदान्त है। सांख्य एवं योग-वादियों ने परिणामवादी होते हुए भी, इस विषय में विवर्तवादी वेदान्तियों के अनिर्वचनीयता-वाद को



ही स्वीकार कर लिया है। दूसरे वर्ग में, जिसे हम 'निर्वचनीयता-वादी' नाम दे सकते हैं, नैयायिक बौद्ध, मीमांसक आदि आते हैं। इस वर्ग के लोगों की धारणाएं समान न होते हुए भी, वे सब इस बात में सहमत हैं कि भ्रम अव्याख्येय या अनिर्वचनीय नहीं। वे सब किसी न किसी प्रकार से उसकी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। यों तो उसकी व्याख्या वेदान्ती भी करता है, किन्तु उसकी व्याख्या के अनुसार भ्रम का अधिकांश अनिर्वचनीय ही रह जाता है।

पण्डितराज ने इन दोनों नवीन मतों में रस को एकभ्रमात्मक ज्ञान स्वीकार कर के क्रमशः अनिर्वचनीयतावादी तथा निर्वचनीयतावादी दृष्टि-कोण से व्याख्या प्रस्तुत की है। द्वितीय निर्वचनीयतावादी मत में हम देखेंगे कि न्याय का सहारा लिया गया है। इस दृष्टि से हम इस वर्ग का प्रतिनिधि न्याय को कह सकते हैं। इस प्रकार यदि कुछ और सीमित क्षेत्र चुनना ही पसन्द हो तो प्रथम मत को हम वेदान्तानुकूल तथा द्वितीय को न्यायानुकूल कह सकते हैं।

दाशानिकों ने व्यञ्जना-शक्ति को अपने क्षेत्र में स्वीकृति नहीं दी। अथवा यों कहिए, उन्हें उसकी आवश्यकता ही नहीं हुई। वह साहित्यिकों की ही प्रसूति रही, और साहित्यिकों की ही सम्पत्ति। जहाँ तक दार्शनिक-चेतना-प्रधान साहित्यकारों का प्रश्न है, यही दिखाया पड़ता है कि वेदान्ती तथा शैव दार्शनिक व्यञ्जना से सरलता से समझौता कर सके। इन में भी जो मीमांसक या नैयायिक थे, वे उससे अलग रहने का प्रयत्न करते रहे। सम्भवतः पण्डितराज ने यह देख कर प्रथम अनिर्वचनीयतावादी मत में व्यञ्जना का भी सहारा लिया है, किन्तु दूसरे वर्ग के साथ उसे नहीं अपनाया।

दोनों मतों के उपस्थापन की शैली से ऐसा प्रतीत होता है कि पण्डितराज की जो भी निजी सहानुभूति है, प्रथम मत के साथ है। द्वितीय मत के साथ अपेक्षाकृत तटस्थता है। वैसे तो वे वेदान्त के साथ न्याय के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। रसगंगाधर न्याय की छाया से भरा पड़ा है। तथापि, सम्भवतः व्यञ्जना के कारण, उनका निजीपन प्रथम मत के साथ व्यक्त होता है। द्वितीय मत की कुछ समीक्षात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

अभिनव के वेदान्तोक्त मत में तथा इन दोनों नवीन मतों में 'अतीतिक भावना-व्यापार' की समान कल्पना है। अन्तर उसके प्रति दार्शनिक दृष्टि का है। दार्शनिक नवीन मतों में उसे दोष कह कर अपनाया गया है, अभिनव के मत में वैसे ही, साहित्यिक अभिरुचि के साथ। यह दृष्टि-कोण की समानता प्रकट करती है कि इन दोनों मतों की कल्पना पण्डितराज की ही चिन्तन-प्रधान बुद्धि द्वारा हुई है।

निष्कर्ष यह कि इन दोनों नवीन मतों की सृष्टि पण्डितराज द्वारा ही कुछ दार्शनिक प्रश्नों की जिज्ञासाओं के फल-स्वरूप हुई है। इनमें प्रथम में वेदान्ती अनिर्वचनीयता-वाद है, जिसमें व्यञ्जना साथ है। द्वितीय में वेदान्तोत्तर निर्वचनीयता-वादी दर्शनों का दृष्टि-कोण है, जिसमें नैयायिक चेतना प्रमुख है। दोनों में रस भ्रम-रूप ज्ञान-विशेष है। सामान्य प्रक्रिया समान है। इस परिचय के साथ अब हम इन दोनों मतों में निरूपित रस-स्वरूप के परिचय की ओर आते हैं।

१- "शुक्तिकायां रजतभ्रमस्यैव शुक्तिविवर्तोपादानमिति विवर्तवादः सांख्यैः पातञ्जलैरद्वैतवेदान्तिभिश्चाद्रियते। न तु परिणामवादिभिरपि सांख्यैः पातञ्जलैश्च तत्र परिणामवाद आदृतः। इयमेवा-निर्वचनीयस्यातिरिक्त्युच्यते, शुक्ती रजतप्रतीतिसमये निर्वचनीयरजतोत्पत्तिस्वीकारात्"।

सर्वदर्शनसंग्रहः उपोद्घातः पृ० ५।



## प्रथम नवीन मत

हम अभी कह चुके हैं, इस मत में रस को भ्रमात्मक ज्ञान मान कर, व्यञ्जना को स्वाकार करते हुए उसकी वेदान्त-सम्मत अनिर्वचनीयता-वादी व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। मत इस प्रकार है:-

"काव्ये नाट्ये च कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यञ्जन-व्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामन्तरं च सहृदयतोत्लासितस्य भावना-विशोणरूपस्य दोषस्य महिम्ना कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मनि, अज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिशकल इव रजतखण्डः समुत्पन्नमानो निर्वचनीयः साक्षाभास्यशकुन्तलादिविषयकरत्यादिविषयक-रत्यादिरेव रसः।" १

काव्य में तो कवि के रमणीय शब्दों द्वारा तथा नाट्य में नट के कलात्मक अभिनय के द्वारा विभावादि-सामग्री उपस्थित की जाती है। इस सामग्री से व्यञ्जना के द्वारा सामाजिक दुष्यन्त में शकुन्तला-विषयक रति का ज्ञान कर लेता है। इस दुष्यन्त-गत रति के ज्ञान के अनन्तर सामाजिक का सहृदयता के फल-स्वरूप उसमें एक भावना-विशोण उद्बुद्ध हो जाती है। जाधुनिक पदावली में कहें तो कह सकते हैं कि सामाजिक की भावुकता के फल-स्वरूप काव्योचित सामग्री सामने आने पर उसकी कल्पना-शक्ति उद्बुद्ध हो जाती है। यह भावना या कल्पना उसे यथार्थ के परातल से वंचित कर देती है, अतः दार्शनिक दृष्टि में एक दोष हो कही जायगी। इसी भावना-रूप दोष की महिमा से सामाजिक अपने को दुष्यन्तत्व से अवच्छिन्न पाता है, अर्थात् उक्त कल्पना के प्रभाव से सामाजिक की चेतना अपने को दुष्यन्त से अभिन्न पाती है। तब जिस प्रकार शुक्ति में अनिर्वचनीय रजत उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार वास्तविक दुष्यन्तत्व से अवच्छिन्न सामाजिक-चेतना में शकुन्तला-विषयक रति उत्पन्न हो जाती है। यद्यपि सामाजिक के मानस में शकुन्तलादि विभावों की वास्तविक स्थिति नहीं, किन्तु साक्षा-भास्यता के सिद्धान्त के अनुसार वास्तविक भी शकुन्तलादि जन्तःकरण में प्रकाशित होते हैं, और तद्विषयक रति भी उद्बुद्ध होती है। यह रति पारमार्थिकता सत् नहीं कही जा सकती, अनुभूयमान होने के कारण असत् भी नहीं, अतः यह शुक्ति-गत रजत-भ्रम के समान ही अनिर्वचनीय होती है। प्रथम दुष्यन्त-गत-रति-ज्ञान के अनन्तर यह सामाजिक को अज्ञानावच्छिन्न आत्मा में अनिर्वचनीयतया समुत्पन्न रति है। यही रस है।

"सत्" तथा "असत्" शब्दों से अनिर्वचनीय यह रति भावना-रूप दोष के फल-स्वरूप उत्पन्न होने के कारण, उस दोष की समाप्ति के साथ ही समाप्त भी हो जाती है। रजत का भ्रम शुक्ति-विषयक अज्ञान की समाप्ति के साथ ही निवृत्त हो जाता है।

यहाँ प्रश्न उठता है, कि इस भ्रम-रूपा अनिर्वचनीय रति की रस कह कर उसे "आनन्द-रूप" कैसे कहा जा सकेगा? तो उसका समाधान यह है कि इस अनिर्वचनीय रति की प्रतीति के अव्यवहित अनन्तर लोकोत्तर आह्लाद की अनुभूति होती है। हम इस रति की उस परवर्ती आनन्द से भिन्न कर के नहीं देख पाते, अतः इसे ही आनन्द-रूप कहने लगते हैं। वस्तुतः आनन्द तत्त्व तो इस अनिर्वचनीय रति की परवर्तिनी अनुभूति है। दोनों के भेदाग्रह से इस रति की ही सुख-रूप कहा जाने लगता है। २

१- रस-गंगाधरः पृ० २१।

२- अर्थात् च कार्यो दोषविशोणस्य नाशश्च तन्नाशश्च। "वहीः वहीः पृ० २६।

३- "स्वीत्तरभाविना लोकोत्तराह्लादेन भेदाग्रहात् सुखपदं यदुच्यते भवति।"



रस अज्ञानावच्छिन्न आत्मा में उद्भूत एक कर्म अनिर्वचनीय एवं कल्पित साक्षा-भास्य रति है। इसे "व्यंग्य" कह दिया जाता है। वस्तुतः व्यंग्य तो इससे पूर्व ही उत्पन्न-मत्त वह रति है जिसकी व्यञ्जना-व्यापार के सहारे सामाजिक दुष्यन्त में ग्रहण करता है। उस व्यंग्य तथा इस साक्षाभास्य रति के भेद को ग्रहण न किये जा सकने के कारण इसे भी "व्यंग्य" कह दिया जाता है। उसी प्रथम रति का ही निर्वचन किया जा सकता है, उसी की सामग्री वर्णनीय होती है, अतः वही वर्णनीय होती है। किन्तु दोनों में भेद-ग्रहण न हो पाने से ही इस अनिर्वचनीय रति को भी वर्णनीय कह दिया जाता है।<sup>१</sup>

इस विवेचन में दो चीजों को अनिर्वचनीय कहा गया है- एक उस कल्पित दुष्यन्तत्व को, जिससे प्रमातृ-चेतना अवच्छिन्न होती है; दूसरे उस रति को जो विभाव-विषयक होती है तथा प्रमातृ-चेतना में उत्पन्न होती है। दोनों ही श्रुति-गत रति के समान सदसदनिर्वचनीय हैं। पारमार्थिक न होते हुए भी साक्षाभास्य हैं। जहाँ तक प्रमातृ-चेतना के कल्पित दुष्यन्तत्व से अवच्छिन्न होने की बात आती है, उसमें तादात्म्य-वाद की स्वोक्ति आ जाती है। पण्डितराज उसका स्वरूप इस प्रकार विवेचित करते हैं:-

"अवच्छादकं दुष्यन्तत्वमप्यनिर्वचनीयमेव। अवच्छादकत्वं च रत्यादिविशिष्टबोधे विशीष्य-तावच्छेदम्"।<sup>२</sup>

शकुन्तला-विषयक रति का सम्बन्ध प्रमातृ-चेतना से जुड़ सके, उस विशेषण-रूप रति का विशेष्य प्रमातृ-चेतना बन सके -- वस, अवच्छादकत्व का इतना ही तात्पर्य है। इस प्रकार का अवच्छादकत्व भी कल्पित होने के कारण "अनिर्वचनीय" ही कहा जा सकता है।

इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर कई प्रकार की समस्याएँ उठ पड़ सकती हैं। रस की स्व-गत अश्रुश्रेयश्रयश्रय मानने पर, शकुन्तला-सीतादि सामाजिक के विभाव कैसे हो सकते हैं? पर-गत माने जाने पर उसमें प्रमाता की अनास्वाद्यता होगी, आश्रय के साथ तादात्म्य माने जाने पर प्रत्यक्ष अनुभव बाधक होगा -- आदि-आदि आपत्तियाँ प्राचीन समीक्षकों के सामने आती थीं। इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर वैसी समस्याएँ नहीं उठतीं। भावना-रूप दोष से प्रमातृ-चेतना को कल्पित-दुष्यन्तत्व से अवच्छिन्न मान लेने पर शकुन्तलादि-विषयक रति का सामाजिक से सम्बन्ध मानलेने में कोई बाधा नहीं रह जाती। रस भावना-रूप दोष की कल्पना की जाता तो क्या प्राचीन आचार्यों का मान्य साधारणीकरण विना दोष-कल्पना के हो जाता है। काव्य के शब्द तो शकुन्तला को शकुन्तला के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं, बिना वस्तु-स्थिति से दूर से जाने वाली भावना के आप उन्हीं साधारणीकृत रूप में समझ ही कैसे सकते हैं? और, जब भावना-रूप एक दोष की कल्पना करना ही है, तो फिर उसी के आधार पर दुष्यन्तादि के साथ तादात्म्य एवं अभेद-बुद्धि भी सहज मानी जा सकती है। साधारणीकरण के साथ साथ अगम्यात्व-वैसे ज्ञानों के लिए किसी प्रतिबन्धक तत्व की आवश्यकता वहाँ और पड़ती है। आश्रय पात्र के साथ अभेद का सिद्धान्त मान लेने पर उक्त-प्रकारक ज्ञानों का प्रति-बन्धन इसी अभेद-बुद्धि से हो जाता है।

१-"स्वपूर्वोपस्थितेन रत्यादिना तदग्रहात् तद्वर्तित्वेनैकत्वा ध्वनानाद् व्यंग्यो वर्णनीयश्चोच्यते"

रस-गंगाधरः पृ० २६।

२-रस-गंगाधरः पृ० २६।

३- अन्तिम पृष्ठ पर।



इस सिद्धान्त में विषय-पक्ष के साधारणीकरण से भी अधिक बल विषयी के के आश्रय के साथ तादात्म्य पर दिया गया है। इस तादात्म्य को स्वीकार करने पर करुणादि रसों की अनुभूति से सम्बन्धित वही पुरना प्रश्न उठता है, कि सामाजिक में भी तब शोकादि भावों की अनुभूति में दुःख होना चाहिए, न कि आनन्द। इसका उत्तर अनुभव पर छोड़ दिया गया है, शास्त्र और तर्क पर नहीं। करुणादि रसों की अनुभूति में यदि आपको अमिश्रित आनन्द मिलता है, तो आप यह मान लीजिए कि काव्य-व्यापार ही ऐसा लोकोत्तर होता है कि वह जिस प्रकार लोकोत्तर आह्लाद देता है, वैसे ही दुःख का प्रतिबन्ध भी करता है। अतः करुणादि में विशुद्ध आनन्द मिलजाता है। पर, यदि आप का अनुभव यह कहता है कि करुणा की अनुभूति में आपको अमिश्रित नहीं, दुःख-मिश्रित आनन्द मिलता है, तो आप उक्त प्रकार की कल्पना मत कीजिए। गहरा आनन्दानुभूति के साथ उसको दुःख-रेखाएँ भी मिली रह कर लटकती नहीं। उनमें सामाजिक को पुनः पुनः प्रवृत्ति इस लिए ही होती है कि वहाँ "इष्ट" बहुत अधिक है, "अनिष्ट" अंश बहुत नगण्य।

गत पृष्ठ का अवशिष्ट उद्धरण:-

"एतेन दुष्यन्तादिनिष्ठस्य रसिदेरनास्वाद्यत्वान्न रसत्वम्। स्वनिष्ठस्य तु शकुन्तलादिभिरतत्स-  
न्निधिभिः कथमभिव्यक्तिः? स्वस्मिन् दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिस्तु बाधबुद्धिपरान्वितत्वादिक्मपास्तम्।  
यदपि विभावादीनां साधारण्यं प्राचीनैरुक्तं, तदपि काव्येन शकुन्तलादिशब्दैः शकुन्तलात्वा-  
दिप्रकारकबोधनकैः प्रतिपन्मानेषु शकुन्तलादिषु दोषविशेषकल्पनं विना दुरुपपादम्। अतो न  
वश्यकल्प्ये दोषविशेषो तेनैव स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्धिरपि सुपपादा।" रंगः पृ० २५।  
"शकुन्तलादौ कथम्यात्वज्ञानोत्पादस्तु स्वात्मनि दुष्यन्ताद्यभेदबुद्ध्या प्रतिबध्यते।" वही पृ० २६।

१- "नन्वेवमपि रतेरस्तु नाम दुष्यन्त इव सद्दयेपि सुखजनकता, करुणारसादिषु तु स्थायिनः  
शोकादेर्दुःखजनकता प्रसिध्यस्य कथमिव सद्दयाह्लादहेतुत्वम्? प्रत्युत नायक इव सद्दयेपि दुःख-  
जननस्यैवौचित्यात्। न च सत्यस्य शोकादेर्दुःखजनकत्वं यच्छतं, न कल्पितस्येति नायकानामेव दुःखं,  
न सद्दयस्येति वाच्यम्। सपरिभक्त्या अनुत्पादकतापत्तेः। सद्दये रतेरपि कल्पितत्वेन सुखजनकतानुपप-  
त्तिश्चेति चेत्, सत्यम्।

शृंगारप्रधानकाव्येभ्य इव करुणारसप्रधानकाव्येभ्योपि यदि केवलाह्लाद एव सद्दयप्रमाणक-  
स्तदा कार्यानुरोधेन कारणस्य कल्पनीयत्वात् लोकोत्तरकाव्यव्यापारस्यैवाह्लादजनकत्वमिव  
दुःखप्रतिबन्धकत्वमपि कल्पनीयम्। - - - -। केवलाह्लादवादिनां तु प्रवृत्तिरप्रत्ययैव। अनुपातादयोपि  
तत्तज्जानन्दानुभवस्वाभावात्, न तु दुःखात्। अत एव भावद्वयानां भावद्वयानिदश्रुपातादय उपपद्यन्ते  
न हि तत्र तात्त्विकं दुःखानुभवो स्ति। - - - -। अयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा  
यत्प्रयोज्या अरमणीया अपि शोकादयः पदार्थाः आह्लादकमूलिकं जनयन्ति। विलक्षणो हि  
कमनीयः काव्यव्यापारश्च आस्वादः प्रमाणान्तरजादनुभवात्।

- - - अथ यदि आह्लाद इव दुःखमपि प्रमाणसिद्धं, तदा प्रतिबन्धकत्वं न कल्पनीयम्।  
अथ तत्र क्वाणां कर्तुं, सद्दयानां च श्रोतुं कथं प्रवृत्तिः? अनिष्टसाधनेन निवृत्तेरुचितत्वात्। "इति  
चेत्, इष्टसाधितत्वादिनिष्ठस्य च न्यूनत्वाच्च नन्दवलेपनादाविव प्रवृत्तेरुपपत्तेः।



आश्रय के साथ तादात्म्य मानने पर यहां और भी कुछ मनोवैज्ञानिक प्रश्न उठाये जा सकते हैं। यदि प्रणव या पाठक पुरुष है तो वह शकुन्तला की विरहानुभूति में उससे किस प्रकार तादात्म्य कर सकेगा ? यदि वह स्त्री है तो उसका दुष्पन्त के साथ तादात्म्य कैसे स्थापित हो सकेगा ? यण्डितराज ने न इन प्रश्नों को उठाया ही है, न इस प्रकार का कोई विवेचन ही प्रस्तुत किया है। सम्भवतः उनका ध्यान इस ओर नहीं गया। यदि इस ओर उनका ध्यान जाता, तो वे उसका कोई दार्शनिक उत्तर अवश्य देते। वे कह सकते थे, भावना-दोष की प्रमाणा से प्रमाता के विपरीत-सिद्धांगी होने पर भी स्वात्मा में आश्रय प्राप्त का अवलोकन निम्न सकता है। आत्म-चेतना की मौलिक एकता के आधार पर भी इस समस्या को वे सुलभ कर सकते थे। आप कह सकते हैं, भले ही आत्मा अपने पारमार्थिक रूप में अखण्ड हो, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से तो प्रमातृ-चेतना तो व्यक्ति-गत संस्कारों से आबद्ध हो जाती है। इन संस्कारों में स्वोत्पत्त तथा पुंस्त्व के संस्कार भी जाते हैं। इसका भी वे यह उत्तर दे सकते थे कि इन व्यक्ति-गत सामाज्यों से ऊपर उठ कर ही तो रसानुभूति की स्थिति आती है। तब उन सामाज्यों की बाधा वहां स्वाकार करना उचित नहीं। फिर भी इस प्रकार के उत्तरों से आज के मनोविज्ञान के आग्रही मन को पूरा सन्तोष होना कठिन ही है। अभिनव के मत में भी आज के साथ कुछ तादात्म्य-जैसी बात आती है। किन्तु वह तादात्म्य दोनों ओर साधारण भूमि ला कर होता है। अर्थात् निर्विशेष प्रमातृ-चेतना का निर्विशेष आश्रय के साथ तादात्म्य। इस तादात्म्य का अर्थ समानुभूति तक ही रह जाता है। किन्तु प्रस्तुत नवीन मत में तो आश्रय प्राप्त के विशेष-रूप के स्थान की बात स्पष्ट नहीं की गयी है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि यण्डितराज ने इस अवलोकन को अनिर्वचनीय कहा है। और उसको सीमा रक्ष्यादि को विशेषता तक ही माना है। इस प्रकार के सोमित तादात्म्य के मानने में भी विशेष आपत्ति नहीं हो सकती। इस नवीन मत के विवेचन के अनन्तर द्वितीय नवीन मत का विवेचन आता है।

### द्वितीय नवीन मत

इस द्वितीय नवीन मत में रस को माना तो भ्रम-रूप हो गया है, किन्तु उसे अनिर्वचनीय नहीं माना गया। साथ ही, इसमें व्यंजना को भी स्वीकृति नहीं दी गयी। आवश्यकता पड़ने पर कुछ नैयायिक प्रणाली का सहारा लिया गया है। पूर्व-मत के भावना-रूप दोष को यह भी स्वीकार करता है। मत इन शब्दों में निरूपित है:-

"व्यंजनव्यापारस्यानिर्वचनीयस्यातेश्चानभ्युपगमेऽपि प्रागुक्तदोषमतिम्ना स्वात्मनि दुष्पन्तादितादात्म्याकाङ्क्षो शकुन्तलादिविषयकरत्यादिमदभेदबोधो मानसः काव्याभावना-वन्मा विलक्षणविषयवाशालो रसः।" १

काव्य के प्रभाव तथा सहृदय को सहृदयता के योग से उसमें भावना या कल्पना-स्थापित उद्बुद्ध हो जाती है, जिसे पाँछ दोष-रूप स्वीकार किया गया है। इसी के फल-स्वरूप प्रमाता का दुष्पन्तादि के साथ तादात्म्य हो जाता है। प्रमाता को इस तादात्म्य की अनुभूति में यह चेतना होती है कि मैं शकुन्तलादि-विषयकर रति-जदि भावों को अनुभव करने वाले व्यक्ति से अभिन्न हूँ। रस एक मानस बोध है, जिसमें शकुन्तलादि-सम्बन्धनी रति का भ्रम प्रमाता को अपने में होता है। "दुष्पन्तादितादात्म्याकाङ्क्षो शकुन्तलादिविषयकरत्यादिमदभेदबोधो मानसः"



इस मत के अनुसार रस एक मात्र बोध है। वह रमणीय का वार्थ की भावना से उत्पन्न होता है। अन्य अर्थार्थ ज्ञान, जैसे स्वप्न-गत, का वार्थ की भावना से नहीं आते, अतः वे इस प्रकार के ज्ञान-दायी नहीं होते। सधे शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि यह प्रमात्मक होते हुए भी भावना-जन्य या कल्पना-जन्य होने के कारण अन्य प्रमात्मक ज्ञानों से विलक्षण होता है।<sup>१</sup>

यहां भी प्रश्न उठ सकता है, शकुन्तलादि-विषयक रति प्रमाता में विद्यमान ही नहीं, तो फिर अविद्यमान वस्तु का आस्वादन कैसा ? उत्तर है- यह रस तो भ्रम-रूप माना गया है। भ्रम के लिए वस्तु का वास्तविक सत्ता अपेक्षित नहीं होती। शक्ति में जब दृष्टा को रस का प्रमात्मक ज्ञान होता है, तब वहां रस की क्या वास्तविक सत्ता होती है ? इसी अविद्यमान, शकुन्तलादि-विषयक रति के अनुभव को ध्यान में रख कर रस का आस्वादन या अनुभव कहा जाता है।<sup>२</sup>

इस मत के अनुसार जो तादात्म्य का स्वरूप निरूपित किया गया है, उसका विश्लेषण पण्डितराज तीन रूपों करते हैं:-

"एतैश्च स्वात्मनि दुष्यन्तत्वधर्मितावच्छेदकशकुन्तलादिविषयकरतिवैशिष्ट्यावगाहो, स्वात्मत्व-विशिष्टे शकुन्तलादिविषयकरतिविशिष्टदुष्यन्ततादात्म्यावगाहो, स्वात्मत्व-विशिष्टे दुष्यन्तत्वशकुन्तलाविषयकरत्योर्वैशिष्ट्यावगाहो वा त्रिविधोऽपि बोधो रस-पदार्थतयाऽभ्युपेतव्यः।"<sup>३</sup>

तात्पर्य यह कि इस मत का तादात्म्य मानने पर रस को निम्न तीन में से किसी एक रूप में ही स्वाकार करना पड़ेगा:-

१- रस वह प्रमात्मक ज्ञान है जिसमें प्रमाता अपने में ऐसी रति का सम्बन्ध अनुभव करता है जो शकुन्तला-विषयक होती है, तथा दुष्यन्त जिसका धर्मा होता है।

इस बोध में प्रमातृ-चेतना का एक विशिष्ट रति से सीधा सम्बन्ध जुड़ेगा।

२- रस वह प्रमात्मक ज्ञान है जिसमें प्रमाता अपने को ऐसे दुष्यन्त से अभिन्न अनुभव करता है जो शकुन्तला-विषयक रति से युक्त है।

इस बोध में प्रमातृ-चेतना का एक विशिष्ट आश्रय पात्र से सीधा सम्बन्ध जुड़ेगा।

३- रस वह प्रमात्मक ज्ञान है जिसमें प्रमाता अपने में एक ओर जो दुष्यन्तत्व का अनुभव करता है दूसरी ओर शकुन्तला-विषयक रति का।

इस बोध में तादात्म्य तथा रति दोनों का प्रमातृ-चेतना से साध ही सन्तुलित सम्बन्ध माना गया है।

१-"स्वप्नादिस्तु बोधो न काङ्क्षार्थचिन्तनजन्येति न रसः। तेन तत्र न तादृशाह्लादापत्तिः।

रस-गंगाधरः पृ० २७।

२-"एवमपि स्वस्मिन्नविलम्बितस्य रत्यादेरनुभवः कथं नाम स्यात् ? भवमानुसृत्य लौकिकसाक्षात्कारो रत्यादेः, मेतावश्यं विषयसद्भावोऽपेक्षणीयः स्यात्, अपितु भ्रमः। आस्वादनस्य रस-विषयकत्वव्यवहारस्तु रत्यादिविषयकत्वालम्बनः।" रस-गंगाधरः पृ० २७।

३-रस-गंगाधरः पृ० २७।



इन तीनों में से बोध का स्वरूप कुछ भी स्वीकार किया जाय, सब में समानता यह है कि रति को सभी में विशोषण का स्थान ही प्राप्त है। किसी न किसी रूप में प्रमातृ-चेतना विभावादि-विषयक रति से विशिष्ट होती है। अब यहां यह प्रश्न हो सकता है कि प्रमाता इस विभावादि-विषयक रति के ज्ञान की कौटि तक पहुंचता किस साधन से है ? अर्थात् शकुन्तला-विषयक रति दुष्यन्त में है, इस बात का ज्ञान उसे किस प्रकार होता है ? प्रथम नवीन मत में यह कार्य व्यंजना करती थी। "काव्ये नाट्ये च कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यंजनाव्यापारेण दुष्यन्तादी शकुन्तलादिरती गृह्यतायाम्"¹। किन्तु इस मत में तो व्यंजना की स्वीकार ही नहीं किया गया, तब यह कार्य किससे सम्पादित होगा ? उत्तर है, अनुमान से। इस अनुमान में अनुभावादि चेष्टाओं की सन्निध्य से रति का ज्ञान मान कर विभाव-विषयक रति का ग्रहण किया जा सकता है।² नाट्य में भी नटादि की चेष्टादि के आधार पर अनुमान किया जा सकता है।³

तब इस मत की स्थिति इस प्रकार है। नाट्य की चेष्टाओं-रूप लिङ्गों के आधार पर अनुमान से सामाजिक को शकुन्तलादि-विषयक रति का दुष्यन्तादि में ज्ञान होता है। फिर उसकी भावना या कल्पना-रूप दोष से सहृदय की भेद-प्रतीति समाप्त हो जाती है, और वह शकुन्तला-विषयक रति से विशिष्ट दुष्यन्त के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। इस रतिमान् के साथ अभेद-भावना के आते ही उसमें वस्तुतः अविद्यमान भी रति का सम्बन्ध जुड़ जाता है। यहाँ "मानस रतिमदभेद-बोध" रहता है।⁴

इस प्रकार इस मत में रस की भ्रम मान कर भी उसके स्वरूप की व्याख्या का प्रयत्न किया गया है। अतः यह दूसरे "निर्वचनीयता-वादी" वर्ग से सम्बन्ध रखता प्रतीत होता है। इसमें व्यंजना की स्वीकार न करके उसके स्थान पर अनुमान-प्रक्रिया की स्वीकार किया गया है, अतः यह "जन्यता-स्वाति-वादी" नैयायिकों के अधिक समीप पड़ जाता है। रस-रूप भ्रम को "मानस बोध" मानना भी न्याय के अनुकूल हो है। उनके अनुसार समस्त अनुभवों का आधार मन ही चरम इन्द्रिय है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन दो नवीन मतों में पण्डितराज शुद्ध दार्शनिक दृष्टि को दो वर्गों में विभाजित करके रस की समस्या पर अपना चिन्तन-प्रधान विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

१-रस-गंगाधरः पृ० २५।

२-"अतएव रतेर्विशोषणीभूतायाः शब्दादप्रतीतत्वाद् व्यंजनयाश्च तत्प्रत्ययामिकाया अनभ्युपगमाच्चेष्टादिलिङ्गकमादौ विशोषणज्ञानायमनुमानमभ्युपेयम्।" रस-गंगाधरः पृ० २७।

३- "ततश्च नटादीनां चेष्टारूपेण हेतुना विशोषणभूतायास्तस्या ज्ञानायमनुमानं स्वीकार्यमिति तात्पर्यम्"। मयुरानाथ भट्टः सरला टीकाः रस-गंगाधरः पृ० ३३।

४- "अनुमानेन शकुन्तलादिरतिदुष्यन्ते साधनानि। ततश्च दोषविशोषमाहात्म्याद् भेदप्रतीति-स्थगनं विधाय तादृशरतिमता दुष्यन्तेन सह आत्मनोऽपि ऐकात्म्यं साधयित्वा "मानसो रतिमदभेदबोध" एव रसः" इति "परे तु" इति मतम्।"

मयुरानाथ भट्टः सरला टीकाः रस-गंगाधरः पृ० ३३।



## समीक्षा

अब तक हमने कुछ दार्शनिक जिज्ञासा को रखते हुए, ऐतिहासिक पद-क्रमों पर दृष्टि डाल कर पण्डितराज के रस-विवेचन का परिचय प्राप्त किया है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पण्डितराज की दृष्टि में रस का प्रश्न समस्त भारतीय आचार्यों में सर्वाधिक दार्शनिक है। वे अभिनव के मत को ही वेदान्तीकृत रूप में प्रस्तुत नहीं करते, शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से तटस्थ होकर भी रस के प्रश्न पर अपना विवेचन प्रस्तुत करते हैं। पीछे हमने दोनों नवीन मतों का परिचय प्राप्त किया है। द्वितीय मत की अपेक्षा प्रथम मत के साथ पण्डितराज की सहानुभूति अधिक दिखायी देती है। दूसरे मत में व्यञ्जना को न मानने के कारण श्रेष्ठ साहित्य का प्रशस्त पथ विवक्षित होता है, सम्भवतः इसी लिए उसके साथ पण्डितराज का हृदय नहीं दिखायी पड़ता। शेष तीन मत रहते हैं— एक अभिनव का मत, दूसरा भट्ट नायक का, तीसरा अनिर्वचनीयतावादी। यदि इन मतों की पृष्ठ-भूमियों में निहित दार्शनिक मान्यताओं के परस्पर विवादों को छोड़ कर केवल साहित्यिक दृष्टि-कोण तक ही सीमित रहा जाय तो इन तीनों मतों में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

फिर भी, अनिर्वचनीयता-वादों मत के विषय में यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि भले ही उसकी दार्शनिक पृष्ठ-भूमि दुर्बल न हो, तथापि वह हमारी साहित्यिक रुचि को तृप्ति नहीं देता। साहित्यिक जिसे अपनी साधना का चरम छेय मान कर चलता है, उसी रस को यह मत भ्रम मान कर चलता है। दोष इस मत के पीछे निहित दार्शनिक दृष्टि-कोण का भी नहीं। साहित्य जिस जगत् के कण-कण का रमणीयता पर मुग्ध है; लहरों की गति एवं ध्वनि, पत्तों के स्पन्दन एवं मर्मरतक में जो संगीत को मधुरिमा भरे हुए है; उस जगत् को, साहित्य-लोक के आधार प्रकृति के रंग-मंच को, भी तो वह "भ्रम" ही कह देता है। तब फिर उसे दोष क्यों दिया जाय ? रस को "भ्रम" कहने वाला शुद्ध दार्शनिक दृष्टि को तो साहित्यिक अभिरुचि को जोर से वही उत्तर दिया जा सकता है:-

"हम अपने ब्रज ऐसेहि बसिहैं विरह-नाय बौराने" १

वस्तुतः वह पण्डितराज को भी प्रिय प्रतीत नहीं होता। उन्होंने अपने विवेचन में ११ मतों की महत्त्व की दृष्टि से आपेक्षिक क्रम में रखा है। प्रथम अभिनव गुप्त का मत है। वही पण्डितराज का सिद्धान्त पक्ष है। अभिनव के दार्शनिक दृष्टि-कोण की जगह वेदान्त की दृष्टि अपना कर, अभिनव के मत का वेदान्तीकृत रूप ही पण्डितराज की दृष्टि है। महत्त्व की दृष्टि से द्वितीय भट्ट नायक का मत है, और तीसरे दर्जे पर यह अनिर्वचनीयता-वादी मत आता है। अतः उसे पण्डितराज की तटस्थ दार्शनिक बुद्धि की एक प्रतिज्ज्ञा ही समझना चाहिए। दोनों नवीन मतों में पण्डितराज यही दिखाना चाहते हैं कि यदि शुद्ध दार्शनिक दृष्टि से रस पर विचार किया जाय तो उस का स्वरूप इस भांति निरूपित किया जा सकेगा। इस कारण पण्डितराज के रस-विवेचन में महत्त्व इन नूतन मतों का उतना नहीं जितना उस सिद्धान्त-पक्षीय मत का है जो अभिनव के ही मत का वेदान्तीकृत रूप है।

पण्डितराज ने शेष मतों का उपस्थापन सूचनात्मक रूप में ही किया है। लोत्कट एवं शङ्कु के मत भी अत्यंत संक्षेप के साथ मम्मट के समान ही सामाजिक के कोण से कह दिये



गये हैं। अभिनव के सिद्धान्त के सामने आ जाने से लोल्लट एवं शंकु की महत्ता पण्डितराज के युग में ही समाप्त हो चुकी थी। आज भी रस-समीक्षा उनका नाम ऐतिहासिक दृष्टि से ही लिया करती है।

पण्डितराज के विवेचन-क्रम में ऐतिहासिक दृष्टि-कोण का अभाव है। विवेचित ११ मतों को आपेक्षिक महत्व के क्रम से प्रस्तुत किया गया है, जब कि अभिनव तथा उनका परम्परा में क्रम में ऐतिहासिक दृष्टि-कोण से पूर्वापरता सुरक्षित थी। पण्डितराज सूक्ष्म-तम से स्थूल की ओर चले हैं, स्थूल से सूक्ष्म की ओर अरुन्धती-न्याय से नहीं। इससे एक लाभ भी हुआ है। पाठक को पहिले सिद्धान्त-पक्ष का चित्र सामने आ जाता है, और पीछे उपस्थापित मतों की दुर्बलताएं जानने के लिए उसे परमुखापेक्षा नहीं रहना पड़ता। वह स्वयं आदर्श से मिलाता चलता है, और उनके अभावों से परिचित होता चलता है। मम्मट के विवेचन में उसे टीकाकारों पर आश्रित रहना पड़ता है।

पण्डितराज का दृष्टि-कोण अन्यत्र के समान रस-विवेचन में भी नान्य-परक होने की अपेक्षा काव्य-परक है। समस्त रस-विवेचन काव्य-सम्बन्धित पदावली को प्रमुखता देकर ही चलता है। वस्तुतः रस-गंगाधर पद्य काव्य का ही लक्ष्य-ग्रन्थ है।

रस की पृष्ठ-भूमि में वेदान्त को व्यवस्थित प्रतिष्ठा कर के पण्डितराज ने एक महान् काम किया है। इससे अभिनव गुप्त की मान्यताएं और भी सुस्थिर भूमि पर आकर जम गयी हैं। दूसरे यह कि काव्य-शास्त्र के विद्यार्थी को उसके द्वारा एक प्रशस्त-तर पथ मिल गया है। शैव दर्शन का पठन-पाठन इंधर कई शताब्दियों से उठ सा गया है। अपने यौवन-काल में भी वह कश्मीर की सोमाओं में ही विशोका कर रहा था। वेदान्त भारत के प्रत्येक क्षेत्र में फैला हुआ दर्शन है। बारहवीं शताब्दी के बाद से ही अभिनव गुप्त वेदान्ती अर्थ-प्रतीकों के साथ समझने जाने लगे थे। इस प्रकार उनकी मूल दार्शनिकचेतना के साथ अपरिचय होने से उनका रस-सिद्धान्त भी सहज-गम्य नहीं रह गया। पण्डितराज ने रस का वेदान्तीकरण कर के एक कालिक आवश्यकता की पूर्ति हो नहीं की, एक समझे हुए दर्शन की छाया में रस के उलझे प्रश्न को सुलझाने का अवसर देकर सरलता भी ला दी है। सामान्यतः पाठक वेदान्ती-अर्थ-प्रतीकों को लेकर अभिनव को समझने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार उसके लिए भ्रम के मार्ग खुलते थे। पण्डितराज के रस-स्वरूप में ऐसी गुंजाइश नहीं। "आत्मा पर अज्ञान का आवरण है। काव्य के प्रभाव से वह दूर हो जाता है। केवल रत्यादि का आवरण शेष रह जाता है। आत्मा के प्रकाश में वह आवरण भी प्रकाशित हो उठता है। इस प्रकार सद्दय रत्यादि से युक्त अपने ही आत्मा का आनन्द अनुभव करता है। यही काव्य-रस है।" इस रस-स्वरूप को समझने के लिए आपको न तन्त्रालोक पढ़ने की आवश्यकता होगी, और न शांकर भाष्य।

१-"मुपेत्या दुष्यतादिगत एव रसो रत्यादिः कर्मायविभावाधभिनवकोविदे दुष्यन्तावनुर्कर्तरि नटे समारोप्य साक्षात्क्रियते।" "दुष्यन्तादिगतो रत्यादिनटे पक्षो दुष्यन्तत्वेन गृहीते विभावादिभिः कृत्रिमैरपि अकृत्रिमतया गृहीतैर्भिन्ने विषये नुमित्तिसामग्र्या बलवत्त्वादनुमीयमानो रसः" रस-गंगाधरः पृ० २७।

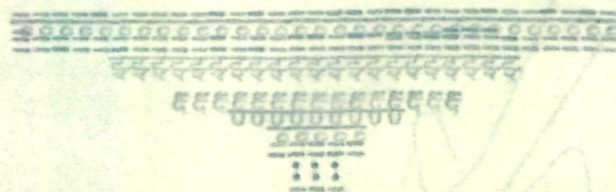


दार्शनिक दृष्टि के अतिवाद के कारण मनोवैज्ञानिक घरातल की उपेक्षा हो जाना बहुत कुछ स्वाभाविक ही है। अभिनव गुप्त का विवेचन यद्यपि मनोवैज्ञानिक पृष्ठ-भूमि की साथ लेते हुए ही रस की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करता है, और भट्ट नायक के भोग-वाद का तो जन्म ही नूतिक एवं मनोवैज्ञानिक समस्याओं के परिणाम-स्वरूप हुआ था; पण्डितराज भी उन्हीं की उपलब्धियों को अपना कर चले हैं; तथापि यह मानना पड़ेगा कि भारतीय दृष्टि के व दार्शनिक अतिवाद ने रस के मनोवैज्ञानिक घरातल का उतना विश्लेषण नहीं होने दिया जितना अपेक्षित था। रसानुभूति लौकिक अनुभूतियों से भिन्न होकर भी इसी लोक की अनुभूति है—कभी तो इस तथ्य की भुला कर अतिवादी दार्शनिक प्रतिभा रहस्य-खण्डों की ओर बढ़ने लगती है, और कभी समस्त काव्यानुभूतियों में सर्वत्र एक ही एक-धन आनन्द-पूर्णता मान कर विचार में प्रवृत्त होती है। जहाँ पूर्ण घनानन्द रस की अनुभूति नहीं होती, उन काव्यानुभूतियों में क्या नया मानसिक प्रतिश्रमाएं होती हैं, इस बात की ओर बढ़ने से यह अतिवादी दार्शनिक दृष्टि ही रोक देती है।

फिर भी यह बात सराहनीय है कि पण्डितराज के अध्ययन से पाठक को जेतना के लिए उस ओर बढ़ने के मार्ग अवलोक्य नहीं होते। जो रस-स्वरूप का निरूपण किया जा रहा है, वह न समस्त काव्यानुभूतियों का है, और नहीं रस-ध्वनि-मात्र का। वह केवल पारिभाषिक रस-मान से सम्बन्धित है— इस तथ्य की वे विवेचन की भूमिका में पहिले से ही स्पष्ट कर के चलते हैं। वे स्वयं भी अनुभूति के विभिन्न रूपों पर सैकतात्मक दृष्टि डालते हैं, और पाठक को भी उन पर सोचने का अवकाश छोड़ते हैं। वे पाठक की दृष्टि की सर्वत्र ही अभिनव के समान रस मानने के लिए बाध्य नहीं करते।

वैसे तो पण्डितराज की भाषा सर्वत्र विवेचनों में बढ़ी सशक्त है, किन्तु रस-विवेचन में तो इसकी गरिमा अत्यन्त परिस्फुट हुई है। उसकी गम्भीरता एवं पारदर्शकता का रहस्य काव्य-प्रकाश तथा रस-गंगाधर का तुलनात्मक अध्ययन करने वाले पाठक की दृष्टि में ही पूर्ण रूप से खुलता है। शब्द-प्रयोग बड़ा ही स्पष्ट, युक्त एवं सन्तुलित है। जहाँ नव्य-न्याय ने उसमें यत्र-तत्र दुरुहता का समावेश किया है, वहाँ गम्भीरता तथा अपूर्व असंदिग्धता का भी समावेश किया है।

इस प्रकार पण्डितराज का रस-विवेचन आधोपान्त मौलिक हो उठा है। उन्होंने इस मौलिकता कहीं भी तावा नहीं किया। अभिनव एवं मम्मट का महत्त्व अक्षुण्ण रखते हुए, उन ही की मान्यताओं को और सुदृढ़ भूमि पर ला कर प्रतिष्ठित कर देना, उन्हीं की स्थापनाओं को चरम दार्शनिकता प्रदान करना, और सब यह इस रूप में कि अपना अहं कहीं उद्घेलित प्रतीत न हो, प्राचीन आचार्यों के प्रति पण्डितराज की श्रद्धा व्यक्त करता है। किन्तु उनका कार्य किसी मौलिक आचार्य से कम नहीं। रस के समस्त इतिहास में दार्शनिक व्यवस्थापकों की दृष्टि से अभिनव के अनन्तर पण्डितराज जगन्नाथ का नाम ही दृष्टि में पड़ता है।





---

## चतुर्थ अध्याय

( भाव—विवेचन )

पृ० २३६—२६७

---



## भा व - ध्व नि - - - वि वे च न

### " भाव की सोमा "

पण्डितराज के विवेचन-द्रुम में "रस" के अनन्तर "भाव-ध्वनि" के विवेचन का प्रयोग आता है। "रस-ध्वनि" के कई भेद किये गये हैं - रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि, भावशबलता। इन में से "रस" के समान ही "भाव" भी एक प्रकार है। अतः "भाव-ध्वनि" के अर्थ में आया हुआ "भाव" शब्द भी अपना एक पारिभाषिक अर्थ रखता है। पण्डितराज ने जो भाव का विवेचन किया है, वह इसी "भाव-ध्वनि" का है। यही कारण है कि उनका भाव-लक्षण न तो भरत के समान भाव-सामान्य का लक्षण है, और न वह धनञ्जय तथा धनिक के भाव-लक्षण से मिलता है। उन्होंने अपने को भरत-पक्ष में रखते हुए भा यत्किञ्चित् स्वतन्त्र दृष्टि भा अपनायी है। वस्तुतः पण्डितराज का भाव-लक्षण मम्मट के भाव-लक्षण का शास्त्रीय प्रतिष्ठा है।

### भरत

भरत अपना भाव-लक्षण एवं विवेचन इन शब्दों द्वारा करते हैं :-

" भावा इति कस्मात् ? किं भवन्तीति भावाः, किं वा भावयन्तीति भावाः ?  
उच्यते, वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावा इति। "भू" इति करणे पातुः।  
तथा च भावितं वापितं कृतमित्यनर्थान्तरम्। लोकेऽपि च सिद्धमहो ह्यनेन गन्धेन रसेन च  
सर्वमेव भावितमिति। तच्च व्याप्त्यर्थम्। श्लोकाश्चात्र भवन्ति:-

विभावेरादृतो योयीऽनुभावेस्तु गम्यते।

वागङ्गसत्त्वाभिनयेः स भाव इति संज्ञितः ॥ १

वागङ्गमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च ।

क्वेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते ॥ २

नानाभिनयसम्बद्धान्भावयन्ति रसानिमान्।

यस्मात्तस्मादमो भावा विज्ञेया नाट्ययोऽङ्गिभिः ॥ ३

॥ " १

भरत के इस विवेचन से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं:-

१- भरत की दृष्टि अभिनय-परक है ।

२- भरत की दृष्टि पर्याप्त व्यापक है, जिसमें स्वायो, संचारी, एवं सात्त्विक - सभी १० भाव आ सकते हैं । २



" तत्राष्टौ भावाः शक्तिः, अस्मिंशद्वाभिवारिणः, अष्टौ सात्त्विकाः,  
इति विविदाः। एतेषां काव्यरसाभिव्यक्तिहेतवः एकोनपञ्चाशद्भावाः। एतेष्वस्य  
सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते । " १

- १- भाव हमारे समस्त दो रूपों में आते हैं - व्यक्त एवं अव्यक्त। भाव स्वतः वाच्य नहीं होते, विभावादि के समूह ही कर ही जाते हैं। " विभावाद्भावाः प्रतीयन्ते"। दूसरा रूप है काव्यार्थ-भाव का वाच्यत्व का। "काव्यार्थान् रसान् भाव्यन्तीति भावः"।
- २- यद्यपि भरत ने भावों के व्यवस्थित पक्ष पर भाष्य किया है किन्तु उस रूप में नहीं मिले हुए रूप में सम्मिलित है। भरत ने काव्यार्थ रस के भावक भावों का स्वतः वाच्यता का निरूपण करने के लिए उनका विभावादि-द्वारा समूह होना कहा है, न कि सम्मिलित के समान भाव के प्राधान्येन व्यक्त भाव का स्वरूप समीक्षा करने के लिए।
- ३- भरत के भाव-व्यवस्था में वाच्य-व्यवस्था अधिक है, जैसा कि विष्णु-पदीय व्याख्या देते हुए चमिक ने उक्त बातों को कहा है:-

" यस्तु "रसान्भावव्यवस्थाः" इति "स्वैरन्तर्गतं भावं भावान्भावः" इति च,  
तत् त्वभिव्यक्त्याः प्रवर्तमानस्य भावस्य व्यक्त्यै प्रवृत्तिनिमित्तकम् । " २

सुदर्शनाचार्य इस वाक्य का जोर भाष्य करके करते हुए कहते हैं:-

" ननु त्वया हि भावस्वतः भावान्भावव्यवस्थाः भावस्वतः, प्राचीनस्तु "रसान्  
भाव्यन्तीति भावः" "स्वैरन्तर्गतं भावं भावान्भावः" इत्येव रसभावव्यवस्थेन कविगुणभावव्यवस्थेन  
च भावस्य भावव्यवस्थेन युक्तमिति, प्राचीनेर्निरोधः प्राप्तः स्यात्तथाह- अस्तिव्यति ।  
यथा हि रसिकस्यैव भावस्यार्थ उक्तः, प्राचीनानां तु भावव्यवस्थाभिधानं तु " भाव-  
व्यवस्था काव्यम् " भावान्भाव्यन्तीति " इत्येव वाच्यभिव्यक्त्याः प्रवर्तमानस्य - बोधकाव्य-  
भावव्यवस्थास्तौ विष्णुभट्टान्न निरोधः। काव्यस्य रसभावव्यवस्था, अभिव्यक्त्यै च कवि-  
गुणभावव्यवस्था तु स्पष्टमेव । " ३

अभिव्यक्त्या

अभिव्यक्त्या भाव रसिकान्दिक स्तर का दार्शनिक पृष्ठ-भूमि पर व्याख्या करते

१- नाट्य-शास्त्र : पृष्ठ १०६ ।

२- दशरूपकावलीक : ४१४ पूर्वादि : पृष्ठ १२४ ।

३- दशरूपक : सुदर्शनाचार्य का प्रभा टीका : पृष्ठ १२४ ।



हुए कहते हैं :—

"वागंगमुखरागात्मनाभिनयेन सत्त्वलक्षणेन चाभिनयेन करणेन कवेः साधारणं, तदापि वर्णनानिपुणस्य यः अन्तर्गतोऽनादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमयो न तु लौकिक-विषयजो रागस्स एव देशकालादिभेदाभावात्सर्वसाधारणीभावेनास्वादयोग्यस्त, भावयन् आस्वादयोग्यीकुर्वन् भावश्चित्तवृत्तिलक्षणा एवोच्यते । " १

"भावशब्देन तावच्चित्तवृत्तिविशेषा एव विवक्षिताः। तथा च "हृकोनपञ्चाशता भावैः" इत्यादौ तानेवोपदेहरिष्यति। तेषां तु योग्यतावशाच्चयायोगं स्वामिसंचारिविभावानुरूपता संभवति । " २

इस विवेचन से स्पष्ट है कि अभिनव भाव की चित्तवृत्ति-रूप मानते हैं, तथा उनकी दृष्टि भी भरत के समान ही व्यापक है। अभिनव यहाँ प्राक्तन संस्कार रूप में निहित रागादि को भावित अर्थात् व्यंजित करने वाली चित्तवृत्तियों को भाव कह रहे हैं। यहाँ भी रस-व्यंजक चित्तवृत्तियों की ही भाव कहा गया है। तथा उनकी सीमा स्थायी, संचारी, एवं सात्त्विक - सब तक मानी गयी है। साथ ही यह भी निर्देश किया गया है, कि ये भाव वर्णन को विशिष्ट विशिष्ट अवस्थाओं में स्थायी, संचारी, अनुभाव, तथा विभाव रूप में भा जा सकते हैं।

धनंजय

धनंजय का भाव लक्षणा इस प्रकार है:-

"सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम् । " ३

धनिक

इस लक्षणा पर धनिक का वृत्ति इन शब्दों में है:-

"अनुकार्याभिव्यक्तेनोपनिबध्यमानैः सुखदुःखादिरूपैर्भावैस्तद्भावस्य भावकचेतसो भावनं वास्तव भावः। तदुक्तं भरतेन "अहो हृणनेन रसेन गन्धेन वा सर्वमेतद्भावितं वासितमिति" । " ४

स्पष्ट है कि धनंजय के लक्षणा में, जैसा कि धनिक को टीका से निरूपित है, भरत-लक्षणा को मान्य रहते हुए भी सहृदय-पक्षीयता पर अधिक ध्यान दिया गया है।

- १- अभिनव-भारता : पृष्ठ ३४५ ।  
 २- अभिनव-भारता : पृष्ठ ३४३ ।  
 ३- दश-रूपक : ४१४ ।  
 ४- दश-रूपकावलोक : पृष्ठ १२४ ।



धनंजय के भाव-लक्षणा को सोमा भक्त की अपेक्षा अधिक संकुचित  
जहाँ स्वयी तथा संचारों के साथ ही सात्विकों को भी एक सूत्र में बांधा  
के लक्षणा को सोमा स्थायी तथा संचारियों तक हो है:-

" ते च स्वाधिनौ व्यभिचारिणश्चेति वक्ष्यमाणाः । " १

सात्विकों का गणना पुष्क से है, यद्यपि वे भी परम्परा-पालनार्थ "भाव" का सकते हैं:-

" पुण्यं भावाः भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्विकाः । " २

### मम्मट

मम्मट का भाव-लक्षणा इस प्रकार है:-

" रतिर्देवा विषया व्यभिचारो तथान्वितः । " ३

भावः प्रोक्तः ,

कादिशब्दान्मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया । कान्ताविषया तु व्यक्ता शृंगारः

मम्मट ने भाव लक्षणा में दो बातों को लिया है। एक तो दाम्पत्य-विषयक रति को छोड़ अन्य मुनि-गुरु-देव-पुत्रादि-विषयक रति को, दूसरे तेलीस संचारी भावों को व्यक्त अवस्था को। ऐसा कि हम अभी देखेंगे, परवर्ती आचार्यों ने इस भाव-क्षेत्र को और व्यापक करना चाहा है। अपुष्ट स्वाधि-भाव को भी "भाव" के अन्तर्गत ही लिया गया। मम्मट ने कहा था "कान्ताविषया तु व्यक्ता शृंगारः" अर्थात् विभावादि पूर्ण सामग्री से अभिव्यक्त कान्ता-विषयक रति शृंगार है। इसे भिन्न रतियाँ "भाव"। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है, कि यदि कान्ता-विषयक रति है। विभावादि सामग्री के असमग्र परिपोष के कारण पूर्णतः पुष्ट न हो तो उसे किस वर्ग में रखा जाय ? इस तो कह नहीं। अपरिपूर्ण अभिव्यक्ति में कोई भाव "रस" की कोटि तक नहीं पहुँचता। तब उसे भाव कहना ही संगत है। अपुष्ट कान्ता-विषयक रति को "भाव" मानने का अर्थ यह था कि अपुष्ट स्वयी भाव को ही भाव कहा जाय। लौकिक स्थिति में सभी चित्तवृत्तियाँ भाव जाती हैं, रसात्मक स्थिति में रस तथा भाव में स्वाधिनौ की व्यंग्यता का गया है। किन्तु भाव के इस सामान्य अर्थ को छोड़ मम्मट के इस पाणि

१- दश-रूपकावलोक : धनिक : पृष्ठ १२४ ।

२- दश-रूपक : धनंजय : पृष्ठ १२४ । ४१४ ।

३- काव्य-प्रकाश : मम्मट : उल्लास ४ : सूत्र ४८, तथा वृत्ति : पृष्ठ ११८ ।



प्रयोग पर्याप्त रूप में हुआ है। इसी पारिभाषिक "भाव" में जिसे भाव-ध्वनि भी कहा जाता है, कान्ति-विषयेतर रति, तथा व्यञ्जित संचारिणों के साथ अपरिपुष्ट तथा व्यञ्जित स्थायी मात्र को स्थान मिला। विश्वनाथ ने स्पष्ट ही "भाव" के अन्तर्गत तीनों तत्वों को सम्मिलित किया है।

### विश्वनाथ

विश्वनाथ का लक्षण इस प्रकार है:—

" संचारिणः प्रपन्नानि देवादिविषया रतिः ।

उदुब्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥

----- यत्र प्राधान्येनाभिव्यक्ता व्यञ्जितारिणो, देव-मुनि-गुरु-नृपादि विषया च रतिरुदुब्धमात्रा विभावादिभिरपरिपुष्टा तथा रसरूपतामाप्ताप्यमात्राश्च यथाविनो भावा भावशब्दवाचाः । " १

स्पष्ट है कि मम्मट के पारिभाषिक "भाव" में दो ही तत्व थे, व्यञ्जित संचारी, कान्ति-विषयेतर रति। विश्वनाथ ने तीन तत्वों का स्पष्ट उल्लेख किया है, कान्ति-विषयेतर रति ही नहीं उसमें अपूर्ण-पुष्ट स्थायी मात्र का भी परिगणन हुआ है। यह परिवर्तन एक दृष्टि-कोण के विकास की सूचना देता है।

### मम्मट के टीकाकार

मम्मट के टीकाकारों के समक्ष यह प्रश्न उठना स्वाभाविक हो या कि किस प्रकार इस आवश्यक तत्व को भी मम्मट में सम्मिलित कर के एक आवश्यकता का पूर्ति का जाय। उन्होंने अपना व्याख्या के बल से कहा — देवादि-विषयक रति को भाव रहने का मम्मट का तात्पर्य अपुष्ट संचारि-मात्र से है। केवल देवादि-विषयक रति को तो उपलक्षण पद्धति पर लिया गया है। टीकाकार गोविन्द ठाकुर ने मम्मट को संगति इस प्रकार से लगायी है :—

" रतिरिति स्थायी-भावोपलक्षणम्। देवादि विषयेत्यप्राप्तरसावस्थोपलक्षणम्। तेन देवादि विषया सर्वा, कान्ति-विषया अपुष्टा रतिर्हासादवस्थाप्राप्तरसावस्थाः प्राधान्येन व्यञ्जितो व्यञ्जितारो च भाव इत्यवधारणम् । यदुक्तम् :—



रत्नादिश्चेन्निरर्गः स्याद्देवादिविषयोऽप्यत्र ।

अन्याद्गभागा स्यान्न तत्र स्वाधिशक्त्या ॥ इति । " १

परवर्ती व्याख्याकारों में भी लगभग यही प्रवृत्ति पायी जाती है ।<sup>२</sup>

### पण्डितराज

हम पीछे उल्लेख कर चुके हैं कि पण्डितराज ने भाव के लक्षण एवं सौं ग के विषय में मम्मट का ही अनुगमन किया है, अतः उनके लक्षण का स्वरूप विषय भिन्न होने के कारण भरत आदि से यतिकंचित् भिन्न है । दूसरी बात जो पण्डितराज के इस भाव की सामा के विषय में उल्लेखना है वह यह है कि उन्होंने मम्मट की मूल मान्यता को ही प्रामाणिक माना है विसौं व्यक्ति चारियों तथा दाम्पत्येतर रति को ही लिया गया था, अन्य अपरिपुष्ट रसाधि-भाव को नहीं ।

" हृषादिपस्तु- हर्षा-स्मृति- - - - - निर्वेदश्च अपस्विंशद्व्यभि-

चारिणः, गुरुदेवकृपुवादि विषया रतिश्चेत् चतुस्त्रिंशत् । " ३

प्रदीपकार ने जिस निरर्ग रसाधियों को "भाव" कहा है, उसे पण्डितराज "भाव" के अन्तर्गत सम्मिलित न करवा चाहते। उनका जोर से यह तर्क पेश किया जा सकता है:- भाव कभी वाच्य नहीं होते। ये विभावादि के द्वारा व्यक्त हो लोकर जाते हैं, तथा लक्षणा के विषय होते हैं। अतः विभावादि में से किसी का निरूपण नहीं भी रहता, वहाँ भी वे आलोप-गम्य रहते हैं। तब निरर्ग भाव कहने का प्रश्न ही नहीं उठता। रती विश्वनाथ के उद्बुद्ध-भाव रसाधियों को बाहर, तो विश्वनाथ जी से यह पूछा जा सकता है, कि यह उद्बुद्ध-भाव रसाधि-भाव चर्चना का विषय बन सकता है या नहीं ? यदि नहीं, तो तो उसका समाधान का ही प्रश्न गा। और यदि वह चर्चना-विषय बन सकता है, तो कृपया एक बात और बताइए। उसको अनुभूति या चर्चना चमत्कार-जनक है या नहीं ? यदि

१- काव्य-प्रकाश : प्रदीप : पृष्ठ १२६ । आनन्दालम् संस्कृत ग्रन्थावलि ।

२- "क" नागेश : उद्योत : पृष्ठ १२६ । " " " " " " " " " " " "

वन्द्यो  
"देवादिविषयेत्यप्राप्तरसोपलक्षणं बोध्यम् । "

"सु" " तेन देवादिविषया सर्वप्रकारा, अन्तादिविषयापि अपुष्टा रतिः, तत्रा-  
दयश्च अप्राप्तरसा रसाः विभावादिभिः प्राधान्येन श्रितो लक्षितो व्यभिचारी  
च "भावः" प्रीयतः भावदाभिधेयः कथित इति सूचार्थः । "

काव्य-प्रकाश : वामन भट्टाकर : पृष्ठ ११८ ।

३- रसगंगाधर , पृष्ठ ७६ ।



चमत्कार-जनक नहीं है तो उसे सर्वणा-विषय कहने तथा उत्तमोत्तम काव्य में रहने से लाभ हो क्या ? और यदि वह चमत्कार-जनक है तो फिर वह या तो प्राधान्येन चमत्कार-जनक होगी या गौण रूप से। यदि प्राधान्येन चमत्कार जनक है, तो उस अवस्था में वह रस ही है, और यदि गौण-रूप से चमत्कार-जनक है, तो उसे ध्वनि के किसी भेद में नहीं रखा जा सकता। फलतः उसे "भाव-ध्वनि" नाम भी नहीं दिया जा सकता। इस गौण स्थिति में भी उसके दो रूप हो सकते हैं। एक- विभावादि के पर्याप्त परिपोषण को प्राप्त करके गौण बनना, दूसरे- विभावादि के नाम-मात्र के ही सहयोग को पाकर किसी रस अथवा भाव का परिपोषण करना। प्रथम स्थिति को जानन्दवर्णन एवं अभिनव गुप्त ने रसवदलंकार कहा है, मम्मट ने अपरांग गुणोभूत व्याख्या। दूसरी स्थिति में इन उदुक्कृत मात्र स्थायियों की स्थिति एक संचारी मात्र का होती है:-

"रत्यादयोऽप्यन्यते रसे स्मृत्विचारिणः।"

व्यञ्जित किन्तु अप्रधानोभूत रत्यादि की स्थिति पर मुक्तक एवं प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से भी विचार हो सकता है। ऊपर मुक्तक दृष्टि ही प्रधान है। एक व्यापक प्रबन्ध काव्य में, किसी एक रस की प्रधानता होने पर भी, अनेक अन्तर्वर्ती रस-धाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं। उन आन्तरात्मिक रसों का विभावादि सामग्रों से पूर्ण परिपोषण भी होता है। संस्कृत आचार्यों की मान्यता है कि उन सभी रसों का परिपोषण प्रबन्ध में परिष्ठाप्त प्रधान रस की अपेक्षा से हो होना चाहिए। अतः वे अन्तर्वर्ती रस अपने में पूर्ण होते हुए भी प्रबन्ध रस की अपेक्षा से उसी स्थिति में होते हैं, जिसे कि किसी मुक्तक पद में एक प्रधान भाव के प्रति गौण या संचारी किसी अन्य भाव की होती है। इस दृष्टि से उन्हें संचारी रस कहा जा सकता है। यह भी हो सकता है कि विभिन्न भाव-ध्वनिपूर्ण एवं भाव-शक्तताओं के समान अथवा एक ही पद में एकान्विक रसों के समान किसी प्रबन्ध काव्य में भी एकाधिक रस परस्पर सम्बद्ध किन्तु निरपेक्ष स्थिति में हों, किन्तु तब उन की गौणता का प्रश्न ही नहीं उठता।

तो इस प्रकार हमारे समक्ष व्यञ्जित स्थायों की दो स्थितियाँ आती हैं।

१- प्रधानोभूत स्थिति, इस स्थिति में वे "रस" हैं। २- अप्रधानोभूत स्थिति, यह दो प्रकार से आ सकता है। पर्याप्त विभावादि परिपोषण के साथ किसी के प्रति गौणता, इस स्थिति में जानन्दवर्णन एवं अभिनव इसे रसवदलंकार कहते हैं, तथा मम्मट अपरांग गुणोभूत व्याख्या। दूसरी विभावादि से अपरिपुष्ट केवल रत्यादि की स्थिति, इस दशा में क्यों कि



वे अध्यायन स्थिति में है, प्रधान रस के प्रति संचारों की स्थिति में हो जाते हैं। अतः

किसी अपरिपुष्ट स्थायी को "भाव" कहे का कोई ढंग ही नहीं बनता।

इसी कारण पण्डितराज ने मम्मट की मूल व्यवस्था को ही स्वीकृति दे कर "भाव" को सीमा व्यक्त व्यभिचारियों एवं कान्तेतर रति तक ही रखा, तथा "निरंज" अथवा "उद्बुद्ध-भाव" स्थायी को "भाव-ध्वनि" नहीं कहा।

भाव के इस सीमा-परिचय के साथ अब हम पण्डितराज के भाव-लक्षण को और जा सकते हैं।

### भाव-लक्षण

पण्डितराज ने अपना भाव-लक्षण देने से पूर्व दो लक्षण पूर्व-पक्षा रूप में प्रस्तुत किये हैं। यद्यपि उन्होंने इन्हें अपनी तर्क-कलकटों पर कस कर अस्वीकृत कर दिया है, तथापि इनका सण्डनात्मक विवेचन ही "भाव" के स्वरूप को समझने में सहायता देता है। वे लक्षण इन शब्दों में रखे गये हैं :—

१- " विभावानुभावभिन्नत्वे सति रसव्यञ्जकत्वम् । " १

२- " रसाभिव्यञ्जकत्ववर्णापिधायचित्तवृत्तित्वम् । " २

प्रथम लक्षण में कहा गया है कि विभाव और अनुभाव वे भिन्न, रस के व्यञ्जक "भाव" हैं। यह लक्षण अति व्याप्त है, क्योंकि काव्य के शब्द भी तो अर्थ के द्वारा रस के व्यञ्जक हुआ करते हैं। यदि द्वारान्तरनिरपेक्षाता की एक शर्त और भी जोड़ दी जाय

तो फिर असंभवत्व दोष आ जायगा। क्योंकि स्वयं भाव भी तो भावना-द्वारा ही व्यञ्जक होते हैं। दूसरी प्रमुख बात यह है कि यह लक्षण रस-व्यञ्जक भावों पर ही लागू हो सकता है, स्वतः प्रधानतः ध्वन्यमान भावों पर नहीं। ३

यह सब दूसरे लक्षण का है। वह अनुभावों में अतिव्याप्त है। एक उदाहरण लाजिए :—

" कालागुरुद्रवं वा दालाहृदयवद्विमानतः नितराम् ।

अपि नीलोत्पलमालां बाला व्यालावतिं किलामनुते ॥ " ४

१- रसगंगाधर, पृष्ठ ७४ ।

२- रसगंगाधर, पृष्ठ ७४ ।

३- रसगंगाधर, पृष्ठ ७४ ।

४- " अथ किं भावत्वम्? विभावानुभावभिन्नत्वे सति, रसव्यञ्जकत्वमिति चेत्, रसकाव्यवाक्येति व्याप्तिः। अर्थद्वारा शब्दस्यापि व्यञ्जकत्वात्। द्वारान्तरनिरपेक्षात्वेन व्यञ्जकत्वे विशेषिते त्वसंभवः प्रसज्येत, भावस्यापि भावनाद्वारेण व्यञ्जकत्वात्, भावनायामतिव्याप्त्यापत्तेश्च। अतएव विभावानुभावभिन्नत्वस्यैव शब्दभिन्नत्वस्यापि तद्विशेषणत्वेन निस्तारः। प्रधानध्वन्यमानभावै रसव्यञ्जकताभावादप्यापत्तेश्च। रसगंगाधर, पृष्ठ ७४ ।



यहाँ कोई विरहिणी विरहादि में कालागुरु-द्रव को हाताहत समझती है , तथा नालिकमलों की माला को सर्पिणी। यह उसका भ्रमात्मक ज्ञान है, जो विरह के कारण उत्पन्न हुआ है। अतः कार्य-रूप होने के कारण अनुभाव है। तथा अनुभाव होने के कारण रस का व्यञ्जक चर्वणा का विषय भी है। दूरी और दृश्य। एक ज्ञान-विशेष होने के कारण इसको चित्तवृत्तित्व ही भी कोई अवबोधित नहीं कर सकता। अतः रसाभिव्यञ्जक चर्वणाविषय चित्तवृत्तित्वं भावत्वम्" लक्षण अनुभावों में अतिव्याप्त हो जाता है।<sup>१</sup>

यहाँ नागेश ने एक विशेषण का प्रस्ताव उपस्थित किया है :—

"अवेवानुभावभिन्नत्वे सति" इति विशेषणवादाने की टीका इति चिन्त्यम्। " २

कारण अनुभाव से भिन्न, रसाभिव्यञ्जक चर्वणा का विषय-भूत चित्तवृत्तित्वाभाव है - ऐसा मान लेना चाहिए। किन्तु इस समाधान का कोई भी वास्तविक मूल्य नहीं, क्योंकि यण्डितराय की मूल आपत्ति ज्यों की त्यों नहीं रहती है :—

" प्रधानध्वन्यमानभावे रसव्यञ्जकताभावादव्याप्त्यापत्तेश्च। " ३

यदि नागेश के कथनानुसार " अनुभाव-भिन्नत्वे सति रसाभिव्यञ्जकचर्वणा-विषयचित्तवृत्तित्वं भावत्वम्। " ऐसा लक्षण दिया भी जाय, तो प्रधान रूप से ध्वन्यमान भावों पर वहाँ लगेगा। वहाँ रसाभिव्यञ्जकता है ही नहीं। यदि उपर्युक्त लक्षण में "रसाभिव्यञ्जक" पद की चर्वणा का विशेषण मान कर "रसाभिव्यञ्जक चर्वणा का विषय होने वाली अनुभावेतर चित्तवृत्तित्वाभाव" है - यह लक्षण का तात्पर्य होगा। तब भी कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। स्वतन्त्र रूप से अभिव्यञ्जित भाव जो किसी अन्य रस का अभिव्यञ्जन नहीं कर रहे, इस लक्षण का समा से बाहर हो रह जायेंगे।

२- नागेश : गुरुमर्मप्रकाश : रसगंगाधर : पृष्ठ ७५ ।

३- रसगंगाधर : पृष्ठ ७५ ।

१- " नापि रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयचित्तवृत्तित्वं तत्त्वम्, भावादिकचर्वणाणां प्रतिप्रसंग-वारणां चर्वणाविषयतेति चित्तवृत्तिविशेषणमिति वाच्यम्,

कालागुरुद्रवस्य हाताहतस्य विज्ञानान्नितराम्।

अपि नालोत्पलमालां शय्या व्यालावर्तिं क्लिप्तमनुते ।

इत्थन कालाहतसदृशत्वात्प्रकारवज्ञानेऽतिव्याप्त्यापत्तेः। तस्य विप्रलभानुभावत्वेन रसाभिव्यञ्जकचर्वणाविषयत्वात्, चित्तवृत्तित्वाच्च । "

रसगंगाधर : पृष्ठ ७५ ।



इस प्रकार पूर्व-पक्षों में उपस्थापित विषये हुए इन दोनों लक्षणों का निराकरण कर के पण्डितराज सिद्धान्त-भूत भाव-लक्षण प्रस्तुत करते हैं:—

"विभावादिव्यङ्ग्यमानहर्षान्यतमत्वं सत्वम्" । १

अर्थात् विभावादि सामग्री से व्यङ्ग्यमान हर्षादि में से कोई भी "भाव" है। अपने इस लक्षण का संबन्ध वे स्पष्ट शब्दों में मम्मट से जोड़ते हैं:—

"यदाहुः-अभिचार्यञ्जितो भावः ।" २

इस पदावली से जो प्रमाण रूप में प्रस्तुत की गयी है, मम्मट का ही सीक मिलता है।

### लक्षण-समाप्ता

पण्डितराज के उपर्युक्त भाव-लक्षण के विवेचन से निम्न तथ्य हमारे समक्ष आते हैं:—

- १- पण्डितराज के भाव-लक्षण में अभीष्ट व्यापकता की गुंजाहरी है। उसमें रस-व्यञ्जक, तथा प्राधान्येन व्यञ्जित, दोनों प्रकार के भाव समा सकते हैं। कोई भी भाव वाच्य नहीं होता, विभावादिव्यङ्ग्यमान हो होता है, वह चाहे रस-व्यञ्जक हो वा स्वतः प्रधान रूपसे व्यञ्जित अतः विभावादिव्यङ्ग्यमानता भावों का सामान्य स्वरूप निर्धारण है। धनिक, पनज, विश्वनाथ एवं मम्मट में यह व्यापकता नहीं थी। हा, भरत की दृष्टि दोनों पक्षों पर गयी है। किन्तु उनके विवेचन पर दृष्टि डालते हुए हम देख चुके हैं कि यह अजागूक चेतना के साथ हुआ है। वस्तुतः तो वे व्यञ्जक भाव का ही लक्षण करना चाहते हैं, नहीं प्रतीत होता है।
- २- दूसरी ओर पण्डितराज के इस लक्षण का सीमा बहुत संकुचित भी है। विवेचन द्वारा उन्होंने भाव के लक्षण का जो व्यापकता प्रदान की थी, उसे मम्मट के पारिभाषिक भाव की सीमा में ही सीमित कर दिया। हर्षा आदि ३४ भावों से जाग जाने की उसे दूखर हो जाना माह। कर दा गयी। हर्षादि के अन्यतमत्व की सीमा निर्धारित करते हुए वे ३३ संचारिण एवं देवादि विषयक रति की ही अपाते हैं:—

"हर्षादेवस्तु-हर्षा-स्मृति-द्राह-माह-वृत्ति-शंका-ग्लानि-दैन्य-चिन्ता-मद-क्षम-गर्व-निद्रा-मति-व्याधि-वास-सुप्त-विधाधामर्षावहित्योप्रतीन्माद-मरण-वितर्क-विषा-दात्मसुखावेग-बहुतालस्यासूयापत्नार-चपलताः प्रतिपदाकृतधिकारादिव्यन्मा निर्वेदशचेति वय-स्त्रिंशद् अभिचारिणः। गुरु-देव-पुत्र-पुत्रादिविषया रतिश्चेति चतुस्त्रिंशद् ।" ३

१- र गंगाधर : पृष्ठ ७५ ।

२- रसगंगाधर : पृष्ठ ७५ ।

३- रसगंगाधर : पृष्ठ ७६ ।



३- इस सोमा-संवाचक दो कारण है । एक- मम्मट के भाव-लक्षण को ध्यान में रखना, दूसरे- स्वयं के भाव-विवेचन के प्रसंग का ध्यान रखना जहाँ भाव का संबन्ध केवल "भाव-ध्वनि" से हो था।

४- पण्डितराज के इस भाव-लक्षण में न तो स्थाना आते हैं, न सात्विक ।

५- भाव-विवेचन संबन्धी कुछ अन्य बातों पर भी प्रकाश पड़ता है। कुछ प्रमुख निम्न हैं:-

"इ"- कोई भी भाव "भावना" के द्वारा ही किसी रस का व्यञ्जक होता है।

" भावस्यापि भावनाद्वारेव व्यञ्जकत्वात् । "

"इ"- सभी भाव चित्तवृत्ति-रूप हैं। हम आगे चल कर देखेंगे कि पण्डितराज के भावों का इस चित्तवृत्ति-रूपता का क्या व्यवस्थित ध्यान रखा है।

"व"- "चित्तवृत्ति" को दार्शनिक अर्थ में समझना चाहिए। ज्ञान भी चित्तवृत्ति-रूप है, अतः भ्रम भी एक चित्तवृत्ति का ही प्रकार है। अतः भाव चित्तवृत्ति-रूप हैं, यह विस्तृत अर्थ में समझना चाहिए।

"घ"- अनुभाव केवल वाह्य चट्टाएँ ही नहीं होते। भावानुभूति के फल-स्वरूप अर्थात् कार्य-रूप में होने वाले समस्त प्रतिक्रियात्मक विकार "अनुभाव" होते हैं। अनु अर्थात् पाछे, भाव अर्थात् उत्पत्ति। इस व्युत्पत्ति को ध्यान में रखा गया है। अतः कार्य-रूपा चित्तवृत्तियाँ, ज्ञानात्मक तथा भावात्मक, सभी अनुभाव ही सकती हैं।

जहाँ पण्डितराज ने अपनी विवेचनात्मक सूक्ष्म दृष्टि से भाव-लक्षण को विभाव, अनुभाव, रसकाव्य-वाक्य, भावना आदि का समाजों से बचाया है, उन्हीं रस-व्यञ्जकत्व को संयुक्त समाजों से मुक्ति दिलाया है, और व्यंग्य तथा व्यञ्जक दोनों प्रकार के भावों को अपने में समेटने का क्षमता प्रदान की है, वहाँ मम्मट का समाजों को स्वीकृत करके अपने भाव-लक्षण का सोमा-संवाचक अच्छा नहीं लगता। अच्छा रहता, यदि वे भाव का लक्षण तो भाव-सामान्य पर लागू होने वाला बनाते, और पारिभाषिक "भाव-ध्वनि" के लिए संवाचकों को प्रधानभूत अभिव्यक्ति का क्षेत्र निर्दिष्ट कर देते। अन्यथा केवल प्रधानभूत भाव-ध्वनि का लक्षण बनाने के लिए व्यंग्य एवं व्यञ्जक के आधार पर विवेचन का बसेड़ा उठाना ही व्यर्थ था। यही कर कर संतोष लिया जा सकता है कि पण्डितराज कुछ प्रासंगिकता तथा कुछ पारम्परिकता के प्रभाव में आ गये।



### "भाव-ध्वनि" की सोमार्ण

पण्डितराज ने केवल "भाव" को ही नहीं, भाव-शान्ति, भावोदय, भाव-सन्धि, एवं भाव-शबलता को भी भाव-ध्वनि ही कहा है:--

"य एते भावशान्त्युदयसंधिशबलता ध्वनय उदाहृतास्तेऽपि भाव-ध्वनय एव।" १

इस प्रकार उन्होंने भाव-ध्वनि का सोमार्ण केवल "भाव" तक ही न रख कर इन समस्त भावात्मक ध्वनियों तक माना है। यह बात अभिनव गुप्त की मान्यता के अनुकूल ही पड़ती है।

अभिनव के अनुसार भी भाव की तीन दशाएँ सम्भव हैं - उदय, स्थिति एवं अपाय। इनमें स्थिति दशा तो "भाव" कहा ही जाता है। उदयावस्था एवं अपायावस्था को ध्यान में रख कर "भावोदय" एवं "भाव-शान्ति" नामक ध्वनियाँ की गयी हैं।<sup>२</sup> भाव-सन्धि एवं भाव-शबलता की भाव-स्थिति काही रूपान्तर समझना चाहिए। क्योंकि केवल एक भाव की स्थिति में भाव, दो भावों की स्थिति में सन्धि एवं अधिक में शबलता का चमत्कार होता है।<sup>३</sup>

इन सब अवस्थाओं की "भाव-ध्वनि" सिद्ध करने में पण्डितराज का अपना तर्क है, जो निस्सन्देह संगत एवं सुन्दर है। जिस प्रकार स्थिति-दशा से युक्त भाव की ध्वनि में स्थिति की दशा की प्रधानता न देकर "भाव" की ही प्रधानता दी गयी है, उसी प्रकार उदय, शान्ति, संधि और शबलता की दशाओं में भी इन अवस्थाओं की प्रधानता न देकर भाव-तत्त्व की ही प्रधानता दी जानी चाहिए। कारण, सभी अवस्थाओं में आस्वाद के आधार तो भाव ही हैं।<sup>४</sup>

१-रसगंगाधर, पृष्ठ १०४।

२- "व्यभिचारिण उदयस्थितिपायत्रिर्भवाः। - - - - । तत्रोदयावस्थाप्रयुक्तः कदाचित् यथा "याते गोत्रविषयि - - - ।" स्थितिः पुनरुदाहृता "तिष्ठेत्कोपवशात्- - " इत्यादिना । क्वचित्तु व्यभिचारिणः प्रशमावस्थाया प्रयुक्तश्चमत्कारः।"

लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ १७५ ।

३- "क्वचित्तु व्यभिचारिणः सन्धिरेव वर्तमानपदम्। - - - ।" लोचनः पृष्ठ १७६ ।

"क्वचिद् व्यभिचारान्तरशबलतेव विशान्तिपदम्।" लोचन : ध्वन्यालोकः पृष्ठ १७७ ।

४- "विलम्बमानतया चर्यमाणो ध्रुवोत्पत्यवच्छिन्नविनश्यदवन्तवसंधायमानत्वपरस्परसमानाधिकरणत्वेः प्रकारैश्चर्यमाणेषु भावेष्वेव प्राधान्यस्योचित्यात्, चमत्कृतेस्तत्रैव विधान्तेः।

रसगंगाधर : पृष्ठ १०४ ।



यह कहा जा सकता है कि चर्वणा तो अवस्था तथा भाव को समान रूप से साथ साथ होता है, फिर यह कैसे निर्णय किया जाय कि शान्ति आदि दशाओं में भाव को ही प्रधानता है, तथा चमत्कार का भी भाव-तत्त्व को ही है? यहाँ भी उत्तर वही है। स्थिति दशा में भाव तथा अवस्था दोनों के होने पर भी भाव को ही जिस प्रकार चमत्कार का आधार माना जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी समझा जाना चाहिए।

शास्त्रों का आधार अवस्थाओं को मानने को अपेक्षा भाव को मानने से एक सिद्धान्त निकलता है। यदि कहीं पर उदय, शान्ति आदि अवस्थाएँ वाच्य भी हैं, किन्तु भाव व्यंग्य ही हैं, तो यहाँ ध्वनि माना जा सकता है। इसके विपरीत भाव वाच्य होने पर, फिर चाहे अवस्था व्यंग्य हो क्यों न हो, भाव-ध्वनि नहीं कहा जा सकेगा। प्रथम का उदाहरण इस प्रकार है:-

" लामापणीकन्दयोः पदयोः पतति त्रिवे ।

शोभुः सरोजनयनानयनारुणकान्तयः ॥ " २

यहाँ प्रशमावस्था वाच्य है, किन्तु व्यञ्ज्यमान भाव अमर्ष व्यंग्य ही है। अतः यहाँ सिद्धान्तिक रूप से भाव-ध्वनि स्वीकार्य है। इसके विपरीत:-

" निर्वस्मिन्तां वृत्तिर्मग्नानां शोभा हरेणोपादृशा यन्त्याः ।

चिराचरादुपस्मृतिमासलोपि रोषः क्षणप्रागुपि तिकोबभूव ॥ " ३

यहाँ रोष भाव वाच्य है, तथा उसका श्रम व्यंग्य। अतः यहाँ सिद्धान्त पक्ष को ध्वनि मान्य नहीं हो सकता। अतः पण्डितराज का ऐसे स्थलों के विषय में स्पष्ट निर्णय है :-

" तस्माद् भावप्रशान्तिरपि प्राधान्येन भावानामेव चमत्कारित्वम्, प्रशमादिस्तु-  
पसर्जनत्वमती न तस्य वाच्यतादोषः । " ४

१- " यद्यप्युत्पत्तिविनाशसंघिशिवस्तानां तत्संवन्धिनां भावानां च समानायां चर्वणावि-  
षयतायां न प्राधान्यं विनिगन्तुं शक्यते। तथापि स्थितौ भावेषु प्रधानतायां क्लृप्त-  
त्वात्, भावशान्त्यादिष्वपि तेष्वेव शान्त्यादिप्रतियोगित्वादिभिर्ब्रज्यमानेषु तस्याः  
कल्पयितमोचित्यात् । " रसगंगाधर, पृष्ठ १०४-५ ।

२- रसगंगाधर, पृष्ठ १५ ।

३- रसगंगाधर, पृष्ठ १०६ ।

४- रसगंगाधर, पृष्ठ १०६ ।



यहाँ एक प्रश्न उठता है। जब भाव, भावोदय, भाव-शान्ति, भवसन्धि, भावशाबलता- सभी प्रकार का ध्वनियाँ "भाव-ध्वनि" हैं, तो फिर क्यों तो उनके अलग अलग भेद हैं, और यदि उनके मूल में कोई वास्तविक भेदक तत्त्व है, तो फिर उसको पहिचान क्या है ? पण्डितराज इसका समाधान निम्न शब्दों में करते हैं:-

" इदं पुनर्भावध्वनिभ्यो भावशान्त्यादिध्वनीनां चमत्कारवैलक्षण्ये निदानम्, यदेकं चर्चणायां भावेषु स्थित्यवच्छिन्नामर्णादित्वम्, अमर्णादित्वमेव वा प्रकारः, अन्यत्र तु प्रशमावस्थत्वादिरपाति । " १

स्थिति-दशा में जो केवल भाव-ध्वनि है, उसमें आस्वाद का आचार होते हैं। स्थित्यवच्छिन्न अमर्णादि भाव, अर्थात् संधि संधि कहिए - अमर्णा आदि भाव - क्योंकि स्थिति में तो सभी भाव होते ही हैं - , जबकि भाव-शान्ति आदि में शान्ति, उदय आदि का अवस्थाएं भी भावों के साथ कुछ विशेष चमत्कार लिए रहती हैं। तात्पर्य यह कि इन भाव-ध्वनियों में भाव इन अवस्था-विशेषों में आकर ही चमत्कार होता है। इसी कारण उन्हें सहज पहचाना भी जा सकता है।

मुम्बई एवं विश्वनाथ ने तो इन भाव-ध्वनियों का विवेचन किया ही नहीं, केवल उदाहरण एवं नाम देकर चलता कर दिया है। अभिनव ने लोढ़ा-बहुत दृष्टि पात डधर अवश्य किया है। किन्तु सूक्ष्म विवेचन के साथ-साथ निर्णयात्मक व्यवस्था उन्हें पण्डितराज में आकर प्राप्त हुई है, वैसे कहीं प्राप्त नहीं हुई। भाव-ध्वनि पण्डितराज के भावों एक निखरा स्वरूप पा गयी है।

### भाव-शान्ति एवं भावोदय

अभिनव गुप्त का निवेदन है कि उन्होंने इन को पृथक् रूप-रेखाएं निरूपित की हैं। उनके विवेचन के यह निष्कर्ष निकलता है कि भाव, भावोदय, भाव-शान्ति को ध्वनि के रूप में एक भाव की स्थिति, उत्पत्ति, एवं शमात्मक स्थितियाँ हैं, भाव-सन्धि दो भावों की, तथा शाबलता अनेक भावों की। आचार्य विश्वेश्वर ने हिन्दी ध्वन्यालोक में अभिनव की मान्यताओं को संकलित करते हुए संधि एवं शाबलता को क्रमशः दो ओर तो से अधिक भावों का स्थितियाँ माना है, शौण की केवल एक भाव की। इस प्रकार अभिनव के



अभिनव के अनुसार भाव-शान्ति तथा भावोदय केवल एक भाव की स्थितियाँ छहरती हैं।

किन्तु पण्डितराज की यह बात इसी रूप में मान्य नहीं है। उनका कथन है। भाव-शान्ति में किसी दूसरे भाव के उदय की अपेक्षा है, तथा भावोदय में किसी पूर्व भाव की शान्ति की। यह निश्चित है कि केवल किसी एक भाव के होने पर भाव-शान्ति एवं भावोदय ध्वनिपा नहीं हो सकते हैं। फिर भी दोनों में एक साथ एक सा चमत्कार नहीं होता। चमत्कार का केन्द्र-बिन्दु कोई एक अंश हो होता है। उसी चमत्कार के आधार-भूत अंश की ध्यान में रख कर भावोदय या भाव-शान्ति नाम दिये जाते हैं।

" यद्यपि भाव-शान्ति भावान्तरोदयस्य, भावोदये वा पूर्वभावशान्तेरावश्यकत्वा-  
न्नानयोर्विविक्तो व्यवहारस्य विषयः, तथापि द्वयोरेक चमत्कारविरहात्, चमत्काराद्यो-  
त्वाच्च व्यवहारस्य अस्ति विषयविभागः। " २

#### भाव-सन्धि

भाव-सन्धि के विवेचन में भी पण्डितराज ने कुछ मौलिकता का परिचय दिया है। इसका स्वरूप वे निम्न शब्दों में प्रस्तुत करते हैं :--

" भावसन्धिरन्योन्यान्भूतयोरन्योन्याभिभवनयोग्ययोः सामानाधिकरणम्। " ३

" एक दूसरे से दबे हुए न हों, पर एक दूसरे की दबाने की योग्यता रखते हों, ऐसे दो भावों के सामानाधिकरण - एक जगह रहने - को भाव-सन्धि कहते हैं। " ४

तात्पर्य यह कि दो चमत्कार-शाली भावों के संचार में जो चमत्कार है, वह भाव-सन्धि का है। अन्योन्यान्भूत एवं अन्योन्याभिभवनयोग्य दो विशेषणों द्वारा भाव-सन्धि-गत दोनों भावों के सौन्दर्य का जैसा स्वरूप-निर्धारण पण्डितराज ने किया है, वैसा अन्य आचार्यों में नहीं मिलता।

१- " अभिचारों की स्थिति में उदय, स्थिति और अपाय - तीन दशा हो सकती हैं। इनमें से उदय या स्थिति को भावोदय नाम से और अपाय वाली दशा भाव-प्रशम नाम से अलग कह दिया गया है। स्थिति वाली दशा के भी तीन प्रकार हो सकते हैं- जैसे एक भाव की स्थिति, अथवा दो भावों की स्थिति, अथवा दो से अधिक भावों की स्थिति। इनमें दो भावों की स्थिति को भाव-सन्धि और दो से अधिक भावों की स्थिति को भाव-शान्ति कहा जाता है। "

हिन्दी ध्वन्यालोक : आचार्य विश्वेश्वर : पृष्ठ ११७ ।

२-रसगंगाधर : पृष्ठ १०३ ।

३- रसगंगाधर : पृष्ठ १०३ ।

४-रसगंगाधर : चंद्रिका : मदनमोहन मीना : पृष्ठ ३४९।







ध्वनि की यहाँ परिभाषा लगती है:-

" यत्रार्थः शब्दे वा तमर्थमुपसर्जनकृतस्वार्थः ।

अन्तः काव्य-विशेषः स ध्वनिरिति ह्यसूरिभिः कथितः ॥ " १

अतः भाव-ध्वनि में ध्वन्यमान भाव ही प्रधान होते हैं। किन्तु अभिनव गुप्त जो कि आग्रह-पूर्वक सर्वत्र रस को ही काव्यात्मा के रूप में मानते हैं, भाव-ध्वनियों के स्थल में भी किसी रस विशेष की स्थिति आवश्यक समझते हैं :-

" यद्यपि रसेनैव सर्वं जीवति काव्यम्, तथापि तस्य रसस्यैक्यनस्य क्षमत्कारात्सनीपि नृत्तश्चिदंशात्प्रयोजकोभूतादपिकोऽसौ क्षमत्कारी भवति। तत्र यदा कश्चिदुद्विगतावस्थां प्रतिपन्नो व्यभिचारो क्षमत्कारातिशयप्रयोजको भवति, तदा भाव-ध्वनिः । " २

तात्पर्य यह कि रसांगता अभिनव किसी रस-विशेष के पूर्ण परिपाक होते हुए भी भाव-ध्वनि का अवकाश स्वीकृत कर लेते हैं। यह मान्यता परस्पर विरोधिनो लगती है। वहाँ रस का पूर्ण परिपाक है, वहाँ कोई अन्य संचारी भाव प्राधान्येन क्षमत्कार का आधार रह कैसे सकता है ? तब रस की प्रधानता अक्षत रह कैसे सकती है ? किन्तु अभिनव के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण परवर्ती आचार्य इसे यों ही स्वीकृति देते रहे। मम्मट ने भी स्थिर किया :-

" मुख्ये रसेऽपि तेऽहिंगत्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन । " ३

ते भावशान्त्यादयः। अहिंगत्वं राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत् । "

यद्यपि मम्मट ने राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत् कह कर इस स्थिति को कुछ समझाने का प्रयत्न किया है, तथापि "मुख्ये रसे" और "अहिंगत्वं" की बात परस्पर विरोधिनो लगती ही है। काव्य-प्रकाश के टीकाकारों ने भी अभिनव तथा मम्मट को इस मान्यता को नत-मस्तक स्वीकार किया है :-

" ननु व्यभिचारिस्थले नियमतो मुख्यस्य रसस्यावस्थापनं तद्वत् भावोदाहरणम् ? कथं व भावध्वनित्वम् ? रसांगत्वेन तेषां गुणाणावादित्याह--"मुख्ये रसे०" । " ४

१- ध्वन्यालोक : उक्त १ : कारिका ११ ।

२- लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ १७५ ।

३- काव्य-प्रकाश : सूत्र ५१ तथा वृत्ति : उल्लास ४ : पृष्ठ १२७ ।

४- प्रदीप : काव्य-प्रकाश : पृष्ठ १३३ ।



किन्तु यह परस्पर विरोध स्वयं अभिनवगुप्त के विवेचन में ही झलक उठता है:-

विक्रमोर्वशास्य के "तिष्ठेत्कोपवशात्" इत्यादि श्लोकों की मीमांसा करते हुए

अभिनवगुप्त कहते हैं:-

"अत्र हि विप्रलम्भरससद्भावेऽप्योपतिवितर्काख्यव्यभिचारिचमत्किञ्चाप्रयुक्त आस्वादा-  
तिशयः । " १

अभिनव का कथन है, यद्यपि यहाँ विप्रलम्भ रस विद्यमान है, फिर भी वितर्क नामक व्यभिचारी के चमत्कार के कारण ती. आस्वादातिशय है। एक ओर रस के पूर्ण प्रमानन्द मानना, दूसरी ओर "व्यभिचारि-चमत्कारप्रयुक्त आस्वादातिशय" स्वीकार करना स्वकीय उक्तियों में परस्पर टकराव नहीं तो क्या है ?

पण्डितराज अभिनव-परम्परा को इस मान्यता से असहमति प्रकट करते हैं। वे वैकल्पिक-रूप में ही भाव-ध्वनि के स्थल में पार्यन्तिक रूप से रसाभिव्यक्ति मान सकते हैं :-

"अस्तु वा प्राधान्येन ध्वन्यमानस्यापि भावस्य प्रान्ते रसाभिव्यञ्जकत्वम् । " २

किन्तु इस विचार में उनका अपना सिद्धान्त यही है कि यदि पार्यन्तिक रूप में भाव-ध्वनि के सभी स्थलों में रस मान लिया जायगा, तो फिर भाव-ध्वनि रहेगा ही क्या ? जब चमत्कार का आधार कोई विशेष भाव होता है तभी तो भाव-ध्वनि कहा जाता है। तब उसी स्थल पर रस को भी चमत्कार मानना असंगत है। और यदि यह कहा जाय कि उक्त स्थलों में रस रहता ही है, किन्तु चमत्कार-होन अथवा होन-चमत्कार रहता है, तो यह बात स्वयं हास्यास्पद है। रस को चमत्कार-होन कहा नहीं जा सकता:-

"प्रधानध्वन्यमानभावे रसव्यञ्जकताभावादव्याप्यपत्तेश्चान्न च तथापि प्रान्ते रसो-  
भिव्यज्यत एवेति वाच्यम्, भाव-ध्वनिलोपप्रसंगात्। भावचमत्कारप्रकर्षाद्भाव-ध्वनित्वम्।

रसस्तु तत्र व्यज्यमानोऽप्यचमत्कारित्वान्न व्यपदेशहेतुरित्यपि न शक्यं वदितुम्, चमत्कार-  
रहितरसव्यक्तो मान्यः । ३ यामिप्राकृक्मानेनानन्दाशाविनाभावस्य प्रागेवावेदनात्।"

१- लो न : ध्वन्यालोक : पृष्ठ १७१ ।

२- रसगंगाधर : पृष्ठ ७५ ।

३- रसगंगाधर : पृष्ठ ७५-५ ।



### भाव-ध्वनि की व्यञ्जक सामग्री

रस की अभिव्यक्ति के लिए विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारि-भाव - तीनों का होना अपेक्षित होता है। जहाँ किसी एक या दो का निरूपण न भी हो, वहाँ उन्हें आक्षेप-गम्य मान लेना चाहिए - ऐसे आचार्यों की मान्यता है। किन्तु भाव-ध्वनि के लिए रस-सामग्री की समग्रता इस रूप में अपेक्षित नहीं। साथ ही रस के समान ही इस की सामग्री के प्रति रूढ़ दृष्टि-कोण भी नहीं है। पण्डितराज ने इस विषय का भी बड़ा मार्पिक विवेचन प्रस्तुत किया है।

सर्व-ग्राम बात तो यह है कि "भाव-व्यञ्जना" के लिए विभाव एवं अनुभाव ही पर्याप्त समझ जाते हैं, व्यभिचारि-भावों का पोषण अनिवार्यतः अपेक्षित नहीं। फिर उनके स्वरूप के विषय में भी रस की अपेक्षा कुछ भिन्नता है। यहाँ हम क्रमशः विभाव, अनुभाव, एवं व्यभिचारियों के उस स्वरूप पर विचार करते हैं, जो भाव-ध्वनि के लिए पण्डितराज के अनुसार अपेक्षित होता है।

#### विभाव

भाव-ध्वनि में रस के समान विभावों की आलम्बन तथा उद्दीपन रूप में सुशुद्ध योजना आवश्यक नहीं। किसी एक व्यभिचारी भाव के समुदय के लिए कोई सा सामान्यतः निमित्त कारण भी "विभाव" का काम दे सकता है।<sup>१</sup> कोई भाव, कोई विचार, कोई परिस्थिति ही किसी "भाव" को जन्म दे सकती है। "दृष्ट-प्राप्ति" से हर्ष उत्पन्न हो जाता है। रूप-धन-विद्या के आश्रितकर्ष के आनन्द से "गर्व" उत्पन्न हो जाता है। "सन्देह" के अनन्तर फल-रूप में "तर्क-भाव" का उदय होता है। अतः रस के समान भावों की व्यञ्जना के लिए सामग्री की समग्रता अपेक्षित नहीं। ~~यहाँ हम~~ <sup>यहाँ हम</sup> वह उपलब्ध हो सके, तो किसी की क्या आपत्ति?

१- "क" यद्यपि विभावानुभावानामोत्सव्य- - - प्रसादानां च व्यभिचारिणां केवलानामत्र स्थितिः, तथाप्येतेषामसाधारणत्वमित्यन्यतमद्वयादोपकृत्ये सति नानेकान्तिकत्वमिति। "काव्य०" पृ० ९८।

"ख" सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरे-स्य वा भवेत्।

भट्टित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते ॥ साहित्य-दर्पणः : ३।६६

"ग" " - - - अतो साधारणेऽपीतरद्वयमादिष्यते, ततो मिलितेस्तदभिव्यक्तिः ।"

प्रदीपः : काव्य-प्रकाशः : पृष्ठ १०५ ।

२- " विभावानुभावौ चात्र व्यञ्जकोः - - - । विभावस्त्वत्र व्यभिचारिणो निमित्त-कारणसामान्यम्, न तु रसस्यैव सर्वकालम्बनोद्दीपने अपेक्षितो यदि तु क्वचित्संभवस्तदा न जायेत । " रसगोषधरः : पृष्ठ ७६ ।



" इष्टप्राप्त्वादिजन्मा सुखविशोणा हर्षः । " १

" रूपधनविवादिप्रयुक्तात्मोत्कर्षजानाद्योनपरावहेतुर्न गर्वः । " २

" संदेहायनन्तरं जायमान उदो वितर्कः । " ३

अतः विभाव के सम्बन्ध में पण्डितराज का यही निष्कर्ष है:—

" विभावस्त्वत्र निमित्तकारणसामान्यम्, न तु रसस्यैव सर्वथा लम्बनी दीपने अपेक्षितः । "

### अनुभाव

अनुभाव भी आंगिक चैष्टाओं तक ही सीमित नहीं है, यह हम पीछे देख चुके हैं। जिस प्रकार कारण रूप में कोई भाव "विभाव" हो सकता है, उसी प्रकार से कार्य-रूप में आकर कोई भाव दूसरे भाव का अनुभाव भी हो सकता है। भावों को इस अनुभाव-रूपता का पण्डितराज ने स्पष्ट उल्लेख किया है।

" एषु च संचारिभावेष्ण मध्ये केचन केषांचन विभावा अनुभावश्च भवन्ति। तथापि ईर्ष्याया निर्वेदं प्रति विभावत्वम्, असूयां प्रति चानुभावत्वम्। चिन्ताया निद्रां प्रति विभावत्वम्, नीत्सुख्यं प्रति चानुभावतेत्यादि स्वमूहम् । " ५

भारतीय चित्तवृत्तियों का नहीं, ज्ञानात्मक चित्तवृत्तियों का भी, जो कि एक भाव की प्रतिक्रिया-स्वरूप कार्यरूप में उत्पन्न होता है, अनुभाव की श्रेणी में ही रखी जायेंगी। भ्रम को अनुभाव रूप में निरूपित हम पीछे देख चुके हैं।<sup>६</sup>

भावों के कार्य-भाव को अनुभावों के रूप में स्वीकार करना अनुभावों के प्रति बड़ी व्यापक दृष्टि है। मूलतः इस दृष्टि को प्राचीन आचार्यों से विपरीत नहीं कहा जा सकता। अभिनव गुप्त की दृष्टि में भी यह व्यापकता पायी जाती है। यद्यपि इस दृष्टि को सर्वथा मौलिक तो नहीं कहा जा सकता, तथापि यह निस्सन्देह है कि ऐसी सूक्ष्म बातों का और

१- रसगंगाधर : पृष्ठ ७६ । २- रसगंगाधर : पृष्ठ ८४ । ३- रसगंगाधर : पृष्ठ ९१ ।

४- रसगंगाधर : पृष्ठ ७६ । ५- रसगंगाधर : पृष्ठ ७८ ।

६- " आलागुरुद्वे सा आलावलि व्यालावलि क्लोमनते ।।

इत्यत्र आलावलि सद्दृशत्वप्रकारक्यानेऽपि व्याप्तिः, तस्यै विप्रलम्बानुभावत्वेन रसाभिव्यञ्जकत्वं, चित्तवृत्तित्वाच्च । "

रसगंगाधर : पृष्ठ ७५ ।

७- " भावशब्देन तावच्चित्तवृत्तिविशोणा एव विवक्षिताः । - - - । तेषां तु

योग्यतावशादप्यप्योग स्यादिति संचारिविभावानुभावरूपता संभवति । "



पण्डितराज ने विशेष ध्यान दिया है। प्रत्येक विवेचन को सूक्ष्म रेखाएँ उनमें उभर कर स्पष्ट हो जाती हैं।

### व्यभिचारो भाव

किसी एक भाव के व्यञ्जन में अन्य भाव के व्यभिचारो हो सकने के विषय में पण्डितराज का मान्यता है, कि एक संचारी को व्यञ्जना के लिए दूसरे संचारी का अनिवार्यतः होना अपेक्षित नहीं है।<sup>१</sup> फिर भी एक व्यभिचारो दूसरे की व्यञ्जना में सहायक हो सकता है। यहाँ एक प्रश्न उठता है। जिस प्रकार रस-व्यञ्जना में एक व्यभिचारो अपनी कारण-सामग्री से उभर कर आता है, उसी प्रकार यदि भाव-व्यञ्जना में भी अपना पृथक् कारण सामग्री से परिपुष्ट हो कर आवेगा, और फिर दूसरे व्यभिचारो को, जोकि उस स्थल में प्रकृत रूप में व्यञ्जित हो रहा है, पुष्ट करेगा, तो फिर यह निर्णय कैसे किया जा सकेगा कि प्रधान कौन है, अप्रधान कौन ? जिसे व्यञ्जक कहा जाता है, वह भी तो स्वयं अपनी पूर्ण कारण-सामग्री से व्यञ्जित हो कर आ रहा है, फिर उसे ही प्रधान क्यों न कह दिया जायगा ?<sup>२</sup>

अतः पण्डितराज को इस विषय में यह व्यवस्था है कि भाव-ध्वनि में व्यञ्जक व्यभिचारो की स्थिति अधिक पुष्ट नहीं होनी चाहिए। व्यञ्जक को व्यञ्जना के लिए पृथक् विभावादि सामग्री नहीं जुटानी चाहिए। जिस सामग्री से प्रधान भाव को व्यञ्जना हो रही है, उसी से व्यञ्जक भाव भी नान्तरोयक रूप में व्यञ्जित होना चाहिए। उदाहरण-स्वरूप गर्व को प्रधान रूप से व्यञ्जना में अमर्ष नान्तरोयक रूप से साथ लगा रहता है, अमर्ष की व्यञ्जना में गर्व। इस प्रकार के नान्तरोयक रूप से साथ रहने वाले भाव की व्यञ्जना के लिए अलग से विभावादि सामग्री अपेक्षित नहीं होती। इस रूप में वह अपेक्षाकृत दुर्बल ही होता है, तब उसे प्रधान को जाने का प्रश्न ही नहीं उठता।<sup>३</sup>

१- " न त्वेकस्मिन् व्यभिचारिणि ध्वन्यमाने व्यभिचारान्तरं व्यञ्जकतयाऽवश्यमपेक्ष्यते। तस्यैव प्राधान्यापत्तेः। " रसगंगाधर : पृष्ठ ७६ ।

२- " तस्यैव च प्राधान्यापत्तेः। " रसगंगाधर : पृष्ठ ७६ ।

३- " वस्तुतस्तु प्रकरणादिवशात्प्राधान्यमनुभवति कस्मिंश्चिद्भावे तदोयसामग्रीव्यङ्गत्वेन नान्तरोयकतया तनिमानमावहतो व्यभिचारान्तरस्याद्भगत्वेन न दातिः। यथा गर्वादा-वमर्षस्य, अमर्षादौ वा गर्वस्य । रसगंगाधर : पृष्ठ ७६ ।







असूया, चपलता, निर्वेद के लक्षणों में तो स्पष्ट ही चित्तवृत्ति शब्द का प्रयोग हुआ है। अन्य भावों में भी उनके चित्तवृत्ति-पक्ष को नहीं भुलाया गया है।

भरत-परम्परा में मान्य कुछ संचारी भाव ऐसे आते हैं जिनके नाम से उनका शारीर पक्ष ही अधिक सूचित होता है। मानस पक्ष अपेक्षाकृत गौण ही दिखायी पड़ता है। हर्ष, स्मृति, ब्रीडा, मोह, धृति, शंका, गुलानि, मम दैन्य, न्तिता, गर्व, मति, त्रास, अमर्ष, उग्रता, उन्माद, वितर्क, विषाद, शीत्सुन्य, आवेग, आलस्य, असूया, चपलता तथा निर्वेद की तो कोई बात नहीं, उनकी चित्तवृत्ति-रूपता तो उनके नाम से ही स्पष्ट है। मद, श्रम, निद्रा, व्याधि, सुप्त, विबोध, अवहित्थ, मरण, जड़ता, तथा अपस्मार जैसे भावों के विषय में आपत्ति उठायी जा सकती है कि ये दशाएँ चित्तवृत्ति-रूप नहीं हैं, इनमें अधिकांश योग शारीर अवस्था का ही है। आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर ऐसी आपत्तियाँ उठायी भी गयी हैं।<sup>१</sup>

भाव चित्तवृत्ति-रूप हैं, यह तथ्य अभिनव गुप्त को भी स्वीकृत है। उन्होंने इसी दृष्टि से भरत के शब्दों की भी व्याख्या की है। पण्डितराज भी उनके चित्तवृत्ति पक्ष से परिचित हैं।

जहाँ तक भावों के अनुभूत्यात्मक पक्ष का सम्बन्ध है, उनकी स्थिति आन्तरिक ही है। तथापि अपने बाह्य पक्ष में वे कुछ शारीर विकारों से भी सम्बद्ध रहते हैं। मरण-भाव का विचन करते हुए पण्डितराज इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख करते हैं:—

"भावेणु च सर्वेषु कार्यसंवर्तितया शरीरप्राणसंयोगस्य हेतुत्वात्।" १

कई भावों की इस शारीर-पक्षीयता को देख आधुनिक समालोचक कुछ आपत्तियाँ करते हैं।

- 1- Jadata or stupor is not a feeling by itself, but it pre-supposes the existence of a feeling or a Bhava. P.136.  
Marana or death again is not a feeling or a Bhava. P.130.  
Mada or intoxication does not refer to any particular feeling P.138.  
Supta by it-self, is not a particular feeling or Bhava. P.139.  
Nidra. It cannot be a Bhava or a state of consciousness. P.139.  
Apasmar or epilepsy is a disease and not a feeling. P.140.  
Vyadhi is a sickness due to physical de-rangement. P.142.

Psychological Studies In Rasa, Dr. Rakesh.

- 3- It (Glani) is nearly the consciousness of the organic sensations and not a mental affection. Ibid. P.135.  
Srama is the feeling of fatigue caused by some bodily exertion. It is again, like Glani, nearly a consciousness of the organic sensations and not a mental affection. Ibid. P.134.



यहाँ हमारा इतना ही विनम्र निवेदन है कि इन भावों में जो चित्तवृत्ति-पक्षीय अंश है, उसी को ध्यान में रख कर उन्हें भाव कहा गया है, केवल वायु संवेदनों को ध्यान में रख कर नहीं।

"चित्तवृत्ति" शब्द का सीमा भी भारतीय दर्शन का छाया में समझनी चाहिए, आधुनिक मनोविज्ञान को संकुचित सीमाओं में नहीं। चित्त को सभी अवस्थाएँ - सुखात्मक, दुःखात्मक, अज्ञानात्मक - वृत्तिरूप हैं। हेतुसिद्धि "दृष्टप्राप्त्यादिबन्धा सुखविशेषा" दर्श एक भाव है। "संस्कारजन्य-ज्ञान-रूपा स्मृति" को भी तभी भाव कहा गया है। "आधि-व्याधिजन्यबलहानिप्रभव दुःखविशेष-रूपा" ग्लानि, तथा "खेद-विशेष रूप" श्रम को भाव-कोटि में गिना जा सकता है। इतना ही नहीं, जिन अवस्थाओं में चित्त सम्मोहित एवं अक्रिया-शाली होता है, वे भी चित्त को विशेष वृत्तियाँ ही हैं। तभी "श्रमादि-प्रयोज्य चेतःसम्मोहन" को निद्रा भाव कहा गया है, "रोग विरह आदि से उत्पन्न होने वाला व्याधि-रूप मनस्ताप भी एक भाव है। ग्लानि, श्रम, बहता, मरण, तथा निद्रा जैसे भावों में होने वाले चित्त को अक्रिया-शाली अवस्था को भी एक वृत्ति ही कहा जायगा। पण्डितराज ने चित्तवृत्ति के सम्बन्ध में यहाँ व्यापक दृष्टि-कोण अपनाया है, जिस के मूल में भारतीय दर्शन का गहरा नांव है।

ऊपर हमने मद, श्रम, निद्रा आदि कुछ भावों की शारीर-पक्षीयता का उल्लेख किया है जिसके कारण इन को आलोचना की अवकाश मिला है। इस आलोचना के अनुसार उन्हें भाव-दीप्त से दृष्टिभूत कर देना चाहिए। इस अवसर के दो कारण हैं। एक तो ये नाम प्रचलित भाषा में शारीर संवेदनों को ध्यान में रख केर हा प्राप्ति प्रयुक्त होते हैं। दूसरे दश-रूपक-कार धनंजय तथा साहित्य-दर्पण-कार विश्वनाथ के बहानों में शारीर-पक्षीयता का अधिक उभरा प्रतीत होता है। इन आलोचकों ने भावों को अनिवार्य चित्त-वृत्ति-रूपता पर ध्यान नहीं दिया। और, यह एक सीमा है कि अपनी सरल शैली के कारण दश-रूपक तथा साहित्य-दर्पण ही सामान्य विचारियों के सम्पर्क में अधिक आते हैं। अतः आधुनिक आलोचना को सामान्य दृष्टि भी इन भावों की शारीर-पक्षीयता पर ही पड़ी है। किन्तु, हमने अभी कहा है, पण्डितराज ने इस दुर्बलता को अवकाश नहीं दिया। उन्होंने इसे बहुत कुछ परिमार्जित करने का प्रयत्न किया है। एक ओर तो इन भावों के अनुभूति-पक्ष को प्रमुखता देकर, दूसरी ओर चित्तवृत्ति को व्यापक अर्थ में ग्रहण करके, इनको भाव-रूपता को अधुण्य रहने का प्रयत्न किया गया है। यह क्यों किया गया ? तथा आधुनिक आलोचक



के समान इनकी दुर्बलताओं का उद्घाटन कर के इन्हें विशीर्ण क्यों नहीं किया गया ? इन बातों का एक ही उत्तर है। पण्डितराज भरत का मान्यताओं को उस युग में भी, नूतन दृष्टि के आलोक में भी, उतना ही समर्थ समझते हैं, जितनी वे पहले थे। और यदि कहीं योड़े बहुत उलट-फेर की आवश्यकता भी हो, तो भी वे यथा-संभव उस चली जाती हुई पुरानी परम्परा को विशृंखल होने देना नहीं चाहते। यही कारण है, कि उन्होंने समस्त व्यभिचारियों की चित्तवृत्ति-रूपता का समर्पण करते हुए उनका परिमार्जन किया है।

अब हम इन विवादास्पद भावों के लक्षणों को लेकर देखेंगे कि पण्डितराज ने किस प्रकार उनकी भाव-रूपता को सुरक्षित रहने का प्रयास किया है :-

मद- " मदाद्युपयोगवन्मा उत्सासात्प्रशयनहसितादिहेतुरिच्छित्तवृत्तिविशेषो मदः । " १

यहां उत्सासात्प्रशयनहसितादिहेतु चित्तवृत्ति को मद कहा गया है।

श्रम- " बहुतरशरीरव्यापारवन्मा निश्वासांगसंमर्दनिद्रादिकारणीभूतः श्रमः । " २

यहां शरीर-व्यापार या "आर्गेनिक सेन्सिबिलिटी" को श्रम कहा गया है। शरीर-शक्ति तो उसका अनुभाव-मात्र है।

निद्रा- " श्रमादिप्रोज्य चेतःसम्मोहनं निद्रा । " ३

चित्त को सम्मोहनात् मक अवस्था-विशेष निद्रा है। यह अवस्था-विशेष चित्तवृत्ति-रूप ही है।

सुप्त- " निद्राविभावोत्पन्नं सुप्तम् । " ४

निद्रा से उत्पन्न होने वाला ज्ञान सुप्त है। कि शरीर की क्रिया-होन अवस्था और निद्रा को भी, वैसे कि सुप्त का विभाव कहा गया है, केवल चक्षुओं की दृष्टि अवस्था ही नहीं समझना चाहिए, "चेतःसम्मोहन-रूपा" समझना चाहिए।

विवोष- " निद्रानाशोत्तरं जायमानो बोधो विवोषः । " ५

केवल आर्सें सुलसा विवोष नहीं, चेतःसम्मोहनात्मक दशा को समाप्ति के अनन्तर उत्पन्न होने वाला चित्त का बोधात्मक दशा का नाम विवोष है।

१- रसगंगाधर : पृष्ठ ८२ ।

२- रसगंगाधर : पृष्ठ ८३ ।

३- रसगंगाधर : पृष्ठ ८५ ।

४- रसगंगाधर : पृष्ठ ८६ ।

५- रसगंगाधर : पृष्ठ ८७ ।



व्याधि-

" रोगविरहादिप्रभवो मनस्तापो व्याधिः । " १

ज्वर, सन्निपात आदि व्याधि नहीं, मानस ताप व्याधि है। इसे "व्याधि" भी नहीं समझना चाहिए। क्योंकि इसका सम्बन्ध रोग से है, जबकि व्याधि का सम्बन्ध मानसो व्याधि से होता है।

अवहित्वम्-

" व्रीडादिभिर्निमित्तेर्हर्षादिनुभावानां गोपनाय जनितो भावविशेषो -  
वहित्वम् । " ३

हर्षादि अन्य अनुभावों के गोपन-काल में जो चित्तवृत्ति या मनोदशा है, वह अवहित्व है, न कि स्वतः वह गोपन। धनंजय एवं विश्वनाथ में स्पष्ट हो शरीरपक्षाघात अधिक है।<sup>४</sup>

अपस्मार-

" विवोगशोकभयजुगुप्सादानामतिशयाद् ग्रहावेशादेश्चोत्पन्नो व्याधि-  
विशेषो पस्मारः । " ५

अपस्मार को पण्डितराज व्याधि-विशेष कहते हैं। वे व्याधि को पूर्व ही मनस्ताप कह चुके हैं। अतः अपस्मार भी केवलरोग-विशेष ही नहीं, रोग-कालीन मानसिक स्थिति-विशेष है। अतः इसकी भी चित्तवृत्ति-पक्षाघात स्पष्ट है।

मरण-

मरण को धनंजय एवं विश्वनाथ मृत्यु-रूप ही मानते हैं, चाहे अभांगलिक होने के कारण उसका वर्णन उन्ने अनभिहित हो:--

" मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्हत्वाच्च नोच्यते । " ६

" शरावेर्मरणं वाक्त्वामोऽहंगपतनादिवृत् । " ७

किन्तु पण्डितराज मरण से पूर्व डोरे वाली चित्तवृत्ति को ही मरण कहते

" रोगादिजन्या मूर्छारूपा मरणप्रागवस्था मरणम् । " ८

१- रसगंगाधर : पृष्ठ ८५ ।

२- " व्याधिर्विरादिवात्मा वैर्मलौत्कम्पनादिकृत् । " साहित्य-दर्पण : ३।१७० ।

" व्याधयः सन्निपातागास्तैषामन्यत्र विस्तरः । " दश-रूपक : ४।२९ ।  
विश्वनाथ एवं धनंजय का व्याधि में स्पष्ट हो शरीर-पक्षाघात की प्रधानता है ।

३- रसगंगाधर : पृष्ठ ८९ ।

४- " लज्जावैर्विस्त्रिगुप्ताववहित्वाहंगविस्त्रिया । " दश-रूपक : ४।२९ ।

" भयगीरवलज्जावैर्विस्त्रिगुप्ताववहित्वाहंगविस्त्रिया ।

व्यापारान्तरसक्त्यन्यथावभाषणविलोकादिकरी । " सा० द० : ३।१६४ ।

५- रसगंगाधर : पृष्ठ ९६ ।

६- दश-रूपक : ४।२९ ।

७- साहित्य-दर्पण : ३।१६० ।

८- रसगंगाधर : पृष्ठ ९० ।



वे इस सम्बन्ध में अपना दृष्टि-कोण और भी स्पष्ट कर देते हैं :--

" न चात्र प्राणवियोगात्मकं मुख्यं मरणमुचितं ग्रहीतुम् । चित्तवृत्त्यात्मकेषु भावेषु तस्याप्रसवतेः । भावेषु च सर्वेषु कार्यसहवर्तितया शरीरप्राणसंयोगस्य हेतुत्वात् । " १

जड़ता-

" चिन्तोत्कण्ठाभ्यविरहेष्टानिष्टदर्शनव्यवणादिबन्धावश्यकर्तव्यार्थप्रतिसंधान-  
विकला चित्तवृत्तिर्जड़ता । " २

जड़ता केवल शरीर का अज्ञ रह जाना नहीं, कुछ विशेष अवस्थाओं में चित्त की वह अवस्था है जिसमें कर्तव्यार्थ के प्रति चेतना नहीं रहती। जड़ता स्पष्ट ही चित्तवृत्ति रूप में ला गयी है। जड़ता की अप्रतिपत्ति-रूपता की ओर धनंजय की भी दृष्टि गयी है:--

" अप्रतिपत्तिर्जड़ता स्याद्विष्टानिष्टदर्शनिभुतिभिः ।

अनिमिषानयननिरोहणतूष्णोभावादयस्तत्र ॥ " ३

इस प्रकार हम देखते हैं कि पण्डितराज ने प्रत्येक भाव में उसके चित्तवृत्ति-पक्ष की सामने रखा है। जिन भावों की धनंजय आदि आचार्यों ने सूत्र पदा में लिखा था, फलतः वे " भाव-बोझ " से बलिष्कार्य प्रतीत होने लगे थे, पण्डितराज ने उन भावों की भी वैज्ञानिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। उनके लक्षणों में एक आवश्यक मोड़ स्वीकार कर के भारत की मान्यता की नवीन-तम तार्किक युग में भी प्रतिष्ठित रह सकने की क्षमता प्रदान कर के उन्होंने एक स्तुत्य एवं मौलिक प्रयत्न किया है।

भाव-लक्षणों के विवेचन में सबसे बड़ी विशेषता है उनकी जागरूक चित्तवृत्ति-पक्षयिता ।

संचारी भावों की संख्या

रस-संख्या के समान ही संचारी भावों की संख्या का प्रश्न भी संस्कृत साहित्य-शास्त्र में ऐकमत्ता से नहीं सुलझाया गया। भारत ने इनकी संख्या ३३ निश्चित की थी। मोटे तौर पर रस एवं ध्वनि-वादी आचार्यों ने इस संख्या को तथा भावों के स्थायी, संचारी तथा

१- रसगंगाधर : पृष्ठ ९० ।

२- रसगंगाधर : पृष्ठ ९३ ।

३- दश-रूपक ४ ४।१३ । तथा साहित्य-दर्पण : ३। १५३ ।।



साहित्यिकों के वर्गीकरण को स्वीकार कर लिया। तथापि उनका संख्या उनके पारस्परिक संबंध, स्थायियों के संचारित्व एवं संचारियों के स्थायित्व की संभावनाओं आदि के विषय में मत-भेदों के साथ विभिन्न दृष्टि-कोण उपस्थित किए जाते रहे। इस विषय का सुव्यवस्थित अध्ययन डा० राधवन महोदय ने अपने शोध-ग्रन्थ "दा नम्बर ऑफ़ रसाज" में प्रस्तुत किया है।

संचारियों का संख्या-परिवर्तन के बारे में कई प्रकार की बातें कही जाती रही हैं। एक तो साथे रस-संख्या के प्रश्न ने संचारा-संख्या के प्रश्न को प्रभावित किया है। भारत का निश्चित रस-संख्या को स्वीकार न करने वालों के द्वारा अनेक नवीन रसों के नाम समर्पित किये गये हैं। प्रेम्, वात्सल्य, प्रीति, स्नेह, भक्ति, वद्धा, लील्य, मृगया, अक्ष, उदात्त, उद्भट, मधुर, माया, कार्पण्य, व्रीहिनक आदि को रस-श्रीति में लाने के प्रयत्न किये गये। जिनके स्थायियों की या तो पूर्ण से कल्पना की गयी या फिर संचारियों में परिगणित भावों में से किसी भाव को उठा कर स्थायी की श्रुति तक पहुँचाया गया। इसके अतिरिक्त और नये संचारियों की उद्भावना का मार्ग भी कभी कभी अपनाया गया। इस श्रुति के लोकोपयोग का तर्क यहाँ रहा कि समस्त भाव अगत् को एक सीमित संख्या में नहीं लाया जा सकता। भारत परम्परा के बद्दाल अनुपायियों के ऊपर यह उत्तरदायित्व रहा कि वे परिवर्तन-वादिनों के विक्षेपों का समाधान करें। जो नये स्थायी कल्पित किये गये, उन्हें तथा जो नये संचारा कल्पित किये गये, उन्हें भारत के परिगणित भावों में घेन-केन-प्रकारेण अन्तर्भूत कर के दिखाते रहे। ध्वनि-वादी ग्रन्थों में यह-तब बिहारे विबोद इस चेतना की स्पष्ट सूचना देते हैं।

इस विषय में पण्डितराज भी अधिक-तम संभावना के साथ जाचारा भारत की मान्यताओं को नष्ट न रखना चाहते हैं। किंतु एक जागरूक साहित्य-कार के समान भावों की अनेक-रूपता को स्वीकार करते हैं। रस-संख्या-विवेक करते हुए वे "भक्ति-रस" को अपने प्रीति-तर्कों से समर्पित करते हैं, किंतु भारत के साहित्य-कारों के सामने रखते के लिए "भक्ति" को पूर्ण रस न मान कर "देवादि-विषयक रति भाव" के ही अन्तर्गत रस लेना स्वीकार कर लेते हैं। यहाँ चार उन्होंने संचारियों का संख्या के विषय में अपनाया है। अनेक सूक्ष्म भाव हैं, कौन गिन सकता है। भाव-अगत् अनन्त है। अतः हम जिनमें नवीन भाव कहते हैं, भारत के मान्य किसी न किसी भाव में उनका अन्तर्भाव किया जा सकता है। जब इस प्रकार से एक प्राचीन मान्यता अक्षुण्ण बना रह सकता है, तो फिर उसे क्यों तोड़ा जाय। अतः वे कहते हैं :—



" अथ कथमस्य संख्यानियमः ? मात्सर्गद्वेगदम्भेष्वविवेकनिर्णयकत्वस्यामाकुतको-  
त्कण्ठाविनयसंशयघाट्यदादानामपि तत्र तत्र लक्ष्येषु दर्शनादिति चेत्, नाउक्तेष्वेषाम-  
न्तर्भाविन संख्यानन्तरानुपपत्तेः । असूयातो मात्सर्गस्य, त्रासादुद्वेगस्य, अवहित्थालाद्भावाद्  
दम्भस्य, अमर्षादाघायाः, मतेविवेकनिर्णययोः, दैन्यात्-लेव्यस्य, धृतेः क्षमायाः, औत्सुक्या-  
त्तुतुकोत्कण्ठयोः, लज्जायाः विनयस्य, तर्कसंशयस्य, चापलाद् घाट्यस्य च वस्तुतः  
सूक्ष्म-भेदेऽपि नान्तरागस्तथा तदनतिरिक्ततमेवाध्यवसायात् । मुनिवचनानुपालनस्य सम्भव  
उच्छेदस्तथा अनौचित्यात् । " १

एक नवीन भाव को दूसरे प्रचलन भाव का अन्तर्भाव करने को पण्डितराज की चेतना  
देखने योग्य है। वे कहते हैं, इन में परस्पर सूक्ष्म भेद होने पर भी, एक भाव दूसरे भाव में  
नान्तरागिक रूप से रहता है। फिर, जहाँ तक भारत की परम्परा के पालन करने का सम्बन्ध  
है, यथा संभव उसका पालन किया जाना चाहिए। जब तक निभ सके, उच्छेदकता नहीं बरतनी  
चाहिए। परम्पराचित्य का एक तत्त्व है जो पण्डितराज की सूक्ष्म बुद्धि को भावों की सीमि-  
त संख्या स्वीकार करने के लिए बाध्य करता है । अन्यथा वे उनमें वास्तविक भेद स्वीकार  
करते हैं। यह एक महत्व-पूर्ण तथ्य है कि पण्डितराज किसी स्थिति में भी संभव "अभा-  
रती" नहीं होना चाहते, भारत-परम्पराओं के विपरीत खड़े नहीं होना चाहते।

फिर, व्यावहारिक नियमितता का भी एक प्रश्न है। किसी वस्तु को अनन्त तथा  
असीम मान कर उसका कोई संतत विचार भी तो नहीं किया जा सकता। कौन बांध सकता  
है व्यक्तता की सीमा में भाव-जगत् को अनन्त लहरियों की। वर्गीकरण एवं विवेचन स्थूल,  
नियत एवं सीमित की ही पकड़ कर चल सकते हैं। अतः पण्डितराज द्वारा परम्परा का  
अनुशासन स्वीकार करना ऐसे विषयों में अनुचित भी नहीं है। परन्तु इस अनुशासन की  
भी एक सीमा रहनी चाहिए। आलोचना-प्रतिभा कुण्ठित एवं निरवकाश नहीं बने। पण्डि-  
तराज ने इसका ध्यान रखा है।

संचार। भावों की संख्या ३३ है, तथा पारिभाषिक "भाव-ध्वनि" के अन्तर्गत आने  
वाले भावों की संख्या ३४। संचारियों के अतिरिक्त एक देवादि-विषयक रति की, जिसे  
रस की पदवा नहीं दी जा सकी, इसी वर्ग में गिना गया है। फलतः भक्ति एवं वात्सल्य  
भी इसी में सिमिट जाते हैं।



## निर्वेद

३३ संचारियों में गिने गये निर्वेद के प्रति पण्डितराज का दृष्टि-कोण द्रष्टव्य है। भरत ने मूलतः ८ रस माने थे। शान्त का उल्लेख उन्होंने नहीं किया था। किन्तु अभिनव शान्त के प्रवल समर्थक थे। फलतः मम्मट ने शान्त की वैकल्पिक रूप में ही प्रस्तुत किया है।

" निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः । " १

शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद को मानते हुए मम्मट कहते हैं कि अमंगल-प्राय निर्वेद को संचारियों में सर्व प्रथम गिन कर मांगलिक मुनि भरत ने गही सूचना दी है कि निर्वेद स्थायी भाव है और संचारी भाव।

" निर्वेदस्थायमंगलप्रायस्य प्रथममुपादेयत्वेऽप्युपादानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिता-  
भिधानार्थम् । " २

भरत ने निर्वेद का स्वरूप इन शब्दों में निर्धारित किया है:-

" तत्र निर्वेदो नाम दारिद्र्याध्यवमानाधिदोषाकुष्ठद्विषताहनेष्टजनवियोगतत्त्व-  
ज्ञानादिभिर्विभावेः समुपपद्यते । " ३

भरत के इस निर्वेद में शान्त रस के स्थायी बनने की क्षमता रखने वाले निर्वेद का भाव, जिसका "तत्त्व-ज्ञान" से जन्म होता है, उल्लेख है, तथा दारिद्र्यादि से उत्पन्न होने वाले उस निर्वेद का भाव, जो हतका कीटि तक रह जाता है, एवं जिसे संचारी का ही स्थान दिया जाता है। मम्मट ने दोनों का अलग-अलग नहीं किया, तथा दोनों को चर्चा मिली जुली हा चला जा रही थी। पण्डितराज ने व्यवस्था की दृढ़ बनाने के लिए दोनों का पृथक्करण कर दिया।

पण्डितराज स्पष्टतः शान्त रस के समर्थक हैं। इस विषय में वे अभिनव के ही अनुयायी हैं। उन्होंने भरत-नाट्य-शास्त्र की किसी परिवर्तिनी प्रेति का अवलोकन किया है, जिसमें शान्त रस के समर्थकों ने शान्त तथा उसके स्थायी से संबन्धित स्थलों का समावेश कर दिया था। कुछ भाँ हो, पण्डितराज स्थायी निर्वेद का स्वरूप तत्त्व-ज्ञान निर्वेद के

१- काव्य-प्रकाश : उल्लास ४ : पृष्ठ ११७ ।

२- काव्य-प्रकाश : उल्लास ४ : पृष्ठ ११६ ।

३- भरत : नाट्य-शास्त्र : पृष्ठ ११६ ।



रूप में ही ग्रहण करते हैं:-

र

" नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा विषयविरागाख्यो निर्वेदः ।"

गृहकलहादिजस्तु व्यभिचारी ।" १

बीर संचारी निर्वेद का वैसे पृथक् स्वरूप निर्धारण किया गया है:-

" नीचपुरुषेष्वान्द्रोशानाघिहोषव्याधिताहनदारिष्टेष्टविरहपरसंपदशानादिभिः,

उत्क्रमेण त्वक्कादिभिर्जनित विषयद्वेषाख्या रौदनदोषश्वासदोनमुहतादिकारिणो

चित्तवृत्तिनिर्वेदः । " २

यह संचारी निर्वेद का स्वरूप है। यहां नित्यानित्य-वस्तु-विवेक से उद्भूत निर्वेद नहीं, अतः इस का चर्चणा "रस" नहीं कहा जा सकता :-

" नित्यानित्यवस्तुविवेकजन्यत्वाभावात्तनासो रसव्यपदेशहेतुः ।" ३

इसो निर्वेद को पण्डितराज ने संचारिणों में गिना है:-

" - - - प्रतिपक्षकृतपित्तकारादिवन्मा निर्वेदश्चेति त्रयतिंशद् व्यभिचारिणः ।" ४

इस प्रकार पण्डितराज ने भरत के निर्वेद को दो भागों में विभाजित करके प्रस्तुत किया है। मर्मट के समान उसे उलझा नहीं रहने दिया। पण्डितराज के समय तक निर्वेद का भगड़ा भा उलझा नहीं रह गया था। यही कारण है कि पण्डितराज सरलता से एक स्पष्ट व्यवस्था दे सके ।

### समाप्ता

अब तक के विवेचन से स्पष्ट है कि पण्डितराज का भाव-विवेचन कई दृष्टियों से मौलिक एवं महत्व-पूर्ण है। समस्त संस्कृत साहित्य-शास्त्र में इतना सुसंद्भ, स्पष्ट, एवं व्यवस्थित भाव-विवेचन एकत्र कहा उपलब्ध नहीं होता। व्यवस्था, स्पष्टता, एवं सूक्ष्मता पण्डितराज के मौलिक गुण हैं। भाव-सम्बन्धों अनेक मान्यताएं, जो भरत, अभिनव, एवं मम्मट को अभिप्रेत होते हुए भी बिहरी हाने के कारण सिद्धान्तिक रस्ता प्राप्त नहीं कर पायी थीं, पण्डितराज के हाथों एक सिद्धान्त का स्वरूप प्राप्त कर गयीं हैं। धनंजय एवं विश्वनाथ के

१- रसमंगाधर : पृष्ठ ३२ ।

२- रसमंगाधर : पृष्ठ ९७ ।

३- रसमंगाधर : पृष्ठ ९७ ।

४- रसमंगाधर : पृष्ठ ७६ ।



हाथों में आकर भरत का वर्गीकरण आलोचनाय ही गया था, पण्डितराज ने उसकी कमियों को दूर कर के, उसे फिर से चिरकाल तक जीवित रह सकने की क्षमता प्रदान की। भाव-ध्वनि की स्वतन्त्रता को धोखा देकर उन्होंने अपने पाण्डित्य-बल से की है, जिसमें वे अभिनव जैसे आचार्य को भी परवाह नहीं करते। उनका सूक्ष्म विवेचन यह प्रमाणित करता है कि वे जब तक किसी बात की अपनी तर्क-कसौटी पर कस नहीं लेते, किसी के अन्धानुयायी नहीं बन सकते। भावोदय एवं भाव-सन्धियों के विषय में उनकी मौलिक चिन्ताएँ हैं। भावोदय, भाव-सन्धि, भाव-शान्ति एवं भाव-शबलता को भाव-ध्वनि में सम्मिलित कर के वे रस-ध्वनि के तीन वर्ग मान लेते हैं, रस, भाव-ध्वनि, एवं आभास ध्वनियाँ। इन वर्गों में हम भावात्मिक आनन्द का ऊँचा नाँचा विविध सौटियाँ पा सकते हैं। किन्तु इन सब बातों के होते हुए भी, इन सब नूतन धारणाओं के बावजूद, भरत को किसी भी पुरानी से पुरानी दीवार को टक्कर नहीं लगा है। भाव-ध्वनियों के विभाव एवं अनुभावों के विषय में बड़ा सूक्ष्म दृष्टि-कोण अपनाया गया है। अनुभावों को एक व्यापक भूमि पर ग्रहण किया गया है। किसी भाव के संचारियों तथा गुणाभूत संचारियों के बीच रेखा खींची गयी है। भावों के चित्तवृत्ति-पक्ष को व्यवस्थित रूप से सामने रखा गया है। चित्तवृत्ति को सामा भारतीय दर्शन को छाया में व्यापक रूप में अपनाया गया है। वस्तुतः रस-विवेचन की अपेक्षा भाव-विवेचन में कहीं अधिक पण्डितराज का मौलिक, सूक्ष्मावगाहिनी, प्रौढ़ एवं व्यवधित बुद्धि के दर्शन होते हैं। यदि रस-विवेचन में पण्डितराज का दार्शनिक प्रतिभा के दर्शन होते हैं तो भाव-विवेचन में गहरी साहित्यिक प्रतिभा के। उनका मौलिक साहित्यिक पैठ रस का अपेक्षा भाव-विवेचन में अधिक खुल कर परिलक्षित होता है। अतः कई बातों में एक स्मालोचक का दृष्टि में पण्डितराज का भाव-विवेचन उनके रस-विवेचन से भी अधिक महत्व-पूर्ण प्रतीत होता है।





---

## पञ्चम अध्याय

( गुण—विवेचन )

पृ० २६८—२६२

---



## गुण - - - - विवेचन

### विवेचन की सीमा

संस्कृत साहित्य-शास्त्र में हुए गुण, रीति, एवं वृत्ति-विवेचन के ऊपर पर्याप्त लिखा जा चुका है।<sup>1</sup> अतः इस विषय पर हम यहाँ अधिक विस्तार में न जाते हुए, तथा ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक प्रक्रिया का अधिक आग्रह न रखते हुए इस विषय से संबन्धित पण्डितराज की मान्यताओं का परिचय तथा कुछ विशिष्ट मान्यताओं के संदर्भ में उनकी मौलिकता के मूल्यांकन तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

### गुण-सम्बन्धी मान्यताओं के दो वर्ग

पण्डितराज स पूर्व की गुण-सम्बन्धित मान्यताओं को हम दो वर्गों में रख सकते हैं। एक वर्ग प्राचीन आचार्यों की मान्यता का, जिसमें दण्डी तथा वामन प्रमुख हैं, दूसरे परवर्ती आचार्यों की मान्यता का, जिसमें आनन्दवर्धन तथा मम्मट प्रमुख नाम हैं। अन्य अन्तरों के साथ दोनों में प्रमुख अन्तर यह है कि जहाँ प्रथम मान्यता १० शब्द तथा १०

(1) The subject of Riti and Guna has been worn thread-bar by the above writings.

\* Vide Dr. Raghavan on Vrittis in J.O.R. Madras, Vol. 6, Pp 346-

370; Vol. 7, P33-52; P91-112; in "Some Concepts etc. P. 182-19 Sringerprakash, (on Riti-Vritti and Pravritti). For detailed discussion on Ritis Vol. 3, P. 375-394. On Gaudi by Prof. S.P. Bhattacharya; Dr. P.C. Lahiri's "Concepts of Riti and Guna" and "Guna in Agnipurana" and P. 835 Fn. on "Vaman's Theory"; Dr. Raghavan in I.H.Q. 10. P. 767-779, in Kuppaswami Com. Vol. P. 1P. 258-360 and in "Some Concepts etc." P. 131-181; on Riti and P. 181-193 on History of Vritti ", Gunas; Dr. De on "Gaudi Riti" in New I.A. Vol. 1P. 74-76.

Kane: History of Sanskrit Poetics:

P. 366.



अर्थ गुण मानता है वहाँ दूसरी केवल ३ ही। पण्डितराज ने भी सिद्धान्तिक पक्ष में इसी गुण-व्यवादिनी ध्वनि-वाद की मान्यता को स्वीकृत दिया है। किन्तु इसके साथ ही उनके गुण-विवेचन में दो बातें विशेष हैं। एक तो प्राचीन आचार्यों की मान्यता को अन्य ध्वनिवादी आचार्यों की अपेक्षा अधिक सहानुभूति से प्रस्तुत करना, दूसरे अपनी कुछ स्वतन्त्र एवं सर्वथा मौलिक धारणाएँ रखना।

### गुण-व्य-वाद

गुण-व्य-वाद की मान्यता का मूल आनन्दवर्धन में है, प्रतिष्ठा मम्मट में। सिद्धान्त पक्ष में पण्डितराज ने इसी का परिचय कराया है :-

" रसेषु चेत्येषु निगदितेषु माधुर्योजः प्रसादात्स्वास्त्रान् गुणानाहुः । " १

कुछ आवश्यक बातों पर विचार करने के अनन्तर प्राचीन मान्यता का व्यवस्थित परिचय कराया गया है:-

### विंशति-गुण-वाद

"जरत्तरास्तु-

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।

अर्थव्यवितरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ।।

इति दश शब्द-गुणान्, दशैव चार्थगुणानामनन्तानामानि पुनस्तान्येव,

लक्षणां तु भिन्नम् । " २

### गुण-व्य में अन्तर्भाव

वामन<sup>३</sup> के उक्त २० गुणों का सोदाहरण परिचय कराने के अनन्तर मम्मट के द्वारा प्रतिपादित तीन गुणों में समस्त वामनीय गुणों का अन्तर्भाव दिखाया गया है:-

"अपरे त्वेषु गुणेषु कतिपयान् प्रागुक्तेस्त्रिभिर्गुणैर्वक्ष्यमाणदोषाभावालंकारैश्च गुतार्थयन्तः, काश्चिद्वचिद्रव्यमात्ररूपतया क्वचिद्दोषतया च मन्यमाना न तावतः स्वीकुर्वन्ति । " ३

१-रसगंगाधर, पृष्ठ २३ ।

२- रसगंगाधर, पृष्ठ ५५ ।

३- ओजः प्रसादसमताश्लेषसमाधिमाधुर्यसुकुमार्योदारतार्थव्यक्तिकान्त्यो बन्धगुणाः । ३।२।१ त एवावगुणाः । ३।२।१, वामनः काव्यालंकारः,

४- रसगंगाधर, पृष्ठ ६२ ।



इस अन्तर्भाव के अन्तर्गत गुणवय-वाद के प्रतिनिधि मम्मट का स्पष्ट उल्लेख है:-

" वतस्त्रय एव गुणा इति मम्मटभट्टादयः । " २

### पण्डितराज

इस निरूपण से स्पष्ट है कि पण्डितराज ने मूलतः ध्वनि-वाद को ही सिद्धान्त पक्ष में रखा है। यद्यपि वामन के २० गुणों को पूर्व-पक्ष में ही प्रस्तुत किया गया है, तथापि उनका परिचय एवं लक्षणा स्वयं वामनादि से अधिक स्पष्ट एवं व्यवस्थित रूप में दिया गया है। पण्डितराज ने इन गुणों के परिचय में वामन का मूल दृष्टि को सामने रख कर अपनी प्रसर भाषा-शैली के द्वारा पूर्ण शास्त्रीय परिष्कार ला दिया है। वामन के विंशति-गुण-वाद को जो आर्थिक सहानुभूति पण्डितराज से प्राप्त हुई है, किसी भी अन्य ध्वनि-वादों आचार्य से नहीं। जैसा कि हम आगे देखेंगे, स्वयं पण्डितराज गुणों को केवल रस का ही धर्म नहीं मानते, न वे शब्द एवं अर्थ के साथ उनका औपचारिक ही संबंध मानते हैं। उन्होंने शब्द, अर्थ, रचना आदि से गुणों का उद्गार ही सीधा संबंध माना है, जितना रसों का। शब्द एवं अर्थों से गुणों के इस अनौपचारिक संबंध मानने में निःसन्देह पण्डितराज वामनीय परम्परा से भी यत्किंचित् प्रभावित हुए हैं।

### गुण-तारतम्य

मम्मट ने गुणों को संख्या तान निर्धारित करते हुए विशिष्ट रसों से उनका सम्बन्ध भी निरूपित किया है, तथा विशिष्ट विशिष्ट रसों में उनका तारतम्य भी स्वीकार किया है। मन्थुर्य गुण का संबंध संयोग शृंगार, करुण, विप्रलम्भशृंगार, एवं शान्त रसों से है। जीव का वीर, वीभत्स, वीर रोद्रे से, तथा प्रसाद का समस्त रसों से ।<sup>१</sup>

१- केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषात्प्राप्तमन्तरे शिताः। अन्ये ब्रजन्ति दोषत्वं कुचिन्न ततो दश।।

तेन नार्थगुणाः वाच्याः प्रोक्ताः शब्दगुणाश्च ये। काव्य-प्रकाश, ८।७२, ८।७३,

२- रसगंगाधर, पृष्ठ ६४ ।

३- आह्लादकत्वं मायुं शृंगारे दूतिकारणम्। ६८

करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।

दीप्त्यात्मविस्तृते तुरीयो वीररसस्थितिः।। ६९

वीभत्सराद्रसोऽस्तस्याधिक्यं क्रमेण च।

शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छलवत्सहसैव यः।। ७०

व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः। ७१



### कुछ विकल्प

माधुर्य-तारतम्य के विषय में पण्डितराज ने कुछ विकल्पों की सूचना दी है:-

" तत्र शृंगारे संयोगाख्ये यन्माधुर्यं ततोऽतिशयितं करुणे, ताभ्यां विप्रलम्भे, तेभ्योऽपि शान्तेऽत्तरोत्तरमतिशयि तायाश्चित्तदुर्तेर्ननात् - इति केचित्। संयोगशृंगारात् करुणशान्तयोस्ताभ्यामपि विप्रलम्भे" इत्यपरे। "संयोगशृंगारात्करुणविप्रलम्भशान्तेषु अतिशयितमेव न पुनस्तापि तारतम्यम्।" इत्यन्ये।

" तत्र प्रथमचरमयोर्मतयोः "करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्" इति प्राचां सूत्रमनुकूलम्। तस्योत्तरसूत्रगतस्य त्रमेणेति पदस्यापकर्षानपकर्षाभ्यां व्याख्याद्वयस्य संभवात्। मध्यस्थे तु मते करुणशान्ताभ्यां विप्रलम्भस्य माधुर्यातिशये यदि सहृदयानामनु- भवोऽस्ति साक्षी तदा स प्रमाणम् । "

इन विकल्पों में से अधिकांश की संभावना काव्य-प्रकाश के विभिन्न व्याख्याकारों के बीच हुई है।<sup>१</sup> जीव के तारतम्य का उल्लेख तो स्वयं मम्मट ने ही किया है। पण्डितराज ने इस सबका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है:-

" वार-वोभत्स-रौद्रेष्वाजसौ यथोत्तरमतिशयः। उत्तरोत्तरमतिशयिताया- श्चित्तदोर्तेर्ननात्। क्लृप्तहास्यभयानकाणां गुणद्वययोगित्वं केचिदिच्छन्ति। अपरे तु प्रसाद- मात्रम्। प्रसादस्तु सर्वेषु रतेषु सर्वासु रत्नासु च साधारणः। " ३

इन विकल्पों के सम्बन्ध में भी सम्भावना यही है कि इनका जन्म भी काव्य- प्रकाश के विभिन्न व्याख्याकारों के बीच ही हुआ है।

१- रसगंगाधर, पृष्ठ ५३-५४ ।

२- क- सम्प्रदायप्रकाशिनी:-

" करुणे इति। तदेव माधुर्यं करुणादिषु त्रिष्वत्यन्तदृतिहेतुत्वात् सातिशयः तेषु हि शून्यमनङ्गतयैव प्रायते। "

काव्य-प्रकाश, विवेन्द्र सं० सी०, भाग २, पृ० १७७ ।

ख- साहित्यचूडामणि:-

" करुण इति। तन्माधुर्यं करुणविप्रलम्भशान्तेषु यथोत्तरमति- शयेनान्वीयते। " काव्य-प्रकाश, विवेन्द्र सं० सी०, भाग २, पृष्ठ १७७ ।

ग- प्रदीप :-

" तत्किं संयोग एव माधुर्यं नेत्याह - करुणे०। संयोगात्करुणे तस्माद्विप्र- लम्भे ततोऽपि शान्तेऽतिशयितं माधुर्यम्। "

३- रसगंगाधर, पृष्ठ ५४ ।

काव्य-प्रकाश, शानन्दाश्रम सं० प्रन्था०, पृष्ठ ३९२ ।



## गुणों को रसधर्मता

वामन

वामनादि प्राचीन आचार्य गुणों को रस-धर्म के रूप में स्वीकार नहीं करते।  
वामन की दृष्टि में गुण काव्य के शोभा-र्ता धर्म हैं:--

"काव्य-शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ।" १

यद्यपि ये नित्य-धर्म हैं, तथापि वामन काव्य को आभा रस को नहीं रीति को मानते हैं, जो कि गुण-विशिष्ट पद-रचना है। इस कारण उनकी दृष्टि में गुण रस के धर्म न रह कर रचना के धर्म रह जाते हैं। वे उन्हें स्पष्टतः शब्द तथा अर्थ के धर्म-रूप में स्वीकार करते हैं:--

"ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्य-शोभां कुर्वन्त, ते गुणाः, ते चोच्चः प्रसादादयः" २।  
मम्मट

मम्मट को मान्यता इसके विपरीत है। उनके अनुसार गुण रस के धर्म हैं। केवल रस के किसी अन्य के नहीं:--

"ये रसस्यादिगुणो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।

उत्कृष्टवस्ते स्मुरचलस्थितयो गुणाः ॥" ४

"आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणाः,  
न वर्णादीनाम्।" ५

शूरका आत्मा का धर्म है, शरीर का नहीं। किसी विशाल-काय पुरुष को देख उस शूर कतना औपचारिक है। इसी प्रकार गुण भी रस के धर्म हैं। शब्द मधुर है, रचना औपचारिक है, इत्यादि प्रयोग तो व्यावहारिक हैं, औपचारिक हैं:--

"एवंचित्तु शौर्यादि मुञ्चितस्याकारमहत्त्वादेर्दर्शनात् "आकार एवास्य शूरः"  
इत्यादेर्व्यवहारादन्यथाशूरेपि वितताकृतित्वमात्रेण "अशूरः" इति अविभक्तप्रतीत्यो  
यथा व्यवहरन्ति, तद्वन्मधुरादिव्यवहारप्रवृत्तेरमधुरादिरसांगानां वर्णानां सौकुमार्यादिमा-  
१-वामन : काव्या० : ३।१।१ ।

२-"पूर्वे नित्याः।" वामन : काव्या० ३।१।३ ।

३-वृत्तिः, ३।१।१, वामन : काव्या० ।

४-काव्य-प्रकाश : ८।६६ : पृष्ठ ४६२ ।

५-काव्य-प्रकाश : पृष्ठ ४६३-४ ।



त्रेण माधुर्यादि मधुरादिरसोमकरणानां तेषामसौकुमार्यादि रसधर्मन्तर्विशान्तिप्रतीति-  
बन्ध्या व्यवहरन्ति, अत एव माधुर्यादयो रसधर्मा स्मृतिर्वाच्यज्यन्ते, न वर्णमात्राश्रयाः ।<sup>१</sup>  
मम्मट का आधार

मम्मट को इस मान्यता के आधार स्पष्ट आनन्दवर्धन हो हैं। वे गुणों को रस-भाव  
का ही धर्म प्रतिपादित करते हैं :-

" तमामिवलम्बन्ते ये हि गन् ते गुणाः स्मृताः ।

अङ्गाश्रितास्त्वङ्कारा मन्तव्या कटकादिवत् ॥ " ३

गुणों का शब्द-धर्मता को उन्होंने भी औपचारिक कहा है :-

" शब्दार्थधर्मत्वं चेष्टामन्वायत्वमिव शरीरायत्वमिव शार्वादानीनाम् । " ४

पण्डितराज ने ध्वनि-वाद को इस मान्यता को बड़े ही संक्षेप में परिचित करा दिया है

" एवमेतेषु गुणेषु रसावधर्मेषु व्यवहितेषु मधुरा रचना " " शौजस्वी बन्धः "

इत्यादयो व्यवहारा " आकाशोऽस्य शूर " इत्यादिव्यवहारवदौपचारिका इति मम्मट-  
भट्टादयः । " ५

१- काव्य-प्रकाश, पृष्ठ ४६९-५ ।

२- आनन्दवर्धन गुणों को रस का धर्म मानते हुए भी उनको रस-भाव-धर्मता के प्रति  
उतने आग्रही नहीं हैं, जितने मम्मट, यह उनके विवेचन से स्पष्ट हो जाता है :-

" ननु यदि संवृत्ता गुणानां नाश्वन्तत्किमात्मन्वना एते परिकल्प्यन्ताम् ? उच्यते-  
प्रतिपादितमेव त्वमालम्बनम्, "

तमामिवलम्बन्ते ये हि गन् ते गुणाः स्मृताः ।

अङ्गाश्रितास्त्वङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् । इति ।

अथवा भवतु शब्दाणां एव गुणाः, न चेष्टामनुप्राणादितुल्यत्वम् । यस्मादनुप्राणादयो  
अपेक्षितार्थशब्दधर्मा एव प्रतिपादिताः । गुणास्तु व्याप्यविरोधावभासिवाच्यपृथिव्यदन-  
सर्गशब्दधर्मा एव । शब्द-धर्मत्वं चेष्टामन्वायत्वमिव शरीरायत्वमिव शार्वादानीनाम् । "

ध्वन्यालोक : पृष्ठ ३१२-३१३ ।

आनन्दवर्धन शब्द-धर्मत्व की स्वीकृति का फिर भी "दुर्लभ-तोष कोटि" में हो रहते हैं  
" न चायं मम स्थितः पक्षः, अस्तु भवत्वेषामविवेकिनामभिप्रायेणपि शब्दधर्मत्वं  
शार्वादानीनामिव शरीरधर्मत्वम् । अविवेका हि औपचारिक-विभागां विवेकतुमसमर्थाः । "

लोचन : पृष्ठ ३१३ ।

३- ध्वन्यालोक : २।६ : पृष्ठ २०५ ।

४- ध्वन्यालोक : पृष्ठ ३१३ ।

५- रसार्णव : पृष्ठ ४०५ ।



### पण्डितराज का स्वतन्त्र दृष्टि-कोण

वामनादि की मान्यता में गुण शब्द तथा अर्थ के अनौपचारिक धर्म हैं, ज्ञानन्द एवं मम्मट के अनुसार वे रस के वास्तविक धर्म हैं, शब्द तथा अर्थ के औपचारिक। पण्डितराज का दृष्टि-कोण दोनों से भिन्न है, किन्तु दोनों से प्रभावित।

### रस-मात्र-धर्मता की अस्वीकृति

पण्डितराज को गुणों की रस-मात्र-धर्मता स्वीकृत नहीं है। वे पूछते हैं— धर्म तथा कार्य दोनों का अनुभव हमें पृथक् पृथक् होना चाहिए। अग्नि का धर्म है उष्णता, तथा कार्य है दाहादि—किसी पदार्थ का जलना। दोनों का अग्नि से भिन्न एवं पृथक् पृथक् अनुभव हमें होता है। यह बात रस तथा गुण के सम्बन्ध में नहीं दिखायी देती। रस का कार्य है चित्त की द्रुति, विस्तार या विकासात्मक अवस्था। इससे भिन्न अन्य कुछ रस-गत धर्म के रूप में हमें परिलक्षित नहीं होता।<sup>१</sup>

### विशिष्टतावाद

यहाँ रस-मात्र-धर्म-वादी कह सकता है कि चित्त की विविध द्रुति आदि अवस्थाओं का कारण केवल रसों को न मान कर गुण-विशिष्ट रसों को माना जा सकता है। ऐसा मान लेना लाघव-कारी भी रहेगा। और तब गुण कारणतावच्छेदक अर्थात् कारण-कोटि-गत एक धर्म-विशेष के रूप में अनुमित किये जा सकते हैं। तो पण्डितराज इस विशिष्टतावाद को भी स्वीकार नहीं कर सकते। इसमें तो लाघव के स्थान पर गौरव ही और होगा। शृंगार-रस माधुर्य-गुण-विशिष्ट है, अतः चित्त को द्रुवित करता है, इस की अपेक्षा वे यही मानते हैं

१- रस-गंगाधर : पृ० ५४ ।

"येऽमी माधुर्योजः प्रसादा रस-मात्रधर्मतयोक्तास्तेषां रसधर्मत्वे किं मानम् ? प्रत्यक्षमेवेति चेत्, नादाहादेः कायादिनलगतस्योष्णस्पर्शस्य यथा भिन्नतया नुभवस्तथा द्रुत्यादिचित्त-वृत्तिभ्यो रसकार्योभ्योऽन्येषां रसगतगुणानामननुभवात्।"



कि रस सधि चित्त को द्रुत करने का कामता रखता है:--

" तादृशगुणविशिष्टरसानां द्रुत्यादिकारणत्वात्कारणतावच्छेदकतया गुणानामनुमानमिति चेत्, प्रातिस्विकरूपेणैव रसानां कारणतोपपत्तौ गुणकल्पने गौरवात्।"

यहां कहा जा सकता है कि पण्डितराज की मान्यता में गौरव दोष बताता है, क्योंकि विशिष्टता-वाद में द्रुति आदि चित्त-दशाओं के तीन ही कारण मानने पड़ते हैं, किन्तु प्रातिस्विकी मान्यता में ९ रस कारण मानने होंगे। पण्डितराज इसका भी समाधान करते हैं। मम्मटादि भी तो द्रुति आदि का तारतम्य मानते हैं। लोभ, क्रुण एवं विप्रलम्भ में द्रुति का तारतम्य माना गया है। गुण को कारण मानने पर भी इस तारतम्य को समझाने के लिए यहां स्वीकार करना पड़ेगा कि इन के कारण-भूत गुणों में तारतम्य है। तब इस प्रकार तो और अधिक लम्बा गौरव-दोष होगा। इस तारतम्य के रहते इस बात का मूल्य हा क्या कि " माधुर्य से द्रुति होता है "। अतः पण्डितराज के अनुसार तो यही अच्छा है रसों को स्वतन्त्र रूप से द्रुति आदि का कारण माना जाय।

दार्शनिक समर्पण  
आत्म-धर्मता

इतना हा नहीं, दार्शनिक दृष्टि से भी गुणों का रस-धर्मता उस रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती। रस "आत्मानन्द" है। आनन्द आत्मा का गुण नहीं, स्वरूप है। आत्मा ठहरा निर्गुण। फिर माधुर्यादि को उ का गुण कहना, अर्थात् नित्य धर्म मानना कैसे संगत कहा जा सकता है।

" तादृशगुणविशिष्ट

" कि चा मनो निर्गुणतः । अतस्त्वरसगुणत्वं माधुर्यादीनामनुपपन्नम् । " ३

१- रसगंगाधर, पृष्ठ ५४ ।

२- रसगंगाधर, पृष्ठ ५४-५५ ।

" शृंगारकरुणशान्तानां माधुर्यवत्त्वेन द्रुतिकारणत्वं प्रातिस्विकरूपेण कारणत्व-कल्पनापेक्षया लघुभूतमिति तु न वाच्यम्, परेण मधुरतरादिगुणानां पृथग्द्रुततरत्वादिकार्य-तारतम्यप्रयोजकतया अभ्युपगमेन माधुर्यवत्त्वे कारणताया गृह्यभूतत्वात्। इत्थं च प्रातिस्विक-रूपेणैव कारणत्वे लाघवम् । "

३- रसगंगाधर, पृष्ठ ५५ ।



### उपाधि-धर्मता

अच्छा, छोड़िए, गुण आत्म-रूप रस के धर्म न सहो, उसको उपाधि-भूत स्थायियों के धर्म तो करे जा सकते हैं। तो यह भी दार्शनिक पण्डितराज को मान्य नहीं। रत्नादि-चित्तवृत्तियाँ सुख-दुःखात्मक चित्त-वृत्तियाँ हैं, इससे भिन्न कुछ नहीं। वे काव्य में सुख-रूपा होती हैं। अतः वे तो स्वयं गुण हुई। त्याग तथा वैशेषिक दर्शन उन्हें स्पष्टतः "गुण-वर्ग" में रखते हैं।

"रूप-रस-गंध-स्पर्शाः संख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं व्योगविभागो बुद्ध्यः

सुखदुःखे इच्छाद्वेषा प्रयत्नाश्च गुणाः । " १

तब माधुर्यादि को स्वयं गुण-रूप रत्नादि का गुण कैसे कहा जा सकता है। गुण किसी द्रव्य के धर्म होते हैं, न कि स्वयं गुण के।<sup>२</sup> अतः माधुर्यादि को रत्नादि का भा गुण मानना अनुचित है:—

"एवं तदुपाधिरत्वदिगुणत्वमपि। मानाभावात्, पररोत्था गुणे गुणान्तरत्वा-  
नीचित्वात्। " ३

### व्यवहार एवं उपचार

तब व्यवहार का प्रश्न उत्पन्न है। "शृंगार मधुर है" जैसे प्रयोग कैसे किये जाते हैं ? इसका उत्तर बहुत ही सरल है। रसवर्मता-वादी मम्मटादि जैसे "मधुरा रचना" "श्रीवत्सी बन्ध" "मधुरः शब्दः" में व्यवहार को औपचारिक मानते हैं, उसी प्रकार पण्डितराज भी "मधुरो रसः" में व्यवहार को औपचारिक मानते हैं:—

"व्यवहारस्तु वाजिगन्धोष्णोतिव्यवहारवदक्षतः। " ४

किन्तु यह औपचारिकता मम्मटादि का औपचारिकता से भिन्न है, जिसे हम पण्डित-राज के गुण-सम्बन्धी दृष्टि कोण को समझने पर ही समझ सकेंगे।

१- वैशेषिक दर्शन : कणाद : १।१।६ ।

२- सामान्यवान्, असमवायिकारणम्, अपान्दात्मा गुणः, स च द्रव्याणामिति एव ।

तर्क-भाषा : केशव मिश्र : पूना जी० सी० : पृष्ठ २७ ।

३- रसगंगाधर, पृष्ठ ५५ ।

४- रसगंगाधर, पृष्ठ ५५ ।



### पण्डितराज का मत

प्रश्न उठता है कि गुण के संबन्ध में पण्डितराज की धारणा क्या है ? तथा इस औपचारिक व्यवहार को उस धारणा से संगति किस प्रकार है ?

हम देख चुके हैं कि पण्डितराज माधुर्यादि को रस का धर्म या गुण उस रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं जिस रूप में सामान्यतः शौर्यादि को आत्मा का धर्म समझा जाता है। इस प्रकार का संबन्ध शब्द तथा अर्थ से भी नहीं माना जा सकता है। अतः एक प्रकार से माधुर्यादि न तो वामनादि के समान शब्द एवं अर्थ के गुण हैं, और न ही मम्मटादि के समान रस के ।

पण्डितराज गुणात्व को एक भिन्न एवं सर्वथा मौलिक चेतना के साथ ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार गुण का स्वरूप है "द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकता"। गुण वह शक्ति है जो चित्त को प्रभावित करके, उसे द्रुत विस्तृत या विकसित कर देती है। इस अर्थ में गुण रस-भाव से ही सम्बन्ध नहीं रह जाते, द्रुति आदि चित्तवृत्तियों की प्रयोजकता जहाँ भी उठर सके, माधुर्यादि उन्हीं के गुण कहे जा सकते हैं। चित्त को द्रुत, विस्तृत या विकसित कर सकने की यह शक्ति रस ही क्यों, शब्द, अर्थ और रचना में भी तो पायी जाती है। जब यह प्रयोजकत्व शब्द, अर्थ, रस, रचना - सभी में पाया जाता है, तो कहना चाहिए, गुण केवल रस-गत ही नहीं, शब्द-गत भी है, अर्थ-गत भी है, और रचना-गत भी।<sup>२</sup>

### प्रयोजकत्व की शास्त्रीय मान्यता

गुण को द्रुत्यादि चित्तवृत्ति-प्रयोजकत्व के रूप में मान कर पण्डितराज उसका और शास्त्रीय परिमार्जन करते हैं। प्रयोजकत्व एक संबन्ध है। "संस्पर्श-कोटि में प्रविष्ट पदार्थों का भान संस्पर्श-रूप मात्र न होकर "स्वरूपतः होता है, अतः द्रुत्यादिचित्तवृत्ति-प्रयोजकत्व को और नयी-तुली नैयायिक भाषा में यों कहा जायगा-प्रयोजकता संबन्ध से द्रुत्यादि चित्तवृ-

१- " तर्हि द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्वं, प्रयोजकतासंबन्धेन द्रुत्यादिकमेव वा माधुर्यादिक-  
मस्तु । " रसगंगाधर, पृष्ठ १५ ।

२- " प्रयोजकत्वं चादृष्टादिविलक्षणं शब्दार्थरसरचनागतमेव ग्राह्यम् । "

रसगंगाधर, पृष्ठ १५ ।



तित्तितां ही माधुर्यादि गुण है ।<sup>१</sup>

दूसरी बात इस प्रयोजकता के विषय में यह है कि यह सामान्य प्रयोजकत्व नहीं, विशिष्ट है। अदृष्ट - धर्म, अधर्म, काल, ईश्वरेच्छा आदि - कार्य-मात्र के प्रति प्रयोजक हुआ करते हैं, ऐसी न्याय दर्शन की मान्यता है। यदि द्रुत्यादि के प्रयोजकत्व की सामान्य माना जायगा, तो अदृष्ट आदि में भी उस प्रयोजकत्व के होने के कारण " अदृष्ट मधुर है " ऐसी बात कहा जा सकेगी। अतः गुणों के संबन्ध में ऐसी सामान्य प्रयोजकता अपेक्षित नहीं। यहाँ वह विशिष्ट प्रयोजकता अपेक्षित है, जो शब्द, अर्थ, रस, एवं रचना में हो रहती है।<sup>२</sup>

### समाप्ता

इस प्रकार पण्डितराज की भाषणा में "द्रुत्यादि चित्तवृत्ति प्रयोजकत्व" तथा "प्रयोजकतासंबन्धेन द्रुत्यादिचित्तवृत्तित्व" दोनों का एक ही तात्पर्य है। इस दंग से दो रूपों एक ही बात को रख देने का अपना उपयोग है। द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकता रूप लक्षण से हम यह जान सकते हैं कि गुण के आधार क्या क्या हैं। हम उन प्रयोजकों को णा सकते हैं, जिनके प्रभाव से गुण का स्वरूप उद्भूत होता है। दूसरे लक्षण में यह बताया गया है कि गुणों का स्वरूप क्या है। इस के अनुसार द्रुति आदि चित्तवृत्ति रूप हैं। यहाँ यह

१- "द्रुत्यादिप्रयोजकत्वम्, अथवा संसर्गकुक्षिप्रविष्टानां पदार्थानां स्वरूपेणैव भाननियमा-  
ल्लाघवाय प्रयोजकतासंबन्धेन द्रुत्यादिकमेव माधुर्यादिकचित्तवृत्ति अंगीकृत्यमाधुर्यादीनां  
निर्वचनम्।" रसगंगाधर : चन्द्रिका : पृष्ठ २०७ ।

" - - - - - द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्व - उन चित्तवृत्तियों का परम्परणा कारण होना - हो माधुर्य आदि ही गुण हैं, अथवा प्रयोजकता-संबन्ध से द्रुति आदि चित्त-वृत्तियाँ ही गुण हैं। अर्थात् उक्त चित्तवृत्तियाँ जब रस आदि के साथ उभारने का -प्रयोजकता- संबन्ध रखती हैं, तब उन्हें माधुर्य आदि गुण कहते हैं। इस द्वितीय कल्प में प्रयोजकता की सम्बन्ध कोटि में से जाने से यह लाभ हो जाता है कि उसका भान स्वरूपतः ही जायगा। अतः प्रयोजकता के आगे प्रयोजकतात्व आदि की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी। और प्रथम कल्प में उसका भान स्वरूपतः नहीं होगा, जिससे प्रयोजकतात्व आदि की कल्पना करनी होगी, अतः गोरव होगा। "

रसगंगाधर : हिन्दी व्याख्या : बद्रीनाथ भाः पृष्ठ २०८  
जीसम्भा त्रिवाभवन, काशी ।

२- "प्रयोजकत्वं चादृष्टादिविलक्षण शब्दार्थरसरचनागतमेव ग्राह्यम्।"

रसगंगाधर, पृष्ठ ५५ ।



दृष्टव्य है कि गुणों का यह चित्तवृत्ति-रूपता उस रूप से भिन्न है, जिस रूप में उपाधि-रूप से चित्तवृत्ति-रूपता का पण्डितराज ने स्पष्टन किया है। यहाँ चित्तवृत्ति-रूपता प्रयोजकता-संबन्ध से कही गयी है। वहाँ असम्वायिकारणतासंबन्धरूप से। इसी लिए पण्डितराज ने वहाँ कहा है कि "पररीत्या गुणो गुणान्तरस्यानोचित्यात्"। यहाँ "पररीत्या" शब्द ध्यान देने योग्य है। अपने ढंग से पण्डितराज गुणों को चित्तवृत्ति-रूप कह सकते हैं, सामान्यतः जिस रूप में लोग समझते हैं, उस रूप से नहीं। और वह अपना ढंग है— प्रयोजकता संबन्ध का।

### पण्डितराज का व्यवहार एवं औपचारिकता

हमारे समक्ष दो चीजों के व्यवहार का प्रश्न था। एक— रस के साथ मधुरादि शब्दों के प्रयोग का, दूसरे — शब्द, अर्थ, तथा रचना के साथ मधुरादि शब्दों के प्रयोग का। हम "मधुरो रसः" का भी प्रयोग करते हैं तथा "मधुरः शब्द" "मधुरोऽर्थः" "ओजस्वी रसः" एवं "मधुरा रचना" का भी। हम देख चुके हैं कि मर्मटादि ने शब्द एवं अर्थ के साथ मधुर आदि शब्द के प्रयोग को औपचारिक माना है, और पण्डितराज ने इसी को आत्म-रूपता को ध्यान में रख कर गुणों का रस से भी संबन्ध औपचारिक ही माना है। किन्तु गुण का अपना अर्थ द्रव्यादिचित्तवृत्ति-प्रयोजकता-रूप करके रस, शब्द अर्थ एवं रचना किसी के साथ मधुरादि शब्द का प्रयोग औपचारिक कहने की आवश्यकता नहीं।

एक उदाहरण लीजिए। वाजिगन्धा अर्थात् जलमय को लोग उष्ण कहते हैं। वह स्पर्श में स्वतः तो उष्ण नहीं होता। किन्तु प्रयोग करने पर भोक्ता में उष्ण प्रभाव अवश्य छोड़ती है। इसी प्रकार रस, शब्द, अर्थ अथवा रचना — कोई भी स्वतः तो मधुर नहीं होता। सहृदय भावक के मन पर मधुर प्रभाव छोड़ते हैं। वे द्रुति आदि चित्त की अवस्थाओं के प्रयोजक हैं, अतः प्रयोजकता-संबन्ध से सभी मधुर हैं। उनमें परंपरा-संबन्ध से उपचार मानने की आवश्यकता नहीं। मर्मटादि को शब्द-अर्थ के विषय में स्वाध्याभिव्यञ्जकत्व संबन्ध से उपचार मानने की आवश्यकता होता है। अतः पण्डितराज के गुण सम्बन्धी दृष्टि-कोण का स्वरूप पूर्वतः प्रकृत दोनों मान्यताओं से भिन्न एवं सर्वथा मौलिक है।

१- "अथ शृंगारो मधुर इत्यादि व्यवहारः क्वमिति चेत्, एवमर्हि— द्रव्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्वं, प्रयोजकतासंबन्धेन द्रव्यादिकमेव वा माधुर्यादिकमस्तु। व्यवहारस्तु वाजिगन्धोष्णो-तिवदक्षातः। प्रयोजकत्वं चादृष्टादिविलक्षणं शब्दार्थरसरचनागतमेव ग्राह्यम्। अतो न व्यवहारातिप्रसङ्गितः। तथा च शब्दार्थयोरपि माधुर्यादिरोदृशस्य सत्त्वादुपचारो नैव कल्प्यः इति तु मादृशाः। " रसगंगाधर, पृष्ठ ५५ ।



## गुण और चित्त-दशा

यहाँ एक महत्व-पूर्ण बात पर ध्यान बाएँ बिना नहीं रहता, गुण एवं चित्त-दशा का परस्पर क्या सम्बन्ध है ? हम यहाँ कुछ आचार्यों के दृष्टि-कोण सामने रख कर पण्डित-राज का दृष्टि-कोण समझने का प्रयत्न करेंगे।

### भट्टनायक

भट्टनायक ने रस-भोग को स्थिति में विभिन्न रसों के प्रभाव-स्वरूप चित्त की तीन दशाएँ स्वीकार की हैं। १-द्रुति, २-दीप्ति, ३-विकास। भोग-दशा में यद्यपि सत्त्व का उद्बेक होता है।, तथापि रजस् एवं तमस् का भी अनुबेध रहता है। इसी अनुबेध के कारण चित्त की ये विभिन्न दशाएँ सम्भव हैं।<sup>१</sup> यद्यपि ये दशाएँ चित्तवृत्ति की हैं, आत्मा को नहीं, तथापि अद्वैती पृष्ठ-भूमि के अभाव के कारण भट्टनायक को अपने भोग-वाद में "चित्तन्य" एवं "चित्त" के तत्त्वों को पृथक् कर के देखने की आवश्यकता नहीं हुई। अतः वे उस दशा का मिला जुला ही निरूपण प्रस्तुत करते हैं।

### अभिनवगुप्त

अभिनव भट्टनायक की इस बात से सहमत नहीं हो सके कि रस-प्रतीति की तीन ही चित्त-दशाओं में समाहित कर दिया जाय। वे भट्टनायक का निराकरण करते हुए कहते हैं:-

"अयोच्यते- प्रतीतिरस्य भोगोकरणम्। तच्च दुत्पादिस्वरूपम्। तदस्तु, न तथापि ताव-  
न्मात्रम्। यावन्तो हि रसास्तावत् एव रसात्मानः प्रतीतव्यौ भोगोकरणस्वभावाः, सत्त्वादि-  
गुणानां चांगादिभगवैचित्र्यमनन्ति कल्प्यमिति का वित्त्वेनेयत्ता।" २

कुछ भा. हो, अभिनव के उपर्युक्त विरोध के बावजूद भी भट्टनायक की मान्यताने साहित्यालोचन को प्रभावित किया, और लोग रस-प्रतीतियों को चित्त की द्रुत, दीप्त, एवं विकासार्थक अवस्थाओं में वर्गीकृत करते रहे। आनन्दवर्धन के गुणत्रय-वाद से इस वर्गीकरण को और भी बल मिला। वस्तुतः अभिनव गुप्त की अस्वीकृति वर्गीकरण की अवस्था-निकता अवश्य प्रतिपादित करता है, किन्तु उसका व्यावहारिक उपयोगिता को कम नहीं कर पाता।

१-"भावकत्वभापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृतिव्यादिविलक्षणो रजस्तमोऽनुबेधवैचित्र्य-  
बलाद् द्रुतिविस्तरविकाटमना सत्त्वोद्वेकप्रकाशानन्दमयनिजसविद्विगन्तिलक्षणेन परद्रुमा-  
स्वादसविधेन भोगेन भज्यते।" काव्यानुशासन : अलंकारचूडामणि : पृष्ठ ९६।  
२- काव्यानुशासन : अलंकारचूडामणि : पृष्ठ ९७।



### पण्डितराज

पण्डितराज का दृष्टि-कोण इस विषय में अभिनव के ही अनुकूल है। वे भी चित्तवृत्तियों के कारण-रूप में केवल तीन गुणों से विशिष्ट रसों को स्वीकार कर के चित्त-दशाओं को तीन का रूढ़ संख्या में ही सीमित नहीं कर देते। उन्होंने तो दृति-आदि चित्तवृत्तियों के, अथवा यों कहिए, चित्त के दृढत्व आदि के कारण-रूप में रस, शब्द, अर्थ, रचना - सभी को मान कर चित्त-दशाओं की विविधता का द्वार और भी अधिक खुला रखा है। हाँ, यदि तरप्-तमप् का ध्यान हटा दिया जाय, तथा मोटे तौर पर कहा जाय, तो कहा जा सकता है कि पण्डितराज ने भी चित्त की तीन दशाएँ दृति, विस्तर, विकास स्वीकार क ली हैं। और सामान्यतः इस बात में भट्टनायक, अभिनव, एवं पण्डितराज अधिक दूर नहीं रहते।

### चित्त-दशा एवं रस-कार्यता

ये चित्त-दशाएँ क्या हैं ? दृति, दीप्ति, एवं विकास चित्त की अवस्था-विशेष है। चित्त की अवस्थाएँ ही दार्शनिक शब्दावली में "चित्त-वृत्ति" कहलाती हैं। शृंगार रस की अनुभूति में चित्त में जो एक प्रकार की आर्द्रता का अनुभव होता है, वही माधुर्य है। वीर रस के अनुभव से उठे जो एक प्रकार की दीप्ति उत्पन्न होती है, उसे "ओज" कहते हैं। तथा सभी रसों के अनुभव से चित्त में जो व्यापकत्व आता है, वही प्रसाद है।<sup>१</sup> आनन्द-वर्धन, अभिनव गुप्त, एवं मम्मट सभी इन चित्तवृत्तियों को रस का कार्य मानते हैं, क्योंकि ये अवस्थाएँ रसानुभूति के कारण हो जाती हैं।<sup>२</sup>

### भट्टनायक

भट्टनायक के विवेचन में भोग तथा चित्तवृत्तियाँ अभिन्न हैं। "दृतिविस्तरविकासात्मना - - - - - भोगेन भुज्यते।" यद्यपि यह अभिन्नता व्यापार कोटि में ही जाती है, क्योंकि चित्तवृत्ति-रूप में ही उनके भोग-व्यापार की व्याख्या हुई है, फिर भी इसी व्यापार में ही "सचित्" या "चेतना" का पक्ष भी सम्मिलित है। "सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसविद्विभान्तिसतत्त्वेन परब्रह्मास्वादसचिदेन भोगेन भुज्यते"। इस प्रकार भट्टनायक के

१- डा० नगेन्द्र : रीति-काव्य का भूमिका : पृष्ठ १०१ ।

२- " इस प्रकार अभिनव के अनुसार माधुर्य आदि गुण चित्त की दृति आदि अवस्थाओं से सर्वथा अभिन्न हैं, और चूंकि ये अवस्थाएँ रसानुभूति के कारण ही उत्पन्न होती हैं अत एव रस को कारण और गुण को उसका कार्य कहा जा सकता है। "



अनुसार रस एवं चित्त-द्रुति आदि को कारण-कार्य अथवा प्रयोज्य-प्रयोजक संबन्ध के रूप में नहीं रखा जा सकता ।

### अभिनव

अभिनव इन चित्तवृत्तियों को ही गुण कहते हैं, तथा उन्हें रस का कार्य भी उपर्युक्त अर्थ में स्वीकार करते हैं।

" दीप्तिः प्रतिपत्तुर्हृदये विकासविस्तारप्रवृत्तस्वभावा। सा च मुख्यतया जीवः शब्द-  
वाच्या। तदा स्वादमया रोद्राद्याः, तथा दीप्त्या आस्वादविशेषात्मिकया  
कार्य-रूपया लक्ष्यन्ते रसान्तरात्पृथक्ताया । तेन लक्षितलक्षणाया तत्प्रकाशानपरः स  
शब्दो दीर्घसमासरचनावाक्यरूपोऽपि दीप्तिरित्युच्यते। " १

### मम्मट

जहाँ अभिनव गुप्त ने चित्त को दीप्ति को मुख्यतया जीव कह कर "द्रुत्यादि चित्त-वृत्तियाँ ही गुण हैं" यह मान लिया है, वहाँ मम्मट गुण एवं चित्तवृत्तियों में अभेद न मान कर कारण-कार्य-भाव मानते हैं:—

" आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम् । " २

" दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हतुरोजो वीररसस्थिति । " ३

" चित्तस्य विस्ताररूपकं दीपत्वजनकमोजः । " ४

माधुर्य द्रुति का कारण है, जीव विस्तृति का हेतु है।

### तुलना

अभिनव ने रस को कारण माना था, चित्तवृत्तियों को कार्य, तथा गुण और चित्तवृत्ति को अभिन्न रूप में देखा था। मम्मट ने रस एवं गुण में धर्म-धर्मों भाव से अभेद माना, चित्तवृत्ति को धर्मों का कार्य, जिसे परम्परा-सम्बन्ध से धर्म-विशिष्ट धर्म का या गुण-विशिष्ट गुण का कार्य माना है।

### विश्वनाथ

किन्तु महापात्र विश्वनाथ मम्मट के उपर्युक्त गुण एवं चित्तवृत्ति के बीच दिखावे गये कारण-कार्य संबन्ध को स्वीकार नहीं करते :—

१-सूचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ २०८-९ ।

२-काव्य-प्रकाश : ८-६८ ।

३-काव्य-प्रकाश : ८-६९ ।



" यत्तु केनचिदुक्तं "माधुर्यं द्रुतिकारणम्" इति तन्नाद्रवीभावस्य आस्वाद-  
स्वरूपाह्लादाभिन्नत्वेन तत्कार्यत्वाभावात्। " १

विश्वनाथ का आह्लाद का स्वरूप निम्न है:--

" चित्तद्रवीभावमयी ह्लादो माधुर्यमिष्यते । " २

विश्वनाथ के अनुसार माधुर्य गुण, चित्तद्रुति, एवं आह्लाद - तीनों अभिन्न हैं।  
तब द्रवीभाव माधुर्य का कार्य कैसे ? यही उनको प्रमुख आपत्ति है।

समाधान

विश्वनाथ ने अभिनव तथा मम्मट में गुण तथा चित्तवृत्तियों के विषय में  
कारण-कार्य-भाव के रूप पर मत-भेद पाया। उन्होंने इसे मत-भेद नहीं समझा। मम्मट की  
भूल समझा। और मम्मट का सहन कर दिया। किन्तु वे स्वयं भी अभिनव की मान्यता  
को समझ नहीं सके। अभिनव ने जहाँ गुण तथा चित्तवृत्ति को अभिन्न कर के देखा था,  
वहाँ उन्हें रस का फल-रूप भी तो कहा था। किन्तु विश्वनाथ महान् भट्टनायक की ओर  
हुलक गये। भट्टनायक भोग में चित्तवृत्ति एवं संविद् को मिला कर चल रहे थे। भट्टनायक  
को चित्तवृत्ति तथा संविद् की एकता, एवं अभिनव के गुण-चित्तवृत्ति के भेद से मिलकर  
विश्वनाथ में माधुर्य, चित्तद्रुति, एवं रस-रूप आह्लाद की एकता के रूप में प्रकट हुई। और  
यह सब कुछ हुआ कुछ तो भट्टनायक से अधिक प्रभावित होने के कारण, तथा कुछ किसी  
की भली प्रकार न समझने के कारण।

चार मान्यताएँ

इस प्रकार हमारे समक्ष रस, गुण एवं चित्तवृत्ति के परस्पर संबन्ध के विषय में  
निम्न चार मान्यताएँ आती हैं, जिनका संबन्ध ध्वनि-वाद से ही है। यद्यपि भट्टनायक  
ध्वनिवादों नहीं थे, किन्तु इस विषय में उनका मान्यता ने सीधे ध्वनि-वादों मान्यता  
को प्रभावित किया है, अतः हम उनके दृष्टि-कोण को भी इसी में सम्मिलित कर सकते हैं।

१- साहित्य-दर्पण : पृष्ठ ५३६ ।

२- साहित्य-दर्पण : परिच्छेद ८, ३ ।



### १- भट्टनायक का अभिन्न भोग-वा का मान्यता

इसमें चित्तवृत्ति तथा संकिद् के तत्त्वों पर पृथक् पृथक् दृष्टि नहीं डाली गयी ।

### २- अभिनव गुप्त का मान्यता

इसमें गुण एवं चित्तवृत्तियों में अभेद है, तथा ये चित्तवृत्तियाँ रस को काय हैं।

### ३- मम्मट का मान्यता

इसमें रस तथा गुणों में धर्म-धर्मा सम्बन्ध है, चित्तवृत्तियाँ विशिष्ट धर्मा का कार्य हैं, अतः गुण तथा चित्तवृत्तियों में भा कारण-कार्य सम्बन्ध है ।

### ४- विश्वनाथ का मान्यता

इसमें जाह्लाद या रस, चित्तवृत्ति, तथा गुण तीनों को घुसा-मिला कर देखा गया है। भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त दोनों का सम्मन्वय नहीं, सम्मिश्रण इसमें परिलक्षित होता है।

### कारण में दार्शनिक दृष्टि-कोण

इन चारों मान्यताओं के अपने अपने कारण हैं। इन में प्रधान कारण प्रतीत होता है दार्शनिक दृष्टि का उलझाव-सुलझाव।

### भट्टनायक

जैसा कि हम भट्टनायक के रस-सिद्धान्त की समीक्षा करते हुए देख चुके हैं, उनका द्वैत-वादिना दृष्टि है। उसी दृष्टि ने यहाँ भी चित्तवृत्ति तथा रस को पृथक् कर के देखने का आवश्यकता अनुभव नहीं होने दी।

### अभिनव

अभिनव गुप्त के दृष्टि-कोण में उनके अद्वैत शैव-दर्शन का हाथ है। प्रकारा-विमर्श-मयी सत्ता जब अपनी समुत्ति आनन्द-शक्ति से संवलित है, तब उसका विमर्श अंश भी उससे भिन्न नहीं होता। रसानुभूति में विमर्श-रूप चित्तवृत्तियाँ भी "शक्ति" ही हैं, और कुछ नहीं। शक्ति शक्तिमान् का गुण है, उससे भिन्न नहीं। अतः द्रुति आदि चित्तवृत्तियों को प्रकारा-रूप चेतन्य के अथवा यों कहिए रस के गुण-रूप में रखने के अतिरिक्त



अभिनव के पास कोई ठौर भी नहीं था। फिर प्रकाश-आत्मा के विमर्श के ज्ञान उन चित्तवृत्तियों को आत्म-रूप रस का कार्य मानना भी स्वाभाविक ही था। रस एवं चित्तवृत्तियों के इस कारण-कार्य संबन्ध मानने में अभिनव के पास आनन्दवर्णन की भी स्वीकृति थी :--

" रांद्रादयो ऽपि रसा परा दीप्तिमुन्वलतां जनयन्ति-इति लक्षणाया  
त एव दीप्तिरित्युच्यते। " १

मम्मट

किन्तु मम्मट अभिनव गुप्त का अपेक्षा आनन्दवर्णन से अधिक प्रभावित हुए हैं। उन्हें अभिनव को प्रकाश-विमर्श के इतने दूरवर्ती एकाकार को प्रक्रिया संभवतः नहीं रुचा। वे अधिक आग्रह के साथ किसी दार्शनिक पक्ष को पकड़ कर साहित्यिक मान्यताओं को आच्छादित नहीं करते। वे अन्य वैदिक दर्शनों के भी प्रकाण्ड पण्डित थे, तथा जैसा कि हम कह चुके हैं, काव्य-प्रकाश में वे एक दार्शनिक तटस्थ साहित्यकार के रूप में उपस्थित हुए हैं। यही उनको महत्ता है। गुण का सम्बन्ध गुणों से है। कार्य को गुण से एकाकार नहीं करना चाहिए। पण्डितराज ने कहा ही है कि अग्नि का गुण उष्ण स्पर्श तथा कार्य दाहादि पृथक् परिलक्षित होते हैं। उधर आनन्दवर्णन भी कह चुके थे, कि शृंगार मधुर होता है, माधुर्य-गुण-विशिष्ट होता है। वह सर्वाधिक आह्लाद-रूप है :--

" शृंगार एव मधुरं परः प्रह्लादनी रसः । " २

इस आह्लाद-रूप शृंगार का जो आह्लादकत्व है, आह्लादन-शक्ति है, मधुर रस का जो धर्म है, वही तो है माधुर्य। चित्त-वृत्ति तो उस धर्म का, उस शक्ति का कार्य है :--

" आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम्। " ३

इस प्रकार व्यावहारिक मम्मट ने आह्लाद अथवा आनन्द को रस कहा, उसकी शक्ति अथवा धर्म को गुण, और मम्म-य चित्तवृत्ति को उसका कार्य।

१- ध्वन्यालोक : २।७ : पृष्ठ २०५ ।

२- काव्य-प्रकाश : ८।६८ ।

मम्मट के आह्लादकत्व " का टीकाकारों द्वारा कुछ भिन्न व्याख्या हुई है। इनमें निस्सन्देह मम्मट के उद्देश्य को सामने नहीं रखा गया।

"क" आह्लादनमाह्लादः, भावे षञ्जिततः स्वाधे क-प्रत्ययः। आनन्दस्वरूपत्वमित्यर्थः।

काव्य-प्रकाश : वामन भट्टकोकर : पृष्ठ १७१ ।

"ख" आह्लादकत्वं यदि आनन्दहेतुत्वं तर्हि न शृंगारस्यापि। तस्यैव सहात्म्यत्वेन तत्त्व-नवत्वात्। आनन्दस्वरूपत्वं चेत्तर्हि सर्वेषां मेव रसानामित्युक्तं आह- द्रुतिकारणम् इति। का. प्र. प्रदीप, पृ. १२१ ।



## विश्वनाथ

विश्वनाथ में हम देख चुके हैं कि वे भट्टनायक से अत्यन्त प्रभावित हुए हैं, साथ ही उनमें अभिनव का मिश्रण भी हुआ है। उनका मान्यता में मिश्रण के अतिरिक्त कोई दार्शनिक आधार नहीं दिखाया पड़ता। वे जिस द्वयो-भाव को मार्घ्य कह रहे हैं, उसे आह्लाद से भी तो अभिन्न कर रहे हैं:--

" द्वयोभावस्यास्वादस्वरूपमह्लादाभिन्नत्वेन तत्कार्यत्वाभावात् । " १

विश्वनाथ का आह्लाद रस का भी पर्याय है। तब आह्लाद, या रस, मार्घ्य गुण, तथा द्वयोभाव में क्या अन्तर रह गया ? डा० नगेन्द्र ने भी लिखा है:-- २

" इस तरह विश्वनाथ ने एक प्रकार से गुण को रस से ही अभिन्न मान लिया है। "

दूसरी ओर विश्वनाथ के सामने आनन्दवर्णन को वह मान्यता भी थी जिसमें द्रुति आदि को रस का कार्य कहा गया था, और जिसमें अभिनवगुप्त ही भी स्वाकृति थी। तब विश्वनाथ रस तथा द्वयोभाव में कारण-कार्य संबंध स्थापित करने का मोह भी संवरण नहीं कर सके :--

" द्वयोभावश्च - - - - - रत्याद्याकारानुविधानन्दोद्बोधेन सदृश्यचित्तार्द्र-  
प्रायत्वम् । " ३

तो एक ओर आह्लाद, गुण, एवं द्वयोभाव का भेद, दूसरी ओर आनन्दोद्बोध हेतु से चित्त को आर्द्रता कार्य मानना - अपने में ही स्वयं असंगत हो जाता है। इसी लिए हमें कहना पड़ा कि विश्वनाथ ने यह सामंजस्य-रहित सम्मिश्रण बिना किसी मान्यता को पूरा समझे हुए किया। शायद सभी बड़ों का सम्मान रखने के लिए।

## पण्डितराज

गुण और चित्तवृत्ति के इस सम्झौते में जब पण्डितराज की अपनी मान्यता देखिए। उनका अपना दार्शनिक पृष्ठ-भूमि जड़ैतवाद की है, जिसके अनुसार आत्मा आनन्द-स्वरूप है किन्तु निर्गुण है। अतः "गुण रस के र्म हैं" वे ऐसा बात स्वाकार नहीं कर सकते।

१- साहित्य-दर्पण, पृष्ठ ५३५ ।

२- डा० नगेन्द्र : राति-काव्य की भूमिका : पृष्ठ १०३।

३- साहित्य-दर्पण : पृष्ठ ५३५ ।



रस के प्रभाव-स्वरूप चित्त को दृष्टि आदि अवस्थाएं होता हैं, वे इसे स्वीकार कर लेते हैं। आनन्दवर्णनादि ने जो कारण-कार्य संबन्धमाना है, वे उसे अपने अर्थों में ग्रहण करते हैं। अर्थात् प्रयोज्य-प्रयोजक संबन्ध के रूप में। चित्तवृत्तियों का प्रयोज्य है, रस प्रयोजक है :-

" गुणानां तेषां दृष्टिदीप्तिविकाशास्माप्तिप्रचित्तवृत्तयः क्रमेण प्रयोज्याः।

----- इति मम्मटभट्टादयः । " १

इसी विशेषण में मैं उन्हें रस तथा चित्तवृत्तियों का कार्य-कारण संबन्ध मान्य है।<sup>२</sup> रस में दो अंश हैं, एक चेतन्य का, दूसरा रत्यादि उपाधि का। न्याय-दर्शन के अनुसार रत्यादि स्वयं गुण-रूप हैं, अतः गुण रसका उपाधि-भूत रत्यादियों के भी वर्म नहीं को जा सकते। अतः जिन अर्थों में मम्मटादि ने गुणों को रस का वर्म कहा था, उन अर्थों में गुण रस के किसी अंश के वर्म नहीं को जा सकते। तब रस में चित्तवृत्ति को प्रभावित करने की शक्ति को स्वीकार कर के "प्रयोज्य-प्रयोजकसंबन्ध" के रूप में कार्य-कारणसंबन्ध को ग्रहण करना उनका मान्यताओं तथा दार्शनिक दृष्टि-दोष के अनुरूप हो जाता।

यदि भाषा के फेर को छोड़ दिया जाए तो हम कह सकते हैं कि रसादि के प्रभाव से उद्भूत चित्तवृत्तियाँ ही गुण हैं। " प्रयोजकतासन्धेन दृष्ट्यादिचित्तवृत्तिप्रयो-जकत्वमेव वा माधुर्यादिकम्। "। यह उनका मान्यता है। इसमें अभिव्यक्ति के समान ही गुण एवं चित्तवृत्ति में अन्तर है, किन्तु अपने अंग है।

तब गुण का आशय क्या है - इस प्रकार के प्रश्नों का अर्थ ही दूसरा है। इन प्रश्नों का तात्पर्य है गुण अर्थात् चित्तवृत्ति आदि को प्रयोजकता कि में है यह प्रयोजकता, हम देख चुके हैं, पण्डितराज के अनुसार केवल रस में ही नहीं है, अपितु रस के साथ शब्द, अर्थ तथा रचना में भी है। और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि एक बार पण्डितराज का प्रयोजकता का दृष्टि-दोष समझ लेने पर किसी को आपत्ति भा नहीं होगी।

गुणों के व्यञ्जक

गुणों के स्वरूप के साथ ही उनके व्यञ्जकों का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। मम्मट के अनुसार वर्णसमूह, समास, एवं रचना गुणों की व्यञ्जक सामग्री हैं।<sup>३</sup> इनका संक्षिप्त उल्लेख

१- रसगंगाधर, पृष्ठ ५४ ।

२- " ----- दृष्ट्यादिचित्तवृत्तिभ्यो रसकार्येभ्यो ----- । " रसगंगाधर, पृ० ५५

३- " वर्णाः समासो रचना तेषां व्यञ्जकामिताः । "



अभिनवाप्त ने भी किया है।<sup>१</sup> किन्तु पण्डितराज ने पर्याप्त विस्तार के साथ गुणाभिव्यक्त सामग्री का सोदाहरण निरूपण ही नहीं किया, २ उसमें वर्णियों का भी पूर्ण विवेचन कर के इस विषय को पर्याप्त पूर्णता प्रदान की है।<sup>३</sup>

### वर्ण एवं रचना

वर्ण एवं रचना के विषय में ध्वनिवादियों का दुहरा दृष्टि-कोण है। मम्मटादि वहाँ वर्ण एवं रचना को गुणाभिव्यक्त मानते हैं वहाँ उन्हें ध्वनि के व्यञ्जकों में भी परिगणित करते हैं:—

"पदेकदेशरत्नावर्णेष्वपि रसादयः ।" ४

### ध्वनि-वाद के गुणाभिव्यक्त

ध्वनि-वाद में मान्य गुण-व्यञ्जकों का संकलन पण्डितराज ने हर प्रकार किया है:—

"तदित्थं निरूपितस्यास्य रसादिध्वनिप्रपञ्चस्य पद-वर्ण-रचना-वाक्य-प्रवन्धे-  
श्चाभिव्यक्तिमामनन्ति ।" ५

इस प्रकार वर्ण एवं रचना पर दुहरी व्यञ्जकता का भार ध्वनि-वाद की परम्परा में पाया जाता है। इनमें यद्यपि कोई परस्पर टकराहट नहीं है, क्योंकि गुणाभिव्यजन रसाभिव्यजन की अपेक्षा में ही माना गया है, तथापि इन व्यञ्जकों के विषय में पण्डितराज इस दुहरी उत्पन्न को नहीं रखा चाहते।

### पण्डितराज का दृष्टि-कोण

गुण की द्रुत्यादि-प्रयोजकत्व के रूप में ग्रहण कर के पण्डितराज ने इस प्रयोजकत्व को रस, शब्द, वर्ण तथा रचना में माना है, हम यह देख चुके हैं। अतः वे वर्ण एवं रचना का सीधा गुणाभिव्यजन मानते हैं, रसाभिव्यजन को मध्यस्थता के साथ नहीं:—

"वर्ण-रचनाविशेषाणां मायुमादिगुणाभिव्यक्तत्वं। गौरवान्मानाभावात्।  
न हि गुणव्यभिचयं विना गुणाभिव्यक्तत्वं नास्त्यस्ति नियमः। इन्द्रियको व्यभिचारीत्

१-"क" "तत्-जीवः-प्रकाशनपुरः शब्दो दीर्घसमासरचनातकृतं वाक्यम्"

"ख" "तत्प्रकाशनपरश्चाद्योऽनपेक्षितदीर्घसमासरचनः प्रसन्नवाचाभिधेयः।"

ध्वन्यालोक : पृष्ठ "क" २०८, "ख" २११ ।

२-"तत्र टवर्गवर्जितानां पञ्चानामप्यविशेषेण मायुर्व्यञ्जकतामाहुः।" रसगंगाधर, पृष्ठ ६१।

३- इदानीं तत्तद्गुणव्यञ्जकतामाणा निमित्तः परिचयाय सामान्यतो विशेषतश्च वर्णोप  
किञ्चिन्निरूप्यते- - - - - रसगंगाधर, पृष्ठ ६६ ।

इत्यमेत प्रसंगेतां मयुररसाभिव्यक्तिकायां रचनायां संक्षेपेण निरूपिता दोषाः । "पृ० ७३

४- काव्य-प्रकाश : ४।६६ : पृष्ठ १६८ ।

५- रसगंगाधर, पृष्ठ १०८ ।

६- रसगंगाधर, पृष्ठ १०८-९ ।



इस प्रकार पण्डितराज के अनुसार वर्ण एवं रचना सीधे, स्वतन्त्र रूप में गुण के अभिव्यजक हैं, रस के नहीं। यह दूसरी बात है कि किसी एक ही स्थल पर रस एवं गुण को अपनी अपनी व्यंजक सामग्री उपस्थित हो कर एक ही लक्ष्य की पूर्ति करता हो। ऐसे स्थलों पर रस के प्रयोज्य गुण एवं शब्ददि के प्रयोज्य गुण में परस्पर विरोध नहीं होना चाहिए। तात्पर्य यह कि यदि मधुर रस के साथ मधुर रचना भी होगी, तो माधुर्य का गहरी सृष्टि हो सकेगा, पूर्ण चित्तवृत्ति हो सकेगी। किन्तु सिद्धान्त यही है कि गुण रसों के साथ भी, तथा रसों से निरपेक्ष भी - परस्परोपश्लेष से एवं औदासीन्य से - दोनों प्रकार से शब्दादिसामग्री से अभिव्यजित हो सकते हैं।

" इत्थं च स्व-स्वव्यंजकोपनीतानां गुणिनां गुणानामुदासीनानां च यथा परस्परोपश्लेषोऽप्यौदासीन्येन वा तत्तत्प्रमितिगोचरता तथा रसानां तद्गुणानां चाभिव्यक्ति-विषयता- इति तु नव्याः ।" १

### समाप्ति

हम देख चुके हैं कि पण्डितराज के अनुसार दुत्पादि-चित्तवृत्ति-प्रयोजकता शब्द-अर्थ-रचना तथा रस सभी में हो सकता है। विभिन्न रस चित्त की द्रवीभूत, विस्तृत या विकसित कर देते हैं, इसे तो समस्त साहित्य-शास्त्र स्वीकार करता ही है, कोई कोई बात(अर्थ)सीधे हृदय को पिपलाने का या उत्तेजित करने को सीधा कामता रखती है। बिना रसानुभूति के भी कोई कोई शब्द वर्ण एवं रचना प्रभावित करते हो हैं, इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।<sup>१</sup> हिन्दी का छाया-वादो काव्य, विशेष कर सुमित्रानन्दन पन्त तथा निराला जी का रचनाएं वर्ण तथा रचना के स्वतन्त्र स्पन्दन पर अधिक विश्वास व्यक्त करता हैं। जो लोग बगला नहीं पड़े, उसका अर्थ न जानते हुए उसको वर्ण एवं शब्द-माधुर्य से प्रभावित होते हैं। रेडियो पर कन्नड़ भाषा के गीत बिना किसी भावानुभूति अथवा रसानुभूति के हो एक प्रकार का प्रभाव हृदय पर छोड़ते हैं। अतः चित्त की विभिन्न दशाओं को प्रयोजकता रस के साथ भाषा के उपादानों में

१- रसगंगाधर, पृष्ठ १०० ।

२- " यह भी ठीक है, विशेष भावों में, विशेष शब्दों में भी चित्तवृत्तियों को द्रवित अथवा दोष कर देने की शक्ति होती है। उदाहरण के लिए मधुर वर्णों को सुन कर एवं गीत एवं रोद्र आदि भावों को ग्रहण कर हमारे चित्त में दूसरे प्रकार का विकार हो जाता है, जिसे विस्तार के कारण दोष कहते हैं। परन्तु इन विकारों को पूर्णतः अह्लाद-रूप नहीं कह सकते । " डा० नगेन्द्र : रीति काव्य की भूमिका : पृष्ठ १०२ ।



भा स्वतन्त्र रूप से मानना ही अधिक वैज्ञानिक दृष्टि-कोण है, जिसे पण्डितराज ने अपनाया है। हो सकता है, आप इस भाषा-शक्ति के प्रभाव को पूर्ण आह्लाद-रूप न कहें, जैसा कि डा० नगेन्द्र ने कहा भी है<sup>१</sup>, किन्तु आह्लाद में तथा चित्त-वृत्ति आदि में भाषा-गत उपादानों को उनका अपेक्षित श्रेय मिलना चाहिए।

पण्डितराज का युग हिन्दी के "रीति-काव्य" का युग था, जिसमें भाषा के ललित उपकरणों ने अपनी उपयोगिता के आधार पर हृदय को प्रभावित करने की क्षमता रख सकने का स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त किया है। प्राचीन ध्वनि-वादी आचार्य इस ओर से उदासीन न होते हुए भी इस ओर अधिक उन्मुख प्रतीत नहीं होते। भाषा के इन तत्वों का जैसा विवेचन आनन्द-वर्धन में मिलता है वैसा मम्मट तथा विश्वनाथ में नहीं। हां, इस क्षेत्र में कुन्तल का नाम प्रशंसा के साथ लिया जा सकता है। किन्तु उन बेचारे को युग की सहानुभूति ही प्राप्त न हो सकी। हम देखते हैं कि आगे चल कर रीति-काल के कवित्व ने भाषा की शक्ति का अधिकाधिक आश्रय लिया है। उसने अपने कलात्मक युग के अनुरूप वर्ण एवं रचना में निहित इस शक्ति को पहचाना, पहचाना ही नहीं, बहुत कुछ परिमार्जित भी किया है। पद्माकर जैसे कवियों की कविताएं इस युग की चेतना के जीवित प्रमाण हैं। हम यह भी पाते हैं कि हिन्दी के कवित्व ने इस क्षेत्र में जो काम किया, उसके आचार्यत्व ने उसका साथ नहीं दिया। इधर संस्कृत का आचार्यत्व भी भाषा की मार्मिक शक्ति के विवेचन से उदासीन हो चला था। पण्डितराज के समक्ष यद्यपि रीति-काल का पूर्ण वैभव तो नहीं आ पाया था, किन्तु उसके कलात्मक प्रभाव सामने आ हो रहे थे। पण्डितराज ने भाषा-शक्ति को स्वतन्त्रतया महत्व प्रदान करके उन्होंने एक कालिक आवश्यकता की पूर्ति तो की ही, साहित्य के एक सार्वकालिक सत्य की स्वीकृति प्रदान करते हुए वस्तुतः ध्वनि-वाद को ही और भी पूर्ण एवं परिमार्जित किया। निस्सन्देह इसमें उनका स्वतन्त्र चिन्तन तो कारण है ही, उनके सामने फैला हुआ युग भी सम्भवतः वे इसी लिए वामनादि के दृष्टि-कोण से अधिक सहानुभूति रख सके थे।

किन्तु एक बात यहां ध्यान देने की है। पण्डितराज ने जिस चित्तवृत्ति-प्रमोजकता को रस-शब्द-अर्थ-रचना में माना है, उसे हमें कुछ विवेक के साथ ही ग्रहण करना चाहिए। रस पूर्ण घनानन्द-मयी एक आनन्दात्मक चेतना है, उससे प्रयोज्य-रूप में होनेवाली कार्यरूपा

१- डा० नगेन्द्र: रीति-काव्य की भूमिका: पृ० १०२।

"परन्तु इन विकारों को पूर्णतः आह्लाद-रूप नहीं कह सकते"।



चित्त की दृति आदि का वृत्तियाँ रस को परवर्तिनी स्थितियाँ हैं। उनमें काल-रूप की परवर्तिता अवश्यभावित है। क्योंकि कारण तथा कार्य में काल-भेद आवश्यक है, यह दूसरी बात है कि हम उसके सूक्ष्म अन्तर पर ध्यान से जाने की क्षमता न रखते हों, क्योंकि हम उस समय अनुभूति में लगे होते हैं। किन्तु भाषा-प्रयोज्य दृति आदि के विषय में यह बात वही रूप में नहीं कहा जा सकता। भाषा-प्रयोज्य दृति रसानुभूति में साधन रूप से अन्वित होता है। वह स्वतः आह्लाद-रूप न होकर भी आह्लाद में लीन हो सकने की क्षमता प्रदान करता है। डा० नगेन्द्र ने गुण का विवेचन करते हुए लिखा है:—

" अत एव गुण को अग्निकार्यतः आह्लाद-रूप न मान कर केवल चित्त की एक दशा ही माना जाय, तो उसे सरलता से रस-परिपाक की प्रक्रिया में रस-दशा से ठीक पहिली स्थिति माना जा सकता है, जहाँ हमारी चित्तवृत्तियाँ पिघल कर, दीप्त हो कर, या परिष्कारित हो कर अन्विति के लिए तैयार हो जाती हैं। " १

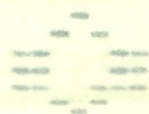
डा० नगेन्द्र की यह बात गुण का एक पक्ष ही हो सकता है, सर्वांगीण नहीं। इसका संन्य भाषा-प्रयोज्य दृत्यादि से हो हो सकता है, रस-प्रयोज्य दृत्यादि से नहीं। कारण, रस-प्रयोज्य दृत्यादि की सभी प्रमुख आचार्यों ने रस का कार्य-रूप दशा ही माना है। अतः रसात्मक स्थलों में भाषा-प्रयोज्य दृत्यादि को रस का पूर्व दशा के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि वह रस-परिपाक में साधन रूप से अन्वित होता है। सीधे शब्दों में कहें तो, भाषा का प्रभाव रस-परिपाक में सहायक होता है। किन्तु यहाँ भी पण्डितराज की मान्यता कुछ विशेष प्रभावित नहीं होती। एक तो भाषा-शक्ति से परिपुष्ट रस-परिपाक भी, पण्डितराज के अनुसार उहाँ चित्त-दृति को करेगा जिसे भाषा सीधे कर सकती है। उसका पर्यवसान वहीं जाकर होना है। दूसरे पण्डितराज की "गुण" के लिए केवल प्रयोज्यता अपेक्षित है, वह पूर्व-वर्तिनी अथवा पर-वर्तिनी कुछ भी हो सकती है।

जहाँ तक गुणों के विषय में पण्डितराज की स्वतन्त्र मान्यता का संन्य है, उसमें पूर्ण मौलिकता है, तथा उधले तर्कों द्वारा उसे कमजोर नहीं ठहराया जा सकता, उसकी जड़ें पर्याप्त गहरी हैं। किन्तु उसका अपना एक दोष भी है। उसे मानने पर ध्यान-वाद की जो अनेक मान्यताएँ प्रतिष्ठित हो चुकी हैं, तथा चिरकाल से एक व्यवस्थित मानदण्ड के रूप में प्रचलित हैं, उनमें कई जगह फौरन-बदल करना यह सकता है। अतः उसमें व्यावहारिकता



का बोझो कमो है। किन्तु दूसरी ओर इसका एक व्यावहारिक ही लाभ भी है। इसमें भाषा के विभिन्न उपकरणों का प्रभावना शक्ति की स्वाकृति है। यदि हम ध्वनि-वादों परम्परागत पद्धति का ध्यान भूला लें, तो शब्द, अर्थ, रचना तथा रस में लोपे मातृणादि-प्रयोजकता के आधार पर व्यावहारिक आलोचना करत भी यह सकती है। यद्युतः आज के युग को बहुत-तारा ज्वाला भाषा का प्रभावन-शक्ति का स्वतन्त्र ध्यान रस कर हो चलतो भी है। पण्डितराज के दृष्टि-कोण की अपना कर व्यवहार-कर्ता दीन का भागो कहीं नहीं लगेगा, उसकी जहें कहीं उपलब्ध नहीं हैं।

गुण विवेक-मण्डितराज की तर्क-बुद्धि एवं स्वतन्त्र समीक्षा-शक्ति की मौलिक प्रसूति है, जो उनके महत्त्व का एक प्रबल प्रमाण है।





---

षष्ठ अध्याय  
( शब्दशक्ति—विवेचन )

पृ० २६३—३३३

---



## शब्द - शक्ति --- विवेचन

### विवेचन का स्वरूप

जहाँ पण्डितराज के अन्य विवेचन मौलिकता एवं गभीरता-पूर्ण हैं, वहाँ उनका शब्द-शक्तियों का विवेचन भी उनके व्यापक अध्ययन स्वतन्त्र निर्णायक शक्ति का पता देता है। शब्द-शक्तियों के सम्बन्ध में शास्त्रीय चर्चा साहित्य-शास्त्र के अतिरिक्त न्याय, मीमांसा तथा व्याकरण शास्त्र में भी जाती है। पण्डितराज ने विभिन्न शास्त्रीय विवादों में न पड़ कर, इनका साहित्य-शास्त्रीययोगी निरूपण प्रस्तुत किया है। तथापि उन्होंने प्रासंगिक रूप में जिन वैकल्पिक मान्यताओं का उल्लेख किया है, वे उन्हीं विभिन्न शास्त्रों के अध्ययन तथा निर्वाचन की योग्यता का प्रमाण हैं।

### गृहीत शक्तियाँ अभिधा एवं लक्षणा

पण्डितराज ने शक्ति-विवेचन में अभिधा एवं लक्षणा - दो पर ही विचार किया है। व्यंजना का भेदधान्तिक इतिहास ध्वनिकार के प्रारम्भ होकर मम्मट तक परिनिष्ठित हो जाता है। मम्मट के उपरान्त उसकी मान्यता क्यों की क्यों अक्षुण्ण रहती है। अतः पण्डितराज के लिए उन पुराने विवादों तथा तर्कों का पिष्ट-पेषण उचित भी नहीं था। वे मम्मट के सर्वमान्य निर्णयों को अपना कर ही चलते हैं, और उनके विषय में उन्हें जहाँ भी जो भी विशेषा वस्तव्य है, प्रासंगिक रूप में उसका उल्लेख कर देते हैं।

विवेचन के लिए अभिधा एवं लक्षणा दो को ही लेने का एक और कारण हो सकता है। व्यंजना तो काव्य के भेदों की दृष्टि के साध्य पक्ष में आ जाती है। काव्यात्मा व्यंग्य का प्रकार-विभाजन अभिधा एवं लक्षणा - दो के ही आधार पर किया जाता है। अभिधा-मूलक व्यंग्य तथा लक्षणा-मूलक व्यंग्य - दो ही उसके प्रमुख वर्ग हैं। अतः अभिधा एवं लक्षणा - दो का ही विवेचन प्रासंगिक ठहरता है। यह तथ्य दोनों शक्तियों की अवतरणिकाओं के स्पष्ट हो जाता है :-

- १- " अथ केयमभिधा नाम, यं मूलः प्रथमं निरूपितोऽयं ध्वनिप्रपञ्चः । उच्यते --- । " <sup>१</sup>
- २- " अथ केयं लक्षणा, यं मूलश्चरमं निरूपितो ध्वनिः । उच्यते --- । " <sup>२</sup>



अभिधा-विवेचन

---

स्वरूप-लक्षण

---

अभिधा का स्वरूप-विवेचन इन शब्दों में प्राप्त किया गया है :--

" शाब्दस्यास्योऽर्थस्य शाब्दगतः, शाब्दस्यागती वा तद्वन्तः-विशेषा

अभिधा । "

" वा च पदार्थान्तरमिति चेत् ।

" अन्मात्पदार्थमर्थो नैव-वगन्तव्य इत्याकारेश्वरेचैवाभिधा । तस्याश्च विषयत्वात् सर्वत्र स्त्वात्पदार्थानामपि घटादिपदार्थाच्चता स्यात् । अतो

व्यक्ति-विशेषोपधानेन घटादिपदार्थात्त्वं वाच्यम् । " इत्यपरे ।

" एवमपीश्वरज्ञानादिना विनियमनाविरतः स्यात् । अतः प्रथमतमेव न्यायः " इत्यपि वदन्ति । १

मान्यताओं के दो पक्ष

यहां परिहृतराज ने अभिधा का लक्षण अपने शब्दों में देने के अनन्तर दो मत उप-  
रिक्त किये हैं। वस्तुतः वे दो मत नहीं, दो पक्ष हैं । एक पक्ष है व्याकरणों तथा मीमांसकों  
का, दूसरा है नैयायिकों का। "पदार्थान्तरमिति चेत्" के " चेत् " शब्द पर लिप्पणी  
करते हुए नागेश ने भी इस पक्ष में मीमांसक तथा व्याकरण दोनों को रखा है। २

इस प्रकार अभिधा के सम्बन्ध में हमारे समक्ष मीमांसक, व्याकरण तथा नैयायिक- तीन  
मान्यताएं आती हैं, जिनमें और परिहृतराज ने स्मृत किया है ।

नैयायिक मान्यता

प्रथम हम यहां नैयायिकों का अभिधा-विषयक दृष्टि-कोण उपरिक्त कर रहे हैं ।

नैयायिकों का शाब्द-बोध प्रश्न

नैयायिकों के अनुसार शाब्द-बोध की प्रक्रिया में शाब्द-बोध का अन्वयार्ण करण  
या धरण तो " प " नहीं, " प-ज्ञान " होता है, और प-ज्ञान से होने वाला पदार्थ-ज्ञान

१- रत्नगोधर , पृष्ठ ११० ।

२- " चेत्- व्याकरण-मीमांसकाः । अपरे- नैयायिकाः । "

नागेश : गुरुमर्मप्रकाशिका, रत्नगोधर, पृष्ठ ११० ।



"द्वार" या "अवान्तर-व्यापार" कहा जाता है। प्रमाता को ज्ञान-चेतना में पद उपस्थित होता है, पद-ज्ञान से पदार्थ-ज्ञान होते हुए, शाब्द-बोध तक पहुँचा जाता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि पद से पदार्थ-ज्ञान कैसे होता है? इसके लिए नैयायिक यह मानता है कि प्रत्येक पद में अपना अभीष्ट अर्थ देने का सक्ति निहित है जो ईश्वरेच्छा से निरूपित होता है। इसी ईश्वरेच्छा-रूप सक्ति को वह वृत्ति या "शक्ति" कहता है। बिना वृत्ति-ज्ञान के पद-ज्ञान मात्र से कोई पदार्थ-ज्ञान नहीं होता, और पदार्थ-ज्ञान के बिना शाब्द-बोध भी संभव नहीं। अतः वहाँ नैयायिक शाब्द-बोध में पद-ज्ञान को "करण" या अहाणरण कारण मानता है, वहाँ वृत्ति-ज्ञान को भा सहायक कारण के रूप में आवश्यक समझता है।  
केवल दो वृत्तियाँ - अभिधा एवं लक्षणा

नैयायिकों को केवल दो ही वृत्तियाँ मान्य हैं, शक्ति एवं लक्षणा।<sup>१</sup> इनहीं वृत्तियों द्वारा प्रतिपादित अर्थ को पदार्थ कहा जाता है।<sup>२</sup> इस प्रकार पदार्थ के दो भेद हो जाते हैं - वाच्य एवं लक्ष्य।

#### सक्ति के दो रूप

इस पद-निष्ठ पदार्थ-विधायक सक्ति को नैयायिक दो स्थूल वर्गों में विभक्त करता है।  
१-आधुनिक सक्ति तथा ईश्वर सक्ति। आधुनिक सक्तियों से उलका मन्तव्य उन पारिभाषिक सक्तियों से है, जो विभिन्न शास्त्रों में, विभिन्न शब्दों में, कल्पित कर लिए जाते हैं। उदाहरण-स्वरूप पाणिनीय व्याकरण में "गुण" "वृद्धि" आदि। पिता-आदि के द्वारा जो पुत्रादि के नाम रहे जाते हैं, अथवा लोक-प्रसिद्ध पदार्थों के जो नाम-करण होते हैं, उनके पीछे नैयायिक ईश्वरेच्छा को ही निहित मानता है। उसे "द्वादशोऽस्मि पिता नाम कुर्यात्" इस श्रुति के मूल में निहित ईश्वरेच्छा का ही उपबृंहण समझता है।

#### सक्ति के विभिन्न रूप

इस सक्ति-रूपा ईश्वरेच्छा को मुख्यतः दो रूपों में ग्रहण किया जाता है। १-"इदं

१- पद-ज्ञानं तु करणं, द्वारं तत्र पदार्थयोः।

शाब्द-बोधः फलं तत्र शक्तियोः सहकारिणी ॥८१॥ न्याय-सिद्धान्त मुक्तावली,  
शब्द सङ्घ, पृष्ठ १०१।

२-सक्तौ लक्षणा चार्थे वृत्तिः। शक्ति-वाद, पृष्ठ १।

३-वृत्त्या प्रतिपाद्य एव पदार्थ इत्यभिधीयते। शक्ति-वाद, पृष्ठ २।



पदमिमर्शं बोधयतु " तथा २-५ अस्मात्पदादयमर्थो बोधव्यः ", अर्थात् " यह पद इस अर्थ का बोध कराए " तथा " इस पद से यह अर्थ जानना चाहिए " । यद्यपि सामान्य पाठक के लिए दोनों प्रकार के बोधों में कोई अन्तर नहीं, तथापि नैयायिक प्रथमान्त पद को विशेष्य मान कर चलता है ।<sup>१</sup> अतः "इदं पदमिमर्शं बोधयतु" में पद-विशेष्यक सक्ति कहा जाता है। "अस्मात्पदादयमर्थो बोधव्यः " में अर्थ-विशेष्यक। बोधक वाक्य को घुमा-फिरा कर और भी सक्ति निर्धारित किए जा सकते हैं,<sup>२</sup> किंतु प्रमुखतया उपर्युक्त दो ही रूपों में सक्ति समझा-समझाया जाता है ।

### सक्ति का विशिष्टता

ईश्वरेच्छा यद्यपि एक सामान्य धर्म है, तथा जैसाकि पण्डितराज ने उल्लेख किया है, वह घट-पट आदि स्मस्त पदार्थों में समान रूप से रहती है, तथापि उस ईश्वरेच्छा-रूप सक्ति को व्यक्ति-विशेष को उपाधि से विशिष्ट रूप में ग्रहण किया जाता है। अतः गोत्व-विशिष्ट ईश्वरेच्छा-रूप सक्ति गो-पदार्थ में हो होता है, पट में नहीं। शक्ति-वाद में गदाधर भट्ट ने इस विषय का विवेक निम्न शब्दों में किया है:--

" इदं पदमिमर्शं बोधयतु "इति, " अस्मात्पदादयमर्थो बोधव्यः " इति चेच्छा सक्ति-रूपा वृत्तिः। तत्र आपुनिकसक्तिः परिभाषा । तथा चार्थबोधकं पदं पारिभाषिकं, यथा शास्त्रकारादिसकितितनदीवृद्ध्यादि पदम् । ईश्वरसक्तिः शक्तित्तया चार्थबोधकं पदं वाचकं, यथा गोत्वादिविशिष्टबोधकं गवादि पदं, तद्वोच्योऽर्थो गवादि वाच्यः। स एव मुख्यार्थ इत्युच्यते । " <sup>३</sup>

### नव्य नैयायिकों की मान्यता

सक्ति को ईश्वरेच्छा-रूप मानने में नैयायिक के समझा कई बाधाएँ आती हैं। ईश्वरा-कृत नामों में सक्ति कैसे माना जाय ? पदार्थों के नित्य नये नामकरण होते हैं, बिनमें सक्ति को ईश्वरेच्छा-रूपता सामने नहीं आती ? अपभ्रंश शब्दों में सक्ति की अवस्था कैसे हो ? फिर मीमांसक, जो ईश्वर को स्वीकार नहीं करते, उनके लिए सक्ति को ईश्वरेच्छा-रूप मानने का कोई अर्थ ही नहीं है। गदाधर भट्ट ने इसी मीमांसक दृष्टि-कोण को संक्षिप्त करते हुए लिखा है:-- " एवं ईश्वरसत्तस्य शक्तित्वे, ईश्वरानङ्गीकारमते शब्द-बोधानुपपत्ते

१-प्रथमान्तमुख्यविशेष्यबोधस्वीकारात् । "आदर्श" शक्तित्त-वाद, पृष्ठ ३ ।

२-एवं बोधादिविशेष्यकोऽपि सक्तिः संभवति, यथा गोत्वावच्छिन्नविषयको बोधो गवा-दिपदजन्यो भवति " इति । " आदर्श " शक्तित्त-वाद, पृष्ठ ३ ।

३-शक्तित्त-वाद, पृष्ठ ३१

शक्तिवाद : पृष्ठ ७ ।



इनका कुछ न कुछ समाधान देने का प्रयत्न नैयायिक करता है।<sup>१</sup> कतिपय नव्य नैयायिक इन विवादों से बचने के लिए तथा वस्तु-स्विति के महत्त्व को स्वीकार करते हुए अपने सिद्धान्त को अधिक परिमार्जित बनाये रखने के उद्देश्य के सक्ति को " ईश्वरेच्छा-रूप " के स्थान में " इच्छा-रूप " स्वीकार कर लेते हैं।<sup>२</sup>

सक्ति की इच्छा-रूपता का कारण

नैयायिक का शक्ति को ईश्वरेच्छा-रूप मानने का एक विशेष मन्तव्य है। उन्हें उस के लिए मीमांसकों के समान एक पृथक् पदार्थ मानने की आवश्यकता नहीं रहती। इच्छा उनके अनुसार २४ गुणों में से एक गुण है।<sup>३</sup> और गुण न्याय में मान्य सात पदार्थों में से एक पदार्थ है।<sup>४</sup> किन्तु, जैसा कि हम देखेंगे, मीमांसक तथा वैवाकरण कुछ भिन्न दृष्टि-कोणों के साथ शक्ति को एक स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं।

मीमांसकों की मान्यता

शब्द-प्रमाणवाद

धर्म की व्याख्या के लिए मीमांसा ५ प्रमाण स्वीकार करती है- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति एवं शब्द। कुमारिल के अनुयायियों का एक वर्ग "अभाव" को भी प्रमाण रूप में मान लेता है।<sup>५</sup> किन्तु इन समस्त प्रमाणों में मीमांसक अपना वास्तविक आधार शब्द को ही बनाता है। इसी कारण उसे शब्द-प्रमाणवादी कहा जाता है।

वाक्यों का प्रामाण्य

मीमांसा के अनुसार दो प्रकार के वाक्य प्रमाण हैं, एक- वेद-वाक्य, दूसरे- आप्त-वाक्य। वेदवाक्य स्वतः प्रमाण है, आप्त-वाक्य वक्तृ की विश्वसनीयता प्रमाणित होने पर।<sup>६</sup>

१-"क"-आधुनिकसकितिते तु न शक्तिरिति सम्प्रदायः। न्याय-सिद्धान्त मुक्तावली, पृष्ठ २९५।

२-"ख"-तर्हि नवापि पदार्थ शब्द-बोध इति चेत् ? शक्तिप्रमादेव प्रमाणोति साम्प्रदायिकाः वदन्ति। किरणावली, न्याय सिद्धान्त मु०, पृष्ठ २९५।

३-"ग"-शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य संबन्धः। सा च-----ईश्वरेच्छारूपा। आधुनिके नाम्नि शक्तिरस्त्येव, "पञ्चादशोऽहनि पिता नाम कुर्वन्।" इतीश्वरेच्छायाः उत्पत्तिः। आधुनिकसकितिते तु न शक्तिरिति सम्प्रदायः। नव्यास्तु-"ईश्वरेच्छा न शक्तिः; किन्तु इच्छैव, तेनाधुनिकसकितितेऽपि शक्तिरस्त्येवेत्याहुः। न्याय सि० मुक्ता०, पृष्ठ २९५।

४-"घ"-तथा च तत्पदजन्यबोधविषयतात्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासंबन्धेनेश्वरेच्छावत्त्वस्य इच्छानिरूपिततादृशविशेष्यतावत्त्वस्यैव वा तत्पदशक्त्यारूपतया नाति-प्रतीतिः। शक्ति-वाद, पृष्ठ २३।



आप्त-वाक्यों को जहाँ कुमारित सीधे-सीधे प्रमाण मान लेते हैं, वहाँ प्रभाकर वक्तों की यथार्थता के आधार पर अनुमान से उनका प्रामाण्य स्वीकृत करते हैं।<sup>१</sup>

१- " लास्टली , एकाहिंग टू प्रभाकर, इट इज़ जीनली दो वेद देट कैन बी कौल्ड " शब्द-प्रमाण", एण्ड जीनली दोज़ सेन्टेन्सेज़ आफ़ इट विन्स कन्टेन इजंबशन्स. इन जीन अदर फ़ैज़ , दो वैलेडिटी आफ़ वर्ड्स इज़ जीनली इनफ़र्ड जीन दो ग्राउंड औफ़ दो ट्रस्ट-वर्दा करैक्टर आफ़ दो स्पीकर. बट, कुमारित कन्सिडर्स दो वर्ड्स आफ़ जीन ट्रस्ट-वर्दा परसन्स एज़ "शब्द-प्रमाण".

" ए हिस्ट्री आफ़ इण्डियन् फ़िलास्फी : दास गुप्ता ।

वाल्थूम फ़र्स्ट, पेज ३९७ ।

गति-पृष्ठ के उद्धरण :-

३- अथ गुणा रूपं रसो गन्धस्ततः परम् ।३

बुद्धिः सुखं दुःखमिच्छा द्वेषो यत्नो गुरुत्वम् ।५

न्याय सिद्धान्त मुक्तावली, पृष्ठ ३९।

४- द्रव्यं गुणास्तथा कर्म सामान्यं सविशेषम् ।

समवायास्तथा भावः पदार्थाः सप्त कीर्तिताः ।।२

५- "प्रमाणाज्जा आफ़ वेमिनी " । न्याय सिद्धान्त मुक्तावली, पृष्ठ ३३ ।

"इण्डि० फ़ि ला०, मैक्समूलर, पृ० २०६

६- "दो फ़र्स्ट"आप्त-वाक्य" बीकम्स ए वैलिड मीन्स आफ़ नालिज, जेन इट इज़ नाट अटर्न वाइ अन्ड्रस्टवर्दा परसन्स, एण्ड दो सेकिण्ड " वेद-वाक्य " इज़ वैलिड इटसेल्फ़ ।"

" ए हिस्ट्री आफ़ इण्डियन् फ़िलास्फी : दास गुप्ता:

वाल्थूम फ़र्स्ट, पेज ३९४-५।मीमांसा फ़िलास्फी शब्द-प्रमाण।



### पद-वर्ण नित्यता

मीमांसकों के अनुसार शब्द नित्य हैं। यद्यपि उनकी बाह्य उच्चार्यमाण शब्दानुपूर्वी अनित्य है, तथापि शब्द के वर्ण नित्य हैं। प्रत्येक वर्ण में शक्ति होती है। यद्यपि केवल वर्ण-शक्ति अर्थ नहीं देती, तथापि शब्द के वर्णों की सामूहिक शक्ति अर्थ-बोध करा देती है।<sup>१</sup>

### शक्ति-नित्यता

इस प्रकार मीमांसक के अनुसार "पद" या "शब्द" नित्य हैं, उनके वर्ण नित्य हैं, उन पदों में अर्थ रखने तथा प्रदान करने की शक्ति भी नित्य है। जैमिनि के औत्पत्तिक

१-"क"- "तन्मते-इति मीमांसकमते। वर्णात्मकान्येव पदानि, वर्णाश्च नित्या इति पदानां नित्यत्वादुक्तशंकाया अवसरो नास्तीत्यर्थः।

"आदर्श", शक्ति-वाद, पृष्ठ १६।

"ख"- "प्रभाकर थिंक्स दैट औत साउण्ड्स आर इन दी फ़ौर्मस ओफ़ लैटर्स, और आर अण्डरस्टैण्डेबिल एण्ड कम्बिनेशन्स ओफ़ लैटर्स. दी कन्स्टीट्यूण्ट लैटर्स ओफ़ ए वर्ड, हाउएवर, कैन्नीट यील्ड एनी मीनिंग. ----- एण्ड दी पोटेंसी ओफ़ दी वर्ड ओरिजिनेट फ़्रॉम दी सेपरेट पोटेंसीज ओफ़ दी लैटर्स, इट हैज़ टू बी ऐड-मोटेड दैट दी लैटर इज दी डायरेक्ट ओज ओफ़ वर्ड्स कौग्नोरान. बोथ प्रभाकर एण्ड कुमारिल एग्री ओन दिस पाइन्ट. "

"ए हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन् फिलॉसफी", दास गुप्ता ।  
वाल्थूम फ़र्स्ट, पेज १९५ ।

२-"क"- "एनादर थिंक्स लियर डीविडन एक्सपाउण्डेड थियर इज दैट दीवर्ड्स हेव डिनोटे-टिव पावर्स बाई विच दे दैमैस्टिक्स आउट ओफ़ देयर ओन नेचर रेफ़र टू सर्टेन ओब्जेक्ट्स इर्रेस्पेक्टिव ओफ़ देयर कम्प्रोहेंशन और नोन-कम्प्रोहेंशन बाई दी थियरर्स ।"

"ए हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन् फिलॉसफी", दास गुप्ता ।

वाल्थूम फ़र्स्ट, पेज १९५।

"ख"- अभिधानप्रसिद्ध्यर्थमर्थापत्त्यावबोधितात् । शब्दबोधकसामर्थ्यात्तन्नित्यत्वप्रकल्पनम् ।।  
अभिधा नान्यथा सिद्धेदितिवाचकशक्तताम् । अर्थापत्त्यावगम्यैव तदनन्यगतेः पुनः ।।  
अर्थापत्त्यन्तरेणैव शब्दनित्यत्वनिश्चयः । दर्शनस्य परार्थत्वादित्यस्मिन्नभिधास्यते ।।  
कुमारिल भट्ट : "श्लोक-वार्तिक" : भाग ३, अर्थापत्ति परिच्छेद ।



सूत्र पर भाष्य करते हुए शाबर-स्वामी ने स्पष्ट ही शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध को नित्य एवं औत्पत्तिक माना है :--

"औत्पत्तिकस्तु सम्बन्ध शब्दव्यार्थेन संवन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशो व्यतिरेकश्चार्थे नुपलब्धे तत्प्रमाणं वादरायणस्यानपेक्षितत्वात् । " १

१- शाबर भाष्य, पृष्ठ ५।

गत पृष्ठ का उद्धरण

२-"ग"- "शब्दादनन्तरमर्थप्रतिपत्तिं दृष्ट्वा तस्य तत्कारणत्वमवसोयते। न च व्यापारमन्तरेण कारणत्वमुपपद्यते इति शब्दसमवायी व्यापारोऽनुमोयते। ए चाभिधेति प्रसिद्धम्। तत्तिष्ठद्वयं च शब्दे वाच्य-वाचकसामर्थ्यमपित्या प्रतीयते। - - - - तदस्यानुपपत्तौ शक्तिरूपमनुपपादिका भवति । अस्ति सत्त्वमयो वाच्यवाचक-शक्तिरूप-सम्बन्धः । यदग्रहान्नाथोऽवगम्यत इति। एवं च शक्तिरूपमनुपपत्तौ शब्देऽपि नित्यत्वमन्तरेणानुपपत्तौ रथापित्यन्तरेण शब्दस्य नित्यता प्रतीयत इति । "

"श्लोक-वार्तिक", भाग ३ :

काशिका : सुचरित मित्र : पृष्ठ १६४ ।



## शक्ति का स्वरूप

शब्द तथा अर्थ के इसी संबन्ध को मीमांसक शक्ति कहता है। यह शक्ति उसी प्रकार शब्दों में स्वाभाविक होती है, जिस प्रकार अग्नि में दाहक शक्ति होती है। वह न तो नैयायिक के समान इस शक्ति को किसी सक्ति के कारण समझता है, न ही सक्ति-रूप ।<sup>१</sup> केवल आधुनिक नामों में होने वाले सक्ति को वह शक्ति का कारण मान लेता है । किन्तु स्वतः प्रमाण वेद के शब्दों में सक्ति की बोध में ढालना उसे पसंद नहीं। गदाधर भट्ट ने मीमांसकों के इस दृष्टि-कोण को निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया है :—

" यत्तु ज्ञाने पदानां शक्ति र्नत्वर्थे तथा च तज्ज्ञानशक्तत्वं तद्वाचकत्वं तच्च तद्विधायकशब्दधो जनकतावच्छेदकत्वमवत्वम् । स च धर्मो वह्न्यादिनिष्ठदाहाद्यनुकूलशक्ति-वत् पदार्थान्तरम् ।"<sup>२</sup>

नैयायिक एवं मीमांसक

नैयायिक शब्द को अनित्य मानता है, अतः वह उसको वर्णानुपूर्वी से मिलने वाले अर्थ को भी " उत्पन्न " कहता है। किन्तु मीमांसक के शब्द का अर्थ " नित्य " होने के कारण सदा विद्यमान रहता है । वर्णानुपूर्वी तो केवल उस अर्थ का प्रकाशन करती है। वह भी उस व्यक्ति के लिए, जिसे उस सम्बन्ध का ज्ञान है। अज्ञात-सम्बन्ध पद अर्थ-प्रकाशक नहीं होता, ऐसा कुमारिल का स्पष्ट सिद्धान्त है ।<sup>३</sup>

शक्ति अतिरिक्त-पदार्थ-वाद

नैयायिक द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव - ७ पदार्थ मानता है। वैशेषिक अभाव को निकाल कर शेष ६ । किन्तु मीमांसक शक्ति को एक अतिरिक्त पदार्थ मानता है। नैयायिकों ने मीमांसकों के इस अतिरिक्त शक्ति-पदार्थवाद का सर्वत्र

वर्ह एवं रूपू टू कवेनशन एमां पोपिल टू इन्दोस्मू एण्ड गिव मीनिंग्स टू दी वर्हस।  
वर्हस आर एक्नोलिन्ड टू दी हिनोटेटिव औफ़ देमसेल्व्स। इट इज़ अनिवी एबाउट दी  
प्रोपर नेम्स देट कनवेन्शन इज़ ऐडमीटिड टू दी कीज़ औफ़ हिनोटेशन।

"ए हिस्ट्री औफ़ इण्डियन् फिलॉसफी", दास गुप्ता ।  
बाल्यम पे स्टै, पेज ३९६ ।

२-शक्ति-वाद, पृष्ठ १२ ।

३- " न चाप्यज्ञातसंबन्धं पदं किञ्चित्प्रकाशकम् ।" श्लो० वा०, भाग ३, पृष्ठ ११ ।



किरीध किया है। यहाँ इस सण्डन-मण्डन से हमारा विशेष प्रयोजन नहीं। हम तो यहाँ केवल यही दिखाना चाहते हैं कि मीमांसक जिस प्रकार अग्नि की दाहक शक्ति को स्वाभाविक एवं पृथक् पदार्थ मानता है, उसी प्रकार शब्द की शक्ति को भी स्वाभाविक एवं अतिरिक्त पदार्थ मानता है। इसीलिए गदाधर भट्ट ने कहा है :—

" स च धर्मो वदुन्यादिनिष्पदाहाशुक्लशक्तिवत् पदार्थान्तरम् । " १

पण्डितराज ने मीमांसा के इसी दृष्टि-बोण को " स च पदार्थान्तरमिति चेत् " कह कर दिया है ।

वैयाकरण मान्यता

वैयाकरण एवं मीमांसक

यद्यपि वैयाकरणों का शक्ति-सम्बन्धी दृष्टि-बोण मीमांसकों के स्वतन्त्र है, तथापि वे दोनों बहुत सी बातों में एकमत हैं। वैयाकरण भी मीमांसा के समान शब्द को नित्य मानता है। " नित्यः शब्दः, नित्योऽर्थः, नित्यः शब्दार्थसंबन्धः "—यह उसकी भी मान्यता है। प्राचीन वैयाकरणों के अनुसार यह नित्य शब्द तथा नित्य अर्थ का संबन्ध उसी प्रकार स्वाभाविक है जिस प्रकार आँसु में देखने की शक्ति, शान में सुनने की शक्ति स्वाभाविक होती है। भर्तृहरि कहते हैं :—

" इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता ऽवका ।

अनादिर्यैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा ॥ " २

शब्दार्थ-सम्बन्ध नित्यता-वाद

वैयाकरण यह मानता है कि सभी शब्द सभी अर्थों को प्रदान करने की शक्ति रखते हैं, ईश्वर-संकेत तो केवल अर्थ का प्रकाशक है। अतः शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध नित्य है :—

" सर्वे च शब्दाः सर्वाभाषिषानसमर्थाः, इति सर्वैर्यैः सर्वेषां

शब्दानां सम्बन्धः । ईश्वरसंकेतस्तु प्रकाशकः । अत एव नित्यः शब्दार्थसंबन्धः । " ३

१-शक्ति-वाद, पृष्ठ १२ ।

२- वाक्य-पदीय , ३।३।२९ ।

नागेश : वैयाकरण-सिद्धान्त-समु-मंजूषा २ पृष्ठ ३४ ।

३- नागेश : वैयाकरण-सिद्धान्त-समु-मंजूषा , पृष्ठ ३९ ।



### शब्द को ब्रह्म-रूप कल्पना

वैयाकरणों की इस व्यापक धारणा के मूल में है, शब्द को ब्रह्म रूप में कल्पना। शब्द ही ब्रह्म है, वह नित्य स्फोट रूप है। वर्णानुपूर्वी तो उसकी व्यंजक मात्र है। अतः उसकी शक्ति भी नित्य है :--

" युक्तं चेत्तत्, एकस्यैव स्फोटस्य शब्द-ब्रह्मरूपस्य सर्वशब्दतदर्थोभयो-  
पादानत्वेनोभयरूपताया उभयोरपि तत्कार्ययोरुभयरूपत्वात्। " १

### तान्त्रिक प्रभाव

नागेश ने वैयाकरण-सिद्धान्त-लघुमञ्जूषा में शब्द-ब्रह्म एवं शक्ति के साथ तान्त्रिकों की नाद-बिन्दु तथा शिव एवं शक्ति की कल्पना को भी मिला दिया है। २ उन्होंने इस दृष्टि से प्राचीन आचार्यों के शब्दों की संगति भी लगायी है। वे वाक्य-पदीय-भार भर्तृहरि को स्पष्टतः तान्त्रिक कहते हैं। ३ इसमें सन्देह नहीं कि अधिकांश वैयाकरण शैव थे। शिव की ब्रह्म-रूप कल्पना में वे अद्वैत-वादो भी हैं, और पतंजलि से लेकर नवीन वैयाकरणों तक नादादि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। किन्तु यह निश्चय-पूर्वक कहना कठिन है कि पतंजलि एवं भर्तृहरि के प्रयुक्त नाद शब्द का पारिभाषिक तान्त्रिक अर्थ ही है, और वे सामान्यतः ध्वनि या शब्द के पर्याय रूप में प्रयुक्त नहीं हुए। जो भी हो, यह विषय विवादास्पद है। किन्तु इतना निःसन्देह कहा जा सकता है कि परवर्ती वैयाकरण मान्यता में शब्द-ब्रह्म की कल्पना में तान्त्रिक प्रक्रिया भी मिल कर एकाकार हो गयी थी, जिसकी प्रति-ध्वनि हमें नागेश में मिलती है। नागेश ने वैयाकरणों के अनुसार अभिधा का रूप इस प्रकार निरूपित किया है :--

१- वैयाकरण सिद्धान्त लघु मञ्जूषा, पृष्ठ ३९।

२- "क्रिया-शक्तिप्रधानायाः शब्दशब्दार्थकारणम्।

प्रकृतेर्बिन्दुरूपायाः शब्द-ब्रह्माभवत् परा ॥ वै० सि० ल० मं०, पृष्ठ ४८।

३- " सर्वे च शब्दाः सर्वार्थाभिधानसमर्थाः, इति सर्वैरर्थैः सर्वेषां शब्दानां सम्बन्धः,  
ईश्वर-संकेतस्तु प्रकाशकः। अत एव " नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः " वाक्य पदीय १।२३,  
इति तान्त्रिकाः । "

वै० सि० ल० मं०, पृष्ठ ३९।



" तस्मात्पदपदार्थयोः सम्बन्धान्तरमेव शक्तिः, वाच्य-वाचकभावापरपर्यायाः । " <sup>१</sup>  
पदार्थान्तर-बाद

पद और पदार्थ के परस्पर सम्बन्ध को वैयाकरण अभिधा कहता है। इसे ही वाच्य-वाचक भाव कहा जाता है। वैयाकरण इसे मीमांसक के समान एक स्वतन्त्र सम्बन्धान्तर या पदार्थान्तर कहना चाहता है। इसी कारण पण्डितराज के " पदार्थान्तरमिति चेत् " में वैयाकरण एवं मीमांसक - दोनों की मान्यताएँ समझी जाती हैं ।

संकेत - शक्ति का ग्राहक

वैयाकरण शक्ति को नैयायिक के समान न तो इच्छा-रूप कहना चाहता है, और न संकेतरूप। वह संकेत से शक्ति का अभेद नहीं मानता। उसके मत में संकेत शक्ति का ग्राहक है :—

" तद्ग्राहकं चेतरेतराध्यासमूलं तादात्म्यम् । तच्च संकेतः । तस्यापि पदनिष्ठ-शक्त्युपकारकत्वाच्छक्तिरिति व्यवहारः कृतः । तस्य संबन्धत्वाभावात् । भेदाभेदरूपस्य तस्य तत्त्वाभावात् तद्व्यक्तभेदस्याभेदस्य वा तत्त्वाददर्शनात् । " <sup>२</sup>

संकेत और पतञ्जलि

प्रश्न उठता है, वैयाकरण का संकेत सम्बन्धी दृष्टि-कोण क्या है ? महामुनि पतञ्जलि ने संकेत की व्याख्या करते हुए कहा है :—

" संकेतस्तु पद-पदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मकः, यो यं शब्दः लोके योऽर्थः स शब्द इति । " <sup>३</sup>

पद और पदार्थ में, जिसके द्वारा एक-दूसरे के बीच अध्यास निरूपित होता है, ऐसा सम्बन्ध संकेत है। इस प्रकार वैयाकरण के संकेत तथा तादात्म्य में कोई अन्तर नहीं रहता। उसका मूल है "इतरेतराध्यास"। इसी कारण नागेश ने कहा है, " तद्ग्राहकं चेतरेतराध्यास-मूलं तादात्म्यम् । तच्च संकेतः । "

१- वै० सि० ल० मं०, पृष्ठ 23।

२- " " " " " २३।

३- महाभाष्य,

। वै० सि० ल० मं०, पृष्ठ 2५ ।



## वैयाकरण एवं नैयायिक

नागेश संकेत के सम्बन्ध में वैयाकरणों एवं नैयायिकों के दृष्टि-भेद में अभिन्नता दिखाना चाहते हैं:—

"समयः, संकेतः" इति चाप्तोपदेशवृद्धव्यवहारपर्यायी। अत एव न्याय-भाष्यकृदप्याह:—"सामयिकः शब्दार्थप्रत्ययः" वै० सू० ७।२।२० इति सूत्रे। कः पुनरयं समयः ? "अस्य शब्दस्येदमर्थवातमभिधेयमि"ति, "अस्येदं नामधेयमि"त्यादिनियोगश्च । न्या० भा० २।१।५ इत्याहुः। नियोगश्चाप्तोपदेश एव। "अयमयमिति नियोगोपि समयः" इति पातञ्जलाः।<sup>१</sup>

नागेश के इस अर्थ-प्रतिपादन के प्रयत्न में हम देखते हैं कि नव्य-वैयाकरण किस प्रकार नैयायिक उपलब्धियों से प्रभावित हो रहे थे। किन्तु प्राचीन वैयाकरणों की मान्यता में संकेत में तादात्म्य या इतरेतराध्यास पर स्पष्टतः बल दिया गया है:—

"कः शब्दः" "कोऽर्थः" इति प्रश्ने घट इत्ययं शब्दः, "घट" इत्ययमर्थः, इत्येवकारोत्तरदर्शनात्तत्परोरध्याससिद्धिः। घट इत्याकारकं ज्ञानम्" इति व्यवहाराच्छब्दज्ञानयोरपि सः। इति शब्द-स्वरूपपरता तात्पर्यग्राहकत्वात्।

"अत एव "पदं श्रुतम्" "पदार्थं श्रुणु" "अर्थं वदन्ति" इत्यादि व्यवहारः। शब्दार्थयोरितरेतराध्यासादेव "वृद्धिरादेच्" पा० १।१।१, "ओमित्येकार्थं ब्रूम" ब्रूम-विधौ ०३, इति शक्तिग्राहक्युतिस्मृतयोः समानाधिकरणप्रयोगः।"

## संकेत - औपचारिक शक्ति

यह संकेत वैयाकरणों के अनुसार स्वतः शक्ति नहीं, शक्ति का ग्राहक हेतु है। हाँ, पद-निष्ठ शक्ति का उपकारक होने के नाते उसे भी कभी कभी शक्ति कह दिया जाता है, किन्तु वह औपचारिक रूप में:—

"तस्मापि पद-निष्ठशक्त्युपकारकत्वात् शक्तिरिति व्यवहारः।"<sup>२</sup>

१-वैयाकरण निरूपणान्त लघु मञ्जूषा, पृष्ठ ३९ ।

२- ग ग ग ग ग ३२-३३।

३- " " " " " २३ ।



### पण्डितराज का लक्षण

पण्डितराज ने जो अभिधा का लक्षण दिया है उसमें स्पष्ट ही वैयाकरणों का प्रभाव लक्षित होता है। उन्होंने नैयायिकों के ईश्वरेच्छा-सैतवाद के प्रति असहमति दिखायी है। तथा मयार्थान्तर-वाद के पक्ष को प्रबल प्रतिपादित किया है।<sup>१</sup> यद्यपि "मयार्थान्तरवाद" में मयार्थान्तक एवं वैयाकरण - दोनों के मत आते हैं, किन्तु पण्डितराज के अभिधा-लक्षण में वैयाकरणों की ओर ही झुकाव अधिक है। "शब्दस्यार्थगतः, अर्थस्य शब्दगतो वा सम्बन्धविशेषोऽभिधा" कहकर उन्होंने वैयाकरणों के अनुसार शब्द और अर्थ के परस्पर संबन्ध की ही अभिधा नहीं कहा, अनुलोम-विलोम प्रक्रिया भी वही अपनायी है, जो पतञ्जलि के शब्दों में लिखायी पहुँचा है—"योऽयं शब्दः सौर्यः, योऽयं स शब्दः" इति।<sup>२</sup> और इस अनुलोम-विलोम प्रक्रिया द्वारा पण्डितराज ने एक प्रकार से शब्द तथा अर्थ के पारस्परिक संबन्ध की स्वतन्त्रता का ही प्रतिपादन किया है।

### स्वरूपेतर विवेचन

#### अभिधा के प्रकार

स्वरूप-विवेचन के अतिरिक्त पण्डितराज ने अभिधा के सम्बन्ध में अभिधा के प्रकार, —केवल समुदाय शक्ति, केवलावयव शक्ति, समुदायावयव शक्ति संकर—तीन भेदों पर विचार किया है। इन्हें ही रूढि, यौगिक तथा योगरूढि कहा जाता है। इनके अतिरिक्त एक चतुर्थ भेद "यौगिक-रूढि" पर भी विचार किया गया है।

#### विवेचन की प्रेरणा

मम्मट ने अपने विवेचन में इस प्रश्न को नहीं उठाया। न्याय के ग्रन्थों में इस विषय पर चर्चा यत्र-तत्र मिलती है। अप्पय्य दीक्षित ने वृत्तिवार्तिक में अभिधा का लक्षण देकर तुरन्त ही इन भेदों पर विचार किया है। पण्डितराज को इस ओर प्रवृत्त होने की प्रेरणा अप्पय्य से ही मिली प्रतीत होती है। किन्तु अप्पय्य एवं पण्डितराज के विवेचन में स्पष्टता निश्चयात्मकता, शास्त्रीयता एवं साहित्य-शास्त्रीय उपयोगिता का महान् अन्तर है।

१—एवमपीश्वरज्ञानादिना विनिगमनाविरहः स्यात्, अतः प्रथमतमेव न्यायः" इत्यपि वदन्ति।  
रसगंगाधर, पृष्ठ १४० ।

२— वे० ति० ल० मं०, पृष्ठ २५।



पण्डितराज ने " गोष्पतिरमिागिरसो गदितुं ते गुणगणान् समर्वो न " इस उदाहरण को लेकर अभिधा के सम्बन्ध में जैसा सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है, तथा तत्सम्बन्धी विविध महत्व-पूर्ण निर्णय प्रस्तुत किये हैं, जिनमें अभिधा, लक्षणा, एवं व्यञ्जना की परस्पर सीमाएं स्पष्ट की गई हैं, जैसा विवेचन हमें अप्पय्य में नहीं मिलता।

### अभिधेय अर्थ के प्रकार और वैयाकरण

अभिधेय अर्थ के ४ प्रकार किये गये हैं-जाति, गुण, क्रिया, एवं यदृच्छा-शब्द। पण्डितराज ने यहां भी मम्मट का अनुकरण करते हुए वैयाकरणों के शब्द-वृत्त-वा का होपदा लिया है। मम्मट के ही समान जाति के स्वरूप-निर्धारण में वाच्यपदीय के शब्द " नहि गोः स्वरूपेण गो नाप्यगोः, गोत्वाभिसंबन्धात्तु गोः " व्याख्या सहित प्रमाण रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। गुण-क्रिया में जाति-शक्ति वाद के निराकरण के लिए मम्मट के " गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामप्याश्रयभेदादभेद इव लक्ष्यते " शब्दों को उद्धृत करते हुए, उस अभेद-प्रतीति पर कुछ दार्शनिक दृष्टि डाल कर उसे " भ्रम-रूप " कहा गया है। " तथा च भेद-प्रतीति भ्रम एव, इदमुपलक्षणां, उत्पत्तिविनाशाप्रतीतिरपि तथैव। " १ इस विषय में मोमांस्कों तथा वैयाकरण दोनों सहमत हैं:--

"वर्णानित्यतावादे गकारादुत्पत्तिविनाशाप्रतीतिर्भ्रमत्वस्य स्वीकारात्। " २

यदृच्छा-शब्द के विवेचन को मम्मट की अपेक्षा और परिमार्जन मिला है। ३

### अभिधा-निरूपण में वैयाकरण प्रभाव

इस प्रकार अभिधा-निरूपण में पण्डितराज ने वैयाकरण मान्यताओं का ही पक्ष ग्रहण किया है। वस्तुतः वैयाकरण मान्यताओं की ओर अधिक परिमार्जित एवं व्यवस्थित प्रतिष्ठा हुई है। मोमांस्कों के जाति-शक्ति वाद का परिचय तो अन्त में अत्यन्त सूक्ष्म रूप में दे दिया गया है।

१- रसगंगाधर, पृष्ठ १४५ ।

२- रसगंगाधर, पृष्ठ १४५ ।

३- " यादृच्छिकस्तु वक्त्रा स्वेच्छया हित्वातिशब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तत्वे संनिवेशितो धर्मः। स च " परम्परया व्यक्तिगतश्चरमवर्णाभिव्यंग्योऽस्यैव स्फोटः " इत्येके ।

"आनुपूर्ववच्छिन्नो वर्णसमुदायः " इत्यपरे । " केवला व्यक्तिरेव " इतीतरे ।

तत्रात्मतद्वये विशेषणभानाद्विशिष्टप्रत्ययः। तृतीये च निर्विकल्पकात्मकः प्रत्ययः। "

रसगंगाधर, पृष्ठ १४५ ।



## लक्षणा - विवेचन

### न्याय से सहमति

जिस प्रकार अभिधा के सम्बन्ध में पण्डितराज ने व्याकरणों का पक्ष लिया है, उसी प्रकार लक्षणा के विषय में नेपाथिकों का। न्याय-संचानन आचार्य विश्वनाथ ने लक्षणा का स्वरूप-निरूपण इन शब्दों में किया है :--

" लक्षणा शक्य-सम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः । " १

पण्डितराज ने भी लक्षणा का लक्षण इसी पदावली में दिया है :--

" शक्यसम्बन्धो लक्षणा । " २

शक्य अर्थात् शक्ति या अभिधा से प्रतिपाद्य मुख्यार्थ के साथ होने वाले सम्बन्ध-विशेष को लक्षणा कहते हैं। ३

### दृष्टि-कोण में एक-रूपता

अभिधा के विषय में पण्डितराज ने नेपाथिकों का अनुगमन नहीं किया था, और शक्ति को ही अभिधा न कहते हुए शब्द तथा अर्थ के परस्पर सम्बन्ध-विशेष को अभिधा कहा था। लक्षणा को भी सम्बन्ध-विशेष के रूप में मानने से उनकी मान्यता में एक सुनिश्चित एक-रूपता आगया है।

### लक्षणा का स्वरूप एवं सीमांतक

लक्षणा-व्यापार का क्षेत्र अभिधा की समाप्ति पर प्रारम्भ होता है। आचार्य मुकुल ने अपना अभिधा-वृत्ति-मातृका में इसी पक्ष का लेकर लक्षणा का स्वरूप निर्धारित किया है :--

" शब्दव्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता।

अर्थावस्यैस्य पुनर्बध्यमानात्वमुत्ते ।। " ४

१- न्याय-सिद्धान्त मुक्तावली, ४-

२- रसगंगाधर, पृष्ठ ११५ ।

३- मुकुल : अभिधावृत्तिमातृका ४ पृष्ठ घ, कारिका १ ।

४- " शक्य-संबन्धत्वं लक्षणा-लक्षणम् । शक्यस्य- शक्योपपत्तितस्यार्थस्य सम्बन्धः- यः कश्चित् सामान्यस्मादृश्यादिः यथायोग्यं सम्बन्धः, स एव लक्षणा इत्यर्थः ।

----- शक्यपरम्परासम्बन्धो लक्षणा इति सिद्धाप्तार्थः । किरणावली, पृ० ३१९ ।



मुकुल मीमांसक थे। यद्यपि उन्होंने व्याकरणों को मान्य, अभिधेय शब्दों की चतुष्टय प्रवृत्ति को स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार वे मीमांसकों के केवल जाति-शक्तिवाद तक ही सीमित नहीं रहे, तथापि उनकी अभिधा-वृत्ति-मातृका में मीमांसा का साग्रह अनुगमन किया गया है।<sup>१</sup> मीमांसक लक्षणा को शाब्दार्थ से अशब्दार्थ की उपस्थिति कहते हैं।<sup>२</sup>

मीमांसकों के अनुसार लक्षणा की मूल है कि शब्द का अपने मुख्य अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होना। किन्तु यह भिन्न अर्थ में प्रयोग होता है अपने अर्थ के माध्यम से ही। शबरस्वामी मीमांसा भाष्य में इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं:—

"कथं परशब्दः परत्र प्रवर्तते इति। कथं अगुणवचनो गुणं वृथात् ?  
स्वाभाभिधानेनेति वूमः ।<sup>३</sup>

इस मुख्यार्थ के माध्यम को मुकुल भी स्वीकार करते हैं:—

"अत्र हि वार्थद्वारेण लक्ष्यमाणार्थाभिनिवेशिता शब्दानामुक्तता।"<sup>४</sup>

लक्षणा का आधार = लोकव्यवहार

दूसरी महत्व-पूर्ण बात जो शबरस्वामी ने कहा है, वह यह है कि लक्षणा का आधार होता है जो व्यवहार या प्रसिद्धि-चलनाव्यवहार को "करेन्सी" से दूर को अस्तिद्वय कल्पना/वास्तव लक्षणा हठ-मात्र होता है:—

"लौकिका हि लक्षणा। हठोऽप्रसिद्धकल्पना।"<sup>५</sup>

शबरस्वामी के इस मन्तव्य को और स्पष्ट करते हुए मुकुल कहते हैं:—

"पुनश्चासावेवाहः—लक्षणा लौकिक्येवे"ति। अत्र हि सम्बन्धावधा-

रणासापेक्षाणां शब्दानां लक्ष्यमाणे र्थे प्रवृत्तिरुक्ता । व्यवहारो रूढानि हि

प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि लोकशब्देनाभिधीयन्ते। लोके एव विदिता लौकिकी। व्यवहार-  
गम्येति। परिगृहीतस्य निष्तेत्यर्थः ।<sup>६</sup>

१- "क" - "यस्य तु शब्दव्यापारावगम्यार्थस्य लौकिक्यावगतिस्तस्य लक्षणिकत्वमात्रं  
१- पूर्वमिदं नूतनोद्धारणे व्यवहतेः। सा हि न शब्दव्यापारादवसीयते।" विरोध्यं नोभिधा-  
नं विरोधोक्तं। न च शब्दव्यापारादवसीयते। न च शब्दव्यापारादवसीयते। न च शब्दव्यापारादवसीयते।

मुकुलः अभिधावृत्तिमातृकाः पृष्ठ ३-४।  
"ख" "तत्र मुख्यरचनेनो ज्ञेयो ज्ञात्यादिभेदतः। - - - चतुष्टया हि शब्दानां  
प्रवृत्तिर्भावता महाभाष्यकारेणोपपत्तिता-जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः,  
यदुक्तं शब्दाश्चेति।" अ० वृ० मा०, पृष्ठ ४।

२- "मीमांसकास्तु 'शब्दव्यापारावगम्यार्थस्य लौकिक्यावगतिस्तस्य लक्षणिकत्वमात्रं'  
३- जैमिनि-सूत्रः शबर-भाष्यः १।४।२३।

४- अ० वृ० मा०, पृष्ठ १०।

५- शबर-भाष्यः जैमिनी सूत्रः १।४।२।

६- तन्मन्त्रार्थः, २।२०, पृष्ठ २००, तन्मन्त्र-सं-ली-संस्कृतम्, अ० वृ० मा०, पृष्ठ १०-११।



कुमारिल - इसी कारण कुमारिल ने कहा है:-

" निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्।

क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चिन्नेव त्वशाक्तितः ॥ १

तात्पर्य यह कि कुछ लक्षणाएँ तो रूढ़ होती हैं, जो प्रचलन के कारण भिन्न-भिन्न अभिधेय कीटि में आ जाती हैं। कुछ नवीन निर्मित होती रहती हैं, कुछ असामर्थ्य के कारण नहीं प्रयुक्त की जा सकती हैं। किस प्रकार की लक्षणाएँ की जा सकती हैं, इसकी कसौटी है वृद्ध-व्यवहार या लोक-व्यवहार। मुकुल इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं:-

" साम्प्रतं क्रियन्ते वा वृद्धव्यवहारवज्जालपेक्षया तावद्विधेन्यत्रविधौ परिदृष्ट-स्वभावाः ।- - - - - यातां तु लक्षणाणां न वृद्धव्यवहारे दृष्टता - - - - तासामशक्यत्वादक्रियमाणत्वमेव । " २

मम्मट पर मुकुल का प्रभाव

मम्मट ने भी इस परम्परागत मान्यता को स्वीकार किया है:-

" निरूढा काचनान्यातु कार्या सा कान्दिन्यथा । " ३

कुमारिल ने लक्षणा का स्वरूप निम्न शब्दों में निर्धारित किया है:-

" पक्षान्तरविरोधे तु मुत्पार्थस्यापरिगृहे ।

अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणाच्यते ।

लक्षमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता । ४

कुमारिल की उपर्युक्त कारिका के उत्तरांश का प्रयोग मम्मट ने भी प्रमाण-रूप में किया है। किन्तु वे कुमारिल के अविनाभाव की सीमा निर्धारित कर देते हैं :-

" अविनाभावोऽत्र सम्बन्धमात्रं न तु नान्तरोपकृत्वम् । तथात्वे "मंचाः क्रोशन्ति"

इत्यादौ लक्षणा न स्यात् । अविनाभावे चालोपेजीव सिद्धे लक्षणाया

नोपयोग इत्युक्तम् । " ५

१- तन्त्रवार्तिक, ३।१८। पृष्ठ ३००। अ० वृ० मा०, पृष्ठ ११।

२- अभिधावृत्तिमातृका, पृष्ठ ११।

३- शब्द-व्यापारविहार, पृष्ठ ७।

४- तन्त्रवार्तिक, पृष्ठ ३१८। अभिधामुक्तिमातृका, पृष्ठ १।

५- काव्य-प्रकाश, उल्लास २।



## मम्मट की समीक्षा

नैयायिक का लक्षणा " लक्षणा शक्यसम्बन्धः " अपने में समीचीन होते हुए भी इतना संक्षिप्त है कि उसे अपने स्वरूप-निरूपण के लिए स्वयं एक व्याख्या की आवश्यकता रहती है। लक्षणा की तीन आवश्यकताएँ समझी जाती हैं-मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग, तथा रूढ़ि अथवा प्रयोजना। इन तीनों का उल्लेख नैयायिक लक्षणा में स्पष्टतः नहीं हो पाता। मम्मट ने अपने लक्षणा में इनका स्पष्ट उल्लेख किया है:-

" मुख्यार्थबाधे तर्गो रूढितो च प्रयोजनात्।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥ " १

मम्मट का लक्षण निःसन्देह व्यावहारिक सरलता लिए हुए है। उसमें लक्षणा की तीनों आवश्यकताओं का स्पष्ट निरूपण हुआ है। मीमांसकों की जो परम्परा मुकुल से होती हुई आई, मम्मट ने उसका भी पूर्ण लाभ उठाया है। किन्तु भाषा की जो शास्त्रीय बारीकी एवं आवश्यक सूक्ष्मता उसमें होने चाहिए थी, वह नहीं है। उदाहरण-स्वरूप इस लक्षणा में आये " यत् " शब्द की शिथिलता एवं अस्पष्टता के ऊपर उल्लिखित मधुरानाथ भट्ट की यह समीक्षा द्रष्टव्य है:-

" अत्र " यत् " इत्यस्पष्टार्थपदनिवेशेनैव विवादवीजावापी जातः। एके कथयन्ति-"यत्"इति लक्षणरूपत्रियाविशेषणम्, "अन्योऽर्थो यत् लक्ष्यते- यत् प्रतिपाद्यते सा लक्षणा"। लक्ष्यते इति णिजन्तादाख्यातम्। णिजर्थो हेतोः -प्रयोजकर्तुः -व्यापारः। हेतुः-प्रयोजकर्ता- च शब्दः। तत्र च अन्यार्थप्रतिपत्तिहेतुः शब्दव्यापारी लक्षणा। "

" अपरे कथयन्ति- "यत्" इति "यथा" इत्यर्थे लुप्तकरणतृतीयान्तमव्ययम्।

----- इत्यादि।

अस्यास्पष्टलेखस्यायं परिणामोऽभवद् योका टीका प्रतिपक्षिहंताभाय भुवदण्डमास्फोटयति- " यत्तत्र यदिति त्रियाविशेषणं, तथा च यत् लक्ष्यते-यत्प्रतिपाद्यते-सा प्रतिपत्तिरेव-ज्ञानमेव- लक्षणीति कश्चित् व्याख्यातम् तदज्ञानविदुम्भितम्। "

----- द्वितीयपक्षादिनः कथयन्ति-यत्"ज्ञानमेव लक्षणा" इत्येव मम्मटस्य दृढयम्।

----- खेदस्तवमेव यत्त्रिकाविशदाहरणोच्छ्वा स्वयन्निर्मिताया वृत्तावपि

ग्रन्थकार-तदेव सन्देहात्मकमाह- "मुख्येनामुख्योऽर्थो लक्ष्यते यत् स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा" इति। दृश्यताम्-मुख्योऽर्थो" इति पुमान्। सा लक्षणीति स्त्री।



अत्र द्वयोरनयोर्विशोषणीभावस्यापेक्षायामपि विलक्षणं "यत्" इति तृतीयं इत्थं निदिष्टम् मम्मटमहाभागः त्रिलिङ्गानां त्रिदोषं तथा ससर्ज, येन मूर्तिमती अस्पष्टता जनिं लेभे । " १

और शब्द-व्यापार विचार में भी सुलभन नहीं मिलती। वही भी काव्य-प्रकाश का ही विवेचन कुछ शब्द-परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया गया है।

अप्पय्य दोषित

वृत्तिवार्तिक में अप्पय्य दोषित ने लक्षणा का लक्षण इस प्रकार किया है:--

"अयं लक्षणा निर्णायितः--

" सा च मुख्यासंबन्धेन शान्त्यस्य प्रतिपादकत्वम् । " २

अप्पय्य का यह लक्षणा नेयायिकों की विवृति मात्र है।

पण्डितराज के लक्षणा की समीक्षा

पण्डितराज ने लक्षणा के लक्षण में न तो मोमांसक मुकुल का अनुगमन किया है, न व्याकरणों का, और न ही साहित्यिक मम्मट का। उन्होंने लक्षणा के लिए नेयायिकों का लक्षण समीचीन समझा है। वस्तुतः, वेदा कि किसी शास्त्रीय लक्षणा के लिए अपेक्षित है, नेयायिकों के लक्षण से संबंधित कोई लक्षणा या भी नहीं। अतः उसका पण्डितराज की रुचि के अनुकूल होना स्वाभाविक ही था। फिर व्याकरण ने अभिधा को संबन्ध-रूप कहा था, तब लक्षणा को भी संबन्ध-रूप में देखने वाले नेयायिकों की बात मान कर क्यों न इस विषय में एक-रूपता लायी जाय ? विभिन्न शास्त्रीय मान्यताओं के बीच से चुनाव करके साहित्य-शास्त्र के लिए राज-पथ का निर्माण करना भी साहित्यिक आचार्य की एक मोलिक दैन कहा जा सकता है। पण्डितराज ने उस व्यवस्था को प्रदान करने का सफल प्रयास किया है।

लक्षणा के हेतु एवं उनका परिष्कार

प्राचीन एवं नव्य नेयायिकों में लक्षणा के हेतुओं के विषय पर कुछ मत-भेद है।

१-मुरानाथ भट्ट : रसगंगाधर उपाध्याय : पृष्ठ ११-१२ ।

२- वृत्तिवार्तिक : अप्पय्य : पृ. १८ ।



प्रचीन आचार्य "अन्वयानुपपत्ति" या "तात्पर्यानुपपत्ति" दोनों में से किसी को भी लक्षणा का बीज स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु नवीन नैयायिकों का कथन है कि अन्वयानुपपत्ति के मूल में भी वक्ता के तात्पर्य की ही अनुपपत्ति काम करती है, अतः केवल तात्पर्यानुपपत्ति की ही लक्षणा का बीज माना जाय ।<sup>१</sup> मुक्तावली-कार ने इसी उद्देश्य से केवल तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज माना है। वे कहते हैं:--

"लक्षणा शक्यसंबन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः ।" २

### नैयायिक और पण्डितराज

पण्डितराज ने नैयायिकों के लक्षणा-विवेचन को अपनाते हुए भी उनका अन्वयानुपपत्ति नही किया। उनके समस्त साहित्यिकों का भी प्रोढ़ लक्षणा-विवेचन था, जिसमें मुख्यार्थ-वाध, मुख्यार्थ-योग, एवं रूढि अथवा प्रयोजन- तीन लक्षणा के हेतु निर्धारित हो चुके थे। इन में मुख्यार्थ-वाध के अन्तर्गत तो नैयायिक अन्वयानुपपत्ति तथा तात्पर्यानुपपत्ति के रूप में विचार करते ही थे, मुख्यार्थ-योग उनके शक्य-संबन्ध में स्वतः आ जाता था। किन्तु वे रूढि या प्रयोजन को लक्षणा का अनिवार्य हेतु नहीं बनाते। इसका कारण है उनका विशिष्ट मान्यता। नैयायिक केवल तो ही शक्तियाँ मानते हैं-अभिधा एवं लक्षणा। उन्हें व्यवहारा इष्ट नहीं। किन्तु आलंकारिक के लिए व्यवहारा ही लक्षणा का वास्तविक प्रतिपाद है। रूढ़ि लक्षणा को तो वह अधिक सम्मान नहीं देता। अतः आलंकारिकों ने रूढि या प्रयोजन में से किसी को लक्षणा का अनिवार्य हेतु घोषित किया है। पण्डितराज ने नैयायिकों को लक्षणा को अपना कर भी आलंकारिकों के मान्य इस अनिवार्य हेतु को भी सम्मिलित किया है।

पण्डितराज ने नव्य नैयायिकों का पक्ष लेते हुए अन्वयानुपपत्ति को नहीं, तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा-बीज के रूप में माना है ।<sup>३</sup> किन्तु उसका भी आलंकारिक

१- प्राचः अन्वयानुपपत्तिः तात्पर्यानुपपत्तिश्च लक्षणाबीजे, यत्र परस्परपदार्थयोः अन्वयो नोपपत्ते तत्रैकतरस्य पदस्य लक्षणा उद्भाव्यते-इति वदन्ति। नव्यास्तु तात्पर्यानुपपत्तिमेव सर्वत्रानुगतं बीजं वदन्तीत्यभिप्रायेणाह- तात्पर्यानुपपत्तितः "इति।"

किरणावली : न्याय सिद्धान्त मुक्तावली, पृष्ठ ३१०।

२- न्याय सिद्धान्त मुक्तावली, पृष्ठ ३१३ ।

३- "मुख्यार्थान्वयानुपपत्तेः तन्वत्वे तु "कावेभ्यो दधि रक्षताम्" इत्यत्र लक्षणात्त्वान्न न स्यात्।"



मान्यता के अनुसार परिष्कार करके। आलंकारियों ने यह मान्यता है कि लक्ष्यार्थ प्रयो-  
जन-प्रतीति की दृष्टि से मुख्यार्थ से अभिन्न ही प्रतीत होता है। मुकुल की

" तटस्थे लक्षणा शुद्धा न्यादारोपस्त्वदूरो ।

निगोर्णः ध्वनसानं तु रूपास्त्वन्तरत्वतः ॥ " १

मान्यता पर आपत्ति करते हुए मम्मट ने स्पष्ट ही कहा है कि मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ  
में भेद-रूप ताटस्थ्य नहीं होता ।

" अन्यो भेदो लक्ष्यस्य लक्षकस्य न भेद-रूपं ताटस्थ्यम्, तटादीनां गंगा-  
दिशब्देः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादमिषितप्रयोजनसम्प्र-  
त्ययः। गंगासंबन्धमात्रप्रतीति तु गंगातटे घोष इति मुख्यशब्दाभिधानात्त-  
लक्षणायाः नो भेदः । " २

### तात्पर्यानुपपत्ति का परिष्कार

आलंकारिकों को उपर्युक्त मान्यता को ध्यान में रखते हुए तात्पर्यानुपपत्ति को  
इस सीमा तक समझना कि लक्षणा में मुख्यार्थ लक्ष्यार्थ से सर्वथा भिन्न अथवा अनुपयुक्त  
होता है, भूल होगी। अतः पण्डितराज नव्य नैयायिकों की तात्पर्यानुपपत्ति को अपना  
कर भी, उसका और परिष्कार कर लेते हैं:--

" तस्याश्चाद्योपस्थापकत्वे मुख्यार्थविच्छेदके तात्पर्यविषयान्वयितावच्छेदकताया  
अभावो न तन्त्रम्, शक्यतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यमाणस्य स्वीकारात्। किन्तु  
तात्पर्यविषयान्वये मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण मुख्यार्थप्रतियोगिकताया अभावो  
रूपिप्रयोजनयोरन्यतरच्च तन्त्रम् । " ३

इस ,कार पण्डितराज ने मम्मट के मुख्यार्थवाच को न्याय की तात्पर्यानुपपत्ति  
के रूप में ग्रहण किया, तथा उस तात्पर्यानुपपत्ति को एक सीमा निर्धारित कर दी ।

विषय को निश्चित सीमा, जिसमें बाल-भर का भी अन्तर न पड़े, निर्धारित करते हुए  
सबना पण्डितराज की शिरोषता है। इसके लिए उन्होंने नव्य न्याय की पदावली का प्रयोग  
किया है, संभवतः इतना सूक्ष्म सीमा-निर्धारण दूसरी पदावली न कर पाती ।

१- अभिधावृत्तिमातृका, पृष्ठ ९, कारिका ५।६

२- शब्द-व्यापारविचार, पृष्ठ ३ ।

३- रसगंगाधर, पृष्ठ १४६ ।



### लक्षणा के भेद

लक्षणा के भेदों का विषय संस्कृत समाजा में एक प्रमुख मत-भेद का विषय बना रहा है। मम्मट को अनुनिश्चित पदावली के प्रयोग ने उनके टीकाकारों के द्वारा विविध विकल्पों की सृष्टि कराई है। मम्मट संस्कृतकाव्य-शास्त्र के परवर्ती युग के आधार रहे हैं। उनके टीकाकारों के द्वारा उनकी उलझी पदावली को सुलझाने के प्रयत्न में यह विषय निरन्तर कितना उलझता गया है, यह बात प्रत्येककाव्य-शास्त्र का विचारण जानता है।

### मुकुल-

लक्षणा के भेदों के विषय में मुकुल की स्थिति स्पष्ट है। वे लक्षणा के दो भेद करते हैं-शुद्धा एवं उपचार मिथा। शुद्धा के दो भेद - उपादाना तथा लक्षणा-लक्षणा, एवं उपचार-मिथा के- शुद्धोपचार तथा गौणोपचार -दो वर्ग बनाते हुए सारोपा तथा साध्यवसाना रूप में चार भेद, इस प्रकार लक्षणा के कुल ६ भेद उनके अनुसार होते हैं:-

" शुद्धोपचारमिश्रत्वात् लक्षणा द्विविधा मता।

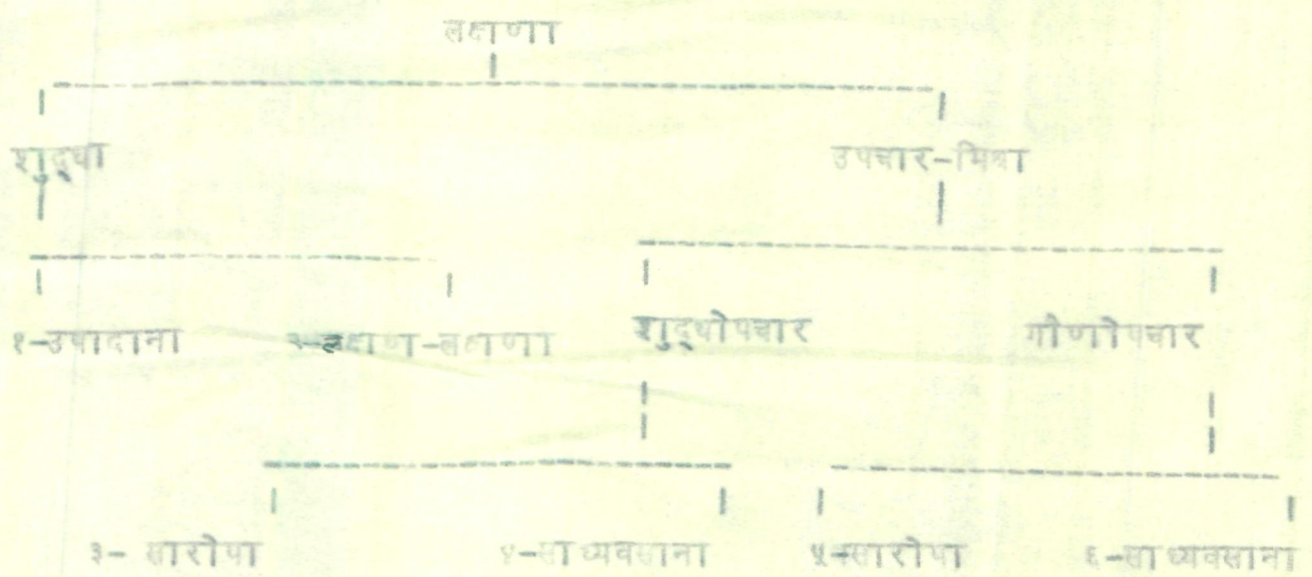
उपादानात् लक्षणा च शुद्धा सा द्विविधोदिता।

सारोपाध्यवसानाभ्यां शुद्ध-गौणोपचारयोः ।

प्रत्येकं भिन्नमानत्वादुपचारश्चतुर्विधः ॥

१

मुकुल के उपर्युक्त भेदों की निम्न तालिका में प्रस्तुत किया जा सकता है :-





मम्मट

मम्मट की स्थिति, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, अस्पष्ट है। इस अस्पष्टता को उनके शब्द सामने रख कर भला प्रकार समझा जा सकेगा :—

" स्वशिष्ये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् ।

उपादानं लक्षणां चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥

" कुतान्त, वेश्य " - - - - इत्यादौ - - - - उपादानेनैव लक्षणा ।

" गंगाया घोषः " - - - - इत्यादौ - - - - लक्षणेनैव लक्षणा ।  
उभयरूपा चेयं शुद्धा । उपचारेणामिश्रितत्वात् ।

" आरोपान्या तु यत्रोक्तो विषयो विषयस्तथा ।

विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन्सा स्यात्सा ध्वनितिका ॥

भेदाविमो च सादृश्यात्संबन्धान्तरतस्तथा ।

गोणी शुद्धी च विज्ञेयौ ,

हमावारीपाध्यवसानमूली सादृश्येत् " गोवाहिकः " इत्यत्र, " गौरयमि " इत्यत्र च

" आयुर्धृतम् " " आयुरेवेदमि " इत्यादौ सादृश्यादन्यः कार्यकारणभावादिः परः संबन्धः ।

एवमादी च कार्यकारणभावादिपूर्व आरोपाध्यवसाने । - - - - -

" क्वचित् तादृश्यादुपचारः । यथा " इन्द्रार्था स्मृणा इन्द्रः " । क्वचित्  
स्व-स्वामिभावात्, यथा " राजकोयः पुरुषो राजा " । क्वचिदवयवावयविभावात्, यथा  
" अग्रहस्त " इत्यग्रमात्रावयवे हस्तः । क्वचित्तात्कर्म्यात्, यथा अतक्षा " तक्षा " ।

" लक्षणा तेन षाद्विधा " ।

जाभिधाभ्यां सह ।

१

मम्मट के इस वर्गीकरण में इतना ही निश्चित कहा जा सकता है कि वे प्रयो-  
जनवती लक्षणा के ६ भेद मानते हैं। किन्तु किस प्रकार तथा किस रूप में - यह कहना  
कठिन है। इसका कारण है शुद्ध एवं उपचार दो शब्दों का शिथिल प्रयोग । एक  
और ता वे उपादान एवं लक्षणा लक्षणम् को शुद्धा कहते हुए शुद्धत्व का हेतु देते  
हैं उपचार-हीनता, " उभयरूपा चेयं शुद्धा, उपचारेणामिश्रितत्वात् " । दूसरी ओर  
उपचार को सादृश्य-संबन्ध तक ही सीमित रखते प्रतीत नहीं होते। उनके उपचार में



सादृश्य-संन्यतया सादृश्येतर कार्य-कारणभावादि, सभी आ जाते हैं। यह "वचचित्ता-  
द्वय्यादुपचारः" इत्यादि उनके शब्दों से स्पष्ट है। यह प्रतीत होता है कि वे उपचार  
के विषय में मुकुल का अनुगमन करते हैं। मुकुल भी उपचार को सादृश्य एवं सादृश्येतर  
दोनों प्रकार के संबंधों में गोणा तथा शुद्ध उपचार के रूप में मानते हैं। इस प्रकार  
का अर्थ-संगति में "सारोपान्या तु" कारिका का "तु" शब्द भी सहायता करता है।  
किन्तु मूल कठिनाई यही है कि "आयुर्वृत" जैसे उदाहरणों को किस वर्ग में रखा जाय ?  
यदि उन्हें सादृश्य-रहित होने के कारण "सादृश्यासंबन्धान्तरतस्तथा, गोणा शुद्धो"  
के नियमानुसार "शुद्ध" कहा जाय, तो उनमें दूसरा और उपचार भी तो है। शुद्धा लक्षणा  
के लिए उपचार रहित होना पहली शर्त है, यह मम्मट स्वयं ही निश्चित करते हैं-  
"उभयरूपा केषं शुद्धा। उपचारेणाभिहितत्वात्"। और यदि उन्हें "उपचारमिश्रा" कहा  
जाय, तो उनमें सादृश्याभाव के कारण शुद्धत्व भी तो है। यह ठीक है कि मम्मट ने  
उपचारमिश्रा जैसे किसी शब्द का प्रयोग नहीं किया, तथापि उपचार के आधार पर  
लक्षणा के शुद्धत्व तथा शुद्ध-भिन्नत्व का निर्णय अवश्य किया है। अतः उपर्युक्त  
उल्लेखन को दूर करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उपचार या शुद्ध - दो  
में से किसी एक का प्रयोग शिथिल माना जाय। ऐसी स्थिति में टोकाकारों तथा व्या-  
ख्याताओं में ऐक्यत्व न हो सकना ही अधिक स्वाभाविक है। यहाँ हम उनके कुछ प्रमुख  
टोकाकारों का मान्यार्थ उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत कर रहे हैं :--

### माणिक्य चन्द्र तथा जयन्त

काव्य-प्रकाश के प्राचीन टोकाकार माणिक्य चन्द्र तथा जयन्त ने मम्मट की  
संगति मुकुल के अनुसार लम्ब कर लक्षणा की शुद्धा तथा उपचार मिश्रा के दो वर्गों  
में रखा है।<sup>1</sup> उनकी व्याख्या के अनुसार मम्मट का वर्गीकरण मुकुल के समान ही बैठता है।

१- "माणिक्यचन्द्र जील्सी फ्रीलीज दिस् खेन ही रेज:-

"जा च द्विविधा। शुद्धोपचारमिश्रा च। शुद्धां द्विपोक्तोपचारमिश्रामाह-। इत्यु-  
पचारमिश्रा चतुर्पोक्ता।"

जयन्त जील्सी रेज:-

"शुद्धां लक्षणां द्विकारामुक्त्वा इदानीमुपचारमिश्रां चतुर्भेदत्वेन निरूपयितुमाह-।"



माणिक्य-चन्द्र के अनुसार लक्षणा के दो प्रमुख भेद हैं -- शुद्धा एवं उप-  
चारमिश्रा। वे मम्मट की व्याख्या इसी दृष्टि से करते हैं:-

"साच द्विविधा-- शुद्धा, उपचार-मिश्रा चातत्र शुद्धा पि द्विविद्याह:- "१

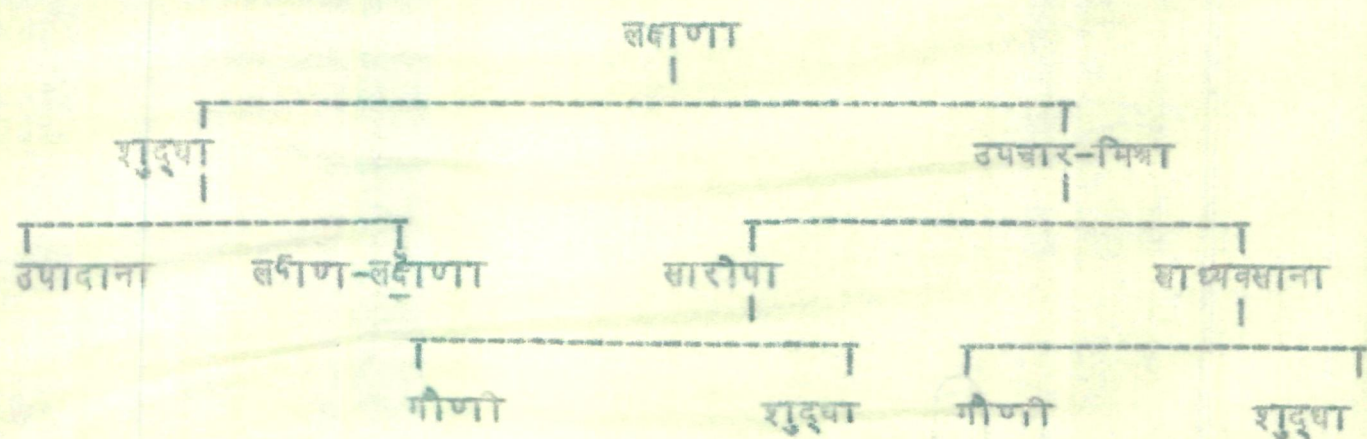
इस प्रकार उनके अनुसार मम्मट ने १०वीं कारिका में उपादाना और लक्षणा-  
लक्षणा के जो दो भेद दिखाये हैं वे शुद्धा के हैं, शेष उपचार-मिश्रा के। उपचार-मिश्रा के  
भेद आरोप एवं अध्यवसान के आधार पर हैं:-

"शुद्धा द्विषोक्तोपचारमिश्रामिह सारोपामाह-- "२

इन आरोप तथा अध्यवसान के दो-दो भेद सादृश्य तथा सादृश्येतर सम्बन्ध  
के आधार पर माने गये हैं:-

"सारोपसाध्यवसानयोश्च गौणशुद्धभेदाभ्यां द्विविध्यमाह-- भेदाविमाविति"३

माणिक्य-चन्द्र की इस व्याख्या के अनुसार मम्मट की लक्षणा के भेद इस  
प्रकार रहे जा सकते हैं:-



माणिक्य-चन्द्र मम्मट की मुकुलानुसारी ही मान कर चले हैं, इस का उन्होंने  
स्पष्ट संकेत दिया है:-

"संदोषेणैवात्र लक्षणाविचारः कृतः। विस्तरेण तु मुकुलादिरचितमातृकादि-  
ग्रन्थेभ्यो ज्ञेयः।"४

डा० वेलंकर महोदय का आरोप है कि माणिक्य-चन्द्र मम्मट के "उपचार-शब्द"  
को ठीक से नहीं समझ सके। किन्तु वेलंकर महोदय न तो अपनी उक्ति को अधिक तर्क-संगत भूमि  
पर ही रख सके हैं, न ही अपने वर्गीकरण की युक्ति-युक्त बना सके हैं।<sup>५</sup>

१-माणिक्यचन्द्रः काव्य-प्रकाश-संस्कृतः पृ० १८। २-वहीः पृ० २०। ३-वहीः पृ० २१। ४-वहीः पृ० २४।

५-"दी एंशरीप्ट कमेंटरीस माणिक्यचं० एण्ड जयन्त सीम टू बी मिस्लेड बाइ दी एम्बिगुस  
वूड ऑफ़ दी वर्ड उपचार।" वेलंकर का मत एवं उसकी आलोचना : डा० एच० डी० शर्मा : का० प्र०  
उल्लास १-२ : पृ० ८९। वेलंकर नोट्स ज्ञान काव्य १, २ पृ० १९-८१।



### प्रदीपकार

किन्तु प्रदीपकार गोविन्द ठक्कर ने आरोप,अध्यवसान की उपादान,लक्षणा तथा गौणी सभी को भेदक मान कर मम्मट की व्याख्या की है:-

" एतौ भेदौ - आरोपाध्यवसानमूलौ - शुद्धमेपि भवतः इति प्रतिपादयन्तेव  
शुद्धायाः गौण्याश्च लक्षणायाह- "भेदाविमो च" १

प्रदीपकार गौणी को केवल सादृश्य-संबन्ध के साथ ही लेते हैं, शेष को शुद्धा कहते हैं :-

" सादृश्यसंबन्धप्रयुक्तलक्षणाया एव गौणीत्वात्। " २

प्रदीपकार के अनुसार मम्मट के भेद इस प्रकार होंगे :- ३

#### लक्षणा

शुद्धा		गौणी	
उपादान		५-सरोपा ६-साध्यवसान	
लक्षणा		३-सरोपा ४-साध्यवसान	

### चण्डीदास

चण्डीदास मम्मट के " लक्षणा तेन षड्विधा " की व्याख्या बिल्कुल भिन्न प्रकार से करते हैं। उन्होंने रूढि, प्रयोजन, उपादान, लक्षणा, आरोप, अध्यवसान - सभी को परस्पर भेदक मान लिया है। प्रदीपकार ने उनकी इस पद्धति का घोर विरोध किया है :-

१- प्रदीप : काव्य-प्रकाश : पृष्ठ १६ ।

२- प्रदीप : काव्य-प्रकाश : पृष्ठ ४० ।

३- डा० एच० डी० शर्मा : काव्य-प्रकाश : उत्तास २ : पृष्ठ १३ ।



" एवं च यतोक्तव्याख्यानैः अद्विवचनेन निर्वृद्धिं यत् अद्विवचेति  
रूढि-प्रयोजनोपादानलक्षणाः पार्थिव्यवसानरूपैः अद्विभिरुपाधिभिः कृत्पिता विधाः  
प्रकाराः यस्यामिति अद्विवचा "इति चण्डीदासव्याख्यानं, तच्छब्देन सा द्विधा, सारो-  
न्या तु " एव-तु-शब्दयोरनालोचनकिञ्चिन्मितत्वाद्नादेयम् । " १

चण्डीदास के मत में मम्मट के अनुसार लक्षणा के निम्न १६ भेद होते हैं:-- ३

लक्षणा	
रूपा	प्रयोजन-वती
१- शुद्धा	१- शुद्धा
१-उपादान	१-उपादान
२-लक्षणा	२-लक्षणा
३-आरोप	३-आरोप
४-अध्यवसान	४-अध्यवसान
२- गौणी	२- गौणी
१-उपादान	१-उपादान
२-लक्षणा	२-लक्षणा
३-आरोप	३-आरोप
४-अध्यवसान	४-अध्यवसान

इस प्रकार हम देखते हैं कि मम्मट का अभिप्राय उनकी भाषा की अस्पष्टता के कारण उनके टिप्पणियों तथा व्याख्याकारों के बीच जाकर हो गया है।

विश्वनाथ

विश्वनाथ ने लक्षणा के रूप में प्रयोजन-गत भेदों को विस्तार देकर ८० भेद दिखा दिये हैं।<sup>३</sup> किन्तु इतना भेदोक्ति स्वयं अपने में अव्यावहारिक है ।

१- प्रदीप : काव्य-प्रकाश : पृष्ठ ५२ ।

२- डा० एच० डी० शर्मा : काव्य-प्रकाश : उत्तराखण्ड २ : पृष्ठ ९३ ।

३- " एवमशीतिप्रकारा लक्षणाः " । साहित्यदर्पण : पृष्ठ ५० ।



## लक्षणा एवं गीणा

वस्तुतः लक्षणा के वर्गीकरण में एक ऐतिहासिक आवश्यकता निहित है।

प्राचीन आचार्य लक्षणा एवं गीणा को दो पृथक् वृत्तियाँ मानते थे। ध्वनि की स्थापना करते हुए आनन्दवर्धन को भाक्त-वाक्यों के निराकरण में लक्षणा तथा गीणा दोनों की समझ रखना पड़ा था। इसी कारण उनके मन्तव्य की स्पष्टता देते हुए अभिनव गुप्त को भी अपना व्याख्या के बल से "भक्ति" शब्द के अन्तर्गत लक्षणा तथा गीणा दोनों को समेटना पड़ा था :--

"भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतमोत्प्रेक्ष्यत इति भक्तिर्यमोऽभिधेयेन सामी-  
प्यादिः । तत आगतो भाक्तो लक्षणाकोऽर्थः । " १

"गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्याभागस्तेष्व्यादि भक्तिः, तत आगतो गीणोऽर्थः  
भाक्तः । " २

वस्तुतः बहुत पुराने समय से ही गीणा को लक्षणा के अन्तर्गत समेटना प्रारम्भ हो गया था। स्वर्ण कुमारिल की दृष्टि भी ऐसी ही थी :--

"अभिधेया विनाभूतप्रतीतिर्लक्षणा न्यते ।

लक्ष्यमाणगुणीर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गीणता ॥ ३

इस पर नागेश का टिप्पणा है :--

"एतेन गीणा अतिरिक्ता वृत्तिरित्यपास्तम् । " ४

यद्यपि गीणा को लक्षणा में अन्तर्भूत किया गया, तथापि उसे लक्षणा के एक स्वतन्त्र भेद के रूप में रखा, जबः गीणा के स्वतन्त्र अस्तित्व को मान्यता बनी रही। प्रदीपकार ने भी सादृश्य-संबन्ध के आधार पर गीणा का स्थान लक्षणा के अन्तर्गत, किन्तु अलग-थलग किया है :--

"सादृश्यसंबन्धप्रयुक्तलक्षणाया एव गीणोत्वात् । " ५

१-लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ २ ।

२-लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ २९ ।

३-लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ २-९ ।

४-उपोत : प्रदीप : काव्य-प्रकाश : पृष्ठ ४८ ।

५-प्रदीप : काव्य-प्रकाश : पृष्ठ ४० ।



मुकुल- मुकुल की दृष्टि से यह त्रय ओझल तो नहीं था, किन्तु जहाँ कुमारिल ने लक्षणा के दो स्कन्ध बनाये थे - एक लक्ष्यमाण गुण योग के आधार पर गौणता का, तथा दूसरा शेष अन्य सभी संबन्धों की लक्षणा का, वहाँ मुकुल ने लक्षणा के वर्गीकरण में तीन स्कन्ध स्वाकार लिये। एक में उन्होंने केवल उपादान तथा लक्षणा को रखा, दूसरे में आरोप को, तीसरे में अध्यवसान को। आरोप तथा अध्यवसान के दोनों स्कन्ध उपचार के स्वीकृत किए गये, जिसके दो वर्ग रहे - एक सादृश्य-सम्बन्धी उपचार, दूसरे सादृश्येतर सम्बन्ध वाला उपचार। इस प्रकार मुकुल के अनुसार लक्षणा के तीन भेदक आधार रहे - १-शुद्ध, २- उपादान-लक्षणा भिन्न, सादृश्य सम्बन्ध वाली गौणी, ३- उपादान-लक्षणा भिन्न, सादृश्य सम्बन्ध से भिन्न, शेष लाक्षणिक प्रयोग।

" एषा च लक्षणा त्रिस्कन्धा। शुद्धत्वादध्यारोपादध्यवसानाच्च। तत्र शुद्धस्कन्धस्य च द्वैविध्यमुपादानलक्षणाभ्यामुक्तम्। अध्यारोपावसानयोरपि प्रत्येकं द्विभेदता। शुद्ध्यौ गौणी चारमिश्रत्वात् । " १

मम्मट की स्थिति

मम्मट को एक ओर तो गौणी की लक्षणा के साथ मिला कर भी स्वतन्त्र बनाये रखने के ऐतिहासिक सत्य का चेतना था, दूसरी ओर उन्हें मुकुल के विभाजन में भी आकर्षण लगा। उन्होंने मुकुल की प्रणाली अपना कर ही लक्षणा का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है।<sup>२</sup> प्रथम उन्होंने उपादान तथा लक्षणा के शुद्धस्कन्धीय भेद दिखाये हैं, आरोप तथा अध्यवसान का परिचय देते हुए शुद्धत्व तथा गौणत्व के आधार पर दोनों को मुकुल के समान ही बांट दिया है। एक ओर कुमारिल के समय से चली आयी गौणी को अन्तर्भूत करके भी स्वतन्त्र रखने की परम्परा, दूसरी ओर उपादान तथा लक्षणा को एक स्वतन्त्र शुद्ध नामक भेद में रखने का आकर्षण - दो बातों की एक साथ पकड़ने के कारण मम्मट में टकरावट की गुंजाइश हो गयी।

१- अभिधा वृत्ति मातृका, पृष्ठ १।

२- " मम्मट एम्प्लेटरी फ़ीलीज़ विस् ओर्डर, फ़र्स्ट ही डिफ़ाइन्स उपादान एण्ड लक्षणा - १-शुद्ध, जैन ही डिफ़ाइन्स २- आरोप एण्ड ३- अध्यवसान। लेटर जैन ही डिफ़ाइन्स ती लेटर टू वैराइटीज़ जैन दी वेसिस् ओफ़ शुद्धत्व एण्ड गौणत्व।

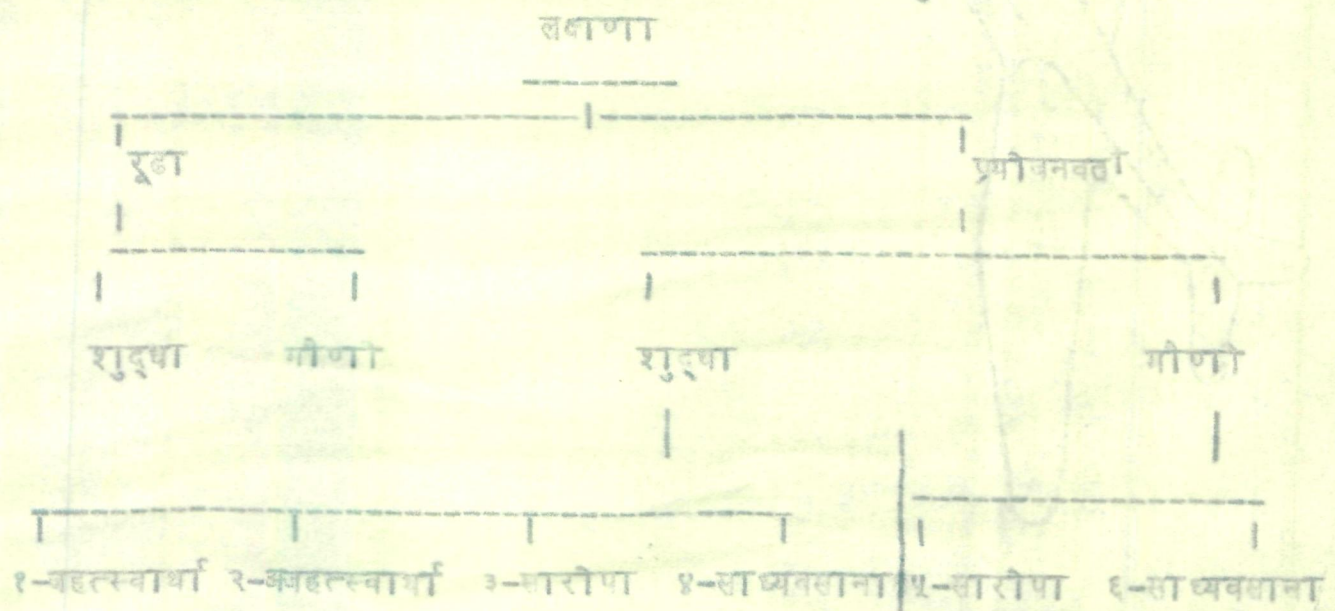


### पण्डितराज

पण्डितराज के वर्गीकरण में ऐसी उलझनें नहीं हैं, जैसी कि मम्मट में दिखायी पड़ती हैं। उनका वर्गीकरण स्पष्ट भी है, तथा गीणों को भी उसकी अपेक्षित स्वतन्त्रता प्रदान करता है। वे इस प्रकार लक्षणा का वर्गीकरण प्रस्तुत करते हैं:--

" इयं तावद् द्विविधा - निरूपा, प्रयोजनवती चात्रापि द्वितीया द्विविधा ।  
गीणां शुद्धा च । तत्रात्र सारोपा साध्यवसाना चेति द्विविधा । अन्तर्वा चतुर्विधा -  
जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था, सारोपा, साध्यवसाना चेति । प्रयोजनवती चात्रापि द्विविधा सम्पद्यते ।  
--- तत्रात्रवर्गे सादृश्य-संबन्धेन द्वितीयवर्गे च तदितरसंबन्धेन लक्षणायाः प्रवृत्ते  
निरूपायामपि गीणात्वशुद्धत्वाभ्यामपि द्वैविध्यमाप्नुयन्ति । " १

पण्डितराज के इस वर्गीकरण को निम्न तालिका में प्रस्तुत किया जा सकता है:--



### निष्कर्ष

पण्डितराज के इस वर्गीकरण सम्बन्धी विवेचन में निम्न विशेषज्ञमुख्य बातों का हमारा ध्यान जाता है:--

१- पण्डितराज में भेदों का वह अतिवादिना प्रवृत्ति नहीं है, जो विश्वनाथ में परित्यक्त होती है। उन्होंने लक्षणा के कुल ८ भेद माने हैं - रूपा के, तथा ६ प्रयोजनवती के। प्रयोजनवती के भेदों का संख्या यद्यपि मुकुत तथा मम्मट के ही समान है, उनकी योजना भिन्न प्रकार से है।

२- गीणी लक्षणा के लिए उसका अपेक्षित स्वतन्त्र स्थान रूपा में भी



रखा है। इससे लक्षणा-विकास के एक ऐतिहासिक सत्य को तो रखा हुई ही है, एक परम्परागत मान्यता तो बनी ही रही है, वर्गीकरण में सरलता तथा व्यावहारिकता भी आगयी है।

३- पण्डितराज ने उपचार शब्द का प्रयोग इस संबन्ध में नहीं किया। उपचार शब्द संस्कृत साहित्य-शास्त्र में बड़ी उलकाहट के साथ प्रयुक्त हुआ है। विश्वनाथ केवल सादृश्य संबन्ध के लिए ही इस शब्द का प्रयोग करते हैं, तो विद्याधर सादृश्य संबन्ध को छोड़ इतर संबन्धों के लिए।<sup>१</sup> मुकुल के उपचार शब्द का विस्तार तथा सीमा तम देस हो चुके हैं, तथा मम्मट के उपचार का वक्तव्य कितना है, यह मम्मट ही जानें।

४- पण्डितराज ने गौणी तथा शुद्धा को स्पष्टतः सादृश्य संबन्ध के आधार पर विभक्त किया है।<sup>२</sup>

५- पण्डितराज ने मुकुल तथा मम्मट द्वारा प्रयुक्त उपादान तथा लक्षणा नामों को प्रयुक्त न कर के नैयायिक तथा वेदान्तियों में प्रचलित जहत्स्वार्था तथा जहत्स्वार्था नाम प्रयुक्त किये हैं। ये प्रयोग उनके अध्ययन की पृष्ठ-भूमि में स्थित शास्त्रों की ओर उनकी अभिरुचि की सूचना देते हैं।

### गौणी सारोपा का शास्त्रार्थ

#### शास्त्रार्थ का महत्व तथा कारण

लक्षणा-विवेचन में गौणी सारोपा के विषय में एक अत्यन्त सूक्ष्म तथा मार्मिक शास्त्रार्थ आता है। वैसे तो रसगंगाधर में अनेक गम्भीर तथा पण्डित्य-पूर्ण शास्त्रार्थ भरे पड़े हैं।

१- "दो मोनिंग जोरु दा बह उपचार ए नैहिंग ट गोतम एण्ड दो रेडारिशियन्स"  
- "दा पूना जीरियन्टलिस्ट"- १। १ नवम्बर, १९३६। पृष्ठ २६-३३।  
काव्य-प्रकाश : उल्लास २ : पृष्ठ ७६।

२- तन्नामवर्गो सादृश्यसंबन्धेन द्वितीयवर्गे च तदितर बन्धेन लक्षणायाः प्रवृत्तेर्निरूपाया-  
मपि गौणीत्वशुद्धत्वाभ्यां द्विविध्यमामनन्ति।"



गोणों सारोपा से संबन्ध इस शास्त्रार्थ का केवल शास्त्रीय महत्व ही नहीं है, इसके द्वारा एक कालिक आवश्यकता की पूर्ति भी हुई है। "मुखं चन्द्रः" अथवा "गोर्वाहीकः" जैसे स्थलों में आचार्य परम्परा गोणों सारोपा लक्षणा स्वीकार करती चली आयी है। किन्तु "वृत्तिवार्तिक" में अप्पय्य दीक्षित ने अपने प्रौढ तर्कों द्वारा ऐसे स्थलों में लक्षणा का निराकरण करके सामानाधिकरण्य के आधार पर वाच्यस्तर पर अभेद संबन्ध से ही वाक्यार्थ-बोध प्रतिपादित किया है। अप्पय्य अपने युग के प्रकाण्ड पंडित योयह विश्वास किया जा सकता है कि यदि पण्डितराज जैसे व्यक्ति के द्वारा उनकी मान्यता का सबलतः तर्कों द्वारा निराकरण नहीं कर दिया जाता, तो आज के विद्यार्थियों को प्राचीन मान्यता पर एक बहुत बड़ा प्रश्न-चिह्न मिलता। पण्डितराज ने अपने इस प्रस्तुत शास्त्रार्थ द्वारा लक्षणा के विषय में एक ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति की है।

### शास्त्रार्थ की रूप-रेखा

---

प्रथम पण्डितराज ने प्राचीन मान्यता को तीन मत-भेदों में विभक्त करके प्रस्तुत किया है। तदनन्तर अप्पय्य की मान्यता को नव्यों के नाम से अत्यन्त तर्क-युक्त एवं व्यवस्थित शैली में ६ प्रबल तर्कों के साथ निरूपित किया है। इस प्रकार पूर्व पक्ष का पूर्ण प्रतिष्ठा कर लेने पर प्रत्येक तर्क का क्रमशः उत्तर देते हुए प्राचीन मान्यता की पुनः सुदृढ व्यवस्था की गयी है।

### गोणों सारोपा का शाब्द-बोध

---

"मुखं चन्द्रः" जैसे गोणों सारोपा के विषय में यह प्रश्न उठता है कि इस वाक्य का शाब्द-बोध क्या है ?

### प्राचीन मान्यता

---

प्राचीन आचार्यों के अनुसार "मुखं चन्द्रः" -यह कथन प्रत्यक्ष अनुभव के विरुद्ध है। अतः यहाँ मुख्यार्थ-बाध होने पर लक्षणा द्वारा मुख-शब्द का अर्थ होता है "चन्द्र-सदृश", तथा "मुख" शब्द का अर्थ होता है "मुखत्व-विशिष्ट मुख"। तब विशेषण-विशेष्य भाव के नियम से अभेद संसर्ग द्वारा पूर्ण वाक्यार्थ होता है "चन्द्रसदृशाभिन्न-मुखत्वविशिष्ट मुख"।



" अत्राद्यायां विषयप्रतिपादकेशचन्द्रादिशब्दैर्लक्षणायापस्थितानां  
चन्द्रादिशब्दानां संज्ञायां मुखादिशब्दोपस्थापितैर्मुखादिविशिष्टैर्मुखादिभिरन्वयः । " १  
शंका

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि रूपक में भी व लक्षणा द्वारा चन्द्र शब्द का अर्थ  
"चन्द्र-सदृश" कर लिया जायगा, तब "चन्द्रसदृशं मुखम्" इस उपमा के उदाहरण से  
इसमें क्या अन्तर रह जायगा ?

समाधान

प्राचीन आचार्यों के अनुसार उक्त शंका के उत्तर में तीन प्रकार के समाधान  
तीन मतों के नाम से उपस्थित किये गये हैं।

१- रूपक एवं उपमा के अर्थों में यह स्वरूपतः साम्य होते हुए भी, लक्षणा  
के फल की दृष्टि से अन्तर होता है। रूपक में लक्षणा द्वारा उपमान तथा उपमेय दोनों  
का तादृश्य अभिष्ट होता है, जि को उपमा में अपेक्षा नहीं होती ।

" रूपकस्योपमातः स्वरूपसंवेदनाशमादायावेलक्ष्याऽपिलक्षणाफलोभूत-  
तादृश्यसंवेदनमादाय वेलक्ष्यं निर्वापम् । " २

२- केवल फलोभूत तादृश्यसंवेदन का ही दोनों में अन्तर नहीं, स्वरूप-संवेदन का  
भी अन्तर है। लक्षणा में लक्ष्यार्थ को मुख्यार्थ के लक्ष्यतावच्छेदक धर्म से अभिन्न कर के  
देखा जाता है, तभी तीरादि में गंगादि के शीतत्व पावनत्वादि धर्मों की प्रतीति संभव  
होती है। मुकुल का निराकरण करते हुए मम्मट भी इस तथ्य का प्रतिपादन कर चुके हैं।

" अन्ये तु चन्द्रादिपदेभ्यो लक्षणाया चन्द्रसदृशत्वेनापि रूपेणोपस्थितानां  
मुखादीनां चन्द्रत्वेन रूपेणोवमुखादिपदोपस्थापितैः सहाभेदान्वयबोधो जायते । " ३

३- उपमा तथा रूपक दोनों का अर्थ "चन्द्र-सदृश" हो जाने पर भी, उपमा  
में होने वाला सादृश्य-ज्ञान भेद-प्रतीति युक्त होता है, तथा रूपक में लक्षणा द्वारा  
होन वाला सादृश्य-ज्ञान भेद-प्रतीति शून्य होता है। इस प्रकार वेलक्ष्य के लिए फल  
तक दौड़ने की आवश्यकता भी नहीं है ।

१- रसगंगाधर, पृष्ठ १७ ।

२- रसगंगाधर, पृष्ठ १४७ ।

३- रसगंगाधर, पृष्ठ १४८ ।



" भेदाकरम्बितं सादृश्यं उपमाजोवातुभूतं, भेदाकरम्बितं च गोणसारोपलक्षणायाः  
इति स्फुटे भेदे कृतं फलकृतवैलक्षण्यपर्यन्तानुधावनेन । " १

नव्य मान्यता

उपर्युक्त प्राचीन मान्यता का नव्यी के नाम से निराकरण किया गया है।-  
नव्य मान्यता के प्रमुख तर्क इस प्रकार हैं :--

१- "मुखं चन्द्रः " जैसे रूपक के स्थलों में लक्षणा मानना ही अनावश्यक है।  
उसके बिना भी अभेद-संज्ञ से अन्वय-बोध हो सकता है। दो भिन्न पदार्थों में हम अभेद  
या तो आहार्य रूप में कर सकते हैं, या फिर शाब्द-ज्ञान में इस प्रकार की वाधाओं  
को निराकृत मान सकते हैं।

" मुखं चन्द्रः " इत्यादी चन्द्रादीनां मुखादिभिः सह संभवति लक्षणां विनेवा-  
भेदसंज्ञेणान्वयबोधः। वाचनिश्चयप्रतिबध्यतावच्छेदककोटौ वनाहार्यत्वस्येव शाब्दान्वयत्वस्या-  
पि निवेश्यत्वात् । " २

२- "मुखं चन्द्रः" इत्यादि में वाच्यार्थ में ही अभेदान्वय मानना चाहिए, अन्यथा  
"राजनारायणं लक्ष्मीस्तवामातिंगति निर्भरम्।" तथा " पादाम्बुजं भवतु मे विजयाय  
मंजुमंजोरशिखितमनोहरमम्बिकायाः "जैसे स्थलों में लक्षणा के कारण उपमा तथा  
रूपक की निर्णायिका अनुपपत्ति बन ही न सकेगी। इस अनुपपत्ति का निर्णय भी  
वाच्यार्थों में अभेदान्वय मान कर ही संभव होता है।

" - - - - - अन्यथा "राजनारायणं लक्ष्मी- - - - - " "पादाम्बुजं - - - - -"  
इत्यादी क्रमेणोपमारूपकयोरुपमितविशेषणसमासाधीनयोर्लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनमंजुमंजोर-  
शिखितमनोहरत्वयोरनुपपत्तिर्निर्णायिका विरुद्धा स्यात् । " ३

३- लक्षणा मानना इस दृष्टि से भी ठीक नहीं कि चन्द्र शब्द की चन्द्र-  
सदृश में लक्षणा मान कर लक्ष्यतावच्छेदक सादृश्य को मानना पड़ेगा। सादृश्य को सुन्दर  
आदि विशेषण धर्म के रूप में तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि किन्हीं उन धर्मों का शब्दतः

१- रसगंगाधर, पृष्ठ १४९ ।

२- रसगंगाधर, पृष्ठ १४९ ।

३- रसगंगाधर, पृष्ठ १५० ।



कथन होता है, जैसे "सुन्दरं मुखं चन्द्रः", वहाँ पुनरुक्ति होगी। यदि सादृश्य को सामान्य रूप में लिया जाय तो धर्म के शाब्दीपात्त हो जाने से रूपक में भी उपमा माननी पड़ेगी। सामान्य धर्म के शाब्दीपात्त हो जाने पर उपमा माना जाना ही सैद्धान्तिक है।

"अपि लोपमानवाचकस्य चन्द्रदिपदस्य रूपके उ-मानसदृशो लक्षणा इति प्राचां समयः। तत्र लक्ष्यतावच्छेदकं सादृश्यम्, तच्च स्मानधर्मरूपम्। स च लक्ष्यांशो सुन्दरत्वादिना विशिष्टरूपेण प्रतीयते, उताहो सामान्यरूपेण ? नाहः, "सुन्दरं मुखं चन्द्रः" इत्यादौ पौनरुक्त्यापत्तेः। - - - नान्त्यः, सादृश्यस्य शाब्दीपात्तत्वेनो-पात्त्यापत्तेः।" १

४- "विद्वन्मानसहस" जैसे श्लिष्ट-परम्परित रूपकों भी जैमान्वय मान कर काम चल सकता है। लक्षणा मानने पर तो अन्योन्याश्रित दोष होने लगेगा। क्योंकि ऐसे स्थलों में जब श्लेष को स्फुरणा होता है, तब रूपक को चेतना जगती है, तथा जब रूपक का ज्ञान होता है, तब श्लेष को संभावना। जैमान्वय मान कर तो स्वतः कार्य चल जायगा। सादृश्य को अन्यथानुपपत्ति से "मानस" में सरोवर-रूप अर्थ की श्लेष-कल्पना स्वतः हो जायगी।

"किंच विद्वन्मानसहस" इत्यादौ श्लिष्टपरम्परितरूपके श्लेषनिष्पत्तौ श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसानं मानसवासित्वरूपे भूषणस्योः सादृश्यं सिद्धे सदृशलक्षणा-मूलस्य भूषे हसद्वपकस्य सिद्धिः। तस्यां च सत्त्वां सरोमनोरूपाद्विधाभिधानलक्षणास्य श्लेषस्य निक्षपत्तिरिति परस्पराश्रयः। - - - - -। अतो नामार्थयो रभैदान्वयसरणिरेव रूपकस्यैव रमणीया।" २

५- सदृश-लक्षणा का फल रूपक में तादृश्य-ज्ञान है, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि उपमा में तत्सदृश शब्दों से भी सादृश्य-प्रत्यय होने पर रूपक होने लगेगा।

"सदृशलक्षणायाः फल रूपके तादृश्यप्रत्यय इत्यपि न हृदयंगमम्।" ३  
तत्सदृश इति शब्दात्सादृश्यप्रत्यये न त्वपि तादृश्यप्रत्ययापत्तेः।"

१- रसगंगाधर, पृष्ठ १५०-१५१ ।

२- रसगंगाधर, पृष्ठ १५१ ।

३- रसगंगाधर, पृष्ठ १५१ ।



## नव्य मत का आधार

जैसा कि हम पढ़े सके हैं, इस नव्य मत का आधार अप्पय्य का वृत्तिवार्तिक प्रतीत होता है। वृत्तिवार्तिक में यह विवेचन पृष्ठ २४ से २९ तक फैला हुआ है। आधारभूत मुख्य सात यहाँ उपस्थित किये जा रहे हैं :—

" तथा सारोपलक्षणादाहरणे उपमानोपमेयानुगतसाधारणधर्ममुत्तेन लक्षणा इत्युक्तम्। तथा सति साधारणधर्मस्यापि पदान्तरेणोपादानं तत्र पीनरुक्त्यापत्तेः ।

" नन्वेवं साधारणधर्मप्रयोगे सादृश्यमुत्तेन लक्षणास्तु, तद्वाचकस्य यथा-हव-वादेरप्रयोगेण पीनरुक्त्यप्रसंगात्। - - - इति चेत्, न, तथा सति सादृश्यस्य शब्दोपात्तत्वेनोपमालकारस्य प्राप्त्या सारोपलक्षणाया रूपकादिरलंकारः, नोपमा - इत्यलंकारविभागासामंजस्यप्रसंगात्।

" अपि च "पादाम्बुजं" इत्यादौ व्याघ्रादेः स्माहेनोपमायाः, ममूरुच्यलकारि-स्माहेन रूपकस्य च संभवेन सर्वज्ञानवधारणं प्राप्तं यत्र, " पादाम्बुजं भवतु मे विजयाय मञ्जुवरोरशिराजितमनोहरमम्बिकायाः " - - तस्मात्सारोपलक्षणादाहरणेषु साधारणधर्मादिमुत्तेन लक्षणा- इत्युक्तम् ।

" तथा विद्वन्मानसहस्रं " " वेरिक्मलासंकोचदीपतपुतेः " इत्यत्र हंसादिशब्दानां वर्ण्यं राजनि प्रत्यासत्तिरूपमुख्यसादृश्याप्रतीत्या लक्षणासंभवात्।

" अत्रैवं तत्त्वम्-"विद्वन्मानसहस्रं" इत्यादौ हंसादिपदानां वर्ण्यं राजनि लक्षणा-नंगोक्तव्या। सामानाधिकरण्येन वर्ण्यस्य राज्ञः प्रसिद्धहंसातीयादिभिरभेदस्य वाक्यार्थविषयेव प्रतीत्युपपत्तेः। - - - - तथा च विषय-विषयिसामानाधिकरण्यस्वले रूपम्, विषय-भेदमात्रनिर्देशास्वले तिशयोक्तिः "इति व्यवसायविभागः । " इति वाच्यम् । १

इस प्रकार अप्पय्य दीक्षित का निर्णय है :—

" तस्मात् - एतादृशस्वले समभिध्याहाराद्भेदप्रतीत्युपगमे न कश्चिद्दोष इति वर्ण्यं लक्षणापपादनप्रकारः। न च एवं सर्वत्र विषयविषयिसामानाधिकरण्यस्वले समभिध्याहाराद्भेदप्रतीतिर्वक्तुं शक्यत्वात्कुंचिदपि सारोपलक्षणा न स्यात् । " इति वाच्यम्, इष्टापत्तेः । २

१- वृत्तिवार्तिक, पृष्ठ २४ से २९ तक ।

२- वृत्तिवार्तिक, पृष्ठ २९ ।



### अप्पय्य का सण्डन

पण्डितराज ने वही ही सुद्धा तर्कों से अप्पय्य के समस्त प्रमुख तर्कों का सण्डन किया है। यहाँ हम संक्षेप में पण्डितराज के कुछ प्रमुख तर्क प्रस्तुत कर रहे हैं :—

१-अप्पय्य के तर्कों का मूल आधार यह है कि रूपक के स्थलों में प्रातिपदिकार्थों के अभेदान्वय से ही काम चल सकता है, तब लक्षणा मानना व्यर्थ है। पण्डितराज का कथन है कि उपमालंकार के समान ही रूपक में भी एक चमत्कारी साधारण धर्म अपेक्षित होता है, यह दूसरी बात है कि कहीं वह शब्दोपात्त होता है, कहीं अनुपात्त। अनुपात्त होने पर प्रसिद्ध हो के कारण उसका ज्ञान हो जाता है। अप्पय्य जिस आहार्य अभेद ज्ञान को आधार बनाते हैं, वह मान लिया जाय, फिर भी बिना सादृश्य-ज्ञान के कोई चमत्कार नहीं रहता। अतः यहाँ निष्कर्ष निकलता है कि रूपक के लिए केवल अभेद-ज्ञान ही पर्याप्त नहीं, सादृश्य-ज्ञान अनिवार्यतः अपेक्षित है। और सादृश्य-ज्ञान के लिए लक्षणा मानना आवश्यक है। रही उपमा तथा रूपक के सादृश्य में अन्तर की बात, उन्हीं प्राचीन आचार्य स्पष्ट कर ही चुके हैं कि रूपक का सादृश्य भेद-रहित होता है, जबकि उपमा का भेद-युक्त। अतः उपमा तथा रूपक में परस्पर कोई टकराहट नहीं।

" यत्तावदुच्यते नामार्थोरभेदान्वयवाधेनेवोपपत्तौ रूपके नास्ति लक्षणेति तत्र चमत्कारिसाधारणधर्मानुपस्थितिदशायां उपमालंकारस्यैव रूपकालंकारस्यापि नास्ति निष्पत्तिश्चमत्कारी वेति सकलदृढसिद्धम्। - - - - - । एवं स्थिते साधारणधर्मवत्त्व-रूपसादृश्यं यदि रूपकमध्ये न प्रविशेत् तदा कथमिव धर्मविशेषानुपस्थितिदशायां रूपकं न पर्यवस्येत्, चमत्कारं वा न जनयेत् । - - - - - । न चाहार्यपदार्थद्वयाभेदबुद्ध्या तच्चमत्कारे वा साधारणधर्मविशेषज्ञानं प्रयोजकमिति शक्यं वक्तुम् " " गुणो भवेद्वह्नि " रि-त्वादौ साधारणधर्मस्याप्रत्यये पिवहन्त्यन्तः । निमित्तभेदप्रत्ययोपगतेः । - - - - - अनुपपत्तेः प्राचीनमतद्वयेऽपि रूपकसादृश्यप्रतिपत्तेः स्वीकारस्य प्रतिपादनात् । - - - - - भेदवद्विषयसादृश्यरूपाया उपमाया एव निषेधितत्वात्, तिरौभूतभेदसादृश्यलक्षणास्य रूपकस्य विषेयत्वाच्च नानुपपत्तिः । " १



२- "राजनारायणम् " और "पादाम्बुजम् " जैसे रूपक तथा उपमा के उदाहरणों में विशेषण समास तथा उपमिति समास स्वयं ही निर्णायक हैं, अतः वहाँ अन्योन्याध्य दोष का कोई प्रश्न ही नहीं उठता ।

" यदप्युक्तं, रूपके लक्षणास्वीकारे राजनारायण- - - - अनुपपत्तिः प्राचीनैरुक्ता विरुद्धा स्यात्, तदपि न । रूपके उपमानतावच्छेदकरूपेण तत्सदृशप्रत्ययस्योपपादितत्वेन राजनारायणोत्पादो विशेषणसमासायत्तस्य रूपकस्य स्वीकारे प्रधानीभूतोत्तरपदार्थस्य नारायणसदृशस्यापि नारायणत्वेनैव प्रतीतिः लक्ष्मीकृतका-  
लिंगनकर्मताया अनुपपत्तेरभावात् । " १

३-रूपक की उपमान-सदृश लक्षणा में लक्ष्यतावच्छेदक की सामान्य रूप से मानने में शब्दोपात्त होने के कारण उपमा की संभावना होने लगेगी, यह आपत्ति नव्य मत द्वारा उठाई गयी थी। पण्डितराज का उत्तर है कि आप प्राचीनों की यह मान्यता क्यों भुलाते हैं कि उपमा में सादृश्य भेद-करम्वित होता है, तथा रूपक में भेद-रहित । तब रूपक के स्थलों में उपमा की संभावना का प्रश्न ही नहीं उठ सकता ।

" यदप्युक्तं, सादृश्यस्य शब्देनोपादानादुपमात्वापत्तिरिति, तदपि नाभेदाकर-  
म्बितसादृश्यविशिष्टस्य रूपके लक्ष्यत्वादुपमाव्यपदेशस्याप्रवृत्तेः, "सादृश्यमुपमा भेद " इति तत्सिद्धान्तात् । " २

४- नव्य मत की ओर से आपत्ति उठायी गयी है कि " मुखचन्द्रः " में लक्षणा मानने पर "तत्सदृश" इस उपमा के स्थल में भी तादृश्य ज्ञान होने लगेगा । पण्डितराज समाधान देते हैं-"तत्सदृश" के अन्तर्गत शब्द में लक्षणा है ही कहाँ ? तब तादृश्य-ज्ञान का प्रश्न ही कहाँ उठेगा ? तादृश्य-ज्ञान तो लक्षणा का ही फल है न ?

" यदप्युक्तं, रूपके सादृश्य-लक्षणायां फलं तादृश्यप्रत्ययो न युज्यते, तत्सदृश इति शब्दबोधोपानन्तरमपि तथाप्रत्ययापत्तेरिति, तन्ना। तत्सदृश इत्यत्र लक्षणाया  
अभावेन तादृश्यप्रत्ययस्यापादनायोगात्। तादृश्यप्रत्ययो लक्षणाया फलमिति प्राचा सम्यः । " ३

१- रसगंगाधर, पृष्ठ १५३ ।

२- रसगंगाधर, पृष्ठ १५४ ।

३- रसगंगाधर, पृष्ठ १५४ ।



अतः पण्डितराज प्राचीन आचार्यों को मान्यता को ही, जिसमें महाभाष्य आदि को भी सहमति है, उचित समझते हैं। अप्पय्य की बात मानने पर तो वह सब कुछ अस्त-व्यस्त हो जायगा।

"महाभाष्यादिग्रन्थानामस्मिन्नेवानुकूलत्वात्, नव्यमते तु तेषामाकुली-  
भावः स्यादिति दिक्।" १

इस प्रकार यह शास्त्रार्थ पक्ष तथा विपक्ष दोनों के बड़े ऊहापीर-पूर्ण विवेचन के साथ समाप्त होता है।

### समीक्षा

पण्डितराज ने इस शास्त्रार्थ के द्वारा केवल अप्पय्य की मान्यता को तिरस्कार करके उन्हें नोचा भर ही नहीं दिलाया, प्राचीन मान्यता का आवेश-वश ही पक्ष-पात नहीं किया, एक व्यवस्था बने रहने में भी योग दिया है। इस दृष्टि से इस शास्त्रार्थ का पूरा महत्व है।

यह विषय विशुद्ध शास्त्रीय है, तथा आज की समीक्षा-चेतना को अभिरुचि के सर्वथा अनुरूप। फिर भी पाण्डित्य की सूक्ष्म प्रतिक्रियाएं इसमें निहित हैं।

### कुछ निष्कर्ष

पण्डितराज के उपर्युक्त शब्द-शक्ति विवेचन के अध्ययन से निम्न विशिष्ट तथ्यों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होता है :—

१- इस विवेचन की पृष्ठ-भूमि में पण्डितराज का विभिन्न शास्त्रों का व्यापक अध्ययन सुनिहित है।

२- पण्डितराज ने इस संबन्ध में कोई सर्वज्ञ नवीन रायना प्रस्तुत नहीं की। फिर भी किसी मान्यता का जाल मोच कर अनुगमन नहीं किया। विभिन्न शास्त्रों का मान्यताओं के बोध से साहित्य-शास्त्रोपयोगी तत्त्व जपना कर उन्होंने व्यवस्थित निर्णय प्रस्तुत किये हैं।



३- अभिधा में पण्डितराज ने वैयाकरणों का अनुसरण किया है, लक्षणा में नैयायिकों का । किन्तु दोनों में कुछ न कुछ परिष्कार कर के, उन्हें समंजस बना कर ही अपनाया है । दोनों शक्तियों को सम्बन्ध रूप में ग्रहण कर एकरूपता का आवेश किया गया है ।

४- भेदो करण में पण्डितराज की प्रवृत्ति अतिवादिनी नहीं है । अन्व आचार्यों के समान उनके विवेचन में अव्यवस्था नहीं । जो कुछ है, साफ़ है । प्रयोजनवती में पण्डितराज ने भी ६ ही भेद किये हैं, किन्तु उनकी योजना मम्मट से भिन्न है ।

५- पण्डितराज ने प्रयोजनवती के साथ रूढा को भी अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया है । व्यञ्जना के लिए प्रयोजनवती का जितना उपयोग है, रूढा का उससे अधिक कम नहीं । शब्द-शक्ति मूलक ध्वनियों में रूढा के उदाहरण द्वारा ही उन्होंने प्राचीन व्यवस्था को अक्षुण्ण रह सकने का मार्ग निकाला है ।

६- गौणी को लक्षणा का अंग मान कर भी उसके अभीष्ट स्थान को पण्डितराज ने सुरक्षित रखा है । इससे लक्षणा-विकास के एक ऐतिहासिक सत्य की रक्षा हुई है ।

७- पण्डितराज ने लक्षणा-विवेचन में उपचार शब्द का सहारा नहीं लिया । वे सादृश्य-संबन्ध में गौणी मानते हैं, सादृश्येतर संबन्ध में शुद्धा । उनमें मम्मट की सी उलझावट नहीं है ।

८- रूपक के स्थलों में वे प्राचीन आचार्यों के समान ही लक्षणा स्वीकार करते हैं । अप्पय के विरोधी प्रत्त तर्कों का प्रबलतर तर्कों द्वारा ही निराकरण करते साहित्य-शास्त्रीय परम्परा में पण्डितराज ने एक पर्याप्त महत्वपूर्ण कार्य किया है ।

९- पण्डितराज का पदावली कहीं भी भ्रामक नहीं है । न्याय की पदावली के अधिकतम स्थिरता उसमें समाविष्ट हुई है, साह ही दरइता भी ।

पण्डितराज ने कहीं भी इस विवेचन में कहीं निर्णय में, कहीं प्रतिपादन में, कहीं सपहन में कहीं किसी पक्ष के समर्थन में, कहीं किसी मान्यता के त्याग में, कहीं किसी के उपरिष्कार ग्रहण में - तात्पर्य यह कि बहुमुखी मौलिकता दिखायी पड़ती है । पण्डितराज ने समस्त विवेचन को नूतन-सा कर दिया है । शब्द-शक्ति विवेचन को मौलिकता का स्वरूप यत्किंचित् भिन्न है ।



---

## सप्तम अध्याय

( काव्य-शास्त्रीय सम्प्रदाय एवं पण्डितराज )

पृ० ३३४—४१४

---



## काव्य-शास्त्रीय सम्प्रदाय एवं पण्डितराज

### काव्य-शास्त्रीय सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा

पण्डितराज जगन्नाथ संस्कृत काव्य-शास्त्र के अन्तिम महा-महिम आचार्य हैं। उनके कई सौ वर्ष पूर्व ही काव्य-शास्त्र का निर्माण-युग समाप्त हो चुका था। काव्य-शास्त्र के प्रमुख पाँचों सम्प्रदाय - रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, एवं वक्रोक्ति - कई सौ वर्ष पूर्व ही जन्म ले चुके थे। आनन्दवर्धन तथा मम्मट के हाथों काव्य-शास्त्र का एक सर्वमान्य समंजस रूप भी परिनिष्ठित हो चुका था।

### सम्बन्ध-जिज्ञासा

रसगंगाधर के प्रमुख विषयों के पूर्ववर्ती विवेचन से यह स्पष्ट है कि पण्डितराज एक ध्वनि-वादी आचार्य थे, तथापि यह जिज्ञासा उठना स्वाभाविक है कि उनका विभिन्न शास्त्रीय सम्प्रदायों से क्या सम्बन्ध है। वे किस सम्प्रदाय से कितना प्रभावित हुए, उन्होंने किस सम्प्रदाय से कितना लिया तथा किस रूप में लिया ? प्रस्तुत अध्याय में हम इसी जिज्ञासा को शान्ति का प्रयत्न करेंगे।

### काव्य-शास्त्रीय सम्प्रदाय

संस्कृत काव्य-शास्त्र के ऐतिहासिक ग्रन्थों में ५ प्रमुख सम्प्रदायों की चर्चा आती है। उदय एवं प्रतिष्ठा के काल-क्रम की दृष्टि से इन्हें हम रस-अलंकार-रिक्ति-ध्वनि-एवं वक्रोक्ति के क्रम में रस सकते हैं। इनमें से कुन्तल के वक्रोक्ति-वाद को तो एक वाद या सिद्धान्त ही कहना चाहिए, "सम्प्रदाय" नहीं। उसका अनुगमन परवर्ती आचार्यों द्वारा नहीं हुआ, न तो उसे सच्चे अर्थों में सम्प्रदाय कहे जा सकने का गौरव नहीं मिलना चाहिए तथापि कुन्तल अपनी प्रतिभा की मौलिकता में महान् हैं। उनका अनुगमन न होने पर भी उनका नाम भामह, दण्डी, आनन्द, अभिनव, तथा मम्मट के साथ लिया जाता है। यही कारण है कि उनका सिद्धान्त एक सम्प्रदाय न होते हुए भी सम्प्रदायों में गिना जाता है। इसी अनुरोध से हम भी उसका परिगणन सम्प्रदायों में कर सकते हैं।



## विवेक कृम

इन सम्प्रदायों का कालिक क्रम जो भी हो, महत्व का आपेक्षिक क्रम ध्वनि-रस-अलंकार-रौति-एवं वक्रोक्ति -- इस रूप में नियत किया जा सकता है। हम इस अध्याय में इसी क्रम को अपना कर चलेंगे।

इन सम्प्रदायों के अतिरिक्त एक और महत्व-पूर्ण सिद्धान्त है "औचित्य-सिद्धान्त" जिसके प्रबल समर्थक हैं होमेन्द्र। औचित्य काव्य-शास्त्र का जीवन-दर्शन है। अतः हम उपर्युक्त सम्प्रदायों तथा सिद्धान्तों के साथ ही औचित्य-सिद्धान्त के विषय में भी पण्डितराज का दृष्टिकोण जानने का प्रयास करेंगे।

प्रथम ध्वनि-सम्प्रदाय के साथ पण्डितराज के सम्बन्ध पर विचार प्रस्तुत किया जाता है।

### ध्वनि-सम्प्रदाय एवं पण्डितराज

#### ध्वनिसम्प्रदाय

ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिष्ठापक ग्रन्थ है "ध्वन्यालोक"। संभव है जोड़-रूप में ध्वनि-सिद्धान्त ध्वनि-कारिकाकार से पूर्व से ही चला आ रहा था। परन्तु इसका एक सुसंबद्ध रूप हमें ध्वनि-कारिकाओं में ही मिलता है। कारिका-कार तथा वृत्ति-कार की एकता के विषय में विद्वानों में मतभेद है, किन्तु वृत्ति-कार निःसन्देह आनन्द-वर्धन ही हैं। जो भी हो ध्वनि-सिद्धान्त की वास्तविक स्थापना आनन्दवर्धन के हाथों ही हुई है। इस सिद्धान्त की सच्ची उपादेयता यह है कि यह समस्त काव्यांगों तथा काव्य-सिद्धान्तों के बीच एक समंजस मार्ग अपना कर चला है। इस समंजस्य की मूल रूप-रेखा आनन्दवर्धन में ही मिलती है, जिसका पल्लवन अभिनव गुप्त द्वारा किया गया है। तथापि यह निश्चितः उत्तेजनीय है कि इसको पूर्ण प्रतिष्ठा का श्रेय मम्मट के बलिष्ठ करों को ही दिया जा सकता है। काव्य-प्रकाश ध्वनि-सिद्धान्त को सुचारु एवं समंजस व्यवस्था का कीर्ति-स्तम्भ है। अपने निर्माण काल से लेकर अद्यावधि उसका महत्व ज्यों का त्यों अक्षुण्ण है। ध्वनि-कारिकाकार से लेकर मम्मट तक ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा का इतिहास बितरा हुआ है।

#### ध्वनि-वाद में पण्डितराज



यद्यपि ध्वनि-सिद्धान्त मम्मट के समय -११वीं शती-से लेकर पण्डितराज के समय तक सर्वमान्य चला आ रहा था, तथापि प्रतिष्ठा के अनन्तर जिस परिमार्जन तथा उदात्तीकरण की आवश्यकता थी, वह इस अन्तराल में नहीं हो पाया। यद्यपि अनेक टीकाओं प्रटीकाओं के रूप में ये प्रयत्न अनवरत चल रहे थे, तथापि इस आवश्यकता की वास्तविक पूर्ति पण्डितराज द्वारा ही हुई।

### पण्डितराज का दृष्टि-कोण

पण्डितराज ध्वनि-वाद के प्रबल समर्थक हैं। उसको एक तर्क-पूर्ण समुद्धरणी ही पण्डितराज का मुख्य प्रयास है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि वे अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा को अवकाश ही नहीं देते। रामानुधर के अनेक स्थल उनकी स्वतन्त्र विचार-शक्ति के प्रबल प्रमाण हैं। फिर भी वे अपनी निजी मान्यताओं अथवा दृष्टि-कोणों को सिद्धान्त-पक्ष में प्रस्तुत कर के ध्वनि-वाद पर छा नहीं जाना चाहते। सिद्धान्त-पक्ष यद्यपि ध्वनि-वाद का है, तथापि उनकी विवेक दृष्टि अन्धानुकरण की अभ्यस्त नहीं। उनकी निजी उपलब्धियाँ अनेक मत-भेदों में से एक के रूप में ही आती हैं। इस प्रकार उन्होंने अपना स्थान ध्वनि-वाद के सिद्धान्त-पक्ष के समान एक मत-भेद के रूप में ही स्थापित रखा है। उनको विषय-प्रतिपादन-शैली में वह सामर्थ्य है कि वे ध्वनि-वाद पर छा सकते हैं, किन्तु ऐसा किया नहीं गया। यह उनकी प्राचीन मान्यताओं के प्रति आस्था तथा शालीनता ही है।

### सामंजस्य एवं मौलिकता

जहाँ तक विभिन्न काव्यांगों के प्रति सामंजस्य-वादिनी दृष्टि का सम्बन्ध है, उसकी मूल चेतना ध्वनि-वाद का ही है। रस-रीति-गुण-अलंकार सब का स्थान ध्वनि-वाद के मान-दण्डों से ही निरूपित किया गया है। अपनी मौलिक दृष्टि का सामंजस्य पृथक् से किया गया है। उदाहरण-स्वरूप गुणों के विषय में उनका दृष्टि-कोण कुछ भिन्न है। इस भिन्नता का प्रभाव ध्वनि-वाद के व्यंजकों पर भी पड़ना स्वाभाविक था। अतः पण्डितराज जहाँ सिद्धान्त-पक्ष में मम्मटादि के अनुसार उन व्यंजकों का निरूपण करते हैं, वहाँ अपनी मान्यताओं के अनुसार व्यंजकों के ऊपर पड़ने वाले प्रभाव का भी मत-भेद के रूप में ही निरूपण कर देते हैं। अतः ध्वनि-वाद की मान्यता का प्रत्युपस्थापन तथा निजी मौलिक मत-भेद का निर्वाह सहज रूप में साथ-साथ निभ सके हैं।



## ध्वनि-वाद का निरूपण

ध्वनि-वाद के विभिन्न पक्षों की उद्धरणों करते समय प्रायः उन्हीं विषयों का सविस्तर एवं सातकाश विवेचन किया गया है, जिनके विषय में कुछ विशेष बात उन्हें कहनी है। सामान्यतः मूल सिद्धान्तों का परिचय देने के लिए ही व्यर्थ दृष्ट पर दृष्ट व्यय नहीं किये गये। मम्मटोत्तर काल में यह प्रवृत्ति सामान्यतः पायी जाती है। स्वयं विश्वनाथ के ग्रन्थ का अधिकतम भाग काव्य-प्रकाश, दश-रूपक एवं अलंकार-सर्वस्व का सरल संकलन मात्र है। ऐसी बात पण्डितराज के विषय में नहीं कही जा सकती। वे उन मूल-सिद्धान्तों को जो सर्वमान्य हो चुके हैं संक्षेप में ही परिचित करा देते हैं, तथा उसी अंश को विस्तार देते हैं जिस पर कोई मौलिक बात उन्हें कहनी हो, या कोई विशेष शास्त्रार्थ उन्हें प्रस्तुत करना हो। फल यह हुआ है कि रसगंगाधर की आवश्यकता ध्वन्यालोक एवं काव्य-प्रकाश के रहते हुए भी ध्वनि-सिद्धान्त के लिए अपन में अक्षुण्ण है।

### कुछ विशिष्ट विषय

हारांश यह कि ध्वनि-वाद के मूल ढाँच के साथ पण्डितराज का व्यापक तादात्म्य है, किन्तु मौलिक चिन्तन के पूर्ण अवकाश के साथ। इस तथ्य का परिचय हम विगत अध्यायों में प्राप्त कर चुके हैं। पण्डितराज ने ध्वनि-वाद की मूल चेतना को अक्षुण्ण रख कर भी, उसकी विभिन्न मान्यताओं को किस प्रकार और अधिक परिमार्जित किया है, इसके परिचय के लिए हम यहां ध्वनि-वाद की कुछ विशिष्ट मान्यताएं चुनते हैं,। यद्यपि इन विषयों की भी ध्वनि-वाद में पर्याप्त चर्चा रहती है, तथापि बहुत अधिक महत्व न रखने के कारण इन विषयों का विगत अध्यायों में अवकाश नहीं मिल सका है। हम यहां निम्न विषयों पर अन्य ध्वनिवादों प्रमुख आचार्यों तथा पण्डितराज के निजी दृष्टि-कोण की चर्चा करेंगे :--

१- ध्वनियों के भेद

२- रसादि-ध्वनि की संलक्ष्य-कृमता ।

३- रसवद्-अलंकार ।



## ध्वनि-भेद

### भेदीकरण की प्रवृत्ति तथा पण्डितराज

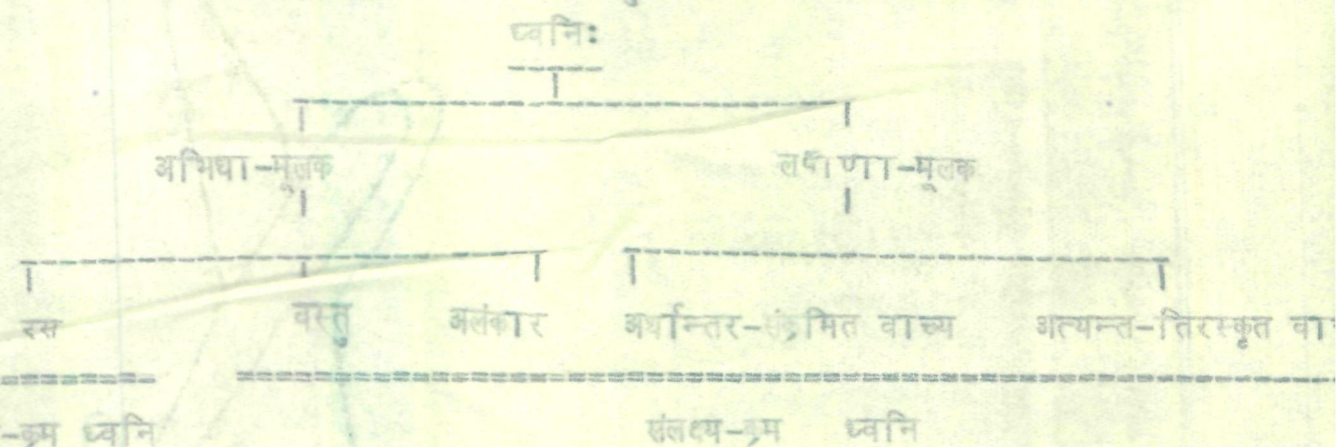
भेदीकरण की प्रवृत्ति के लिए भारतीय आचार्य प्रसिद्ध हैं। ध्वनि के भेदों के विषय में भी यह प्रवृत्ति आचार्यों में गति-शील रही है। स्वयं काव्य-प्रकाश कार ने ध्वनि के ५१ शुद्ध भेद कर के संकर तथा संसृष्टि द्वारा भेद-संख्या को १०४५५ तक पहुंचा दिया है। उनके टीकाकारों के द्वारा तो और भी हस्त-लाघव दिखाया गया है। आज भेदी-करण में अतिवाद की प्रवृत्ति उपेक्षणीय समझी जाती है। पण्डितराज ने भी ध्वनि के भेदों के विषय में भेदीकरण के अतिवाद से अरुचि दिखायी है। भेदी-करण के लिए उन्होंने बहुत कम शब्द-व्यय किया है।

### पण्डितराज के ध्वनि-भेद

रस-विवेचन की भूमिका में पण्डितराज ध्वनियाँ को निम्न-रूप में वर्गीकृत करते हैं :—

" तत्र ध्वनेरुत्तमोत्तमस्यासंख्यभेदस्यापि सामान्यतः केऽपि भेदा निरूप्यन्ते -- द्विविधो ध्वनिः, अभिधामूलो लक्षणा-मूलश्च । तत्राणस्त्रिविधः । रसवस्त्वलंकारध्वनिभेदात् । रसध्वनिरित्यलक्ष्यब्रह्मोपलक्षणात् । सभावतदाभासभावशान्तिभावोदयभाव-सन्धिभावशबलत्वानां ग्रहणम् । द्वितीयश्च द्विविधः - अर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्च । " २

इन भेदों को निम्न तालिका में प्रस्तुत किया जा सकता है :—



स्पष्ट है कि यह वर्गीकरण ध्वनि-वाद की परम्परागत मूल मान्यता के ही अनुरूप है।

१- "वैदसाव्यविवेचन-द्राः"। शुद्धभेदेः सह -- शारेणुयुगलेन्दवः। का० प्र०, उ० ४, पृ० १८६-७

२- रसगंगाधर, पृष्ठ २१।



### असंलक्ष्य-क्रम तथा संलक्ष्यक्रम

ध्वनिवादी परम्परा में अभिधा-मूलक ध्वनि के वस्तु-ध्वनि एवं अलंकार-ध्वनि--  
२ भेदों को ही संलक्ष्य-क्रम के अन्तर्गत गिना गया है। लक्षणा-मूलक ध्वनियां भी संलक्ष्य-  
क्रम हैं ऐसा स्पष्ट उल्लेख उनके विषय में नहीं किया गया। किन्तु जहां तक व्यंग्यों की  
क्रम-लक्ष्यता का संबंध है, लक्षणा-मूलक ध्वनियों में तो व्यंग्यार्थ-प्रतीति का क्रम और  
अधिक मन्द-गति तथा सुलक्ष्य होता है। यद्यपि पण्डितराज ने भी ध्वनि-वादी परम्परा  
की उद्धारणी करते हुए अभिधा-मूलक ध्वनियों को ही नाम-निर्देश पूर्वक "संलक्ष्य-क्रम"  
कहा है, तथापि उन्होंने एक विशेष बात यह की है कि प्रथम आनन में असंलक्ष्य-क्रम  
ध्वनियां तथा तत्सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं का विवेचन प्रस्तुत किया है, तथा द्वितीय  
आनन में संलक्ष्य-क्रम ध्वनियों का। लक्षणा-मूलक ध्वनियों का विवेचन इसी द्वितीय आनन  
में संलक्ष्यक्रम ध्वनियों के उद्भव में आता है। अतः यह निष्कर्ष-रूप में कहा जा सकता है,  
कि पण्डितराज लक्षणा-मूलक ध्वनियों को भी संलक्ष्य-क्रम ध्वनियों के अन्तर्गत ही स्वीकार  
करते हैं। पण्डितराज अपने इस आननिक वर्गीकरण द्वारा अभिधा-मूलक वस्तु तथा अलंकार,  
एवं लक्षणा-मूलक दोनों भेदों को एक ही वर्ग में रखना चाहते हैं।

अब आइए, इन उद्युक्ता ५ प्रमुख भेदों के उप-भेदों पर विचार किया जाय ।

### असंलक्ष्य-क्रम रसादि-ध्वनि के उपभेद

#### रसादि ध्वनि --- १ भेद

रसादि ध्वनि के अनन्त भेद संभव हैं, भाव-लहरियों के नाना-स्पर्शनों को  
कौन परिगणित कर सकता है। अतः आचार्य उसका एक ही भेद गिनते हैं :—

" रसादीनामन्तत्वाद् भेद एका हि गण्यते । " १

### व्यंजनों का आधार पर उपभेद

रसादि की अनन्त-भेद संभावना होने पर भी व्यंजनों की दृष्टि से इसके ६  
भेद किये जाते हैं -- १- पद-गत, २- स्वावय-गत, ३- प्रबन्ध-गत, ४- पदांश-गत, ५- रचना-गत,  
६- वर्ण-गत ।

### उपभेद अनभिप्रेत

प्रथम आनन के अन्त में जिस ढंग से पण्डितराज ने इन व्यंजनों की चर्चा की है,



उससे साफ़ ज़ाहिर है कि उनका रुचि नती इनकी ओर है तथा न वे इनके आधार पर कोई उपभेद बनाना चाहते हैं :--

" तदित्यं निरूपितस्यास्य रसादिध्वनिप्रपञ्चस्य पद-वर्ण-रचना-वाक्य-प्रबन्धैः पदेकदेशैरवर्णात्मिके रागादिभिश्चाभिव्यक्तिमामनन्ति। " १

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि पण्डितराज व्यंजनों की चर्चा भर कर रहे हैं, इन के आधार पर भेदों को प्रोत्साहन नहीं दे रहे।

व्यंजनों का विवेचन

यद्यपि पण्डितराज ने व्यंजनों के आधार पर उपभेदों को प्रोत्साहन नहीं दिया, तथापि व्यंजनों के रूप पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार प्रस्तुत किया गया है। मम्मट ने रसादि के उपर्युक्त ६ व्यंजनों में यद्यपि अवर्णात्मिक रागादि को नहीं गिना है, तथापि उन्हें शब्देतर तत्वों की व्यञ्जकता स्वीकार्य है।

" न च लक्षणात्मकमेव ध्वननम्, तदनुगमनेन तस्य दर्शनात्तान च तदनुगतमेव, अभिधावलम्बनेनापि तस्य भावात्तान चोभयानुसार्येव, अवाचकवर्णानुसारेणापि तस्य दृष्टेः।

न च शब्दानुसार्येव, अशब्दात्मकनेत्रत्रिभागावलोकनादिगतत्वेनापि तस्य प्रसिद्धेः । " ४

आर्यों व्यञ्जना का विवेचन करते हुए भी वे "चेष्टादि" को व्यञ्जकता स्वीकार करते हैं--

"आदिग्रहणाच्चेष्टादेः।" ५

पण्डितराज रसादि-व्यंजनों में "रागादि" तत्व का स्पष्ट समावेश कर लेते हैं। यह ठीक है कि इसकी प्रेरणा उन्हें मम्मटादि के अध्ययन से ही मिली है, फिर भी इसको व्यंजनों में स्पष्टतः समाविष्ट करना उनकी मौलिकता है, जिसे के लिए वे प्रमाण सहृदय-हृदय को ही मानते हैं :--

" एव रागादिभिः पि व्याप्यत्वे यद्यपि सहृदय-हृदयमेव प्रमाणम्। " ६

यद्यपि रचना एवं वर्ण, पद एवं वाक्य के अन्तर्गत ही हैं, तथापि प्राचीन आचार्य उनके आस्वाद-वैचित्र्य के आधार पर उन्हें पृथक् व्यञ्जक मानते चले आये हैं। पण्डितराज

१-रसगंगाधर, पृष्ठ १०८ ।

२-रसगंगाधर, पृष्ठ १०८ ।

३-"वाक्ये ह्युत्थः पदेऽप्यन्धे, प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ।

पदेकदेशैरचनावर्णैर्वपि रसादयः ।।

"

काव्य-प्रकाश, उल्लास ४, सूत्र ५८-९, ६०-१। पृष्ठ क्रमशः १४८, -९, १६६-८।

४-काव्य-प्रकाश, उल्लास ५, पृष्ठ २४९ ।

५-काव्य-प्रकाश, उल्लास ३, पृष्ठ ७९ ।

६-रसगंगाधर, पृष्ठ १०९ ।



उनको इस पार्वक्य को मान्यता को तर्क-संगत ठहराते हैं :--

" रचनावर्णानां तु - - - न व्यञ्जकत्वमिति सुवक्षम्, तथापि पदे वाक्यविशिष्टरक्षणात्वेन, रचनाविशिष्टपदवाक्यत्वेन वा व्यञ्जकत्वमिति विनिगमनाविरहेण घटादौ दण्डचक्रादेः कारणात्वस्येव प्रत्येकमेव व्यञ्जकतायाः सिद्धिरिति प्राञ्चः । " १

### निजः मान्यता का सामंजस्य

यह तो रही प्राचीन मान्यता के प्रत्युपस्थापन की बात। किन्तु पण्डितराज की अपनी मान्यता इस से कुछ भिन्न है। वे गुणा-विवेचन में स्वीकार कर चुके हैं कि गुण रस-मात्र के धर्म नहीं, वे द्रुत्यादि-चित्तवृत्ति के प्रयोजक-रूप हैं, तथा यह प्रयोजकता रस के समान ही शब्द अर्थ एवं रचना में भी अनौपचारिक रूप में विद्यमान है। अतः उनकी दृष्टि से वर्ण एवं रचना का संबन्ध रसाभिव्यञ्जन की अपेक्षा सीधे गुणाभिव्यञ्जन से है :--

" वर्णरचनाविशोष्णाणां माधुर्यादिगुणाभिव्यञ्जकत्वमेव, न रसाभिव्यञ्जकत्वम्, गौरवान्मानाभावात् । " २

तो पण्डितराज के अनुसार असंलक्ष्य-ध्वनि के व्यञ्जक शेष रहते हैं -- पद, वाक्य, प्रबन्ध, पदकदेश एवं रागादि । रागादि को "आदि" शब्द से इन व्यञ्जकों की समाप्ति निश्चित नहीं की जा सकती है, यही मन्तव्य प्रकट होता है। तब इनके आधार पर ध्वनि के कोई निश्चित उपभेद कैसे बनाये जा सकते हैं ।

### समाप्ति

इस विवेचन से यह तो स्पष्ट है पण्डितराज ने व्यञ्जकों के ऊपर पर्याप्त सूक्ष्म दृष्टि डाली है, तथा उनको संख्या भी व्यर्थ नहीं जानना चाहते। किन्तु इन व्यञ्जकों के आधार पर रसादि-ध्वनि इतने प्रकार का होता है -- ऐसा उल्लेख उन्होंने कहीं नहीं किया। इसके विपरीत उनके विवेचन की प्रक्रिया से व्यञ्जकों के आधार पर उपभेदों के विषय में उनका उपेक्षा ही टपकता है। यह तो मम्मट से अभिभूत हुई हमारी बुद्धि का आग्रह होगा कि हम पण्डितराज में भी इन व्यञ्जकों के आधार पर असंलक्ष्य-क्रम के स्वीकार मान लें। पण्डितराज तो उसी स्वस्थ मान्यता के पोषक प्रतीत होते हैं :--

" रसादानामनन्तत्वाद् भेद एको हि गण्यते । " ३

१- रसगंगाधर, पृष्ठ १०८ ।

२- रसगंगाधर, पृष्ठ १०९ ।

३- काव्य-प्रकाश, उल्लास ४, सूत्र ५०, पृष्ठ १४८ ।



### अभिधा-मूलक संलक्ष्यक्रम ध्वनि के भेद

संलक्ष्य-क्रम के ध्वनियां कहलाती हैं, जिनमें अभिव्यंजन का क्रम परिलक्षित होता है। ये दो प्रकार की होती हैं, वस्तु-रूप तथा अलंकार-रूप। ये दोनों प्रकार के व्यंग्य कभी शाब्द-सामर्थ्य से व्यक्त होते हैं, कभी अर्थ-सामर्थ्य से। अतः इन्हें दो वर्गों में रखा जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि शाब्दी व्यंजना में अर्थ-व्यञ्जकता का अभाव होता है, अथवा आर्थी व्यंजना में शाब्द को निरपेक्षाता रह सकता है। मम्मट ने स्पष्ट ही इस भ्रम का निराकरण किया है।<sup>१</sup> यह नाम-निर्देश तो प्राधान्याप्राधान्य के आधार पर होता है। जहाँ शाब्द तथा अर्थ दोनों का मिला-जुला चमत्कार-पूर्ण योग रहता है, वहाँ उभय-शक्ति मूलक एक तीसरा भेद और माना जाता है।

### मम्मट -

मम्मट ने संलक्ष्यक्रम-ध्वनि के कुल ४१ भेद माने हैं, जिनमें ४ शाब्द-शक्ति मूलक के, ३६ अर्थशक्ति-मूलक के, तथा १ उभयशक्ति-मूलक का होता है।<sup>२</sup>

- १- "क" लघुक्तो व्यञ्जकः शाब्दो यत्सोऽर्थान्तरयुक्तया ।  
अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥ काव्य० उल्ला० २, सू० ३३-४।  
पृष्ठ ७० ।
- "ख" शाब्दप्रमाणवैशोर्ध्वो व्यनक्तिऽर्थान्तरं मतः ।  
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तत् शाब्दस्य सहकारिता ॥ काव्य० उल्ला० ३, सू० ३८, पृ० ८१
- २- "क" अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यंग्यस्थितिस्तु यः ।  
शाब्दार्थोभयशक्त्युत्पत्तिविधा स कथितो ध्वनिः ॥  
अलंकारोऽथ वस्तुवैव शाब्दाद्यत्रावभासते ।  
प्रधानत्वेन स्रियः शाब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ॥  
अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जकः संभवी स्वतः ।  
प्रोक्तोऽन्वितात्रसिद्धो वा कवेस्तेनोन्मिषतस्य वा ॥  
वस्तु वार्तकृतिर्वैति षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ।  
वस्तुवलंकारमथवा तेनायं द्वादशात्मकः ॥  
शाब्दार्थोभयभूरेकः, काव्य० उल्ला० ४, सू० ५२-५३-५४-५५।
- "ख" ----- काव्य-प्रकाश, उल्लास ४, सू० ५८, ५९, ६०। पृ० क्रमशः  
१४८, १४९, १६६ ।  
वान्ये ह्युत्थः, पदेऽप्यन्ये, प्रवन्देऽप्यर्थशक्तिभूः ।



मम्मट के अनुसार इन ४१ भेदों का वर्गीकरण इस आधार पर है :--

- ४ शब्दशक्ति-मूलक - पदगत तथा वाक्यगत भेद से वस्तु एवं अलंकारात्मक ध्वनि ।
- ३६ अर्थशक्ति-मूलक -
- १-व्यंग्य अर्थ का स्वरूप -- वस्तुरूप या अलंकार-रूप ।
- २-व्यञ्जक अर्थ का स्वरूप --
- क-वस्तु-रूप क- कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध
- ख-अलंकार-रूप ख- कविनिबद्धवक्तृ-प्रौ० सिद्ध
- ग- स्वतः सम्भवी
- ३-व्यञ्जक की स्थिति -- पदगत, वाक्यगत, प्रबन्धगत
- १ उभयशक्ति-मूलक - केवल वाक्य-गत

### पण्डितराज

पण्डितराज की अभिधा-मूलक संलक्ष्य-क्रम के इतने भेद स्वकार्य नहीं। उन्होंने निम्न भेदों को स्वोक्ति दी है :--

- १ शब्दशक्ति-मूलक वस्तु तथा अलंकारात्मक व्यंग्य
- ८ अर्थशक्ति-मूलक १- व्यंग्य अर्थ का स्वरूप -- वस्तुरूप या अलंकार-रूप ।
- २-व्यञ्जक अर्थ का स्वरूप --
- क-वस्तु-रूप क- कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध ।
- ख-अलंकार-रूप ख- स्वतः सम्भवी ।
- ३ उभयशक्ति-मूलक केवल एक मिश्रित भेद ।

१- " स -संलक्ष्यक्रमोऽभिधा-मूलको ध्वनिः- च तावद् द्विविधः, शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्ति-मूलश्च। व्यंग्यस्य तत्रागो द्विविधः, व्यंग्यस्य वस्तुत्वलंकारत्वाभ्यां द्विविध्यात् । "

रसगंगाधर, पृष्ठ ११० ।

२- " द्वितीयोऽपि वस्तुत्वलंकारात्मना लोकसिद्धेन तथाभूतेन च प्रतिभामवनिर्णीतितेन च व्यञ्जकेनार्थेन चतुर्विधेन व्यञ्जकेन वस्तुत्वलंकारात्मिनो द्विविधस्य प्रत्येकं व्यङ्ग्यनादष्टमूर्तिः । "

रसगंगाधर, पृष्ठ ११० ।

३- " यत्र तु काव्ये परिवृत्तिं सहमानानामसहमानानां च शब्दानां नेकजातीयप्राचुर्यम्, अपि तु सायमेव तत्र शब्दाद्योभयशक्तिमूलकस्य व्यंग्यस्य स्थितिरिति द्युत्यो ध्वनिः । "

रसगंगाधर, पृष्ठ १३८ ।

" स्वयमभिधामूलस्त्रिविधोऽपि संक्षेपेण निरूपितो ध्वनिः । " रसगंगाधर, पृष्ठ १३८-९ ।



## दो उल्लेखनीय बातें

पण्डितराज के उपर्युक्त अभिधा-मूलक संलक्ष्यक्रम ध्वनि के भेदों के विषय में दो उल्लेखनीय बातें हैं। एक यह कि अर्थ-शक्ति मूलक भेदों में पण्डितराज ने स्वतःसंभवी तथा कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध -- दो ही भेद माने हैं, अभिनव तथा मम्मट के समान कवि-निबद्ध-वक्तृ-प्रौढोक्ति-सिद्ध को भी पृथक् भेदक स्वीकार न कर के तीन नहीं। दूसरी बात यह कि व्यंजकों की पद-वाच्य-गतता के आधार पर भेद करना पण्डितराज की इष्ट प्रतीत नहीं होता। हम यहां इन दोनों बातों पर पण्डितराज का दृष्टि-कोण प्रस्तुत कर रहे हैं।

कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध तथा कवि-निबद्ध-वक्तृ-प्रौढोक्ति-सिद्ध की एकता

पण्डितराज की व्यंजक अर्थ के ये दोनों रूप पृथक् पृथक् मान्य नहीं। वस्तुतः अर्थ को हम दो कोटियों में ही रख सकते हैं - एक निर्गुण-सिद्ध, दूसरा कवि-कल्पना-प्रसूत। कवि-कल्पित अर्थ फिर चाहे कवि द्वारा साक्षात् शैली में प्रस्तुत किया जाय या किसी पात्र-विशेष की बीच में कल्पना कर के। यथार्थ तथा कल्पना के आधार पर सिद्ध हुए अर्थ में कवि के साक्षात् या असाक्षात् उपस्थापन को आधार नहीं बनाना चाहिए। अतः पण्डितराज मम्मट को इस मान्यता का स-तर्क निराकरा कर देते हैं:--

" प्रतिभानिर्वर्तित<sup>१</sup> वा विशेषाच्च कवि-तदुन्मिमत-वक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नयोरर्थयो-  
र्न पृथग्भावेन गणनोचिता। उन्मिमतोन्मितादेरपि भेदान्तर<sup>२</sup>, यावक्तापत्तेः। न च तस्यापि  
कव्युन्मिमतत्वानपायात्तत्प्रयोज्यभेदान्तर्गतत्वमेवेति वाच्यम्, प्रमोन्मिमतस्यापि लोकोत्त-  
रवर्णना निपुणत्ववत्क्षणकवित्वानपायात्पृथग्भेद<sup>३</sup>, यावक्तापत्तेः। " १

वस्तुतः ध्वनि-कार तथा आनन्दवर्धन दोनों ने व्यंजक अर्थ के दो ही रूप माने हैं:--

क- " प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः संभवी स्वतः ।

अर्थोपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोः -- त्वदीयकः ॥ " २

ख- " अर्थशक्तित्पुद्भवानुरण्मरूपव्यंग्ये ध्वनी यो व्यंजकोः र्व उक्तस्तस्यापि द्वौ  
प्रकारौ -- कवेः कवि-निबद्धस्य वा वक्तुः प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः  
एकः, स्वतःसंभवा च द्वितीयः । " ३

यह तो अभिनव गुप्त का कपा हुई है कि उन्होंने ध्वनि-कार की मूल मान्यता

१- रत्नगोविन्द, पृष्ठ ११० ।

२- ध्वन्यालोक उच्यते २, २४, पृष्ठ २५४ ।

३- " वृत्ति, २-२४, पृष्ठ २५४ ।



को अपना व्याख्या के बल से सोच कर उसके तीन भेद दिसा दिये। निम्न शाब्दों में अभिनव का यह व्याख्या कौशल स्पष्टतः लक्षित होता है :--

"अधुनास्य प्रभेदनिरूपणं करोति--प्रौढोक्तित्यादिना । योऽर्थान्तरस्य दीपकोऽर्थ उक्तः सोऽपि द्विविधः । न केवलमनुस्वानोपमो द्विविधः, यावत्तद्भेदो या द्वितीयः, सोऽपि व्यञ्जकाद्विविध्यद्वारेण द्विविध इत्यपि शाब्दस्या<sup>१</sup> । प्रौढोक्तेरप्यवान्तरभेदमाह --कवेरिति। तेनेते त्रयो भेदा भवन्ति । " १

मम्मट ने ध्वनिकार की मूल चेतना की ओर ध्यान न देकर अभिनव को ही प्रामाणिक माना। किन्तु पण्डितराज तो बिना अपनी तर्क-कसौटी पर कोई उसे स्वीकार नहीं कर सकते। वे ध्वनिकार के मूल मान्यता में ही अधिक तथ्य पाते हैं, और मम्मट तथा अभिनव गुप्त का निराकरण बिना किसी हिचक के कर देते हैं।

पद-वाक्य-गतता को भेदक रूप में अस्वीकृति

मम्मट ने अशक्ति-मूलक १२ ध्वनियों को व्यञ्जक को पद-वाक्य-प्रबन्ध-गत स्थिति के आधार पर ३६ भेद किये हैं। इसी प्रकार शाब्दशक्ति-मूलक के दो भेदों को भी पद-वाक्य-गत रूप से ४ प्रकार का दिया गया है। परन्तु, जैसा कि हम कह चुके हैं कि व्यञ्जकों के ऊपर सूक्ष्म एवं पर्याप्त विवेचन करते हुए भा पण्डितराज ऐसा कोई सक्ति नहीं देते कि जिससे यह समझा जा सके कि वे इनके आधार पर उक्त ध्वनियों के भेद भी करना चाहते हैं। इन ध्वनियों का पद-वाक्य-गतता का उल्लेख अभिधा-मूलक तथा लक्षणा-मूलक समाप्त संलक्ष्य-क्रम ध्वनियों के विवेचन के अन्त में कहा ही सामान्य भाषा में कर दिया गया है :--

"तदेवमेते प्रागुक्ता ह्युत्पातिरिक्ताः सर्वेऽपि ध्वनयः एकस्मिन्वाक्ये योऽप्यपद-मात्रागतास्तदा पद-ध्वनितया व्यपदिश्यन्ते, नानापदगततया तु वाक्य-ध्वनितयेति । " २

उभय-शक्ति मूलक को भी केवल वाक्य-गतता का इसी प्रकार का उल्लेख है :--

"अयं च वाक्य-मात्रे । " ३

उभयशक्ति-मूलक ऐसे समासों में भी पाया जा सकता है जिनमें कोई शब्द नानार्थक हो, कोई अनानार्थक। यह भी केवल पद नहीं वाक्य का ही एक संक्षिप्त रूप है :--

१- लोचन, ध्वन्यालोक, पृष्ठ २५४ ।

२- रसगंगाधर, पृष्ठ १४० ।

३- रसगंगाधर, पृष्ठ १३८ ।



" अर्थ च वाक्यमात्र, पद (मूहश्च वाक्यम्) तेनास्य नानार्थानानार्थघटितसमास-  
विषयत्वे पि न विरोधः। न तु शुद्धैकपदे तस्मिन्नानार्थानानार्थयोरसमावेशात्। " १

इन निरूपणों में कहीं भी भेदोक्ति की अभिरुचि परिलक्षित नहीं होती। इन  
उपेक्षा भरे उल्लेखों से तो यही निष्कर्ष निकलता है कि पण्डितराज इन व्यंजनों के  
आधार पर संलक्ष्यक्रम ध्वनियों के भेद नहीं करना चाहते। न ही उन्होंने असंलक्ष्य-क्रम  
ध्वनियों में इन व्यंजनों के आधार पर कोई उपभेद स्वीकार किया है, यह हम दिखा  
चुके हैं। संलक्ष्यक्रम ध्वनियों के प्रसंग में तो व्यंजनों में प्रबन्ध की व्यञ्जकता का उल्लेख  
भी नहीं हुआ है।

### लक्षणा-मूलक संलक्ष्य-क्रम ध्वनि

लक्षणा-मूलक ध्वनियों को संलक्ष्य-क्रमता, जैसा कि हम पीछे उल्लेख कर चुके हैं,  
अभिधा-मूलक वस्तु तथा अलंकार ध्वनियों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। पण्डितराज ने  
स्पष्ट उल्लेख न करते हुए भी अपने आन्तरिक वर्गीकरण द्वारा इस तथ्य को स्वीकार  
कर लिया है, यह भी हम प्रतिपादित कर चुके हैं।

पण्डितराज के अनुसार लक्षणा के ६ भेद होते हैं, जिनमें ४ का प्रयोग अलंकार  
में तथा २ का ध्वनि में होता है:-- २

लक्षणा	उपयोग
१- गौणी सारोपा	रूपक अलंकार में।
२- गौणी साध्यवसाना	अतिशयोक्ति अलंकार में।
३- शुद्धा सारोपा	हेतु अलंकार में।
४- शुद्धा साध्यवसाना	हेतु अलंकार में।
५- ब्रह्मस्वार्था	अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि में।
६- अब्रह्मस्वार्था	अर्थान्तर संक्रमित वाच्य में।

१- रसगंगाधर, पृष्ठ १३८ ।

२- " तत्र वक्ष्यमाणसंक्षेपसंक्षेपायां लक्षणायां प्रयोजनवत्याः षड्विधायाः सारोप-  
साध्यवसानाभ्यां गौणीशुद्धाभ्यां च विभक्तानां भेदानां चतुर्णामलंकारात्मना  
परिणतत्वाद् द्वौ भेदो ध्वन्याश्रयतया स्थितौ। ब्रह्मस्वार्था अब्रह्मस्वार्था चेति।  
तन्मूलौ द्वौ ध्वनेः प्रभेदौ। " रसगंगाधर, पृष्ठ १३८ ।



लक्षणा मूल दो प्रकार का होता है- एक अत्यन्त-तिरस्कृत वाच्य, दूसरे अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य । पण्डितराज को यहाँ भी पूर्ववत् मम्मट के समान इनके पद-गत एवं वाच्य-गत रूप में भेद इष्ट नहीं । पद-वाच्य-गतता का उल्लेख भेदक रूप में नहीं । स्पष्टतः तो वे इसके दो ही भेद स्वीकार करते हैं:--

" तन्मूलो च द्वौ ध्वनेः प्रभेदौ । " १

इस प्रकार हम पण्डितराज की दृष्टि से समस्त ध्वनि-भेदों को निम्न रूप में संकलित कर सकते हैं :--

असंलक्ष्य-क्रम रसादि ध्वनि - - - - - १ भेद ।

संलक्ष्य-क्रम ध्वनि - - - - - १३ भेद ।

अभिधा-मूलक संल० - - - - - ११ भेद ।

शा०-शक्ति मूलक---१ भेद ।

अर्थ-शक्ति-मूलक --- २ भेद ।

उभय-शक्ति-मूलक---१ भेद ।

योग---११

लक्षणा-मूलक संल० - - - - - २ भेद ।

अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य---१ ।

अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य---१ ।

योग---२

संलक्ष्य-क्रम योग- - - - - १३ भेद ।

कुल योग- - - - - १४ भेद ।

यह ध्यान रखना चाहिए कि ये भेद पण्डितराज की अपनी मान्यता के अनुसार नहीं, उनके अनुसार का हुई ध्वनि-सिद्धान्त की व्याख्या के अनुसार हैं। वे रसादि को संलक्ष्य-क्रम भी मानते हैं, अतः उनके इस दृष्टि-कोण से इस गणना में जो अन्तर पड़ेगा, उसे हम आगे देखेंगे । पण्डितराज ने ध्वनियों के अनावश्यक भेदों को हटा कर ध्वनि-सिद्धान्त को और भी अधिक व्यावहारिक बना दिया है। व्यावहारिकता किसी भी सिद्धान्त की जीवनी शक्ति होती है।



## रसादि - ध्वनियों को संलक्ष्य - क्रमता

### परम्परागत मान्यता

हम देख चुके हैं कि ध्वनि-वाद अभिधा-मूलक ध्वनियों के दो भेद मानता है, एक-असंलक्ष्य-क्रम, दूसरा- संलक्ष्य-क्रम । प्रथम में रस-ध्वनि, के समस्त रूप आजाते हैं, जिसमें रस-भाव-रसाभास-भावाभास-भावशान्ति-भावोदय-भावसन्धि-भावशबलता सभी आ जाते हैं, दूसरे में वस्तु एवं अलंकार-रूप ध्वनियां आती हैं। प्रथम वर्ग की ध्वनियों के विषय में यही मान्यता है कि उसमें काव्यार्थोपस्थिति तथा भावानुभूति की गति इतनी तीव्र होती है कि अर्थोपस्थिति एवं अनुभूति का एक अपना क्रम रहते हुए भी परिलक्षित नहीं होता।<sup>१</sup> अतः उसे असंलक्ष्य-क्रम कहा जाता है। इस प्रकार इन ध्वनियों में अक्रमता अर्थात् क्रम का अत्यन्ताभाव नहीं होता, अपितु क्रम की अलक्ष्यता होती है। शत-दल कमल के शत पत्रों को सूची से एक-बारंगा वेध देने पर यह कहना कठिन हो जाता है कि किस समय किस पत्र का वेधन हुआ, यद्यपि उनमें वेधन का क्रम अवश्य है। यही बात असंलक्ष्य-क्रम ध्वनियों के विषय में भी समझनी चाहिए।

### पण्डितराज की मान्यता

इस प्रकार ध्वनिवाद का परम्परागत मान्यता है कि रसादि-ध्वनियां असंलक्ष्य-क्रम ही होती हैं। किन्तु पण्डितराज की मान्यता इस विषय में कुछ स्वतन्त्र एवं मौलिक है। वे रसादि को असंलक्ष्य-क्रम ही नहीं, संलक्ष्य-क्रम भी मानते हैं।

" सोऽयं निगदितः सर्वोऽपि ध्वनि-प्रपञ्चः रत्यादिलक्षणां व्यङ्ग्यप्रपञ्चः स्फुटं प्रकरणे भूयतिप्रतीतेषु विभावानुभावव्यभिचारिणु सहृदयतमेन प्रमाणा सूक्ष्मेणैव समयेन प्रतीयत इति हेतुहेतुमतोः पौर्वापर्यमस्यालक्षणादलक्ष्यक्रमो व्यपदिश्यते। यत्र तु विचार-वेद्यं प्रकरणं, उन्नेया वा विभावादयस्तत्र सामग्रीविलम्बाधीनं चमत्कृतेरान्वयमिति संलक्ष्य-क्रमोऽप्येष भवति । " २

१- कौष्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः ।

न सलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसः, अपि तु रसस्तेरिस्थिस्ति क्रमः । स तु लाघवान्न लक्ष्यते । "

काव्य-प्रकाश, उल्लास ४, सूत्र ४१, पृष्ठ ८४ ।

" अत्र व्यङ्ग्यप्रतीतेर्विभावादिप्रतीतिकारणत्वात्क्रमोऽवश्यमस्ति, किन्तु उत्पलपत्रशत-व्यतिभेदलाघवान्न संलक्ष्यते । " साहित्य दर्पण, पृष्ठ २२९ ।



पण्डितराज का मतव्य यह है कि जहाँ प्रकरणादि स्पष्ट होते हैं, वहाँ विभावादि की प्रतीति सहृदय को भट् से हो जाती है। विभाव की इस सहाय प्रतीति का फल यह होता है कि प्रमाता सूक्ष्म कालमें ही रस-मग्न हो जाता है। रस-प्रतीति में प्रकरणादि के सहित विभावादि की प्रतीति है हेतु रूप तथा रसादि-प्रतीति है।

कार्य-रूपाइन हेतु एवं कार्य-रूप प्रतीतियों में क्रम का बोध नहीं होता। क्रम होता है, होना चाहिए, परन्तु अनुभूति की प्रवणता के कारण विगलित-वैधान्तर रस में स्वी-निमग्नता के कारण क्रम परिलक्षित नहीं होता।

किन्तु जहाँ प्रकरण कुछ उलझा हुआ होता है, अथवा विभावादि की कुछ दूरारूढ़ कल्पना करनी पड़ती है, वहाँ अनुभूति की सामग्री विलम्ब से ही जुट पाती है, यह मानना ही पड़ेगा। ऐसी दशा में चमत्कृति की गति अनिवार्यतः मन्द्यर होगी। ऐसे स्थलों में रसादि की संलक्ष्य-क्रम ही कहना चाहिए। रसादि की संलक्ष्य-क्रमता का पण्डितराज निम्न उदाहरण सामने रखते हैं :--

" तत्पगता पि च सुतनुः श्वासासंगं न या स्नेह ।

सम्प्रति सा हृदयगतं प्रियपाणिं मन्दमाक्षिपति ।। " १

इस उदाहरण पर विचार कीजिए। जहाँतक इसके वाच्यार्थ के प्रथम धरातल की प्रत्युपस्थिति का सम्बन्ध है, स्पष्ट ही है। किन्तु वाच्यार्थ से ऊपर उठ कर जब विभावादि की उपस्थिति का क्रम आता है, हमें प्रकरण की अपेक्षा हो उठती है। यहाँ एक नव-वधू का चित्र है। स्वभावतः नव-वधू लज्जा-शोला होती है। यह नव-वधू भी मुग्धात्व के कारण प्रिय के श्वास-संपर्क को भी नहीं सकती थी। आज अपने वक्षःस्थल पर रसे हुए प्रिय के हाव को हटा तो रही है किन्तु धीरे-धीरे। यह परिवर्तन क्यों है ? यह प्रश्न उठता है। प्रसंग से हमें विदित होता है कि आज की रात्रि प्रिय-प्रवास से पूर्व की रात्रि है। अतः उसके मुग्धात्व में शोषित्व है। यह सब "सम्प्रति" शब्दका अर्थ प्रकरण जान लेने पर ही समझ में आता है। और इस प्रकार से विभावादि का उन्मीलन कुछ देर से ही होता है। ऐसे स्थलों में सहृदय प्रमाता की भावानुभूति क्रमशः ही होती है। अतः ऐसे स्थल पर रसादि की संलक्ष्य-क्रम ही मानना चाहिए।

" अत्र शनैः स्वस्थानप्रापणात्मना मन्दाक्षेपेण रत्याख्यः स्थायी संलक्ष्य-क्रमतया व्यज्यते । " २



### पण्डितराज की प्रेरणा

पण्डितराज को इस मान्यता की प्रेरणा स्वयं आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त से ही मिली है। लक्ष्य-क्रम ध्वनि के प्रयोग में दोनों आचार्य भावों की लक्ष्य-क्रम रूप में भी व्यंजना स्वीकार करते हैं। पण्डितराज उन दोनों को अपनी मान्यता के प्रमाण रूप में उपस्थित भी करते हैं।

### आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन ने उक्त प्रयोग में कालिदास का निम्न श्लोक प्रस्तुत किया है।

" एवं वादिनि देवर्षो पार्श्वे पितुरधोमुखी ।

लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥ " १

तथा इसकी स्मोक्षा करते हुए वे कहते हैं:-कि यहाँ लज्जा व्यभिचारी की व्यंजना संलक्ष्य-क्रम रूप में ही हो रही है, न कि असंलक्ष्य-क्रम रूप में। असंलक्ष्य-क्रम तो केवल वहाँ मानना चाहिए, जहाँ साक्षात् अर्थात् बिना किसी बाधा के शब्दों से प्रत्युपस्थित विभावादि रसादि की प्रतीति करा रहे हों।

" अत्र हि लीलाकमलपत्रगणनमुपसर्जनोक्तस्वरूपं शब्दव्यापारं विनेवार्थान्तरं व्यभिचारिलक्षणं प्रकाशयति । न चायमलक्ष्य-क्रमव्याप्त्यस्यैव ध्वनेर्विधायः । यत्नो यत्र साक्षाच्छब्दनिवेदितेभ्यो विभावानुभावव्यभिचारिभ्यो रसादिप्रतीतिः, स तस्य केवलस्य मार्गः, यथा कुमारसम्भवे मधुप्रंसी वसन्तपुष्पाभरणं वहन्त्या देव्या आगमनादिवर्णनं मनोभवशरसन्धानपर्यन्तं शम्भोश्च परिवृत्तदैर्यस्य चेष्टा-विशेषावर्णनादि साक्षाच्छब्दनिवेदितम् । इह तु सामर्थ्यादिप्राप्तव्यभिचारिमुखेन रसप्रतीतिः । तस्मादयमन्यो (-संलक्ष्य क्रमरूपी -) ध्वनेः प्रकारः । " २

### अभिनवगुप्त

आनन्दवर्धन के तात्पर्य को विशद करते हुए अभिनव गुप्त भी इस तथ्य से परिचित हैं :-

" यद्यपि रसभावादिर र्धे ध्वन्यमान एव भवति, न वाच्यः कदाचिदपि, तथापि



न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषयः। यत्र हि विभावानुभावेभ्यः स्थयिगतेभ्यो व्यभिचारिगतेभ्यश्च पूर्णेभ्यो भ्रटित्येव रसव्यक्तित्वस्तवास्त्वलक्ष्यक्रमः, - - - - -। इह तु पद्मदलगणन-मधोमुखत्वं चान्यत्रापि सम्भन कुमाराणां सम्भाव्यत इति भ्रटिति न लज्जाया विक्रमयति हृदयम्, अपितु प्राग्वृत्ततपश्चर्याविवृत्तान्तानुस्मरणेन तत्र प्रतिपत्तिं करोति, इति क्रम-व्यग्यतेव । " १

अभिनव गुप्त को इसी व्याख्या के आधार पर पण्डितराज ने आनन्दवर्धन के मन्तव्य को इन शब्दों में प्रस्तुत किया है :--

" कुमारीस्वाभाव्यादप्यधोमुखत्वविशिष्टस्य लीलाकमलपत्रगणनस्योपपत्त्या मनाग्विलम्बेन नारदकृतविवाहादिप्रसंगविज्ञानोत्तरं ब्रह्मिण्याश्चमत्करणात्संलक्ष्यक्रमोऽयं ध्वनिः, इति प्राहुरानन्दवर्धनाचार्याः । " २

इस प्रकार पण्डितराज अपना मान्यता के प्रमाण में ध्वनिवाद के दोनों मूर्धन्य आचार्यों को प्रस्तुत करते हैं ।

संगति की कठिनाई

किन्तु आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त को साक्षी-रूप में उपस्थित करने में एक कठिनाई उपस्थित होती है। यदि ये दोनों आचार्य रसादि की संलक्ष्य-क्रम भी मानते हैं, तो फिर वहाँ षड्विध व्यंजकों एवं अर्थ-स्वरूपों के आधार पर उन्होंने संलक्ष्य-क्रम वस्तु तथा अलंकार को १२ प्रकार का माना है, वहाँ रसादि संलक्ष्य-क्रम के भी ६ और भेद उन्हें करने चाहिए थे, जो उन्होंने नहीं किये। अतः यहाँ निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उन्हें रसादि की संलक्ष्य-क्रम रूप में स्वीकार करना अभीष्ट ही नहीं था। अभिनव के अनुसार मम्मट ने भी संलक्ष्य-क्रम के १२ ही भेद माने हैं। तब यह भेद-संगति की बितायी जाय, यह उत्तर-दायित्व पण्डितराज के ऊपर है।

१-लक्ष्मी, ध्वन्यालोक, पृष्ठ २८-२९० ।

२- रसगंगाधर, पृष्ठ १०७ ।

३- " स्यादेतत्, यत्र रसादिः संलक्ष्यक्रमस्य विषयः स्यात्, अनुरणनभेदगणनप्रस्तावे "अर्थशक्ति मूलस्य द्वादश भेदाः" इत्यभिनवगुप्तापितः, "तेनायं द्वादशात्मकः" इति मम्मटोक्तिश्च न संगच्छेत्, वस्तुलंकारात्मना द्विविधेन वाच्येन स्वतःसंभवित्व-कविप्रौढोक्तिनिष्पन्नत्व-कविनिब-द्वयवैतृप्रौढोक्तिनिष्पन्नत्वैस्त्रिभिरुपाधिभिस्त्रैविध्यमापन्नेन षष्ठात्मना वस्तुलंकारयोरेव रसादेरप्यभिव्यजनादष्टादशत्वप्रसंगात् । "

रसगंगाधर, पृष्ठ १० ।



अभिनव की आपाततः भिन्न प्रतीत होने वाला मान्यताएं हमारे सामने आती हैं। पण्डितराज उनमें यह समाधान पेश करते हैं कि अभिनव की मान्यता में दिखायी पड़ने वाले विरोध को यह मान कर निराकृत समझना चाहिए कि जहां प्रस्फुट विभावादि से तीव्रता के साथ रसादि की प्रतीति होती है, वहां ध्वनि को असंलक्ष्य-कर्म माना जाय, तथा जहां प्रकरणादि की अस्फुटता के कारण रसादि की प्रतीति भी मन्थर गति से हो, वहां उन्हें "वस्तु-रूप" समझना चाहिए।

" प्रकटविभावानुभावव्यभिचारिभिरसंलक्ष्यकर्मतयेव व्यन्यमानो रत्यादिः स्थायिभावो रसोभवति, न संलक्ष्यकर्मतया। रसोभावो हि नाम भ्रमगतिं जायमानालौकिक-चमत्कारविषयस्थायित्वम्। संलक्ष्यकर्मतया व्यन्यमानस्य रत्यादेस्तु वस्तुमात्रतेव, तरसादित्व-मिति तेषामाशयस्य वर्णनेन न तदुक्तानां विरोधः । " १

तात्पर्य यह कि यदि अभिनव तथा मम्मट की मान्यता को संगत ठहराना है तो कर्म-लक्ष्य रसादि को उसके वस्तु-रूप में अन्तर्भूत किया जा सकता है।

यह तो रहा अभिनवगुप्त की मान्यता को संगति बिठाने की बात। स्वयं अभिनव ने ऐसा कहीं उल्लेख किया हो, इस प्रकार का प्रसंग नहीं आता। फलतः पण्डितराज भी उनके शब्दों को उद्धृत नहीं कर सके। इसी कारण वे यह आवश्यकता अनुभव करते हैं, कि इस बात को किसी तर्क या उपपत्ति को स्वयं पाठक को सोच लेना चाहिए:--

" उपपत्तिस्तत्त्वमिन्नर्थे विचारणीया । " २

### संगति का पर-पक्षीयता

इस संगति का यह अर्थ कदापि नहीं समझना चाहिए कि पण्डितराज भी संलक्ष्य-कर्म रसादि को वस्तु-रूप समझते हैं। संगति उनके वर्गीकरण की आवश्यकता नहीं, अभिनव तथा मम्मट के वर्गीकरण की आवश्यकता है, जिसे सहमत होना पण्डितराज के लिए अनिवार्य

१- रसगंगाधर, पृष्ठ १००-८ ।

२- रसगंगाधर, पृष्ठ १०८ ।



नहीं है। संगति उनकी आत्म-पक्षीय नहीं, पर-पक्षीय है। यहाँ कारण है कि उन्होंने ने उसकी उपपत्ति देने का उत्तर-दायित्व वहन नहीं किया।

### उपपत्ति का प्रश्न

पण्डितराज ने जिस उपपत्ति को विना प्रस्तुत किये ही छोड़ दिया उसके संबन्ध में यह समझना तो भ्रम होगा कि वे अपने ही द्वारा प्रस्तुत किये हुए समाधान को ही तर्क-हीन समझते हैं, अथवा वे इस विषय में उपपत्ति खोज नहीं सके। नागेश ने पानी यही समझ कर उपपत्ति देकर यह समझा है कि वे पण्डितराज के किसी अभाव को पूर्ति कर रहे हैं। नागेश की उपपत्ति पर हम अभी विचार करेंगे। वस्तुतः पण्डितराज द्वारा उपपत्ति न देना भी एक विशेष उद्देश्य लिये हुए है। यह उद्देश्य प्रसंग पर थोड़ा विचार करने से स्पष्ट हो जाता है।

प्रसंग यह है कि पण्डितराज स्वयं रसादि को संलक्ष्य-क्रम भी मानते हैं, तथा अपनी मान्यता को सर्वथा निराधार प्रतीत न होने देने के लिए वे इस बात की स्वीकृति आनन्द-वर्धन तथा मम्मट में भी दिखाते हैं। इस स्वीकृति को दिखाने के फल-स्वरूप अभिनव तथा मम्मट की संख्या-संबन्धी मान्यताओं में अन्तर पड़ता है। मम्मट को तो कोई बात नहीं, क्योंकि उन्होंने तो रस को संलक्ष्य-क्रमता का उल्लेख किया ही नहीं। किन्तु अभिनव की अपनी मान्यता में सामंजस्य होना चाहिए। पण्डितराज उस सामंजस्य की दृष्टि से यह बात कहते हैं कि अभिनव के अनुसार रसादि वस्तु-रूप हो जाते हैं, ऐसा मान कर काम चलाया जा सकता है, -" इति तेषामाशयस्य वर्णनेन न तदुत्तीर्णा विरोधः "। इस प्रकार अभिनव के अनुसार असंलक्ष्यक्रम रत्न्यादि "रस" एवं संलक्ष्य-क्रम "वस्तु"-मात्र हैं। यह अभिनव की ओर से दिया हुआ पण्डितराज का समाधान है। अपने ही द्वारा प्रस्तुत इस समाधान को उपपत्ति-हीन समझना पण्डितराज के लिए संभव नहीं। फिर प्रश्न उठता है उन्होंने उसकी उपपत्ति प्रस्तुत क्यों नहीं की ? इसी समस्या में पण्डितराज का उद्देश्य निहित है।

यदि पण्डितराज प्रबल तर्क देकर उपर्युक्त बात को उपपत्ति-मुक्त प्रतिपादित करते तो यों कहिए वे यह प्रमाणित हो कर देते कि असंलक्ष्य-क्रम मात्र रत्न्यादि ही रस हैं, संलक्ष्य-क्रम होने पर तो वे वस्तु-रूप हो ही जाते हैं, तब यह कहने का अर्थ ही क्या रह गया कि " रत्न्यादि या रसादि संलक्ष्य-क्रम भी होते हैं " ? यह बात उनकी अपनी ही मान्यता के प्रतिकूल होती। तब पण्डितराज भी रसादि की संलक्ष्य-क्रमता का पक्ष छोड़ते, या फिर उपपत्तियों से प्रतिपादित समस्त विवेचन को पुनः पूर्वपक्ष में रख कर उसका



निराकरण करते। पण्डितराज ऐसा भी कर सकते थे। वे पूर्व-पक्ष के साथ भी परिश्रम कर सकते हैं। किन्तु इससे बनता क्या ? फल यह होता कि अभिनव गुप्त की मान्यता में सामंजस्य बिठाने के लिए उन्होंने समाधान प्रस्तुत किया, वह फिर निरूपण ही रह जाता। अतः पण्डितराज ने जो उपपत्ति को विचारणीय-मात्र कह कर छोड़ दिया है वह बड़ा कोशल का काम किया है। इसका सहज निष्कर्ष यह होता है कि हमारे समस्त ध्वनि-सिद्धान्त के ही अन्तर्गत रहने वाले दो मान् आचार्यों की मान्यताएं पृथक् पृथक् मत-भेद के रूप में आ जाती हैं।

### दो मान्यताएं

उपर्युक्त मान्यताओं को निष्कर्ष रूप में इस प्रकार समझना चाहिए :--

#### १- अभिनव की मान्यता

अभिनव के अनुसार असंलक्ष्य-क्रम भावादि रस होते हैं, वे संलक्ष्य-क्रम भी हो सकते हैं, किन्तु उस दशा में उन्हें रस नहीं, वस्तु-मात्र कहा जायगा। उनको स्थान भी संलक्ष्य-क्रम ध्वनि के वस्तु-रूप में ही मिलेगा। उनके लिए पृथक् भेद मानने की आवश्यकता नहीं।

#### २- पण्डितराज की मान्यता

पण्डितराज के अनुसार रसादि दोनों प्रकार के होते हैं, असंलक्ष्य-क्रम तथा संलक्ष्य-क्रम। भावात्मक आनन्द का लक्ष्य-क्रम होने पर भी वस्तु-रूप नहीं कहा जा सकता। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि पण्डितराज की ही मान्यता अधिक मार्मिक है।

#### नागेश

अन्य-

यह स्पष्ट है कि विवेचन को यह गरिमा उस उपपत्ति को प्रस्तुत करके नहीं जा सकती जो, जिसे उपस्थित करके नागेश ने अपने अहं का यत्किंचित् उद्घाटन प्रस्तुत किया है। नागेश निम्न उपपत्ति पेश करते हैं:--

" विभागादिप्रतीते रसप्रतीतिश्च विद्यमानस्य सूक्ष्मकालान्तरत्वरूपस्य क्रमस्य सद्-  
दयेनाकले तस्य विगलितवेद्यान्तरत्वनमत्या रसभागापत्तिः। विगलितवेद्यान्तरत्वं च सकल-  
सहृदयानुभवसाक्षिकमिति तदुत्पत्तिर्बोद्ध्या । " १



" रसानुभूति में यदि विभावादि-प्रतीति एवं रस-प्रतीति के बीच की प्रक्रिया के क्रम का बीच बना रहा तो फिर विगलित-वेदान्तरता कहा जाई, और विगलित-वेदान्तरता के अभाव में उसे "रस" भी नहीं कहा जा सकता। अतः जब संलक्ष्य-क्रम रूप में रसादि-प्रतीति होती है तो क्रम लक्ष्य होने के फल-स्वरूप विगलित-वेदान्तरता के अभाव में उस प्रतीति को रस न कह कर "वस्तु" ही कहा जायगा। राहों रस में विगलित-वेदान्तरता की कसौटी का बात, उसे तो पण्डितराज, आप भी इनकार नहीं कर सकते। "नागेश मानो पण्डितराज की अक्षमता की पूर्ति करते हुए कहते हैं, "विगलितवेदान्तरत्वं च सकलसहृदयसाक्षात्कामिति तवापि सम्मतमिति तदुपपत्तिर्बोद्ध्या। "

#### नागेश की उपपत्ति का परिणाम

नागेश ने इस उपपत्ति को दिखा कर एक साथ दो काम किये हैं। एक तो उन्होंने इस धारणा को तर्क-प्राण बना दिया कि अभिनव-संलक्ष्य-क्रम भावादि की ही रस मानते हैं, यदि किसी स्थिति में उन्होंने भावों की संलक्ष्य-क्रमता स्वीकार भी कर ली, तो क्या ? उस स्थिति में तो वे वस्तु-रूप हो जाते हैं। दूसरी ओर उन्होंने पण्डितराज की मान्यता पर यह चोट कर दी, कि जब अभिनव गुप्त के मन्तव्य को उपर्युक्त रूप में आप स्वीकार करते हैं, तथा हम उसे पूर्ण उपपत्ति-पूर्ण भी पाते हैं, तो फिर पण्डितराज की उस मान्यता का कि " रसादि संलक्ष्य-क्रम भी होते हैं " क्या मूल्य ? नागेश ने अभिनव एवं पण्डितराज के बीच पण्डितराज का समर्थन नहीं किया, अभिनव का पक्ष लिया है। पण्डितराज ने उपपत्ति न दे कर अपने को जिस विवाद-शृंखला के बचाया था, उसे नागेश ने उपपत्ति देकर फिर छड़ा कर दिया। पण्डितराज बड़ी शालीनता के साथ एक मत-भेद के रूप में अपने को छड़ा करना चाहते थे, और वह भी यथा-साध्य अभिनव को अपने पक्ष के अनुकूल दिखाते हुए। किन्तु नागेश की उपपत्ति का अर्थ है पण्डितराज तथा अभिनव में सीधी टक्कर। इतना हा नहीं, नागेश नव्यों के नाम से पण्डितराज की मान्यता पर कुछ नये ढंग से साथ भी प्रहार करते हैं।

#### नागेश द्वारा संकेत

नागेश पण्डितराज की इस मान्यता का कि रसादि संलक्ष्य-क्रम भी होते हैं, नव्यों के नाम से निम्न शब्दों में संकेत प्रस्तुत करते हैं :--



" नव्यास्तु- वक्तृवेशिष्टप्रकरणादिज्ञानसहितस्यैव व्यञ्जकत्वात्तत्सहितविभावादि-  
ज्ञानोत्तरं जायमानरसप्रतीतिर्विभावादिज्ञानापेक्षया विद्यमानकृमालक्षणोऽचालक्ष्यक्रमत्वम् ।  
तच्च प्रकरणाद्विज्ञानविलम्बेन विभावादिज्ञानविलम्बेऽपि पूर्वोदाहरणोऽद्यतमेवान हि विभा-  
वादिज्ञानस्य तज्जनकस्य च क्रमोऽपि लक्ष्यक्रमत्वम् । अपितु तज्जन्यस्य । एतदेवाभिप्रेत्य "वर्ध-  
शक्ति-मूलस्य द्वादश भेदाः " इत्यभिनवगुप्तोक्तिर्यथाकथञ्चिन्नेया । न हि विभावादि-  
प्रतीतिरहितयत्किञ्चिद्वाच्या भावप्रतीतिविगलितवेद्यान्तरता सहृदयानामनुभवसिद्धा । " १

पण्डितराज ने प्रकरण की अस्पष्टता के कारण विभावादि सामग्री को अविलम्ब  
उपस्थिति होने पर रसादि की संलक्ष्य-क्रमता मानी है। इस पर नागेश आक्षेप करते हैं,  
प्रकरणादि की अपेक्षा से विभावादि का ज्ञान हो कर ही तो भावोद्बोधन होता है।  
सहृदय की प्रतीति के क्रम में प्रथम धरातल है वाच्यार्थ का, प्रकरणादि के ज्ञान का, द्वितीय  
विभावादि की उपस्थिति का। प्रथम यदि कारण रूप है तो दूसरे को कार्य रूप कह सकते हैं।  
इनके पारस्परिक क्रम की लक्ष्यता तथा विलम्बकी प्रत्युपस्थिति होने से ध्वनि को संलक्ष्य-  
क्रम तो नहीं कहा जा सकता। विभावादि की उपस्थिति एवं रस-प्रतीति के बीच के क्रम  
तथा विलम्बित उपस्थिति के आधार पर क्रम-लक्ष्यता कहा जा सकता है। तो "तल्पितापि  
च सुतनुः " इत्यादि जो उदाहरण पण्डितराज ने संलक्ष्य-क्रम रस का कह कर दिया है, उसमें  
विलम्ब किस की उपस्थिति में होता है ? विभाव की प्रतीति में न । क्रम किस का सङ्घटित  
होता है ? वाच्यार्थ से लेकर प्रकरणादि से होते हुए विभावादि तक का न । अतः विभावा-  
दि की प्रतीति में विलम्ब भले ही हो, किन्तु विभावों के उपस्थित हो जाने पर फिर रस-  
प्रतीति में विलम्ब नहीं होता। अतः यह उदाहरण भी संलक्ष्य-क्रम रस का नहीं, असंलक्ष्य-  
क्रम रस का ही है । यह नागेश के तर्क का वक्तव्य है।

किन्तु नागेश पण्डितराज के दृष्टि-कोण की मार्मिकता नहीं समझ सके। पण्डित-  
राज कहते हैं प्रकरण की स्पष्टता के कारण विभाव सामग्री की प्रत्युपस्थिति अविलम्ब  
ही जाया करती है। और ज्यों ही विभावादि उपस्थित हुए, रस-प्रतीति भी भट से हो  
जाती है। किन्तु जब प्रकरणादि का अस्पष्टता से विभावादि सामग्री शनैः शनैः अविलम्ब  
उपस्थित होती है, तब वहाँ चमत्कृति की गति भी मन्थर होती है।

" यत्र विचारवेद्यं प्रकरणं, उन्नेया वा विभावादयस्तत्र सामग्री-विलम्बाधानं चमत्कृते-  
मार्मिकमिति संलक्ष्य-क्रमोऽप्येषा भवति । " २



यहां पण्डितराज का "मन्थर" शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है। असंलक्ष्य-क्रम रस में विभावा-  
दि की प्रतीति अविलम्ब एवं समग्र रूप से होती है। फल यह होता है कि वहां भावोद्बोध  
भट से हो जाता है। उसमें अनुभूति की प्रवणता होती है, तभी क्रम रहते हुए भी उसमें  
परिवर्धित नहीं होता:--

" रसोभावो हि नाम भ्रगिति जायमानालौकिकचमत्कारविषयस्थायित्वम् । " १

अनुभूति की प्रवणता एवं मन्थरता - चमत्कृति की घनता एवं मन्दता - जो कि सामग्री  
की अविलम्ब सविलम्ब प्रत्युपस्थिति पर बहुत कुछ निर्भर है, असंलक्ष्य-क्रम एवं संलक्ष्य-क्रम  
की निर्णायिका हैं। वैसे कि नागेश समझते हैं, प्रकरणादि द्वारा विलम्ब होने पर भी  
विभावादि सामग्री धीरे धीरे स्पष्ट होती रहती हो, और जब एकत्र हो जाती हो, तब भी  
भट से रसानुभूति हो जाती हो, ऐसा भी नहीं होता। ऐसा मानने पर तो एक प्रकार से  
संलक्ष्य-क्रम ध्वनि का प्रस्ताव ही समाप्त हो जायेगा। ध्वन्यमान वस्तु हो या अलंकार, भाव  
ही या रस, सामग्री की मन्थर उपस्थिति उसकी चमत्कृति की गति की मन्थर करती हो है।  
और मन्थर गति में गति के पद-क्रम लक्षित होना ही स्वाभाविक हैं। अतः पण्डितराज की  
मान्यता तर्क-संगत ही नहीं, अनुभूति-संगत भी है। रसो अभिनव एवं पण्डितराज की मान्यता  
में अन्तर की बात, वह नगण्य है। अभिनव की दृष्टि से इस अवस्था के भावात्मक सौन्दर्य की  
वस्तु कहा जा सकता है, पण्डितराज की दृष्टि से वह भी "रस" ही कहा जायेगा। भावात्मक  
अनुभूति के स्वतन्त्र क्षेत्र की व्यापकता का ध्यान रहते हुए हम पण्डितराज के साथ हैं।

### एक और आक्षेप

यहां पण्डित मदन मोहन माल ने एक शंका प्रस्तुत की है :--

" पण्डितराज के हिसाब से ज रसादि-ध्वनि संलक्ष्य-क्रम तथा असंलक्ष्य-क्रम दोनों हैं,  
तब "अशक्ति-मूलक ध्वनि के अठारह भेद हो जायेंगे। फिर बारह ही कैसे कहे ।" यह जो  
आपत्ति उन्होंने स्वयं पर-मत में दी है, वह अपने मत में क्यों नहीं लोगी ? वे भी तो अर्ध-  
शक्ति-मूलक ध्वनि के अठारह भेद मानते हैं। उनको तो अपने सिद्धान्त के अनुसार संलक्ष्य-  
क्रम -वर्ण्य रसादि की लेकर चार भेद और मानने चाहिए । " २

१- रसगंगाधर : पृष्ठ १०७ ।

२- रसगंगाधर : चौलुभा : हिन्दी टोकाकार - मदन मोहन माल : पृष्ठ ३६८ ।



## समाधान - एवं समीक्षा

शेद के साथ कहना पड़ता है कि पण्डित भट्ट ने पण्डितराज की मूल-दृष्टि को नहीं पहिचाना। अर्थात् शक्ति-मूलक ध्वनि के जो आठ भेद उन्होंने किये हैं, वे पण्डितराज के अपने नहीं हैं। वे स्वयं ध्वनिकार एवं आनन्दवर्धन के हैं। पण्डितराज तो उन भेदों का पश्चिमावर्ति उद्घरणशी मात्र कर रहे हैं। वे इन भेदों में अभिनव गुप्त एवं मम्मट को अपेक्षा मूल-चेतनाकार आनन्दवर्धन के साथ रहे हैं। किन्तु यह तो दूसरी बात हुई। उन्होंने अर्थात् शक्ति-मूलक संलक्ष्य-क्रम ध्वनि के ८ भेदों का जो परिचय दिया है, वह ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन के अनुरूप। कविनिबद्ध-वस्तुप्रतीति-सिद्ध भेद को पृथक् अस्वाकृति अभिनव के मौलिक-ध्वनिकार की मूल चेतना सेभिन्न - मान्यता का उपेक्षा है। और रसादि को संलक्ष्य-क्रम मानना अंशतः

मौलिक है, अंशतः आनन्द-वर्धन एवं अभिनव की प्रेरणा पर। भावात्मक आनन्द को संलक्ष्य-क्रम क्षेत्र में भी स्वतन्त्र स्थान देना पूर्णतः मौलिक है। यदि भट्ट साहब को आग्रह है, तो वे संलक्ष्य-क्रम के भेदों में एक भेद संलक्ष्य-क्रम रसादि का जोर न डाल सकते हैं, अधिक नहीं। यह तथ्य नहीं भुलाना चाहिए कि पण्डितराज ने ध्वनि के विषय में भेदोक्ति का अति-वादिना प्रवृत्ति को बहुत ही निरुत्साहित किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पण्डितराज ने ध्वनिवाद के अन्तर्गत रह कर ही, ध्वनिवादी आचार्यों से ही प्रेरणा लेकर, उन्हें ही आवश्यकतानुसार प्रमाण-पक्ष में रख कर, रसादि को संलक्ष्य-क्रमता को स्वीकार कर के, एक मौलिक दृष्टि-कोण का सृष्टि की है। इससे ध्वनि-वाद का विरोध नहीं हुआ, ध्वनि-वाद और भी निखरा है।

## रसवदलंकार

### ४. मान्यताएँ

रसवदलंकार के विषय में संस्कृत साहित्य-शास्त्र में कई मान्यताएँ बिखरी मिलती हैं, जिनमें निम्न ४ प्रमुख हैं :-

### १- अलंकार-वादिनों का ध्वनि-पूर्वा मान्यता

इस के अनुसार काव्य में जहाँ भी रस-विधान है, वहीं सामान्यतः रसवदलंकार होता है।

" रसवद् दर्शितस्पर्ष्टशृंगारादिरसोदयम् । " १

इस वर्ग में भामह, उद्भट आदि आचार्य आते हैं, जिनमें परस्पर अतिवृत्ति भिन्नता



होते हुए भी मूल-दृष्टि वस्तु-परक है। तथा, जैसा कि कुन्तल ने कहा है, इस में अलंकार तथा अलंकार्य का भेद नहीं है।<sup>१</sup>

२- आनन्दवर्धन द्वारा उल्लिखित ध्वनि-पूर्वापि मान्यता

इस के अनुसार चेतन वस्तु के वर्णन में भावात्मक सौन्दर्य का विधान होने पर रसवद-लंकार होता है। अचेतन वस्तु में भाव-विधान होने पर उपमादि अलंकार होते हैं।

इस मान्यता का उल्लेख स्वयं आनन्दवर्धन ने पूर्व-पक्षा के रूप में ही किया है। उसका निराकरण करते हुए वे कहते हैं, ऐसा मानने पर तो उपमादि अलंकारों का विषय-क्षेत्र ही समाप्त हो जायगा। कारण, अन्ततोगत्वा समस्त अचेतन पदार्थ चेतन-भावना से आरौपित हो कर विभावादि रूप में ही परिणत होते हैं, तब फिर सर्वत्र रसवदलंकार ही कहा जाने लगेगा।<sup>२</sup>

३- कुन्तल की ध्वनि-परवर्तिता मान्यता

इस के अनुसार जो भी अलंकार रसात्मक सौन्दर्य के समान आह्लादक होता है, उसे ही रसवत् कहते हैं। इस अलंकार में भावात्मक सौन्दर्य का योग होने के कारण कुन्तल इसे "परम रमणीय" कहते हैं। यह भी रस के समान ही काव्य को सरस बना देता है। इसी कारण कुन्तल इसकी रस-तुल्यता को ध्यान में रख कर इसे "रसवद्" कहते हैं। कुन्तल ने पाणिनि के "तेन तुल्यं जिघां चैद्वति" के आधार पर तुल्यार्थक वत् प्रत्यय मान कर रसवत् की व्याख्या की है।<sup>३</sup>

१- "अलंकारी न रसवत् परस्याप्रतिभासनात्।

स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासंगतिरपि ॥"

कुन्तल : वक्रोक्तिर्जीवितम् : ३।११ ।

२- "यदि तु चेतनानां वाक्यार्थभावो रसावलंकारस्य विषयः इत्युच्यते, तर्ह्युपमादीनां प्रविरलविषयता निर्विषयता वाऽभिहिता स्यात्। यस्मादचेतनवस्तुवृत्ते वाक्यार्थभूते पुनरचेतनवस्तुवृत्तान्त्योजनया यथाकथंचिद्भवितव्यम्।" ध्वन्यालोक : पृष्ठ १५८-२०० ।

३- "यथा स रसवान्नाम सर्वालंकारजीवितम्।

काव्येकसारतां यातितयेदानां विवेच्यते ॥१४ कुन्तल : वक्रोक्तिर्जीवितम् : उन्मेष ३

रसेन वर्तते तुल्यं रसवत्त्वविधानतः।

योऽलंकारः स रसवत् तद्विदाह्लादनिमित्तः ॥१५

"योऽलंकारः स रसवत्" इत्यन्वयः। यः किल एवंस्वरूपो रूपकादिः, रसवदभिधायते। किं स्वभावेन ? "रसेन वर्तते तुल्यम्" रसेन शृंगारादिना तुल्यं वर्तते, यथा ब्राह्मणावत् क्षत्रियस्तथैव सः। - - - यथा रसः काव्यस्य रसवत्तां तद्विदाह्लादं च विदधाति एवमुपमादिरप्युभा निष्पादयन् भिन्नो रसवदलंकारः सम्पद्यते। "

कुन्तल : वक्रोक्तिर्जीवितम् : पृष्ठ १८४, १८५। उन्मेष ३।१४५ कीवृति



वस्तुतः यह कुन्तल द्वारा रसवत् का कोई लक्षण या निरूपण नहीं हुआ, एक भिन्न दृष्टि-कोण से व्याख्या-मात्र प्रस्तुत की गयी है जिसकी संगति का भी कोई प्रश्न नहीं उठता ।

#### ४- ध्वनि-वादी आनन्दवर्धन की मान्यता

इसके अनुसार जहाँ रसादि प्रधान रूप में आते हैं, रस-ध्वनि होती है। किन्तु अन्य किसी वस्तु, अलंकार अ वा वाच्य के प्रधान होने पर, यदि रसादि उनके गौण हों, तो वे गुणाभूत रसादि ही "रसवदलंकार" कहे जाते हैं।

" प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राद्भुगं तु रसादयः ।

काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः ॥ " १

रसवदलंकार का उदाहरण आनन्दवर्धन के अनुसार निम्न है:—

" क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोऽशुकान्तम्,

गृह्णान् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नैक्षितः संप्रमेण ।

आलिंगन्योवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः सायुनेत्रोत्पलाभिः

कामोवाद्रापराधः स दत्तु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥ " २

यहाँ वाक्यार्थभूत रूप में त्रिपुर-रिपु शिव का महत्त्व वर्णित है, जिसमें श्लेष्ण-सहित ईर्ष्या-विप्रलम्भ अंग बना हुआ है।<sup>३</sup> अतः यहाँ रसवदलंकार है।

ध्वनि-वादी मान्यता में कुछ प्रश्न

ध्वनि-परम्परा के आचार्यों में आनन्दवर्धन की यही मान्यता परावर चली आ रही है। फिर भी इसके सम्बन्ध में कई विकल्पों तथा प्रश्नों का जन्म हुआ है।

#### रसवद् एवं गुणाभूत व्यांग्य का अन्तर

एक प्रश्न यह है कि आनन्दवर्धन ने रसवदलंकार भी माना है तथा गुणाभूत व्यांग्य भी। तब दोनों का परस्पर विभाजक रेखा क्या है ? फिर, रस से उनका क्या भेद है ? आनन्दवर्धन का विवेचन इस प्रकार है :—

१- ध्वन्यालोक : उक्तौ २ : कारिका ५ ।

२- ध्वन्यालोक : पृष्ठ १९५ । हरिदास ग्रन्थमाला ।

३- " इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रमावातिशयस्य वाक्यार्थत्वे ईर्ष्याविप्रलम्भस्य श्लेष्णसहितस्यांगभावः इति । एवंविध एव रसवदालङ्कारस्य व्यांग्यो विषयः । "

वही : पृष्ठ १९६ ।



" व्यंग्योऽर्थो ललनालावण्यप्रस्यो यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तम्। तस्य गुणीभावेन वाच्यचारुत्वप्रकर्षे गुणीभूतव्यंग्यो नाम काव्यप्रभेदः प्रकल्प्यते। तत्र वस्तुमात्रस्य व्यंग्यस्य तिरस्कृतवाच्येभ्यः प्रतीयमानस्य कदाचिद्वाच्यरूपवाक्यापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यंग्यता - - - - -। अतिरिक्तवाच्येभ्योपि शब्देभ्यः प्रतीयमानस्य व्यंग्यस्य कदाचिद्वाच्यप्राधान्येन काव्यचारुत्वापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यंग्यता। - - - - -। गुणीभूतव्यंग्यालंकारस्य निम्नमे गुणीभावे दापकादिविषयः । " १

इस विवेचन के आधार पर रस, रसवदलंकार, तथा गुणीभूत व्यंग्य का परस्पर भेद निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है:--

- १- रस- जहाँ रत्नादि प्रधान रूप से व्यंग्य हों।
- २- रसवदलंकार- जहाँ रत्नादि गुणीभूत हों।
- ३- गुणीभूत-व्यंग्य- जहाँ वस्तु एवं अलंकारात्मिक व्यंग्य गुणीभूत हों। इनमें दापक आदि अलंकार भी सम्मिलित हैं।

" रसादिरूपव्यंग्यस्य गुणीभावो रसवदलंकारे दर्शितः। तत्र च तेषामधिकारिक-वाक्यापेक्षया गुणीभावो विवहृतप्रवृत्तभूत्यानुपाधिराजवत्। व्यंग्यालंकारस्य गुणीभावे दापकादिविषयः । " २

इस प्रकार आनन्द वर्धन के अनुसार रसादि के गुणीभूत होने पर "रसवदलंकार" ही तारीफ़ मम्मट

किन्तु मम्मट ने गुणीभूत रसादि को रसवदलंकार न कह कर गुणीभूत व्यंग्य ही कहा है:--

" व्यंग्यस्य रसादेर्वाच्यस्य वा - वाक्यार्थभूतस्य - अङ्गं रसादि अनुरण-रूपं वा।<sup>३</sup>  
यद्यपि मम्मट ने इन रसवदादि अलंकारों का परिचय कराया है, तथापि वे उन्हें अलंकार रूप नहीं मानते। बस, वे उन्हें परिचय के लिये प्रस्तुत करते हैं:--

" एते च रसवदाद्यलंकाराः। त्वयि भावोदयभावसन्धिभावशब्दत्वानि नालंकारतया उक्तानि, तथापि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम्। " ४

१- ध्वन्यालोक : उद्योत ३ : पृष्ठ ४५९, ४६०-१, ४६२ ।

२- ध्वन्यालोक : उद्योत ३ : पृष्ठ ४६२ ।

३- काव्य-प्रकाश : पृष्ठ १९४ ।

४- काव्य-प्रकाश : पृष्ठ २०१ ।



मम्मट द्वारा रसवददादि को अलंकार रूप न मानने का प्रमुख कारण है उनका अलंकार-सम्बन्धी दृष्टि-कोण । उनका अलंकार लक्षण इस प्रकार है:--

" उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।

हारादिवक्त्रलंकारास्तेनृप्रासीपमादयः ॥ " १

मम्मट के अनुसार अलंकार वे ही कहे जा सकते हैं जो किसी अंग-भूत शब्द अथवा अर्थ को उपस्कृत करते हुए काव्य के अंग-भूत रस या अङ्ग को उपकृत करते हैं। यह लक्षण रसवद् अलंकारों पर घटित नहीं होता। गुणाभूत रत्यादि किसी वाच्य या वाचक को उपस्कृत करते हुए किसी अन्य रसादि को अलंकृत नहीं करते। यह कारण है कि मम्मट रसवदादि को अलंकार जैसा नाम देने के लिए तैयार नहीं हैं।

किन्तु इस बात का दूसरा पक्ष भी है। मम्मट के अलंकार लक्षण में अलंकार की दो समीप्यें हैं। एक- किसी अन्य अलंकार को अलंकृत या उपस्कृत करना। दूसरे- शब्द अथवा अर्थ रूप अंगों के माध्यम से उपस्कारक होना। परन्तु अभिनवगुप्त ने "अङ्गद्वारेण" उपस्कारकता को समीप या शर्त उपमादि वाच्यालंकारों के लिए ही रखा है, न कि रसवदलंकारों के लिए भाविते कहते हैं :-

" चन्द्रादिना वस्तुना तथा वस्त्वन्तरं वदनावलंक्रियते , तदुपमितत्वेन चारुतयावसानात् । तथा रसेनापि वस्तु वा रसान्तरं वोपस्कृतं सुन्दरं भातोति रसस्यापि वस्तुन स्वालंकारत्वे को विरोधः । " २

रसादि दूसरे रस या वस्तु को उसी प्रकार अलंकृत करते हैं, जैसे उपमादि में चन्द्र आदि के मुख आदि को अलंकृत करते हैं। आप पूछ सकते हैं - रसवदलंकार में रस गुणा करता है ? तो हम जानते हैं, उपमा को जो अलंकार कहा जाता है, वहाँ उपमा क्या करता है ? आप कहेंगे, वह प्रस्तुत अर्थ के सदृश पदार्थ लाकर उसके सौन्दर्य एवं प्रभाव को हृदयंगम कराने में सहायता करता है। तो इस, यहाँ उत्तर यहाँ भी समझिए। रस भी गौण रह कर प्रस्तुत अथवा प्रधानाभूत अर्थ को सरस बना देता है। उसके संस्पर्श से वह वाच्यार्थ-भूत अर्थ हृदयस्पर्शी हो उठता है।

" ननु रसेन किं कुर्वता प्रवृत्तोऽर्थो लंक्रियते ? तर्हि उपमायापि किं कुर्वत्यालंक्रियते ? ननु तयोपमापते, प्रस्तुतोऽर्थः । रसेनापि तर्हि सरसोऽक्रियते सौम्य इति स्वसक्तिमेतत् । " ३



इस प्रकार अभिनव ने परोपस्कृति मात्र को अलंकारत्व का लक्षणमान कर गुणीभूत रसादि में रसवदलंकारता स्वीकार करते हुए आनन्दवर्धन का ही पक्ष लिया है। किन्तु मम्मट ने उपर्युक्त कारण से उसे स्वीकार नहीं किया है। वे अलंकारत्व में केवल परोपस्कृति ही नहीं अङ्गद्वारेण उपस्कृति भी चाहते हैं।

दूसरा प्रश्न-चिह्न रसालंकार नाम में रस शब्द के प्रयोग पर है। जिस प्रकार उसमें अलंकार शब्द का प्रयोग मम्मटादि के अनुसार कुछ हलका एवं औपचारिक है, उसी प्रकार उसमें रसशब्द के प्रयोग पर भी आपत्ति उठ सकती है। रस होता है प्राधान्येन ध्वन्यमान रति आदि स्थायी भाव, जिसमें पूर्ण घनानन्दमयता होती है। किन्तु गुण-रूप में रहने वाले व्यंजित भाव में तो यह विशेषता इस कोटि में स्वीकार नहीं की जा सकती। तब फिर उसे "रसालंकार" क्यों कहा जाय ? उस के साथ रस शब्द भी क्यों जोड़ा जाय ?

इसका भी समाधान पक्ष हो सकता है। "अलंकार-ध्वनि" में जिस प्रकार अलंकार-शब्द का प्रयोग "ब्राह्मण श्रमण" न्याय से होता है, यद्यपि इस स्थिति में ध्वन्यमान अर्थ में परालंकारता नहीं होती, तथापि उसे अलंकार-ध्वनि नाम दिया जातका है - उसी प्रकार "रसालंकार" या "रसवदलंकार" नाम में "रस" शब्द का प्रयोग औपचारिक कहा जा सकता है। और इस दशा में "रस" शब्द का अर्थ "रति" आदि भाव ही समझना चाहिए।

एक और समाधान हो सकता है। हम जो प्राधान्येन ध्वन्यमान रस को "रस-ध्वनि" कहते हैं, उसके दो आधार तत्व हैं। एक- ध्वनन या अभिव्यंजन का, यह रस कहे जाने का प्रमुख आधार है। दूसरा- ध्वनन की प्राधान्येन स्थिति का, जिसके आधार पर उसके साथ "ध्वनि" शब्द का प्रयोग कर के उसे "रस-ध्वनि" कहा जाता है। तो गुणीभूत-व्यंग्य रसों में, जिन्हें "रसवद्" कहा जा रहा है, ध्वनन या अभिव्यंजन का तत्व तो है ही, जिसके आधार पर हम उसे भी "रस" कह सकते हैं। रहा अप्रधान स्थिति की बात। सो उसे हम ध्वनि कह ही कब रहे हैं।

पण्डितराज

पण्डितराज ने बड़े ही संक्षेप के साथ इन विवादों एवं विकल्पों को सूचना दी है।

"एषां प्राधान्ये ध्वनिव्यपदेशाद्देतुत्वम्, गुणीभावे तु रसालंकारत्वम् ! केचित्तु "प्राधान्य एवैषां रसत्वमन्यथाऽलंकारत्वमेव। रसालंकारव्यपदेशास्त्वलंकारध्वनिव्यपदेशवत्। ब्राह्मण-श्रमणन्यायात्। " ?

"एवमेषां रसादीनां प्राधान्येन एवैषां रसादित्वम्, अन्यथा तु रत्नादित्वमेव। नामनि



रसपदं तु रत्यादिपरमित्येके। अस्त्येव रसादित्वं, किन्तु न ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वमित्येके। " १

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि पण्डितराज ने रसवलंकार के विषय में भी ध्वनिवादो मान्यता को ही अपनाया है। तथा इसके विषय में वे मम्मट के अनुयायी नहीं, आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त के अनुयायी हैं। इतना ही नहीं, वे मम्मट की अरुचि का कौ प्रकार के स-तर्क व्याख्यानों द्वारा समाधान होने की संभावना भी प्रस्तुत करते हैं।

किन्तु पण्डितराज की निजी मान्यता के कारण इस संबन्ध में एक नवीन विवाद और उठ सकता है। उन्होंने रस को असंलक्ष-क्रम ही नहीं, संलक्ष-क्रम भी माना है। तब प्रश्न यह उठता है कि जब रत्यादि असंलक्ष-क्रम होकर गुणीभूत होगी, आनन्दवर्धन के अनुसार रसवद् अलंकार तथा मम्मट के अनुसार अपरांग नामक गुणीभूत व्यंग्य कहे जायेंगे, किन्तु जब वे संलक्ष-क्रम होते हुए भी गुणीभूत होंगे, तब उन्हें किस वर्ग में रखा जायेगा तथा उन्हें क्या नाम दिया जायेगा ?

इस संबन्ध में दो प्रकार के उत्तर होना स्वाभाविक है। एक- प्राचीन आचार्यों की दृष्टि से संलक्ष-क्रम रसादि को "वस्तु-रूप" मान कर। दूसरा- पण्डितराज की दृष्टि से उन्हें "रसादि" ही कह कर। प्राचीन आचार्यों की दृष्टि से गुणीभूत संलक्ष-क्रम रत्यादि को "गुणीभूत-व्यंग्य" ही कहा जायेगा, क्योंकि वे लोग व्यंग्य वस्तु के गुणीभूत होने पर उसे "गुणीभूत-व्यंग्य" ही कहते हैं। और संलक्ष-क्रम रसादि को व्यंग्य वस्तु के ही वर्ग में उनकी दृष्टि से अन्तर्भूत किया हो गया है। प्राचीनों की सिद्धान्त-पक्षीय मान्यताएँ प्रस्तुत करते हुए पण्डितराज ने गुणीभूत संलक्ष-क्रम की गुणीभूत-व्यंग्यता का उल्लेख किया भी है :--

" एषां रसानां प्राधान्ये ध्वनिव्यपदेशहेतुत्वम्। गुणीभावे रालंकारत्वम्। - -  
- - - - । एवमसंलक्ष-क्रमतायामेव । - - - - । संलक्ष-क्रमतन्ना। अन्यथा तु वस्तुमात्रम्। " २

अपनी दृष्टि से संलक्ष-क्रम रत्यादि को "रस" ही मान कर उनको गुणीभूत स्थिति में उन्हें क्या कहेंगे, इसका उल्लेख पण्डितराज ने नहीं किया। इसका कारण यह नहीं कि उन्होंने अपनी मान्यता को अ-समंजस अथवा अर्ध-समंजस छोड़ दिया है। प्रथम

१- रसगंगाधर : पृष्ठ १०९ ।

२- रसगंगाधर : पृष्ठ ४५ ।



ज्ञान में दिये हुए उपसंहारात्मक वाक्यों से यह पता चलता है, कि पण्डितराज गुणीभूत-व्याख्याओं का विवेचन, उनके उदाहरण, तथा उनके नाम आदि के प्रश्नों पर पुनः विचार करना चाहते थे। किन्तु वह विवेचन उपलब्ध अपूर्ण रसगांधर में नहीं आता। तो पण्डितराज अपना इच्छा पूर्ण हो नहीं कर सके अथवा वे अंश आज लुप्त हो गये हैं। जो भी हो, यह निस्सन्देह है कि पण्डितराज इस समस्या का स विवेचन उसमें अवश्य करते।

पण्डितराज की दृष्टि से संलक्ष-क्रम रसादि के गुणीभूत होने पर भी उन्हें रसवदलंकार हो कहा जायेगा। वे वस्तु-रूप तो होंगे नहीं। कारण, वे साक्षात् भावात्मक सौन्दर्य के किसी स्वरूप की रस-ध्वनि के वर्ग से भिन्न नहीं रहते। अर्थात् भावात्मक सौन्दर्य को बुद्धि-प्रधान अथवा कल्पना-प्रधान आह्लादों के वर्ग में सम्मिलित नहीं करते। फिर रसवदलंकारता प्रधान तथा गीष्ठा स्थिति के आधार पर निर्णय की जा रही है, न कि क्रम की लक्ष्यता अथवा अलक्ष्यता के आधार पर। जब संलक्ष-क्रम हो जाने पर भी उनके लिए रस से भिन्न किसी वर्ग या नाम का आवश्यकता नहीं पड़ी तो गुणीभूत हो जाने पर भी वे अपने सजातीय असंलक्ष-क्रम को गुणीभूत कोटि से भिन्न किसी कोटि में कैसे रखे जा सकते हैं।

"रसवदलंकार" के उपर्युक्त विवेचन से कुछ निष्कर्ष हमें सामने आते हैं :--

- १- पण्डितराज ने रसवदलंकार के विषय में भा ध्वनि-वाद का परम्परा का ही अनुगमन किया है।
- २- इस विषय में वे मम्मट की अपेक्षा आनन्दवर्धन की मूल मान्यता को ही अपनाते हैं।
- ३- ध्वनि-वाद का केवल स्वाकृति ही नहीं है, इस विषय में उन्होंने विभिन्न विकल्पों के रूप में इस विषय से सम्बद्ध कई पक्षों का और पाठक का ध्यान आकृष्ट किया है।
- ४- ध्वनिवाद का केवल उलथा ही नहीं हुआ, नाना-पक्षीय दृष्टि-यात से विवेचन में एक अपनी नवनिता आ गयी है।

निष्कर्ष

ध्वनि-सम्प्रदाय के साथ पण्डितराज का सम्बन्ध निरूपित करने के लिए हमने कुछ मध्यम कोटि के विषय चुने थे। प्रथम कोटि के प्रमुख विषयों के ऊपर हम विभिन्न अध्यायों में विचार कर चुके हैं। इस समस्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि पण्डितराज मूलतः एक ध्वनि-वादी आचार्य हैं। किन्तु उन्होंने सम्प्रदाय को रूढ़ अर्थों में जाल बन्द कर के नहीं अपनाया। फल यह हुआ है कि ध्वनिवाद उनके तार्थों और व्यवस्थित, और परिमार्जित, एवं और सूक्ष्म हो उठा है। ध्वनिवाद की वास्तविक वैज्ञानिक प्रतिष्ठा उनके द्वारा हुई है।



### रस-सम्प्रदाय एवं पण्डितराज

ऐतिहासिक दृष्टि से रस-सम्प्रदाय ध्वनि-सम्प्रदाय से प्राचीन है। किन्तु ध्वनि की उद्भावना के साथ "रस-सिद्धान्त" "ध्वनि" का अंग-भूत हो नहीं, प्राण-भूत सिद्धान्त बन जाता है। मम्मटोत्तर काल में यद्यपि कुछ आचार्यों ने ध्वनि से रस की स्वतन्त्रता की घोषणा की थी, जिनमें विश्वनाथ का स्वर सबसे ऊँचा था। किन्तु यह घोषणा भी ध्वनि-निरपेक्ष नहीं थी। कुछ और आगे बढ़ कर, हिन्दी रीति-काल में, जबकि संस्कृत काव्य-शास्त्र का उथली उद्घरणा प्रारम्भ हुई, ध्वनि-रस- तथा अलंकार तीनों सम्प्रदायों का प्रचार रहा। किन्तु वास्तविक रूप में कोई नूतन उद्भावना इस युग में नहीं हो सकी। व्यावहारिक रूप में रस की आत्मा को नहीं, उसके कंकाल को टटोला गया। कालिक परिस्थितियों ने रस-वाद को शृंगार के क्षेत्र में सीमित कर दिया, और रस-वादी विवेचन नायक-नायिका भेद का पार्यि जैसा रह गया। संस्कृत साहित्य-शास्त्र में भी अनेक छोटे-मोटे बिखरे प्रकरण ग्रन्थ इस विषय पर लिखे गये। वस्तुतः यदि हम राजशेखर के रूपक की ओर ध्यान दें, तो ये काव्य-पुरुषा के बलोदर के दिन थे, जब कि उसका एक अंग ही विशेष बढ़ रहा था। ऐसे समय में पण्डितराज ने प्राचीन काव्य-शास्त्र की परम्परा का मार्मिक विवेचन प्रस्तुत कर के एक महत्व-पूर्ण कार्य किया।

पण्डितराज ने रस के प्रति ध्वनि-वादी दृष्टि ही अपनाई है। जहाँ तक काव्य में रस के महत्व का प्रश्न है, पण्डितराज उसे "परमरमणीय" तत्त्व घोषित करते हैं, किन्तु वे इस दृष्टि-कोण में अभिनव की अपेक्षा आनन्दवर्धन के अधिक समीप हैं। अभिनवगुप्त ध्वनि-वाद की स्वीकार करते हुए भी, रस की ही काव्य की आत्मा मानते थे। समास्त ध्वनियों में पारमार्थिकता रस की ही चरम परिणति उन्हें दृष्ट थी। अतः उन पर अपेक्षाकृत रस-वाद का गहरा प्रभाव था। वस्तु-ध्वनियों एवं अलंकार-ध्वनियों में भी पार्श्वान्तिक रूप में अनुभूति-तत्त्व का आधार उन्हें रस ही मान्य है :-

"उपमादानामलङ्कारत्वे यादृशां वार्ता तादृश्येव रसादीनाम्। तदवश्यमेवान्येनालं-  
कार्येण भवितव्यम्। तच्च यद्यपि वस्तुभात्रमपि भवति, तथापि तस्य पुनरपि विभावादिरूपता-  
पर्यवसानाद्रसादितात्पर्यमिवेति सर्वत्र रसध्वनेरेवात्मभावः । " १



" वस्त्वलंकारध्वनौ रसपर्यन्तत्वमेवेति वाच्यमेव वक्ष्यामस्तत्र तत्रेत्यास्तां तावत् । " १

" - - - - रसः, स काव्यव्यापारकगोचरो रस-ध्वनिरिति, स च ध्वनिरेवेति,

स एव मुख्यतया आत्मेति । " २

" तेन रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनौ तु सर्वथा रसं पर्यवस्येते इति वाच्या-  
दुत्कृष्टो तावित्यभिप्रायेण " ध्वनिः काव्यस्यात्मेति " सामान्येनोक्तम् । " ३

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि ध्वनि-कोर की मान्यता को भी अभिनवगुप्त किस प्रकार मोड़ कर अपनी ओर लगाना चाहते हैं। वे गुणाभूत व्यंग्य के स्थलों में भी काव्य का प्राण-भूत तत्त्व रस को ही कहते हैं, तथा वहाँ भी पारमार्थिक प्रतीति रसात्मक हो स्वीकार करते हैं। आनन्दवर्धन के " व्यंग्य-प्राधान्ये ध्वनिः " पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं :--

" प्राधान्यं यद्यपि अप्तो न चकास्ति, "बुद्धौ तत्त्वावभासिन्यां" इति नयेनाखण्ड-  
चर्वणाविधान्तेः, तथापि विवेचकैः जीवितान्वेषणो क्रियमाणो यदा व्यंग्यार्थः पुनरपि  
वाच्यमेवानुप्राणयन्नास्ते, तदा तदुपकरणत्वादेव तस्यालंकारता। ततो वाच्यादेव तदुपस्कृता-  
चमत्कारलाभ इति। यद्यपि पर्यन्ते रसध्वनिरस्ति, तथापि मध्यकक्षानिविष्टोऽसौ व्यंग्यार्थो न  
रसोन्मुखो भवति, स्वातन्त्र्येणापि तु वाच्यमेवामुमर्थं संस्कर्तुं यावति-इति गुणाभूतव्यंग्यता। " ४

इन उद्धरणों से यह तथ्य भली भाँति स्पष्ट है कि अभिनव किस प्रकार सोच कर रस-मात्र को काव्यात्मा सिद्ध करते हैं। चमत्कार का आधार तो व्यंग्य है-"ततो वाच्या-  
देव तदुपस्कृतात्-व्यंग्योपस्कृतात्-चमत्कारलाभः", फिर भी वहाँ "पर्यन्ते रस-ध्वनिः" की बात कह ही देते हैं। यद्यपि वे इसके साथ ही यह भी स्वीकार कर लेते हैं कि यह मध्य कक्षा-  
निविष्ट गुणाभूत व्यंग्य रसोन्मुख नहीं होता, केवल वाच्योपस्कारक ही होता है।

किन्तु आनन्दवर्धन ने रस-ध्वनि के साथ वस्तु-ध्वनि तथा अलंकार-ध्वनि को अपेक्षाकृत निरपेक्ष दृष्टि से देखा है। उन्होंने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में "रस-ध्वनि" को ध्वनि का एक प्रकार कहा है, तथा अभिनव स्वर के समान दृष्टि-कोण अपना कर वस्तु एवं अलंकार-ध्वनि को रस-ध्वनि में ही पर्यवसित नहीं किया। वे स्पष्ट करते हैं :--

" स-ध्वनिरूपो- र्यर्थो वाच्यसामर्थ्यादिप्लतं वस्तुमात्रमलंकाररसादिश्चेत्यनेकप्रभेद-

भिन्नादर्शयिष्यते । " ५

१- लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ ५२ ।

२- लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ ५१-५२ ।

३- लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ ८५ ।

४- लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ १०९ ।

५- ध्वन्यालोक : पृष्ठ २० ।



" तस्माच्च रसादयो वाक्यार्थभूताः स सर्वः न रसादेरलंकारस्य विषयः, स ध्वनेः प्रभेदः । " १

प्रश्न उठता है, आनन्दवर्धन भी तो यत्र तत्र रस को ध्वनि का आत्मा कहते हैं,<sup>२</sup> जैसे निम्न स्थल में उन्होंने रस को ध्वनि के आत्म-रूप में कहा है :--

" तस्मादहङ्गत्वेन च रसादीनामलंकारताम्रः पुनरंगो रसो भावो वा सर्वाकार-मलंकारः, स ध्वनेरात्मेति । " ३

ऐसे स्थलों को ध्यान से देखने पर पता चलता है कि "आत्मा" शब्द का प्रयोग "प्रकार" के अर्थ में किया गया है। आनन्दवर्धन के आत्मा शब्द को प्रकार के पर्याय में तो स्वयं अभिनवगुप्त भी स्वीकार करते हैं :-

" आत्म-शब्दः स्वभाववचनः प्रकारमाह" । ४

अतः आनन्दवर्धन के आत्म-शब्द के प्रयोग के ही आधार पर कुछ निर्णयात्मक बात कहना भूल होगी। वस्तुतः आनन्दवर्धन रस, वस्तु एवं अलंकार तीनों प्रकार की ध्वनिओं को समकक्षी रखते हैं। हाँ, वे रस-ध्वनि की प्रभविष्णुता की सर्वाधिक अवश्य स्वीकृत करते हैं। वे प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर के चले हैं कि हम जहाँ भी रस-भावादि की पकड़ कर चले हैं, वह उपलक्षण पद्धति पर है। इससे प्रतीयमान के अन्य भेदों - वस्तु एवं अलंकार - का तिरस्कार नहीं समझना चाहिए। केवल रसादि-ध्वनि की प्रधानता ही समझनी चाहिए :

" प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनिपि रसभावमुखेनोपलक्षणं प्राधान्यात् । " ५

हम देखते हैं कि पण्डितराज ने भी रस के प्रति आनन्दवर्धन की यही मूल दृष्टि अपनायी है। इस विषय में वे अभिनव की अपेक्षा आनन्दवर्धन के साथ हैं। इस के फल-स्वरूप उनकी दृष्टि भी आनन्दवर्धन के समान हो जापक रही है। पण्डितराज में काव्य के भावात्मक आनन्द के साथ बोद्धिक एवं कल्पनात्मक आनन्द की स्वीकृति अभिनव से अधिक स्पष्ट है।

१- ध्वन्यालोक : पृष्ठ १९८ ।

२- ध्वन्यालोक : पृष्ठ १७४ । २।२ ।

३- ध्वन्यालोक : पृष्ठ २४ ।

क- असंलक्ष्यद्रमोद्योतः क्रमेण व्योतितः परः ।

४- लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ १७४ ।

विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः ।।

५- ध्वन्यालोक : पृष्ठ ८९-९० ।

ख- मुख्यतया प्रकाशमानो व्यङ्ग्यो वा ध्वनेरात्मा ।



ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा से पूर्व रस के प्रश्न का स्वरूप चाहे कुछ भी रहा हो, किन्तु इस सिद्धान्त के व्यवस्थित रूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर रस एवं ध्वनि की बात एकाकार हो उठती है। जो कुछ भी अन्तर रहता है वह प्राधान्याप्राधान्य का, अथवा सीधे शब्दां में यों कहिए, केवल एक प्रश्न ऐसा रहता है जिस पर समझौता नहीं होता। वह प्रश्न है, काव्य की आत्मा का। काव्य की आत्मा रस की कहा जाय अथवा ध्वनि की, यही प्रश्न परवर्ती युग के आचार्यों को रसवादी या ध्वनिवादी बनाता है। हम पण्डितराज की रस-चेतना का परिचय रस-विवेचन में प्राप्त कर चुके हैं, तथा यह भी देख चुके हैं कि रस के प्रति उनका दृष्टि-कोण ध्वनिवादी आनन्दवर्धन के हो अनुरूप है। अब हम यहाँ काव्य की आत्मा के संबंध में पण्डितराज की विचार-धारा जानने का प्रयत्न करेंगे।

### काव्य की आत्मा

पण्डितराज ने काव्य की आत्मा का प्रश्न उठा कर उसका विवेचन किया हो, ऐसा कोई स्थल रसगंगाधर में नहीं आता। फिर भी हम उनके विभिन्न विचारों के आधार पर इस प्रश्न के बारे में उनका धारणा निर्धारित करने का प्रयत्न करेंगे।

आचार्य विश्वनाथ के समान पण्डितराज केवल रस को ही काव्य की आत्मा नहीं कहते। हाँ, वे उसे परम रमणीय तत्त्व अवश्य कहते हैं :--

" एवं पंचात्मके ध्वनो परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते।" १

ध्वनि के पांच भेदों में रसादि-ध्वनि परम रमणीय है। रसादि-ध्वनि के अनेक रूपों में भी रस आत्म-रूप है। संक्षेप में यही पण्डितराज का रस के प्रति दृष्टि-कोण है। जब पण्डितराज रस की ध्वनि की आत्मा कहते हैं तो आत्मा शब्द का प्रयोग "प्रधानता" के अर्थ में ही करते हैं, "काव्यात्मा" के अर्थ में नहीं।

अभिनव गुप्त के समान पण्डितराज सभी काव्यानुभूतियों में रस को ही पार्यन्तिक रूप में स्वीकार नहीं करते।

तब प्रश्न उठता है कि पण्डितराज "काव्यात्मा" किसे मानते हैं ?



अलंकार-विवेचन की भूमिका में पण्डितराज ने "व्यंग्य" को काव्य की आत्मा कहा है:

"अथास्य प्रागभिहितसङ्गणस्य काव्यात्मनो व्यंग्यस्य रमणीयताप्रयोजका अलंकारा  
निरूप्यन्ते । " १

ये शब्द अलंकार-विवेचन की भूमिका के हैं, अतः सिद्धान्त-पक्षीय हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। हम यह भी जानते हैं कि पण्डितराज का सिद्धान्त पक्ष ध्वनि-वाद का है। तब उपर्युक्त संदर्भ से यह निष्कर्ष निकलता है कि पण्डितराज "ध्वनिवाद" के अनुसार काव्य की आत्मा व्यंग्य को निर्धारित करते हैं।

"व्यंग्य" को काव्य की आत्मा निर्धारित करना तथा उसे ध्वनिवाद का निष्कर्ष कहना आपाततः कुछ गलत लगता है, तथा ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन की मान्यता से कुछ हटा हुआ सा प्रतीत होता है। कारण, ध्वनिकार ने स्पष्ट शब्दों में "ध्वनि" को काव्य की आत्मा कहा है, व्यंग्य को नहीं :—

"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः समाम्नातपूर्वः । " २

जिस प्रकार रीति-सम्प्रदाय के संदर्भ में वामन के शब्द "रीतिरात्मा काव्यस्य" तथा वक्रोक्ति-वाद के संदर्भ में कुन्तल के शब्द "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्", सिद्धान्त-वचन बन गये हैं, उसी प्रकार ध्वनिवादी परम्परा में काव्य की आत्मा के लिए ध्वनिकार के शब्द "काव्यस्यात्मा ध्वनिः" प्रचलित हैं। तब ध्वनि-वाद के अनुसार "ध्वनि" को ही काव्य की आत्मा कहना चाहिए, "व्यंग्य" को नहीं।

"ध्वनि" एवं "व्यंग्य" में कुछ पारिभाषिक अन्तर है। उनमें विशेष एवं सामान्य का भेद है। "ध्वनि" में व्यंग्यार्थ अभिप्रेार्य और लक्ष्यार्थ दोनों को अपेक्षा अधिक सुन्दर तथा प्रधानाभूत मानना चाहिए। वह शब्द तथा शब्दार्थके समस्त सौन्दर्यों से अनभिभूत होना चाहिए। मम्मट के अनुसार जब व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अतिशयोक्ति होता है, तब "ध्वनि" कहलाता है :—

"हृदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः । " ३

स्वयं ध्वनिकार का भी "ध्वनि" की परिभाषा ऐसा ही है :—

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनोक्तस्वार्थी ।

व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।। " ४

१- रसगंगाधर : पृष्ठ १५६ ।

२- ध्वन्यालोक : उ० १।२ ।

३- काव्य-प्रकाश : पृष्ठ १९ : १।४ ।

४- ध्वन्यालोक : उर्ध्वत १ : कारिका १३ ।



इस "ध्वनि" के तीन भेद होते हैं। रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि, एवं अलंकार-ध्वनि। ये तीनों ही स्थितियाँ प्रधानीभूत व्यंग्य की हैं। व्यंग्यार्थ की "गुणीभूत" स्थितियों को ध्वनि नहीं कहा जाता।

तात्पर्य यह कि प्रधानीभूत व्यंग्यार्थ को ही ध्वनि कहना चाहिए, उसे ही ध्वनि-वाद के अनुसार काव्य की आत्मा कहना चाहिए, व्यंग्य-सामान्य को नहीं। तब प्रश्न उठता है कि पण्डितराज का व्यंग्यार्थ को काव्यात्मा कहना ध्वनि-वाद के अनुरूप कैसे कहा जा सकता है ?

परन्तु ध्वनि-कार तथा उनके अनुयायियों के विवेचनों पर थोड़ी समीक्षात्मक दृष्टि डालने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि वे लोग केवल प्रधानीभूत व्यंग्य को ही ध्वनि के रूप में ग्रहण कर काव्यात्मा का व्यवहार नहीं करते। यदि प्रधानीभूत व्यंग्यों को ही ध्वनि कहा जाता, तो और उसे ही काव्यात्मा माना जाता तो रस-वस्तु-अलंकार-रूप तीन स्थितियों में ही काव्यत्व स्वीकार किया जाता। शेष में नहीं। किन्तु ध्वनि-वाद काव्य के तीन भेद करता है। उत्तम, मध्यम एवं अधम। इनमें व्यंग्य की प्रधान स्थिति तो केवल उत्तम काव्य में ही होती है, मध्यम एवं अधम में नहीं। इन भेदों में व्यंग्य प्रधान होने पर भी ध्वनि-वाद काव्यत्व स्वीकार करता है। यह वर्गीकरण बताता है कि ध्वनि-वाद प्रधानीभूत व्यंग्य का अपेक्षा व्यंग्य को ही काव्यात्मा मानता है। तभी वह अलंकार-प्रधान काव्यों को -अन्तिम कोटि का ही सहो-काव्य कह सका है। चित्र काव्य को रस-संस्पर्श के आधार पर नहीं, व्यंग्य-संस्पर्श के आधार पर काव्य कहा जा सकता है। फिर चाहे वह संस्पर्श का संबन्ध कुछ दूर का हो। मम्मट उपालंकार के विवेचन के प्रसंग में यह स्वीकार करते हैं कि प्रतापमान के आधार पर ही उक्ति में वैचित्र्य आता है, किन्तु अलंकारों में प्रतापमान के वैचित्र्य से वाच्य-वैचित्र्य बढ़ जाता है, अतः उन्हें ध्वनि या गुणीभूत-व्यंग्य नाम नहीं दिया जाता। आलोच्य उदाहरण इस प्रकार है :--

" स्वप्नेष्वपि समरेषु त्वां विजयश्रीर्न मुंचति।

प्रभाकप्रभं कान्तं स्वाधीनपतिका यथा ।। " १

इसी समाक्षेप में वे कहते हैं :--

" स्वाधीनपतिका कान्तं भजमाना यथा लौकोत्तरचमत्कारभूः, तथा वज्रश्रीस्त्वदासेवने-



त्यादिना प्रतीयमानेन विना अपि नोक्तेर्वैचित्र्यं, वैचित्र्यं चालंकारः, तथापि न ध्वनि-  
गुणीभूतव्यंग्यव्यवहारः। न सलु व्यंग्यसंस्पर्शपरामर्शादिव चारुताप्रतीतिः, अपि तु वाच्य-  
वैचित्र्यप्रतिभासादेव । " १

इस प्रकार जब ध्वनिकार तथा उनके अनुयायियों ने मध्यम कोटि में व्यंग्य के गुणी-  
भूत होने पर भी, तथा अधम कोटि में व्यंग्य की स्थिति अत्यन्त दबी हुई होने पर भी  
जो काव्यत्व स्वीकार किया है, उसकी संगति प्रधानीभूत व्यंग्य को नहीं, केवल व्यंग्य की  
ही काव्य की आत्मा मान कर हो सकती है।

तब प्रश्न उठता है, क्या ध्वनिकार तथा मम्मट की अपनी ही मान्यताओं में विरोध है  
है ? नहीं, बात ऐसी नहीं है। ध्वनि शब्द के ५ विभिन्न अर्थ स्वयं आनन्दवर्धन की भी दृष्टि  
हैं, अमिनव गुप्त ने अपनी विशद व्याख्या द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है। "कृतः कृतः" काव्य-  
स्यात्मा ध्वनिः " कहा गया है, वहाँ "ध्वन्यते व्यज्यते इति ध्वनिः" इस व्युत्पत्ति के  
साथ ध्वनि शब्द का अर्थ सामान्यतः व्यंग्यार्थ भी हो सकता है। जो श्लोक ध्वनिकार ने  
ध्वनि के लक्षण स्वरूप दिया है, वह भी विचार करने पर कुछ विरोधी प्रतीत नहीं होता।  
वे प्रतीयमान-मात्र की ही प्रशंसा करते हैं :--

" प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।

यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यभिवाद्गनासु ॥ " ३

और यह प्रतीयमान अर्थ ही काव्य का आत्म-तत्त्व है। शब्द एवं अर्थ अपने को इसके  
प्रति उपसर्जनोक्त रखते हैं, इसे किसी शब्द अथवा अर्थ के चारुत्व में अन्तर्भूत नहीं किया  
जा सकता।

" काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।

क्रौञ्चद्वन्द्वविभोगोत्वः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ " ४

१- काव्य-प्रकाश : पृष्ठ ५६१-२।

२- स इति अर्थो वा शब्दो वा, व्यापारो वा। अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्येवम-  
व्यंग्यो वा ध्वन्यते इति व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वनन्मु- इति ।

लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ १०५-६ ।

३- यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनोक्तस्वार्थो ।

व्यतः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥

ध्वन्यालोक : उद्योत १ : कारिका १३ ।

४- ध्वन्यालोक : उद्योत १ : कारिका ४ ।

५- ध्वन्यालोक : उद्योत १ : कारिका ५ ।



अभिनव गुप्त ने भी ध्वनिकार के अनुसार इसी प्रतीयमान की काव्यात्मता स्वीकार की है:--

" एवं "प्रतीयमानं पुनरन्यदेव" इतीयता ध्वनिस्वरूपं व्याख्यातम् । " १

यह प्रतीयमान या ध्वनि ही काव्य की आत्मा है। यह तो अभिनव का विचाराच्छादन है कि वे समस्त प्रतीयमान में से काव्यात्मा के लिए केवल "रस-ध्वनि" को ही छंट लेते हैं:--

" स एवेति प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रकान्ते रस-ध्वनिरिति मन्तव्यम् । " २

- - - तेन रस एव वस्तुत आत्मा - - । "

किन्तु यह तो अभिनव का आग्रह है। रही ध्वनिकार के ध्वनि-लक्षण वाले निम्न श्लोक की बात, उसका समाधान स्वयं अभिनव तथा आनन्दवर्धन के शब्दों से ही हो जाता है यह श्लोक निम्न है:--

" यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थो ।

व्यञ्जितः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ " ३

अभिनव यह स्वीकार करते हैं कि यह ध्वनि शब्द का प्रयोग विशेष काव्य-रूप के लिए है, अन्यथा ध्वनि शब्द का प्रयोग तो शब्द, अर्थ, व्यञ्जना आदि सभी के लिए हो सकता है:--

" स हि ता शब्दो वा अर्थो वा, व्यापारो वा। - - - । कारिका तु प्रधान्येन समुदाय एव काव्य-रूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम् । " ४

आनन्दवर्धन भी यही कहते हैं:--

" यत्रार्थो वाच्यविशेषः वाचकविशेषः शब्दो वा तमर्थं व्यञ्जितः, स काव्य-विशेषः ध्वनिरिति । " ५

इसी संदर्भ में मण्डित रामभारक को टिप्पणी भी द्रष्टव्य है:--

" यद्यपि "काव्यस्यात्मेति प्रस्तुतस्य ध्वनेर्लक्षणं व्यङ्ग्यत्वमात्रमिति तदेव वक्तव्यं, तथाप्येवं काव्यविशेषघटितलक्षणस्यैव प्रकृत उपयोगात्तदभिहितमिति च बोध्यम् । "

१- लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ ८४ ।

२- लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ ८४-५ ।

३- ध्वन्यालोक : उद्योत १ : कारिका १३ ।

४- लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ १०५-६ ।

५- ध्वन्यालोक : पृष्ठ १०४ : कारिका १३ की वृत्ति ।

६- पं० रामभारक : बालप्रिया : ध्वन्यालोक : पृष्ठ १०६ ।



और मम्मट में आकर तो यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है। वे काव्य के एक भेद "उत्तम" के विषय में ही इस प्रधानोभूत व्यंग्य वाले ध्वनि शब्द का प्रयोग कर रहे हैं:-

"इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाचाद् ध्वनिर्बुधः कथितः । " १। "इदमिति काव्यम्"

अतः सर्वांगीण विचार करने पर ध्वनि-वाद के अनुसार काव्य की आत्मा व्यंग्य ही ठहरती है, जिसके पण्डितराज ने उपर्युक्त संदर्भ में उल्लेख किया है। ध्वनिकार तथा मम्मट दोनों ने ही प्रधानोभूत व्यंग्य के अर्थ को लेकर ध्वनि शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में काव्य-विशेष या उत्तम काव्य के लिए किया है, आत्मा के लिए व्यावहारिक रूप में व्यंग्यार्थ को ही लिया है। पण्डितराज ने इस "ध्वनि" जैसे शिथिल शब्द का प्रयोग न करके सीधा एवं स्पष्ट "व्यंग्यार्थ" शब्द का आत्मा के लिए प्रयुक्त किया है। इससे ध्वनि-वाद को ही मान्यता और अधिक अक्षेपतास्पद भाषा में सामने आती है।

यह तो हुई ध्वनि-वाद की दृष्टि से काव्यात्मा की बात। अब आइए, पण्डितराज की अपनी मान्यता पर।

### पण्डितराज

हम पण्डितराज के काव्य-लक्षण के विवेचन में देख चुके हैं कि उन्होंने रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा है। इस विवेचन में हमने शब्द, उसके प्रतिपादकत्व, तथा अर्थ के दो धरातलों का निरूपण किया है। प्रथम धरातल के अर्थ को अवान्तर-व्यापार अथवा साधन रूप मान कर "रमणीय अर्थ" को वहाँ काव्य-शब्दों का प्रतिपादक ठहराया गया है। ध्वनिकार भी अर्थ के दो धरातल मानते हैं, जिनमें वाच्यार्थ का प्रथम धरातल साधन-रूप ही स्वीकार किया गया है:-

"यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।

वाक्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ॥ "

"यथा हि पदार्थद्वारेण वाक्यार्थविगमस्तथा वाक्यार्थपूर्विका व्यंग्यार्थस्य प्रतिपत्तिः।"

इस प्रकार पण्डितराज के काव्य-लक्षण के अनुसार शब्द प्रतिपादक हैं, वाच्यार्थ अवान्तर

१- काव्य-प्रकाश : उल्लास १ : सूत्र २ : पृष्ठ १९ ।

२- काव्य-प्रकाश : पृष्ठ १९ ।

३- ध्वन्यालोक : उद्योत १ : कारिका १० ।

४- ध्वन्यालोक : पृष्ठ १०० ।



काव्य-आधार है, जिसका स्थान-निर्देश हमने प्रतिपादकत्व में किया है, तथा प्रतिपादक है "रमणीय अर्थ" । यहाँ रमणीय अर्थ पण्डितराज के अनुसार काव्य की आत्मा है ।

### रमणीयार्थ एवं व्यंग्यार्थ

ध्वनि-वाद के व्यंग्यार्थ तथा पण्डितराज के रमणीयार्थ में कोई मौलिक भेद नहीं है। एक साहित्य-शास्त्रीय शब्द है, दूसरा सौन्दर्य-शास्त्रीय। ध्वनि-वाद ने जो व्यंग्यार्थ को काव्यात्मा के रूप में ग्रहण किया है, वह भी सौन्दर्य-भावना का समावेश करते हुए। इसके लिए "सहृदय-श्लाघ्य" होना पहला शर्त है :--

"योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।

वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥ "

भाषा के साधारण व्यंग्य को काव्यात्मा कहने पर तो "पीनी देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते" जैसी अर्थापत्तियाँ भी काव्य-कोटि में परिगणित होने लगीं। सौन्दर्यानुभूति से विशिष्ट व्यंग्य ही काव्यात्मा कहलाने का अधिकारी होता है। उसके साथ भाषा के समस्त सौन्दर्योपकरण उसकी पृष्ठ-भूमि में होते हैं। और इन अर्थों में सौन्दर्य-प्रतीति ही सच्चा काव्य की आत्मा होती है। अभिनव गुप्त इस तथ्य का बड़े ही स्पष्ट शब्दों में उल्लेख करते हैं :--

" - - - । काव्यग्रहणाद् गुणालंकारोपस्कृतशब्दार्थपृष्ठपाती ध्वनि-लक्षण

"आत्मे"त्युक्तम् । तेनैतन्निरवकाशं श्रुतार्थापत्तावपि ध्वनिव्यवहारः स्यादिति।

यच्चोक्तम्- "चारुत्वप्रतीतिर्हि काव्यस्यात्मा स्यात्" इति तदंगोक्तं एव । नास्मिन् हत्वस्य विवाद इति। " २

सौन्दर्यानुभूति की हो यदि काव्य की आत्मा कहा जायगा, तो फिर सौन्दर्यानुभूति तो हमें भौतिक सौन्दर्य के प्रत्यक्ष से भी होती है, क्या उसे भी काव्य नहीं कहा जा सकेगा ? अभिनव इस शंका का निराकरण करते हुए कहते हैं, जहाँ शब्दार्थमय काव्य की चर्चा चल रही है, वहाँ प्रत्यक्ष भौतिक सौन्दर्य का प्रश्न ही क्या उठता है।

" यच्चोक्तम्- "चारुणः प्रतीतिर्हि काव्यात्मा, प्रत्यक्षादिप्रमाणा अपि सा भवन्ती तथा स्यात्। इति। तत्र शब्दार्थमयकाव्यात्माभिधानप्रस्तावे क एषा प्रज्ञा इति न किञ्चित्तत्। "

१- ध्वन्यालोक : उद्योत १ : कारिका २ ।

२- लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ १०४ ।

३- लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ १०॥



पण्डितराज ने "उदितं मण्डलं विधोः" तथा "गतोस्तमर्कः" जैसे उदाहरणों में भी काव्यत्व स्वीकार किया है। प्रश्न उठता है, इन वाक्यों में क्या सौन्दर्य-भावना है ? इन्हें देख कर तो यहाँ लगता है कि पण्डितराज शुष्क व्यांग्य को ही काव्यात्मा समझते हैं। उन्होंने इनमें काव्यत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है:—

" उदितं मण्डलं विधोः " इति काव्ये दूत्यभिसारिकाविरहिष्यादिमुदोरिते ऽभिसरणा-  
विधिनिषेधजीवनाभावादिपरे, "गतो स्तमर्कः" इत्यादौ चाव्याप्त्यापत्तेः । न चेदमकाव्य-  
मिति शक्यं वक्तुम्, काव्यतया पराभिमतस्यापि तथा वक्तुं शक्यत्वात् । काव्यजीवितं  
चमत्कारित्वं चाविशिष्टमेव । " १

वस्तुतः ये वाक्य अकेले अकेले ही काव्य नहीं, किसी नायक-नायिका अदि के संदर्भ में जाने पर ही इनका स्वरूप चमत्कारी होता है। तभी ये काव्य कहा जा सकते हैं। व्यांग्य अर्थ के लिए चमत्कारी होना सामान्य रूप से अपेक्षित है। यह चमत्कारिता ही काव्य का प्राण है। "काव्य-जीवितं चमत्कारित्वं चाविशिष्टमेव"। इसी चमत्कारिता को ध्यान में रख कर अभिनव ने "चारुता-प्रतीति" को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। अर्थ की रमणीयता, शाब्दी<sup>२</sup> चारुता-प्रतीति, तथा अर्थ की चमत्कारिता - एक ही बात है। अभिनव के साथ हम मिल कर कह सकते हैं, "नाम्नि सत्वयं विवाद इति " ।

तो व्यांग्यार्थ काव्य की आत्मा है, इस का अर्थ है- चमत्कारी व्यांग्यार्थ काव्य की आत्मा है। व्यांग्यार्थ का सहृदय-श्लाघ्य होना ध्वनिकार की पहली शर्त है। तब "व्यांग्यार्थ काव्य की आत्मा है - ये शब्द अपने में अपूर्ण हैं। इनके साथ आपको ध्वनिकार का अभिमत कोई विशेषण "सुन्दर" अथवा "सहृदय-श्लाघ्य" जैसा जोड़ना पड़ेगा। किन्तु पण्डितराज के "रमणीय" विशेषण में सब कुछ समाविष्ट है। "ध्वनि" काव्य की आत्मा है" यह कहना, "व्यांग्यार्थ काव्य की आत्मा है" यह कहने की अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण होता, किन्तु ध्वनि शब्द के बहुमुखी प्रयोग ने इस कथन को अस्पष्ट एवं अव्यवहार्य बना दिया है। और "सुन्दर" या "चमत्कारी" व्यांग्यार्थ काव्य की आत्मा है, यह कहने की अपेक्षा "रमणीय अर्थ काव्य की आत्मा है " यह कथन स्वयं अपने में परिमार्जित भी है, तथा रमणीय भी ।



## अलंकार - सम्प्रदाय एवं पण्डितराज

हमारे शोध-विषय की सीमाओं में रसगंगाधर का अलंकार-विवेचन नहीं आता । अतः इस सम्प्रदाय के साथ पण्डितराज के सम्बन्ध की पूर्ण व्याख्या तो हमें शोष ही रहनी पड़ेगी। तथापि हम सामान्यतः उस सम्बन्ध के विषय में कुछ तथ्य प्रस्तुत कर सकते हैं: पण्डितराज तक अलंकार-सम्प्रदाय के विकास की हम निम्न चार भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

### १- भामह-पूर्वीय युग ।

इस युग के अलंकार-ग्रन्थ उपलब्ध नहीं, किन्तु भामहादि के आधार पर हम इस सम्प्रदाय के बीज-सूत्रों का अनुमान कर सकते हैं। यह युग सम्प्रदाय का "गर्भ-काल" कहा जा सकता है।

### २- भामह से आनन्दवर्धन तक का युग ।

सप्तम शती से नवम शती के मध्य तक का यह युग इस सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा का युग है। इस युग में इस सम्प्रदाय के महान् आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट आदि हुए। रीति-वादी वामन भी इस से अप्रभावित नहीं थे।

### ३- आनन्दवर्धनोत्तर युग - पन्द्रहवीं शताब्दी तक ।

ध्वनि-सिद्धान्त ने अलंकारों का स्थान रस के बाह्य उपकारक के रूप में निर्धारित किया। रस-मय काव्य में उनकी अपृथग्यत्न-निर्वर्त्यता हो शेषस्वर समझा गयी। मम्मट के आते-आते उनकी अपेक्षाकृत सुरक्षा के साथ काव्य में उनका स्वरूप एवं स्थान भी निर्धारित हो गया।

" उपकुर्वन्ति तं सन्तं येद्गङ्गद्वारेण वातुचित् ।

हारादिबद्धलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ " १

उन्हें पर्याप्त अपेक्षा समझते हुए भी, उनका अनिवार्यता का तिरस्कार किया गया:—

" तददोषो शब्दार्थो सगुणावनलंकृतो पुनः क्वापि " । २

१- काव्य-प्रकाश : उल्लास ८ : सूत्र ८८ : पृष्ठ ४६५ ।

२- काव्य-प्रकाश : उल्लास १ : सूत्र १ : पृष्ठ १३ ।



मम्मट ने अलंकारों के स्वरूप-लक्षण के लिए पुराने अलंकार-वादी आचार्यों का पर्याप्त सहारा लिया था। रूय्यक जैसे आचार्यों के हाथों ध्वनि-वाद के सामंजस्य के साथ ही अलंकारों पर विवेचनात्मक दृष्टि भी पड़ती रही। कुछ आगे चल कर रूय्यक के विवेचन ने विश्वनाथ के लिए एक प्रमुख आधार का काम किया। यद्यपि अलंकारों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गयी, उनके भेदोपभेदों का विश्लेषणात्मक अध्ययन भी कुछ फला-फूला, तथा काव्योपयोगिता का तिरस्कार भी नहीं हुआ, तथापि यह कहना पड़ता है कि यह युग सब मिला कर महत्व की दृष्टि से इस संप्रदाय का सर्वाधिक द्रास का युग था ।

१- पन्द्रहवीं शताब्दी से पण्डितराज जगन्नाथ तक ।

सामाजिक, राजनैतिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण साहित्य की दृष्टि उत्तरोत्तर शृंगार एवं अलंकारों के चाक-चिक की ओर बढ़ रही थी। जहाँ तक संस्कृत साहित्य का संबन्ध है, कालिदासोत्तर काल से ही वह शनैः शनैः अलंकारों की ओर आकृष्ट हो रहा था। वाण, भारवि, माघ एवं श्रीहर्ष में यह उत्तरोत्तर वर्धमाना प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। किन्तु शास्त्रीय क्षेत्र में इनके महत्व की स्वीकृति इन महा-कवियों के युग में जैसी थी, वैसी ध्वनि की प्रतिष्ठा होने पर नहीं रह गयी थी। पर ध्वनि की पूर्ण प्रतिष्ठा एवं समारोपण के अनन्तर आचार्यों की प्रवृत्ति अलंकार-वाद की ओर उन्मुख होने लगी। इस युग में अलंकार-वाद के पुनरुज्जीवन के प्रयत्न सामने आने लगे। मम्मट के विरोध में यदा-कदा विसंवादा स्वर तो सुनायी पड़ ही जाया करते थे:--

" अहं गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थविनलहं कृतम् ।

असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलहं कृतम् ॥ " १

इस युग में अलंकारों के भेदोपभेदों का और पर्याप्त झुकाव रहा। फिर से अलंकारों के हाँ लिए स्वतन्त्र प्रकरण ग्रन्थों की रचनाएँ होने लगीं। टीकाकार आचार्य भी उन प्रकरण-ग्रन्थों पर टीकाएँ-प्रटीकाएँ लिखने में अपने समय का सदुपयोग समझने लगे। जयदेव के चन्द्रालोक पर अप्पय्य जैसे दार्शनिक पण्डित को टीका लिखने में अपने पाण्डित्य की उपयोगिता का अनुभव हुआ।

१- प्रोफ़ेसर जयदेव : चन्द्रालोक : मयूख १।



इस युग में साहित्य-निर्माण की भाषा बदल चुकी थी। हिन्दी ने संस्कृत का स्थान ले लिया था। उच्च-भाषा साहित्य की माध्यमिक भाषा हो गयी थी। हिन्दी के आचार्य भी झोड़ता एवं व्यापकता के लिए संस्कृत का क्षेत्र सुरक्षित समझ कर हिन्दी साहित्य की अलंकार-वाद को और खींचे लिए चल रहे थे। इनमें केशवदास अग्रणी थे। इस प्रकार यह युग अलंकार-वाद का पुनरुद्धार का युग था। फिर से अलंकार-वाद समीक्षा-केतना को आच्छादित करने लगा था। किन्तु जो आचार्य इस अलंकार-वाद के बढ़ते हुए प्रभाव में आ रहे थे, उनकी क्षमता जितनी विस्तार को और गति-शील थी, उतनी गहराई को और प्रवृत्त न थी। बस, वर्षा ऋतु में फँसे जल के समान अलंकार-वाद फिर फँस रहा था। पण्डितराज के अभ्युदय के समय यह प्रवृत्ति पर्याप्त बलवती हो चुकी थी।

पण्डितराज ने अलंकार-वाद के इस फँसाव का पूरा-पूरा उपयोग करके पुनः व्यवस्था का काम किया। उनके कार्य से ध्वनि-वाद तथा अलंकार-वाद दोनों उपकृत हुए।

रस-वादों विश्वनाथ के समान पण्डितराज शब्द-प्रधान काव्य का तिरस्कार नहीं करते। अर्थ-चित्र एवं शब्द-चित्र काव्य के स्वरूप पर बड़ी सहानुभूति-पूर्ण दृष्टि डाल कर, अन्य ध्वनि-वादियों से यत्किंचित् भिन्न लोक बना कर, वे दोनों के लिए "मध्यम" एवं "अधम" दो स्थान नियत करते हैं। इन्हें वे व्यंग्य-संस्पर्श के ही आधार पर काव्य कहते हैं, अतः ध्वनि-वाद से उन का सामंजस्य बना रहता है। अर्थ-चमत्कार से सामान्यतः शून्य कोरी शब्द-भक्तियों को वे काव्य नहीं मानते।<sup>१</sup> इस प्रकार वे उठती हुई अलंकार-वाद की विसवादिनी लहर को, जो एक बार फिर ध्वनि-वाद के करारे तौड़ जाना चाहती थी, एवं रस के भी ऊपर छू जाना चाहती थी, ध्वनि-वाद के साथ समंजस बना कर ध्वनि-वाद एवं रस-वाद दोनों को उपकृत करते हैं। वे समस्त अलंकार-विवेचन को ध्वनि के संदर्भ में ही देखते हैं। अलंकार-विवेचन की भूमिका में वे सर्व-प्रथम इस संबन्ध का ही निरूपण कर के चलते हैं :--

१- "यद्यपि यत्रार्थचमत्कृतिसामान्यशून्या शब्दचमत्कृतिस्तत्पंचममधमाधममपि काव्य-विधासु गणयितुमुचितम्, यथैकाक्षरपञ्चार्थवृत्तिपञ्चमकपदमवन्धादि। तथापि रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दतारूपकाव्यसामान्यलक्षणानाक्रान्ततया वस्तुतः काव्यत्वाभावेन महाकविभिः प्राचीनपरम्परामनुरन्धानेस्तत्र तत्र काव्येषु निबद्धमपि नास्माभिर्गणितम्।"



" अथास्य प्रागभिहितलक्षणस्य काव्यात्मनो व्यंग्यस्य रमणीयता प्रयोजका  
अलंकारा निरूपयन्ते । " १

किन्तु रसगंगाधर में अलंकारों के लिए जितना स्थान दिया गया है, एवं उनका जैसा  
मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है, उसे देख कर कोई बड़े विश्वास के साथ यह निष्कर्ष  
निकाल सकता है कि रसगंगाधर अलंकार-वाद का ही एक प्रौढ शास्त्र है। रसगंगाधर एक अपूर्ण  
ग्रन्थ है। उपलब्ध ग्रन्थ के ५२२ पृष्ठों में से केवल १५६ पृष्ठ अन्य विवेचनों के लिए हैं, शेष  
३६६ अलंकारों के लिए। और अलंकार-विवेचन फिर भी अधूरा ही उपलब्ध है। अनेक आचार्यों  
के मान्यताओं को उठा कर, उनके लक्षणों का समोक्षा करते हुए, परस्पर तुलना एवं  
आलोचना द्वारा उनके अपूर्ण पक्षों पर प्रकाश डालते हुए, प्रत्येक अलंकार के विवेचन में  
पण्डितराज ने अभूत-पूर्व पाण्डित्य से काम लिया है। बड़े से बड़े आचार्यों की दुर्बलताएँ उन की  
तर्क-कर्तारिका से नहीं बच सकी हैं। न्याय के ताले तर्कों से प्रत्येक अलंकार का स्वरूप निर्धारित  
हुआ है। विभिन्न शास्त्रार्थों के द्वारा प्रत्येक अलंकार के सूक्ष्मातिसूक्ष्म पक्षों को परि-  
मार्जित कर के उसे प्रतिष्ठित किया गया है। इस प्रकार पण्डितराज ने अलंकार-वाद के लिए  
वह कार्य किया है, जो उसके समस्त इतिहास में कोई पूर्वाचार्य नहीं कर सका था। लोग अलं-  
कार-वाद का फँदा उठाये भले फिरते रहे हों।

ध्वनि-वाद के साथ पूर्ण सामंजस्य बनाये रख कर, अलंकार-वाद के प्राच्य आचार्यों को  
चरम सन्मानभूति प्रदान कर के, निस्सन्देह पण्डितराज ने अलंकार-सम्प्रदाय का महान् उपकार  
किया है। उसे फिर से काव्य की आत्मा कहलासकने के गौरव के दिन चले गये थे। किन्तु  
व्यवस्था के नाते अलंकार-वाद पण्डितराज में गौरव अनुभव कर सकता है। अब तक अलंकार-  
सम्प्रदाय का कोई ऐसा ग्रन्थ सामने नहीं आया था जिसे सच्चे अर्थों में उसका "शास्त्र"  
कहा जा सके, किन्तु रसगंगाधर में अलंकार-वाद अपना इस कमी को पूर्ति अनुभव कर सकता है।  
अलंकार-वाद के पुनरुद्धारण-युग में पण्डितराज का कार्य सबसे बड़ा घटना है।



## रीति - सम्प्रदाय एवं पण्डितराज

रीति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक हैं आचार्य वामन । वामन की मान्यताएँ एक सम्प्रदाय के रूप में मान्य रही हैं। रीति-सम्प्रदाय के दो आधार-भूत तत्त्व हैं- गुण एवं पद-रचना। षोड़े बहुत भिन्न दृष्टि-कोण के साथ दण्डी के मार्ग, वामन की रीति एवं आनन्दवर्धन की संघटना में कोई अन्तर नहीं है। उनमें एक से ही तत्त्व बिखरे हैं। जहाँ तक गुणों का सम्बन्ध है, उनकी जड़ें पर्याप्त पुरानी हैं। भरत नाट्य-शास्त्र के सत्रहवें अध्याय में दश गुणों की चर्चा करते हैं, तथा दण्डी के काव्यादर्श में भी इन गुणों को पर्याप्त महत्व मिला है। रीतियों का भी मार्ग के नाम से दण्डी ने पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत किया है। किन्तु दोनों तत्त्वों की समन्वय योजना वामन द्वारा ही हुई है।

गुणों को यथेष्ट महत्व देकर रीति-सम्प्रदाय निस्सन्देह अलंकार-सम्प्रदाय की अपेक्षा काव्य के मूल सत्त्वों के अधिक समीप पहुँचा था। आनन्दवर्धन के व्यापक एवं समन्वयात्मिक सिद्धान्त में इसे भी इसका उचित स्थान देकर अन्तर्भूत कर लिया गया। भरत एवं दण्डी के दश गुण जो वामन में आकर शब्द एवं अर्थ-गत हो कर बीस हो गये थे, ध्वनि-वाद में तीन गुणों में अन्तर्भूत किये गये। गुण-त्रय-वाद का स्थापना यद्यपि भामह ही कर चुके थे, तथापि ध्वनि-वाद से उनकी धारणा भिन्न थी। ध्वनि-वाद ने उन्हें काव्यात्म-भूत रस के साथ गुण-गुणी सम्बन्ध से जोड़ा। इसी प्रकार पद-रचना को अवयव-संगठन के रूप में देखा गया। रीतियों में वर्ण, शब्द एवं समासों के स्थान के साथ गुण एवं रसों का सम्बन्ध संस्कृत काव्य-शास्त्र में ऐक्यत्व से निरूपित नहीं हैं। फिर भी, रस के व्यञ्जकों में रीति के समस्त शारीर तत्वों - पद, पदांश, वर्ण, वाक्य आदि की स्वीकृति मिल गयी। संक्षेप में ध्वनि-वाद के साथ रीति के तत्वों के समन्वय का यही स्वरूप रहा।

ध्वनि-वादों आचार्य होने के नाते पण्डितराज का दृष्टि भी रीति-सम्प्रदाय के उपर्युक्त दोनों तत्वों के प्रति सामान्यतः ध्वनि-वादिनी ही है। किन्तु यह विशेषतः उल्लेखनीय है कि समस्त ध्वनि-वादों आचार्यों में पण्डितराज ने ही सर्वाधिक सहानुभूति रीति सम्प्रदाय के दोनों तत्वों की प्रदान की है। गुण-विवेचन में हमें दो बातें अत्यन्त स्पष्ट दिखायी पड़ती हैं, एक यह कि पण्डितराज गुणों को रस-मात्र का धर्म नहीं मानते। उनका सम्बन्ध सीधे संघटना के तत्वों से जोड़ते हैं। रीति-वाद की प्रक्रिया भी बहुत कुछ वही



रोति-वाद गुणों का सीधा सम्बन्ध अनुभूति से मानता है। ध्वनि-वाद रसों के माध्यमसे। पण्डितराज ने गुणों का सम्बन्ध सीधे अनुभूति से स्वीकार किया है। दूसरी बात यह है कि वामन के २० गुणों का उत्प्रेक्ष भी पण्डितराज को लेखनी से उसी शास्त्रीय प्रतिष्ठा-पिका भाषा द्वारा हुआ है, जिसके द्वारा वे ध्वनि-सिद्धान्तों की चर्चा किया करते हैं। यद्यपि मम्मट तथा विश्वनाथ भी २० वामनीय गुणों का परिचय देते हैं, तथापि वह परिचय परिचय मात्र है। अपने गुण-त्रय में अतिर्भाव दिखाने भर के लिए। पण्डितराज ने भी मम्मटादि के मान्य अन्तर्भाव का परिचय कराया है, किन्तु उन्होंने वामनीय गुणों के शास्त्रीय लक्षण एवं स्वनिर्मित उदाहरणों द्वारा वामनीय आत्मा को पूरा पूरा उभार कर सामने रख दिया है। पण्डितराज का यह परिचय पूरे ८ पृष्ठों में—पृष्ठ ५५ से ६२ तक—निरूपित हुआ है।

रोति-सम्प्रदाय के दूसरे तत्व "रचना" को भी उन्होंने रस का व्यञ्जक न मान कर गुणों का ही व्यञ्जक माना है। रोति को इस स्थिति को बनाये रख कर उन्होंने रोति-वाद को आत्मा की ही पर्याय से रक्षा की है।

रोति-विवेचन में विभिन्न गुणों के साथ सम्बन्ध-स्थापन के साधन दो हैं— वर्ण, एवं समास। रोति एवं गुण-सम्बन्ध का व्याख्या रोति-वादों या ध्वनि-वादों सभी आचार्य इन्हीं साधनों के द्वारा करते आये हैं। दण्डी एवं वामन ने भी विशिष्ट वर्णों के द्वारा ही इस सम्बन्ध का व्याख्या की है। पुनः कहना पड़ता है कि समस्त ध्वनि-वादी आचार्यों में वर्णों की व्यञ्जकता का जैसा मार्मिक विवेचन पण्डितराज ने किया है, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। वर्ण-विवेचन के लिए पूरे ११ पृष्ठ—पृष्ठ ६४ से ७४ तक—व्ययकिये गये हैं। केवल यह ही नहीं बताया गया कि किस गुण के लिए किस रचना में किस प्रकार के वर्णों की योजना करना चाहिए, अपितु यह भी बताया गया है कि किन किन वर्णों को किस किस दशा में वर्जनीय समझना चाहिए। यद्यपि यह सब ध्वनि-वाद की प्रक्रिया में हुआ है, तथापि इसे कौन अस्वीकृत करेगा, किसे ही तत्त्व रोति-वाद के भी मूल आधार हैं।

वर्ण-व्यञ्जकता के वैज्ञानिक बर्मीकर विवेचन से रोति-वाद के एक मूल तत्व की व्याख्या तो हुई ही है, साथ ही एक कालिक आवश्यकता की पूर्ति भी हुई है। हम कह चुके हैं कि इस मध्य युग की काव्य भाषा ब्रज हो गयी थी, जिसमें शृंगार का स्वर प्रधान था। रस-सिद्ध कवि विभिन्न शृंगार अर्थों की उद्भावना ही नहीं कर रहे थे,



ब्रज भाषा केशवों एवं वर्णों में शृंगारानुरूप लोच भी उत्पन्न कर रहे थे। बिहारी ने भाषा में वर्ण-रत्नों के ऊपर सान रखकर जो कान्ति भरी है, तथा उसके शब्दों में जिस रसोपयोगिता कोमलता का सिंचन किया है, उससे हम आज सुपरिचित हैं। हिन्दी का रीति-काव्य जहाँ शृंगार एवं अलंकारी प्रवृत्ति के लिए प्रसिद्ध है, वहाँ भाषा के एक एक शब्द को मांजने के लिए भी प्रशंसा का पात्र है। इस काल की कविता चाहे शृंगार की उठाई जाय या वोर रस की, आप बिहारी-पद्माकर को पढ़ें चाहे भूषण और ठाकुर की, रचना के अंगों पर इस काल की क्माल हासिल है।

रीति-काल के कवियों की रचना सीधे गुणाभिव्यञ्जन का प्रमाण देती है। पद्माकर के पदों का मधुर भक्तियों अर्थ-बोध से पूर्व ही हृदय को द्रुत करने की क्षमता रखती है। रीति-काल के कवि ने जहाँ अलंकार-वाद के प्रति अपना आग्रह प्रदर्शित किया है, वहाँ रीति-सम्प्रदाय के इस अंग का मौलिक परिष्कार किया है।

तो रीति-कालीन हिन्दी साहित्य के द्वारा भाषा में मृदुलता एवं कोमलता का संचार किया गया। किंतु रीति-काल के आचार्यत्व ने उसका विवेचन जिस मात्रा एवं जिस रूप में अवेदित था, नहीं किया। उस विषय में कमि-प्रतिभा बाहर हो रही थी, किन्तु कम-समर्थता पीछे छूट रही थी। रीति-काल के कवित्व का सब से बड़ा योगदान है रचना की रमणीयता, और उसके आचार्यत्व के लिए सब से बड़ी शोचनीय बात है, उसका विवेचन न कर सकना।

पण्डितराज ने गुणाभिव्यञ्जक रचना का वैज्ञानिक वर्गीकरण एवं विवेचन प्रस्तुत कर के रीति-वाद के एक महत्व-पूर्ण अंग की शास्त्रीय भूमि पर प्रतिष्ठा ही नहीं की, ध्वनि-वाद की और समंजस एवं व्यापक ही नहीं बनाया, एक महती कालिक आवश्यकता की पूर्ति भी की।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि रीति-सम्प्रदाय के इन तत्वों के परिमार्जन से पार्यन्तिक रूप में ध्वनि-वाद की प्रतिष्ठा की ही बल मिला है।



## वक्रोक्ति - सम्प्रदाय एवं पण्डितराज

वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक हैं आचार्य कुन्तल। यद्यपि वक्रोक्ति के बीजों का इतिहास भामह तक सीजा जा सकता है, तथापि इस की सिद्धान्त रूप में प्रतिष्ठा ध्वनि-सिद्धान्त की उद्भावना के अनन्तर हो हुई। वस्तुतः यही इसका सब से बड़ा दुर्भाग्य था। काव्य-प्रतिष्ठ ध्वनि-सिद्धान्त के सामने यह युग का आकर्षण प्राप्त नहीं कर सका। वक्रोक्ति-सिद्धान्त काव्य के अभिव्यञ्जना-पक्ष का दर्शन है। इस दृष्टि से यह ध्वनि-सिद्धान्त का पूरक कहा जा सकता है। फिर भी व्यापक समन्वयात्मक दृष्टि रखने वाले ध्वनि-सिद्धान्त के सामने लोग इसे अपना नहीं सके। अनुगमन के अभाव में वक्रोक्ति-वाद के लिए "सम्प्रदाय" कहना भी अनुपयुक्त है। किन्तु वक्रोक्ति-वाद अपने विवेचन की मौलिकता में अभिनिष्ठ है। उसका नाम काव्य-शास्त्र के स्तम्भ-भूत सम्प्रदायों के साथ लिया जाता है। इसी अनुरोध से हम भी उसे सम्प्रदाय नाम देकर चल सकते हैं।

ध्वनि-वादों होने के कारण पण्डितराज ने वक्रोक्ति-वाद के प्रति उपेक्षा-दृष्टि हो अपनायी है। इसका कारण भी था। अभिव्यञ्जना के मूल तत्त्व जिनका कुन्तल ने विश्लेषण किया है, ध्वनि-वाद के लिए नये नहीं हैं। बस, कुन्तल ने उनको एक भिन्न दृष्टि-कोण से तथा व्यापक भूमि में व्याख्या प्रस्तुत कर दी है। अतः पण्डितराज जैसे ध्वनि-वादों आचार्य की उधर से उदासीनता हो स्वाभाविक थी।

निष्कर्ष

=====

उपर्युक्त काव्य-शास्त्रीय सम्प्रदायों की मान्यताओं के साथ पण्डितराज का दृष्टि-कोण हम देख चुके हैं। हमने देखा है कि पण्डितराज की मूल दृष्टि ध्वनि-वाद की है। जिस में रस की भी एक विशिष्ट एवं महत्व-पूर्ण स्थान प्राप्त है। अलंकार-वाद एवं रीति-वाद के प्रति भी ध्वनि-वाद की ही व्यापक एवं समन्वयात्मक दृष्टि है। इस प्रकार पारमार्थिक रूप में पण्डितराज एक "ध्वनि-वादों" आचार्य ही हैं। किन्तु वक्रोक्ति-वाद को छोड़ अन्य सभी सम्प्रदायों की पण्डितराज ने ध्वनि-वाद की अधिकतम सहानुभूति प्रदान की है। फलतः उन सिद्धान्तों का अधिकतम संभावित स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सकी है। किन्तु उन सब का एक परिमार्जित सामंजस्य ध्वनि-वाद के साथ अविच्छिन्न रूप में बना रहा है। इतना ही नहीं, वे सिद्धान्त एक और अधिक परिमार्जित एवं व्यवस्थित रूप प्राप्त कर



स्वयं निखर गये हैं। रस-वाद ने दार्शनिक आसन पाया है, अलंकार-वाद ने एक सूक्ष्म विश्लेषणात्मक शास्त्र। रीति-वाद ने अपने प्रमुख तत्वों को परिमार्जित स्वतन्त्रता पाया है, और ध्वनि-वाद ने परिमार्जित प्रतिष्ठा। अलंकार-वाद के उठते हुए पुनर्जागरण को तथा रीति-तत्वों को और झुका हुआ साहित्यिक अभिरुचि को सहानुभूति-पूर्ण अवकाश देकर पण्डितराज ने ध्वनि-वाद को व्यवस्थित ही नहीं कर दिया, चिरकाल तक टिकने का कामता भी प्रदान की है। वस्तुतः प्राचीन मान्यताओं एवं नवीन उपलब्धियों के साथ सामंजस्य रखते हुए ध्वनि-पूर्वक "बाउट जीफ़ डेट" मान्यताओं को जो भी पण्डितराज ने उपयोगी बना दिया है। काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में एक व्यापक व्यवस्था का प्रतिष्ठा कर के पण्डितराज ने वस्तुतः एक महान् कार्य किया है।

अब तक हम विभिन्न काव्य-शास्त्राय सम्प्रदायों के साथ पण्डितराज के सम्बन्ध का निरूपण कर चुके हैं। अब, जैसा कि हम ने पूर्व ही संकेत किया था, औचित्य-सम्बन्धी पण्डितराज के दृष्टि-कोण की चर्चा करेंगे।



" जी चित्य " एवं प ण्डित राज



दोष है। किन्तु वीरादि कठोर भावों को व्यञ्जना में वही उपकारी है। गौड़ो रीति कोमल भावों में हेय है, किन्तु रोद्र जैसे कठोर भाव में वही उचित है। वैष्ण, जाकार, स्वभाव सब का औचित्य रस के लिए अपेक्षित है। इनका अनौचित्य ही एक विशेष रूप में आकर हास्य रस का परिपाक करता है:--

"अनौचित्यप्रवृत्तिकृतमेव हि हास्यविभावत्वम्। " १

और जैसा कि डा० राघवन ने कहा है, अनौचित्यही रसाभास काव्यों का जीवित है:-

" अनौचित्यं रसाभासकाव्यस्य स्मिरजीवितम्। " २

### ऐतिहासिक सूत्र

"औचित्य" को काव्य-जीवित के रूप में घोषित करने वाले हैं आचार्य होमैन्द्र । किन्तु भरत, भामह और दण्डी से लेकर समस्त परवर्ती आचार्यों में औचित्य के महत्व की साक्षात्, असाक्षात् स्वीकृति है। भरत के लोक-धर्मा नाट्य में, अवस्थानुकृति में, पात्रों की प्रकृति एवं शील में, वैष्ण-भूषा में - सर्वत्र ही औचित्य का दृष्टि-कोण बिसरना पड़ा है। किन्तु काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में जहाँतक औचित्य शब्द के प्रयोग का सम्बन्ध है, इसका सर्व-प्रथम प्रयोग रुद्रट ने किया है। रुद्रट से पूर्व अष्टम शती के मध्य में कन्नोज के राजा यशोवर्मन् द्वारा लिखित रामाभ्युदय नामक नाटक की प्रस्तावना से डा० राघवन ने एक श्लोक दिया है, जिसे शृंगार-प्रकाश में भोज ने उद्धृत किया है। इसमें औचित्य शब्द का प्रयोग एक आचार्य की जागरूक चेतना के साथ हुआ है। श्लोक निम्न है:--

" औचित्यं वचसा प्रवृत्त्यनुगतं सर्वत्र पात्रोचिता

पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च कथामार्गे न चातिक्रमः ।

शुद्धिः प्रस्तुतसंविधानकविधौ, प्रोडिशच शब्दार्थयोः

विद्वद्भिः परिभाष्यतामवहितैः, एतावदेवास्तु नः ॥ " ४

१- नाट्यशास्त्र : पृष्ठ २९७ : गायकवाह ।

२- "सम कन्सेप्ट्स ऑफ़ जलंकार लिटरेचर"; हिस्ट्री ऑफ़ औचित्य इन संस्कृत पीइटिक्स" डा० राघवन : पृष्ठ २५४ ।

३- वही : पृष्ठ १९८ ।

४- वही : पृष्ठ २०५ ।



### रुद्रट एवं आनन्दवर्धन

किन्तु काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में औचित्य शब्द के प्रयोक्ता रुद्रट ही हैं।<sup>१</sup> रुद्रट को औचित्य-सम्बन्धा मान्यताओं से आनन्दवर्धन ने पर्याप्त प्रेरणा ली है। आनन्दवर्धन ने औचित्य को एक व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठित किया। उन्होंने रस के लिए उतना ही अनिवार्य बना दिया है, जितना ध्वनि को। औचित्य को सर्वांगीण क्षेत्र में प्रवृत्ति आनन्दवर्धन के द्वारा हो गई। अभिनव ने उस निष्ठा का पूर्ण समर्थन किया।

### आनन्दवर्धन एवं अभिनव गुप्त

आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त औचित्य के प्रति पूर्ण निष्ठा रखते हुए भी उसे काव्य की आत्मा स्वीकार नहीं करते। हम देख चुके हैं कि आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि-व्यंग्य- है। और अभिनव के अनुसार रस। अतः अभिनव औचित्य के महत्व की पूर्ण स्वीकृति के साथ ही उसके काव्यात्मत्व का निराकरण हो करते हैं। रस-ध्वनि से असंबद्ध औचित्य को चर्चा उनके अनुसार व्यर्थ है :--

" उचितशब्देन रसविषयमौचित्यं भवतीति दर्शयन् रसध्वनेः जीवित्वं सूचयति।

तदभावे हि किमपेक्षयेदमौचित्यं नाम सर्वत्र उद्घोष्यत इति भावः । " २

### होमेन्द्र

आचार्य होमेन्द्र "औचित्य" को काव्य के जीवित के रूप में ग्रहण करके उसे एक व्यापक सिद्धान्त का रूप प्रदान करना चाहते हैं। डा० राघवन का कथन है कि होमेन्द्र ने जो औचित्य

१-

" The word "Auchitya" occurs often in Anandavardhan's work and Rudrata is only the first writer to mention in theoretic al literature. For earlier, in the first half of the eighth century, King Yashovarman of Kannauj uses the word Auchitua with much theoretical significance.

"Some Concepts of Alankar S'astra :

"History of Auchitya in Sans. Poetics."

Dr. Raghavan. : P. 209 .

२-

२- लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ १३ । Taken. Ibid. P. 229.



को काव्य-जीवित कहा है, वह "आत्मा" एवं "जीवित" के अर्थों में "सौल" और "लाइफ़" का अन्तर करते हुए।<sup>१</sup> वे रस को काव्य का आत्मामानते हैं, तथा ओचित्य को जीवित। किन्तु इस भेदोक्ति को दिखाने वाले उद्धरण उन्होंने नहीं दिये। बिन श्लोकों के आधार पर उन्होंने यह माना है, वे सम्भवतः निम्न श्लोक है :—

" ओचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणो।

रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥ " २

" ओचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्। " ३

किन्तु इन श्लोकों से तो उलटा यही प्रतीत होता है कि क्षेमेन्द्र ओचित्य को ही समस्त काव्य का जीवित समझते हैं, रस का भी। वृत्ति में और स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं:-

" ओचित्यं त्वग्रे वक्ष्यमाणलक्षणं स्थिरमविनश्वरं जीवितं काव्यस्य, तेन विना स्य गुणात्तत्कारयुक्तस्यापि निर्वाचित्वात्तारसेन शृंगारादिना सिद्धस्य प्रसिद्धस्य काव्यस्य धातुवादरससिद्धस्येव तज्जीवितं स्थिरमित्यर्थः । " ४

फिर क्षेमेन्द्र ने इस संदर्भ में आत्मा शब्द का प्रयोग किया ही नहीं, तथा "रस आत्मा है " ऐसा कोई उल्लेख उन्होंने ने नहीं किया। अतः डा० राघवन का यह निर्णय सन्देहास्पद ही प्रतीत होता है।

१-

" Thus Abhinava Gupta used both the words "Atman" and "Jivit" as inter-changeable and as meaning generally the essence - सारभूतः। But Kshemendra made a subtle distinction between "Soul" and "Life", Rasa the Atman and Auchitya the Life. "

"Some Concepts of Alankar S'stra."

"History of Auchitya in Sanskrit Poetics."

Dr. Raghanan. P. 246.

२- ओचित्य-विचार-चर्चा : क्षेमेन्द्र : श्लोक ३ ।

३- ओचित्य-विचार-चर्चा : क्षेमेन्द्र : श्लोक ५ ।

४- ओचित्य-विचार-चर्चा : क्षेमेन्द्र : श्लोक की वृत्ति : पृष्ठ १ ।



### पण्डितराज

ध्वनि-वादों होने के नाते, तथा आनन्दवर्धन को मूल-दृष्टि अपनाने के नाते पण्डित-राज में भी औचित्य की स्वीकृति उसी व्यापक धरातल पर है, जिस पर आनन्दवर्धन में। रस-विरोध का निर्णय, विरोधी रसों एवं रसाङ्गों का निर्णय एवं समन्वय, औचित्य की पूर्ण अपेक्षा में ही निर्णयित हुए हैं।<sup>१</sup>

रस-दोष- रस-दोषों की व्यवस्था में औचित्य ही मान-दण्ड के रूप में प्रयुक्त हुआ है।<sup>२</sup>

रस-भङ्ग के लिए औचित्य की ही सामने रखा गया है। उससे बचने के लिए अनौचित्य से बचना चाहिए -

" अनौचित्यं तु रस-भङ्गेतुत्वात्परिहरणीयम्। भङ्गश्च पानकादिरसादौ सिकतादि-निपातजनितैवारुन्तुदताः। तच्च जाति-देश-काल-वर्णाश्रम-वयो-वस्था-प्रकृति-व्यवहारादेः प्रपञ्चातस्य तस्य तस्य यल्लोकशास्त्रसिद्धमुचितद्रव्य-गुण-क्रियादि तद्वेदः । " ३

जात्यादि- उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि पण्डितराज जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, वय, अवस्था, प्रकृति, व्यवहार आदि के औचित्य की व्यवस्था के सम्बन्ध में लोक और शास्त्र को आधार बना कर अत्यन्त व्यापक भावना अपनाते हैं। उन्होंने संक्षेप में इनका दिग्दर्शन भी कराया है :-

" जात्यादेरनुचितं यथा- गवादेस्तेजोबलकार्याणि पराक्रमादीनि, सिंहादेश्च साधु-भावादीनि,। स्वर्गे जरा व्याध्यादि, भूलोके सुधासेवनादि। शिशिरे जल-विहारादीनि, ग्रीष्मे वह्नि-सेवा। ब्राह्मणस्य मृगया, बाहुजस्य प्रतिग्रहः, शूद्रस्य निगमाध्ययनम्। ब्रह्मचारिणो यतेश्च ताम्बूलचर्वणदारोपसंग्रहः। बालवृद्धयोः स्त्रीसेवनम्, यूनश्च विरागः। दरिद्राणामाद्या-चरणम्, आद्यानां दरिद्राचारः। प्रकृतयो दिव्याः, अदिव्याः, दिव्यादिव्याश्च। धीरोदात्त-धारोद्धतधीरललितधीरप्रशान्ता उत्साहक्रोधकामिनी-रतिप्रधाना उत्तमपञ्चमाधमाश्च। तत्र रत्नादीनां भ्यातिरिक्तस्थायिभावानां सर्वत्र समत्वेऽपि रतेः संभोगरूपाया मनुष्येष्विवो-त्तमदेवतासु स्फुटोकृतसक्तानुभववर्णनमनुचितम्। क्रोधस्य च लोकभस्मोकरणापटो दिनरात्रिव्यात्य-यावनेकाश्चकारिणो दिव्येष्विवदिबोधु। आलम्बनताराध्यत्वस्यानुभावगतमिभ्यात्वस्य च प्रतात्प्रा रसानुल्लासापत्तेः । " ४

१- रसगंगाधर : पृष्ठ ४६ से ४९ तक ।

२- रसगंगाधर : पृष्ठ ५०-५१ ।

३- रसगंगाधर : पृष्ठ ५१ ।

४- रसगंगाधर : पृष्ठ ५१-२ ।



व्यवहार- व्यवहार के औचित्य का भी पूर्ण ध्यान रखा गया है।

" तथा विद्यावयोवर्णाश्रमतयोभिरुत्कृष्टैः स्वतोऽपकृष्टेष्णु न सबहुमानेन वचसा  
व्यवहर्तव्यम्। व्यवहर्तव्यं चापकृष्टैरुत्कृष्टेष्णु। तथापि तत्रभवन्भगवन्नित्यादिभिः संबोधनेर्मुनिगुरु-  
देवताप्रभृतय एव, न राजादयः। जात्योत्तमेद्विजिरेव, नाश्रमेः शूद्रादिभिः, परमेश्वरेत्यादिभिः  
संबोधनेश्चङ्कवर्तिन एव न मुनिप्रभृतयः संबोधाः । " १

समीक्षा

----- जाति-वर्ण- आश्रम-प्रकृष्टि व्यवहार का औचित्य के नाम पर जो यह नियमन  
पण्डितराज ने निरूपित किया है, वह एक आदर्शवादी साहित्य को सृष्टि के लिए ही  
अनुरूप हो सकता है। चरित्र की रहस्य-मय ग्रन्थियों को सामने आने देने में वह निश्चय ही  
बाधक होगा। इसके दो कारण कहे जा सकते हैं। एक- परम्परा का पालन, दूसरे वर्णन का  
विशेष प्रसंग। हमारे संस्कृत साहित्य की रूप-रेखा बहुत कुछ आदर्शात्मक रही है। अतः  
आचार्यत्व की परम्परा ने इस प्रकार के मान-दण्डों को स्थान दिया है। यह दूसरी बात है  
कि उन मान-दण्डों ने लीट कर साहित्य को रूढ़ बनाने में सहयोग दिया हो। दूसरी बात यह  
कि पण्डितराज ने इन नियमनों का उल्लेख रस के संदर्भ में किया है। रस की अनुभूति अपनी  
व्यापकता के लिए कुछ साधारण भूमियां चाहती है। इन नियमों के मूल में एक चेतना है,  
विभावादि सामग्री जितनी सच में ली, लोक-प्रचलित, सर्व-सामान्य की परिचित एवं  
सामाजिक संस्कार-चेतना से ओत-प्रोत होगी, रस-निष्पत्ति उतनी ही सफलता से हो  
सकेगी। रस-परिचय के तुरन्त अनन्तर पण्डितराज की दृष्टि-बोण उपस्थित करते हुए वही  
कारण औचित्य का व्यापक पृष्ठ-भूमि अपेक्षित समझते हैं :--

" अनौचित्यद्वये नान्यद्रसभंगस्य कारणम् ।

प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिष्ठात्परा ॥ " २

वे स्वयं भी यहाँ स्थिर कर चुके हैं :--

" अनौचित्यं तु रस-भंगद्वेतुत्वात्परिहरणीयम् । " ३

इतना ही नहीं, जो बातें सामान्यतः अनुचित समझी जाती हैं, यदि रस-परिष्ठाक के लिए  
अपेक्षित हैं, तो ग्राह्य हैं :--

१- रसगंगाधर : पृष्ठ ५२ ।

२- रसगंगाधर : पृष्ठ ५२ ।

३- रसगंगाधर : पृष्ठ ५१ ।



" यावता त्वनौचित्येन रसस्य पुष्टिस्तावत्तु न वार्यते। रसप्रतिकूलस्यैवेतस्य निषे-  
ध्यत्वात्। " १

कभी कभी तो अनौचित्य ही रस-परिपाक का हेतु होता है, जैसे विदूषक के वक्तों में हास्य के परिपाक के लिए प्रयुक्त अनौचित्य।

" अते, ते, सद्दः समुष्पदिजह रियकुसुगन्धिमयाच्छमालापहवित्तिविस्सन्मिअबालविह-  
वन्दःकज्जणा बह्मणा । " इत्यादि विदूषकवचनेपि रे-शब्दादिप्रयोगस्य तत्त्वा ह्यनु-  
गुणत्वात्। " २

इन सब बातों के देखते हुए कहा जा सकता है कि ये नियम-निरूपण तो प्रसंगिक हैं। इन के मूल में स्थित चेतना ही ग्राह्य है। पण्डितराज इसी लिए कहते हैं, यह औचित्यानौचित्य का विवेक जो कि रसापेक्षा है, दिह्यमात्र संकेतित है। विद्वान् लोग स्वयं इस दिशा में व्यवस्था कर सकते हैं :—

" एषा हि दिगुपदर्शिता । अनया सुधीभिर्न्यदप्यहम् । " ३

संनिवेशोचित्य— रस-निष्पत्ति के लिए काव्य के बाह्य-विधान का औचित्य भी अत्यन्त आवश्यक है। साधारणीकरण रसानुभूति का प्राण है। साधारणीकरण के लिए यह आवश्यक है कि विभावादि-सामग्री भाषा के समस्त उपकरणों का पूर्ण शक्ति से प्रस्तुत की जाय। पण्डितराज रसोद्बोधोपयोगी काव्य के संनिवेश में दो गुणों का अपेक्षा रखते हैं। एक— लालित्य, दूसरे— औचित्य। औचित्य उनकी पहली शर्त है :—

" समुचित-ललित-संनिवेश-चारुणा काव्येन समर्पितः सहृदयहृदयं प्रविष्टेस्तदीय-  
सहृदयतासहकृतेन भावना-विशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरक्षणीत्वादिभिः - - - - । ४

लालित्य के साथ संनिवेश का औचित्य ही विभावादि की वह शक्ति प्रदान करता है, जिसके आधार पर वे सहृदय के हृदय में प्रविष्ट होते हैं। तभी उनकी सहृदय की सहृदयता अपनी भावुकता के बलपर साधारणीकृत रूप में ग्रहण कर पाती है।

व्यंजक— इस संनिवेशोचित्य में काव्य का समस्त बाह्य घरातल आता है। इसी की अपेक्षा से पण्डितराज ने वर्ण, रचना, पद, समास आदि का व्यंजकता का मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया

१- रसगंगाधर : पृष्ठ ५३ ।

२- रसगंगाधर : पृष्ठ ४३ ।

३- रसगंगाधर : पृष्ठ ५३ ।

४- रसगंगाधर : पृष्ठ २१ ।



है। इस सब का आधार भा औचित्य का ही तत्त्व है। वर्ण, समास एवं रचना के औचित्य में गुण को निरूपक रखा गया है। गुण-व्यंजक वर्णादि का ही निरूपण नहीं हुआ, अनौचित्य के आधार पर उनको वर्जनीय परिस्थितियों का भी उल्लेख हुआ है। इन वर्जनीयों को अनौचित्य को मानने की ध्यात में रखते हुए सामान्य एवं विशेष दो भागों में विभक्त कर के निरूपित किया गया है:—

" हृदयानां तत्तद्गुणव्यंजनक्षमाया निमित्तः परिचयाय सामान्यतो विशेषतश्च वर्जनाय किं चन्निरूप्यते । " १

**शब्दालंकार-** अनुप्रास एवं यमक जैसे अलंकार भी काव्य के बहिरङ्ग से ही सम्बन्धित हैं। रस एवं व्यंग्य को अपेक्षा से उनको मानने का निर्णायक भी यही औचित्य का तत्त्व है:—

" एवं व्यंग्यचर्चणातिरिक्तयोजनाविशेषापेक्षाननुपाततोऽधिकचमत्कारिणोऽनुप्रास-निचयान्यमकादौश्च संभवतोपि कविर्न निबन्धनीयात्। यतो हि ते रसचर्चणायामन्तर्भवन्तः सहृदयहृदयं स्वाभिमुखं विदधाना रसपराङ्मुखं विदधान्। विप्रलम्भे तु सुतराम्। यतो मधुर-तमत्वेनास्य निर्मलसितानिर्मितपानकरसस्येव तनोयानपि स्वातन्त्र्यमावहन्पदार्थः सहृदय-हृदयारुन्तुदतया न सर्वेष्वसामानाधिकरण्यमर्हति । यदाहुः :—

ध्वन्यादिभूते शृंगारे यमकादिनिबन्धनम्।

शकतावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥ " २

किन्तु रस-परिपाक के अविरोधो अनुप्रास एवं यमक वर्जनीय नहीं हैं:—

" ये पनुरक्लिष्टतयाऽनुन्नतस्कन्धतया च पृथग्भावनामपेक्षान्ते, किन्तु रस-चर्चणाया-मेव सुसुखं गोचराकर्तुं शक्याः, न तेषामनुप्रासादीनां त्यागो युक्तः । " ३

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि पण्डितराज ने ध्वनि-सिद्धान्त के एक महत्व-पूर्ण तत्त्व औचित्य को आनन्दवर्णन की व्यापकता के साथ अपनी समालोचना में स्वान दिया है। काव्य के व्यापक क्षेत्र में औचित्य की स्वोक्ति काव्य-शास्त्र के एक चिरन्तन सिद्धान्त का स्वोक्ति है।

अब हम औचित्य-सम्बन्धी कुछ विशिष्ट पक्षों पर पण्डितराज की दृष्टि-कोण जानने का प्रयत्न करेंगे ।



## साधारणीकरण और औचित्य

रसानुभूति में साधारणीकरण एक अनिवार्यतः अपेक्षणीय व्यापार है। उसकी सफलता के लिए कई प्रकार की पृष्ठ-भूमियाँ अपेक्षित हैं, जैसे सन्निवेश-औचित्य, सन्निवेश-तालित्व आदि। किन्तु विभावादि का औचित्य तो उसके लिए सर्वथा अपरिहार्य है। साधारणीकरण एवं औचित्य के सम्बन्ध में हम यहाँ भट्ट नायक, अभिनव तथा पण्डितराज- साधारणीकरण के तीन महान् आचार्यों के दृष्टि-कोण प्रस्तुत करना चाहते हैं।

### भट्ट नायक

साधारणीकरण की प्रतिष्ठा करते समय भट्ट नायक के समक्ष कुछ नैतिकता की समस्याएँ थीं, कुछ यथार्थ की। राम की आलम्बन सीता सामाजिक की विभाव कैसे बन जाती हैं ? देवता-महापुरुषादि के समुद्र-लंघनादि जैसे कृत्य उसके विभावों का काम कैसे करते हैं ? संक्षेप में हम कह सकते हैं, नैतिक औचित्य एवं यथार्थ-सम्बन्धी औचित्य की समस्याओं को सुलझाने के लिए भट्ट नायक ने अपना साधारणीकरण-सम्बन्धी दृष्टि-कोण सामने किया था। हम इस बात की सम्भावना पा चुके हैं कि साधारणीकरण की अभिधा के घरातल पर मान कर भट्ट नायक से पूर्व ही सामने किया जा चुका था। भट्ट नायक की आपत्ति थी कि इस घरातल पर ये समस्याएँ सुलझ ही नहीं सकतीं। उन्होंने भावकत्व के क्षेत्र में साधारणीकरण को रख कर उससे उक्त दोनों प्रकार की समस्याओं का समाधान किया।

औचित्य के साथ साधारणीकरण का घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ते हुए भी भट्ट नायक अपने साधारणीकरण की सीमाएँ निर्धारित नहीं कर सके थे। राम की आलम्बन सीता साधारणीकरण के द्वारा सामाजिक की विभाव बन जाती हैं, हनुमान् के समुद्र-लंघन जैसे कार्य भी उसी के द्वारा विभावों का कार्य सम्पादित कर पाते हैं। किन्तु क्या हर परिस्थिति में सीति के प्रति व्यक्त रति की अनुभूति सामाजिक इसी साधारणीकरण के नाम पर कर सकता है ? रावण की सीता-विषयक रति के वर्णन में भी क्या सीता इसी से सामाजिक की विभाव बन सकती हैं ? तात्पर्य यह कि औचित्य की किस मात्रा तक साधारणीकरण की सम्भावना है, भट्ट नायक ने इस का स्पष्टीकरण नहीं किया। फिर भी इतना स्पष्ट है कि उनके साधारणीकरण-सम्बन्धी दृष्टि-कोण की मूल भित्ति है औचित्य-सम्बन्धी दृष्टि-कोण। जितनी सफ़ाई के साथ वे इस पर सोच सके हैं उतनी ही दूरी तक की समस्याओं का समाधान भी दे सके हैं। पण्डितराज ने भट्ट नायक के मत को प्रस्तुत करते हुए इस अभीष्ट सफ़ाई का ध्यान रखा है।



भट्टनायक के मन्तव्य को और अधिक स्पष्टता एवं व्यवस्था के साथ पण्डितराज इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं:--

"शकुन्तलादीनां सामाजिकान्प्रत्यविभावत्वात्, विना विभावनालम्बनस्य रसादे-  
रप्रतिपत्तेः। न च कान्तात्वं साधारणविभावतावच्छेदकमवाप्यस्ति इति वाच्यम्, अप्रमाण्य-  
निश्चयानालिङ्गितागम्यात्वप्रकारकज्ञानविरहस्य विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य  
विभावतावच्छेदकौटावश्यं निवेश्यत्वात्। अन्यथा स्वप्नादेरपि कान्तत्वादिना तत्त्वापत्तेः।" १

तात्पर्य यह कि शृंगार रस का अनुभूति के लिए सामाजिक का विभाव बनने वाली  
सामग्रा, उदाहरण-स्वरूप नायक-नायिका, के विषय में हमें यह ज्ञान होना चाहिए कि वह  
हमारे अगम्य नहीं हैं। किसी ओर से आने वाला कोई भी प्रमाण इसके विपरीत न हो।  
केवल स्त्रोत्व के आधार पर ही उन्हें विभाव नहीं बनाया जा सकता। तब तो अपनी बहिन  
और स्त्री होने के नाते "विभाव" बनने लगेगी। नायिका के प्रति अगम्यात्व-ज्ञान तथा  
शोक के आलम्बन के प्रति अशोच्यता का ज्ञान रस-प्रतीति के प्रतिबन्धक हैं। उनका कोई  
निरोधक चाहिए ही चाहिए।

"तादृशज्ञानानुत्पादस्तु तत्प्रतिबन्धकान्तरनिर्वचनमन्तरेण दुरुपपादः।" २

और भट्टनायक के अनुसार यह ही भावकत्व व्यापार है जो यह कार्य कर सकता है:--

"तस्मादभिषया निवेदिताः पदार्था भावकत्वव्यापारेणागम्यात्वादिरसकृतसुखमयमुक्तम्  
विरोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा कान्तात्वादिरसानुकूलपरमपुरस्कारेणावस्थाप्यन्ते।" ३

यद्यपि भट्टनायक ने इन विषयों को दूर करने की क्षमता भावकत्व-व्यापार में  
माना है, तथापि उनके इस व्यापार की गति भी एक सीमा तक ही है। और वह सीमा है  
"औचित्य" की। भट्टनायक के साधारणीकरण की कल्पना ही औचित्य के प्रश्न को ले क  
हुई है। और साधारणीकरण का मूल भावकत्व-व्यापार भी एक सीमा तक ही आलम्बनों  
में विभावता ला सकता है। किन्तु भट्ट नायक ने इन सीमाओं का निर्धारण नहीं किया  
अभिनव गुप्त

अभिनव गुप्त ने भी साधारणीकरण की सफलता के लिए औचित्य का तत्त्व  
विभावादि में अनिवार्य रूप में स्वाकृत किया है:--

१- रसगंगाधर : पृष्ठ २४ ।

२- रसगंगाधर : पृष्ठ २४ ।

३- रसगंगाधर : पृष्ठ २४ ।



" विभावाद्योचित्येन हि विना का रसवत्ता कवेरिति।

तस्माद् विभावाद्योचित्यमेव रसवत्ताप्रयोजकं नान्यदिति भावः । " १

यदि कवि विभावादि की उचित भूमि पर कल्पना नहीं कर सकता, तो उसमें रसवत्ता आवेगी ही कहाँ से। और वह सहृदय तक रसवत्ता का संचार करेगा ही कहाँ से। अतः काव्य को रसमय बनाने के लिए अभिनव गुप्त के अनुसार विभावादि का ओचित्य अनिवार्य तत्त्व है।

### निष्कर्ष

इस विवेचन से हम निम्न निष्कर्ष निकाल सकते हैं :-

- १- रसानुभूति वहाँ सम्भव है, जहाँ साधारणीकरण की सफलता हो।
- २- यह अनिवार्य नहीं कि प्रत्येक दशा में साधारणीकरण होता हो। साधारणीकरण वहाँ सम्भव है जहाँ विभावादि की प्रतिष्ठा पूर्ण ओचित्य की भूमि पर हुई हो।
- ३- जहाँ ओचित्य की मात्रा में कुछ भी कमी होगी, वहाँ पूर्ण घनानन्द रस की अनुभूति नहीं होगी। तब पूर्ण विगलित-वेद्यान्तरता के अभाव में जो अनुभूतियाँ होंगी, उन पर रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया भी ज्यों की त्यों लागू नहीं होनी चाहिए।
- ४- सर्वत्र काव्य में अनुभूति रसात्मक ही नहीं होती। ओचित्य का अनुभूति की आभासात्मिक कहा गया है। ओचित्य का कमी में साधारणीकरण की अपूर्णता स्वाभाविक है। अतः रसाभास एवं भावाभास काव्यों में तथा अपूर्ण साधारणीकरण के स्थल वाले काव्यों में विगलित-वेद्यान्तरत्व तथा तन्मयाभवन की दशा न होने के कारण, ऐसे स्थलों की अनुभूति का विवेचन रसानुभूति के विवेचन से कुछ पूर्ण होना चाहिए। उसके साम्य एवं विषम्य का निरूपण पूर्ण से करना चाहिए।

### पंडितराज

भट्टनायक ने अपने साधारणीकरण की सीमाएं निर्धारित नहीं की थीं, किन्तु पण्डितराज उन सीमाओं से परिचित हैं। साधारणीकरण की दुहाई देकर न तो सर्वत्र रसानुभूति हो सकता है, न सर्वत्र काव्यों में रसात्मकता सिद्ध की जा सकती है:-

" आलम्बनताराध्यत्वस्यानुभावगतमिष्यात्वस्य च प्रतीत्या रसानुत्पत्तासापत्तेः। न च साधारणीकरणादाराध्यत्वज्ञानानुत्पत्तिरिति वाच्यम्, यत्र सहृदयानां रसोद्बोधः प्रमाण-सिद्धस्तत्रैव साधारणीकरणस्य कल्पनात्। अन्यथा स्वमातृविषयकपितृरतिवर्णनेपिसहृदयस्य



रसोद्बोधोपापत्तेः । " १

पण्डितराज ने साधारणीकरण का दुहाई देने की अपेक्षा सहृदय-हृदय को अधिक प्रमाण माना है। साधारणीकरण को अनिवार्य मान कर उसके फल-स्वरूप रसानुभूति को सर्वत्र अनिवार्य नहीं कहा। जैसे स्थलों में सहृदयों की रसानुभूति हुआ करता है, वैसे ही स्थलों में साधारणीकरण को कल्पना करना उचित है। जहाँ त्रिगलित-वेगान्तर तन्मयीभाव नहीं होता वहाँ हो जाए, साधारणीकरण दुर्बल मिलेगा, और मिलेगा उसके मूल में निहित "अनौचित्य"। साधारणीकरण तथा औचित्य के परस्पर सम्बन्ध के विषय में पण्डितराज का संक्षेप में यही मन्तव्य है। यह मन्तव्य भट्टनाक एवं अनिव गुप्त का अभिमत एवं उनसे अधिक परिमार्जित है। परिमार्जित इस लिए कि दूसरे पदा की संभावनाएँ दृष्टि-पात के लिए अधिक सुली छोड़ता है।

औचित्य के दो पहलू — नैतिकता एवं यथार्थ

भारतीय काव्य-शास्त्र के इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त के दो पहलू हैं - नैतिकता एवं यथार्थ। देश-काल की अपेक्षा रखते हुए, विषय एवं पात्र की प्रकृति का पूरा ध्यान रख कर साहित्य में जिस औचित्य के विधान की आशा की जाती है, वह "यथार्थ" का ही दूसरा नाम है। औचित्य ने साहित्य को अपने इस यथार्थ-रूप वाले पहलू के द्वारा प्राणवान् किया है। यह "यथार्थ" शुद्ध यथार्थ है, किसी "वाद" के नाम पर "कुत्सा" की आमन्त्रित नहीं करता। इसका कारण है। यथार्थ की चरम सीमा को छूते हुए भी उसका दूसरा पक्ष है "नैतिकता" का। यह पक्ष सदा साहित्य में शिवत्व का साधना करता है। यथार्थ एवं नैतिकता वस्तुतः औचित्य के ही दो पहलू हैं। इन दोनों पहलुओं का सामंजस्य ही भारतीय साहित्य की विशेषता है। और, इस साहित्य के जागरूक समालोचक ने भी औचित्य-सिद्धान्त को अपना कर इसी सामंजस्य के गौरव को सुरक्षित किया है।

पण्डितराज ने जिस व्यापक भूमि पर औचित्य को अपनाया है, उसमें भारतीय दृष्टि-कोण से जोत-प्रोत इस सामंजस्य की भावना पूर्ण-रूपेण निहित है। लोक एवं शास्त्र की विभिन्न परम्पराओं को स्वीकार करके औचित्य के नाम पर जहाँ साहित्यिक नैतिकता की रक्षा हुई है, वहाँ लोक-जीवन को आधार बना कर औचित्य के मान-दण्डों में परिवर्तन-शीलता स्वीकार कर के साहित्यिक यथार्थ की समाविष्ट किया गया है। और, यह कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनों कार्य "औचित्य" की ही परिधि में हुए हैं।



### औचित्य की परिवर्तन-शीलता एवं रूढ़ि

"औचित्य" देश-काल-प्रकृति-सापेक्ष शब्द है। जो बात एक देश में, एक समय, एक व्यक्ति के लिए उचित है, वही बात उससे भिन्न परिस्थिति में कभी उचित प्रतीत होती है। संस्कृत के समालोचना-शास्त्र में जो विधि-निषेध पाया जाता है, और वह सब औचित्य के ही नाम पर पाया जाता है - यह हम देख चुके हैं, उसे उपलक्षण-मात्र समझना चाहिए। उसका उपयोग कला की स्वतन्त्रता के हनन के लिए नहीं होना चाहिए। आपाततः यह प्रतीत होता है कि यह कला-कार की प्रतिभा पर महान् बन्धन लगाया जा रहा है। इन विधि-निषेधों को अपना कर कला की मूल चेतना अक्षुण्ण कैसे रहसकेगी।

### पण्डितराज

पण्डितराज का यह विधि-निषेध ऐसा ही प्रतीत होता है:--

"ब्राह्मणस्य मृगया, बाहुजस्य प्रतिग्रहः, शूद्रस्य निगमाध्ययनम्। - - - - ।  
दरिद्राणामादमाचरणम्, आद्वानां दरिद्राचारः । - - - - । तथापि तत्र भवान् भगवन्  
इत्यादिभिः संबोधने मुनि-गुरु-देवता-प्रभृतय एव, न राजादयः । जात्योत्तमैर्द्विजैरेव नाधमैः  
शूद्रादिभिः, परमेश्वरत्वादिसंबोधने शक्यवर्तिन एव न मुनिप्रभृतयः संबोध्याः ।" १

इस प्रकार के विधि-निषेध कई प्रकार का साहित्यिक भ्रान्तिया उत्पन्न कर सकते हैं। इनसे रूढ़ियों का निर्माण होता है। प्रतिभान-कवियों की बात छोड़िए, शास्त्र-कवि इन के बन्धनों की स्वाकार कर के साहित्य की हीन पथ पर ले जाते हैं। कभी-कभी प्रतिभान-कवियों की प्रतिभा भी इनका आग्रह मान कर साहित्य के उन्मुक्त द्वार अव-रुद्ध हो निकलते हैं। आलोचना भी रूढ़ बन कर संकुचित होने लगती है, और उससे लौट कर पुनः साहित्य प्रभावित होने लगता है। साहित्य में चरित्रों की नूतन रचना उभर कर आने का अवकाश सीमित हो जाता है, और साहित्य निष्प्राण होने लगता है। संसार के प्रत्येक देश का साहित्य काले-विकाले इन रूढ़ियों के कारण निष्प्राणता का अनुभव करता चला आया है। तब पण्डितराज के उपर्युक्त विधि-निषेध को देख कर ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो साहित्य-कला के स्वतन्त्र स्पन्दन नियन्त्रित किये जा रहे हों।



किन्तु पण्डितराज एक प्रौढ समालोचक ही नहीं थे, स्वयं एक प्रतिभा-शाली कला-कार भी थे। अतः वे इन विधियों को सोमा भी पहिचानते हैं। वे इन्हें रस की अपेक्षामें ही स्वाकृत करते हैं। रस की अपेक्षा में वे अनौचित्य का भी स्वागत कर सकते हैं:—

" यावता त्वनौचित्येन रसस्य पुष्टिस्तावत्तु न वार्यते। रसप्रतिकूलस्यैव तस्य निषे-  
ध्यत्वात्। " १

इससे यह स्पष्ट है कि वे औचित्य को इन विधि-निषेधों में नहीं मानते, अपितु इन्हें रस की अपेक्षा में ही स्वाकार करते हैं। औचित्य वही है जो रस का परिपोषक हो। इसी कारण रस का परिपोषक अनौचित्य भी "औचित्य" ही है।

### औचित्य एवं लोक-व्यवहार

रसाभास के विवेचन में औचित्य का मान-दण्ड निर्धारित करते हुए पण्डितराज ने एक बड़ी मार्मिक बात कही है, कि औचित्य-अनौचित्य का निर्णायक है लोक-व्यवहार।

रसभास में अनौचित्य के प्रश्न पर एक समस्या उठावी गयी है। अनौचित्य विभा-वादि में माना जाय या रति आदि भावों में। एक पक्ष का कथन है कि अनौचित्य के आधार विभावादि हैं। अर्थात् विभावादि के अनुचित होने पर रसाभास कहना चाहिए। दूसरे पक्ष को ओर से कहा गया है कि रति आदि भावों के अनुचित रूप में प्रवृत्त होने पर रसाभास मानना चाहिए। यद्यपि दूसरी मान्यता में अपेक्षाकृत अधिक व्यापकता है, २ तथापि दोनों बातें परस्पर सापेक्ष हैं। विभावादि के अनौचित्य के आधार पर ही यह निर्णय किया जा सकता है कि भाव अनुचित रूप में प्रवृत्त हो रहा है। ओर विभाव के अनौचित्य का निर्णय भी भाव के अनुचित प्रवर्तन के बिना नहीं कहा जा सकता। कुछ भी हो, अनौचित्य भावों में हो या विभावों में, अनौचित्य का व्यवस्था का मान-दण्ड लोक-व्यवहार को ही ठहराया गया है।

" विभावाद्यनौचित्यं पुनर्लोकानां व्यवहारतो विज्ञेयम्। यत्र तेषामयुक्तमिति  
धीरिति । - - - - - । अनौचित्यं तु प्राग्वदेव। " ३

१- रसगंगाधर : पृष्ठ ५३ ।

२- " अनुचितविभावोऽलम्बनत्वं रसाभासत्वम्। - - - । तदपरे न क्षामन्ते, मनिपत्न्यादिविषय  
करत्यादेः संग्रहेऽपि बहुनायकविषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च रतेरसंग्रहात्। तस्मादनौचित्येन  
रत्यादिविशेषणार्थः। इत्थं चानुचितविभावोऽलम्बनाया बहुनायकविषयाया अनुभयनिष्ठा-  
याश्च संग्रहः । " ३

रसगंगाधर : पृष्ठ ९९ ।

३- रसगंगाधर : पृष्ठ ९९ ।



अ औचित्य का मान-दण्ड लोकव्यवहार को स्वीकार करना प्राचीन औचित्य की परिवर्तन-शीलता स्वीकार करना है। यह पुस्तकों में लिखे विधि-निषेधों के प्रति विद्रोह की स्वीकृति है। लोक-व्यवहार देश-काल के अनुसार वैकल्पिक तो होता ही है, परिवर्तन-शील भी होता है। पांचालों के व्यवहार में प्राचीनों ने रस माना है, नवीनों ने रसाभासा ऐसा 'ग्यों' हुआ है? इस का कारण यही कहा जा सकता है कि दोनों युगों के दृष्टि-कोणों में परिवर्तन आ गया है, और इस परिवर्तन का एक ही कारण है लोक-व्यवहार के मान-दण्डों की परिवर्तन-शीलता। पण्डितराज कालीन समाधी के मान-दण्डों में निस्सन्देह प्राचीन-काल का अपेक्षा कुछ परिवर्तन हुआ है, और औचित्य की व्याख्या भी उससे प्रभावित हुई है।<sup>१</sup>

लोक-व्यवहार की परिवर्तन-शीलता के विषय में दो बातें नहीं कही जा सकती। और औचित्य के मान-दण्ड के रूप में लोक-व्यवहार को स्वीकृत कर लेने पर औचित्य की परिवर्तन-शीलता स्वतः सिद्ध हो जाती है। पश्चिम के रंगमंच पर किसी ओहशा का अधर-मान यदि जायज है, तो भारतीय हृदय के लिए वह उद्बेक। भारतीय कला में नायिका का झुका हुआ वरुणियां ही उस दृश्य से कहीं अधिक सामर्थ्य रखने वाली मानी गयीं हैं। किन्तु इधर आकर पश्चिमी सभ्यता के आक्रमण से हमारी सभ्यता के पद-क्रम भी बहुत-कुछ बदले हैं। हमारा लोक-व्यवहार, हमारा सामाजिक जीवन, आज बहुत से परिवर्तनों की स्वीकृति दे चुका है। आज वे परिवर्तन भी हमारे औचित्य की सीमा में आ चुके हैं। वे आज हमारे साहित्य में भी आ रहे हैं। और उनकी उद्बेकता शनैः शनैः फीकी पड़ती जा रही है। पण्डितराज ने बहुनायक-विषया रति के आभास का एक उदाहरण दिया है:-

" भवनं करुणावती विशान्ती गमनाजालवलाभलालसेषु।

तरुणेषु विलोचनाब्जमालामयं बाला पथि पातयांबभूव ॥ " २

१- " ज्ञानं किं व्यगमम् :-

व्यानप्राश्चितो चैव स्फारिताः परमाकुलाः।

पाण्डुपुत्रेषु पांचाल्याः पतन्ति प्रथमा दृशः ॥

अत्र - - - पांचाल्या बहुविषयाया रतेरभिव्यञ्जनाद्रसाभास एवेति नव्याः। प्राचस्तु अपरिणेतृबहुनायकविषयत्वे रतेराभासतेत्याहुः। "

रसगंगाधर : पृष्ठ १०१ ।

२- रसगंगाधर : पृष्ठ ७० ।



पण्डितराजकालीन समाज का मान-दण्ड इसे अनुचित कहेगा। अतः तत्कालीन समालोचक समाज के इस प्रतिबिम्ब को "रसाभास" कहता है। किन्तु आज के पश्चिमी समाज की कोई भी माता अपनी "लाडली" के इतने अधिक "कृपाकांक्षी" देखकर उरौजों में स्पन्दन अनुभव कर सकती है, पिता गर्व से गर्दन ऊँची किये बिना न रहेगा। भारत में यदि यही दृश्य ग्रामीण-क्षेत्र में हुआ, तो निर्णय निस्सन्देह पण्डितराज-कालीन समालोचना से मेल लायेगा, किन्तु अपनी नवेली नागरिक सभ्यता में, जहाँ पश्चिमी मानदण्ड बहुत-कुछ स्वीकृत हो कर स्वाभाविक बन रहे हैं, कुछ बल-पूर्वक समाज गले उतार रहा है यह दृश्य रसाभास का नहीं होगा। कारण, हमारा नागरिक लोक-व्यवहार औचित्य के आधार पर उसे स्वीकृति देता जा रहा है।

### निष्कर्ष

अतः साहित्य में रस-निष्पत्ति के लिए भी, तथा चरित्र-विधान के लिए भी, औचित्य का मान-दण्ड है लोक-व्यवहार। लोक-व्यवहार या समाज-सापेक्षता में परम्परा, प्रथा, देश, काल, प्रकृति, संस्कृतियों का परस्पर आक्रान्तित्व, सभी कुछ का समाहार है। इस परिवर्तन-शीलता के साथ औचित्य को स्वीकार कर पण्डितराज ने साहित्य के एक सत्य का उद्घाटन किया है, जिसे कोरा रूढ़िवादी समालोचक स्वीकार नहीं कर सकता था।

पण्डितराज के औचित्य में नतिकता के साथ यथार्थ का अभीष्ट समावेश है। उनका औचित्य रूढ़ नहीं, किन्तु परम्परा एवं आचार्य-परम्परा से भिन्न भी नहीं।

### रसाभास एवं औचित्य

"रसाभास" का आधार अनौचित्य है, यह हम पीछे देख चुके हैं। यह भी देख चुके हैं कि पण्डितराज ने रसाभास के संदर्भ में दो प्रकार के अनौचित्य पर विचार किया है— एक विभावादि का अनौचित्य, दूसरे भाव-प्रवर्तन का अनौचित्य। यहाँ हम यह विचार करना चाहते हैं कि रसाभास का अनौचित्य सृष्टय का अनुभूति को किस रूप में तथा किस मात्रा में प्रभावित करता है।

### रसाभास एवं साधारणीकरण

यद्यपि रस एवं रसाभास को आचार्यों ने एक ही "रस-ध्वनि" के वर्ग में रखा है, तथापि उसे उत्तम या उत्तमोत्तम काव्य कोटि में गिना है, तथापि जहाँ तक अनुभूति



का प्रश्न है, रस की विगलित-वेद्यान्तरता तथा तन्मयता रसाभास काव्य में सम्भव नहीं। जहाँ रस-काव्य पाठक की चेतना को आत्म-लीन करने की पूर्ण क्षमता रहता है, वहाँ रसाभास काव्य में वह क्षमता उसी मात्रा में स्वीकार नहीं की जा सकती। प्रश्न उठता है- क्यों नहीं ? उत्तर स्पष्ट है। विभावादि के, अथवा भाव-प्रवर्तन के अनौचित्य के कारण साधारणोत्तर अपूर्ण रहता है। फलतः सहृदय की चेतना भी वहाँ पूर्ण लीन नहीं हो पाती। पण्डितराज इस तथ्य का उत्तरेस निम्न शब्दों में करते हैं:--

" तत्र रसाभासत्वं रसत्वादिना न समानाधिकरणम्। निर्मलस्यैव रसादित्वात्। " १

### रसाभास की अनुभूति

प्रश्न उठता है कि फिर सहृदय के मन पर रसाभास काव्य की क्या प्रतिक्रिया होती है ? इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि अनौचित्य के कारण रसाभास काव्यों में साधारणोत्तर का अपूर्णता के कारण प्रमाता की चेतना को परिमिति का पूर्ण प्रमोक्षण भी नहीं हो सकता। ऐसी दशा में सहृदय के मानस-पटल पर उपस्थित होकर विभावादि उसके भावों को कुछ हलके रूप में प्रभावित कर के विभिन्न प्रतिक्रियाओं में परिणत हो जाते हैं। प्रथम प्रतिक्रिया तो उन्हीं भावों की होती है, जिन का व्यञ्जन प्रस्तुत विभावादि करते हैं। दूसरी प्रतिक्रियाएँ भिन्न-रूपा होती हैं। उदाहरण-स्वरूप रावण-द्वारा सीता के प्रति व्यक्त रति को हो ले लीजिए। इस प्रकार के काव्य की प्रथम प्रतिक्रिया तो हमारे मन पर रति के उद्बोध रूप में हो होगी, किंतु यह उद्बोधन बड़े हलके स्तर का होगा। वह आस्वादन की सफल कोटि तक नहीं पहुँच सकेगा। इस स्थिति में हमारी चेतना भीतता की अपेक्षा ज्ञाता के रूप में अधिक होगी। और हमारा यह ज्ञातृत्व यदा हम में दूसरी परवर्तिनी प्रतिक्रियाओं को अवकाश देगा। हम आश्रय-पात्र के भाव के औचित्य-अनौचित्य को जोर झुंके लगे। यह हमारी दूसरी प्रतिक्रिया के अन्तर्गत हो होगी। तब हमें रावण के ऊपर क्रोध भी आ सकता है, उसके प्रति घृणा भी उद्बुद्ध हो सकती है, सीता की विवशता का ध्यान कर हम खेद और करुणा से भी भर सकते हैं, रावण की पार्यान्तिक असफलता का ध्यान आकर हमारे मन में उसके प्रति उपहास की भावना भी जाग्रत हो सकती है। इस प्रकार हमारे मन में विभिन्न परवर्तिनी प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं। संस्कृत काव्य-शास्त्र केवल प्रथम प्रतिक्रिया का ही विश्लेषण करता है, द्वितीय का नहीं। द्वितीय प्रतिक्रिया का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक का काम है, साहित्यकार का नहीं। पर-



वर्तिनी प्रतिक्रियाओं को लेकर तो फिर शब्द बड़ा बड़ेड़ा खड़ा होगा। जहाँ जाता के प्रमातृत्व का विगलन न हो, जहाँ उसको पृथक् सत्ता बनी रहे, वहाँ विवेचन असंभव है। उसकी प्रकृति, संस्कृति, स्वभाव, परिस्थिति आदि के कारण न जाने कितने रूपों में ये प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं। मनोविज्ञान का कोई विचारणीय भी उन्हें "इति" में नहीं बाँध सकता। रस-काव्य में भी तो कुछ न कुछ परवर्तिनी प्रतिक्रियाएँ होती हैं। रोहिताश्व के शव पर विलाप करता हुई शौव्या के शोक में एक बार लौन होकर हम अनुवर्ती क्षणों में होउसके महत्त्व में झुक जाते हैं, विश्वामित्र के प्रति क्षोभ की हलकी लहर का संचय करने लगते हैं, सत्य-निष्ठा के प्रति भाव-मग्न हो सकते हैं, अपने असत्य-निष्ठ जीवन के प्रति निर्वेद बटोर सकते हैं, और न जाने क्या क्या ? कोई काव्य-शास्त्र इन परवर्तिनी प्रतिक्रियाओं का निरूपण नहीं कर सकता। कम से कम भारतीय काव्य-शास्त्र ने उसे अपने क्षेत्र से बाह्य समझा। कारण स्पष्ट है, मनोविज्ञान का एक पृथक् शास्त्र के रूप में हमारे यहाँ प्रतिष्ठा नहीं हो पाया था।

### अभिनव गुप्त

यहाँ पूछा जा सकता है, कि यह जो हमने काव्यानुभूति के दो प्रतिक्रियाओं में दिखाया है, वह किस आचार्य की मान्यता के आधार पर या अपनी कल्पना से ? हम इस बात को भारतीय काव्य-शास्त्र की स्वाकृति के आधार पर ही कह रहे हैं। देखिए, रस-काव्यों में परवर्तिनी "व्युत्पत्ति" को अभिनव गुप्त स्पष्ट ही स्वीकृत कर रहे हैं :—

"व्युत्पादनं च शासनप्रतिपादनाभ्यां शास्त्रेतिहासकृताभ्यां विलक्षणम्। यथा राम-स्तथाहमित्युपमानातिरिक्तां रसास्वादोपायभूतां स्वप्रतिभाविबुभारूपां व्युत्पत्तिमन्ते करोतीति कमुपलभामहे। " १

रसाभास में तो यह परवर्तिनी प्रतिक्रिया और भी स्पष्ट रूप में सामने आ जाती है :—

"यदा तु विभावानुभासादुत्पादासौदयस्तदा विभावानुभासाच्चर्वणाभास इति रसाभासस्य विषयः। यथा रावणकाव्याकण्ठे शृंगाराभासः। यद्यपि "शृंगारानुकृतिर्या" तु, स हास्यः" इति मुनिना निरूपितं तथाप्योत्तरकालिकं तत्र हास्यरसत्वम्। " २

१- लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ १९० ।

२- लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ १७७-८ ।



अभिनव कहते हैं, रावण को सोता-विषयक रति में रावण हमारे हास्य का आलम्बन बन सकता है, किन्तु वह प्रतीति ओत्तर-कालिकी है, परवर्तिनी है।

इस प्रकार काव्य-शास्त्र को ग्रि विवेच्य प्रथम प्रतिक्रिया ही रहती है, परवर्तिनी प्रतिक्रिया का विवेचक मनोविज्ञान हो सकता है। आधुनिक काव्य-शास्त्र मनोविज्ञान को भी मान-दण्ड के रूप में साथ लेकर चलता है, इसी कारण वह कुछ व्यापक भी हो गया है। अतः आज के काव्य-शास्त्र को उन परवर्तिनी प्रतिक्रियाओं पर विचार करना चाहिए। पर उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि भाव-जगत् असौम्य है, अतः उसके मान-दण्ड अपर्याप्त हो रहेगे। अतः वह परवर्तिनी प्रतिक्रियाओं के स्वरूप पर नहीं, उनकी सम्भावनाओं पर ही सफल विचार कर सकता है।

यहाँ काव्य के समष्टि-मनोविज्ञान को आधार बना कर एक बात कही जा सकती है। काव्य के पाठक एवं नाटक के दर्शक का प्रतिक्रियाएँ भी वैसी ही होंगी जैसी कवि कराना चाहता है। प्राचीन आचार्यों ने भी माना है कि जब कवि शृंगार-मग्न होता है, तो समस्त विश्व को शृंगार मय चित्रित कर के सद्दय-मान को शृंगार-सिक्त कर सकता है<sup>१</sup> और डा० नगेन्द्र जैसे नवीन आलोचक भी समस्त काव्यानुभूतियों में सद्दय एवं कवि के तादात्म्य की बात कहते हैं।<sup>२</sup> जब कवि के अनुरूप सामाजिक की प्रतिक्रिया होनी है, तो परवर्तिनी प्रतिक्रिया की अनन्तता का प्रश्न ही नहीं उठता। उसका तो विश्लेषण सम्भव है ही। किन्तु इस तथ्य को स्वीकार कर लेने पर भी कि सामाजिक प्रतिभाशाली कलाकार के दृष्टिकोण से देखने को मजबूर होता है, कोई विशेष नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। कवि के साथ सामाजिक के तादात्म्य का अर्थ है कवि के दृष्टि-कोण के साथ सामाजिक के दृष्टि-कोण की समतलता। ऐसा मानने पर भी अनुभूति की कोई गंभीर समस्या नहीं सुलझती। इससे एक ही उपयोगी बात ग्रहण की जा सकती है कि

१- "शृंगारी चेतकविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।

स एव नीतरानन्दे निरसं सर्वमिव तत् ॥ "

ध्वन्यालोक : पृष्ठ ४९८ ।

२- "रति-काव्य की भूमिका " : डा० नगेन्द्र : पृष्ठ ४८ ।



समस्त काव्यानुभूतियों में हमारा दृष्टि-कोण आलम्बित के प्रति वही नहीं रहता जो काव्य में वर्णित आश्रय पात्र का होता है। किन्तु रसाभास काव्यों में अनुभूति का स्वरूप क्या होता है, इस बात का समाधान नहीं होता। जिस रति को कवि ने आभास रूप में अपने शब्दों में चित्रित किया है, उसका उद्बोध किस प्रकार का तथा किस रूप में होता है, यह बात नहीं सुलभ सकती। उस रति के प्रति हमारी व्युत्पत्ति का स्वरूप तो, परवर्तिनी प्रतिक्रिया का स्वरूप तो, कुछ अंशों में उसके आधार पर समझा जा सकता है। किन्तु हम कह चुके हैं कि परवर्तिनी प्रतिक्रियाओं के विश्लेषण को भारतीय आचार्य अपना लक्ष्य नहीं बनाते। हाँ, उसका संभावनाओं को अवकाश छोड़ते हैं।

तो, अब आइए रसाभास काव्य का प्रथम भावात्मक प्रतिक्रिया पर। अभिनव गुप्त रावण के सीता-विषयक विप्रलम्भाभास का निम्न उदाहरण समीक्षा के लिए सामने रखते हैं :--

" दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुति

चेतः कातकलामपि प्रकुरुते नावस्थितं तां विना । " १

" दूर से खींच लेने में समर्थ, मोह-मन्त्र के समान उस सीता का नाम जब से मेरे सुना है, चित्त उसके विना चैन नहीं पा रहा है । "

अभिनव कहते हैं कि यहाँ यह कहा जा सकता है कि यहाँ रति ही नहीं है, क्योंकि "रति" मानने के लिए परस्पर स्नेह-संबन्ध अपेक्षित है, जो सीता एवं रावण के बीच नहीं है। तो अभिनव इसका समाधान करते हैं- यहाँ रति कहता ही कौन है, हम तो रत्याभास कह रहे हैं :--

" ननु नात्र रतिः स्थायिभावो ऽस्ति, परस्परास्थाबन्धाभावात्, ।

कैतदुक्तं रतिरिति, रत्याभासो हि सः । - - - । अत एव तदाभासत्वं वस्तुतस्तत्र स्थाप्यते शुक्ती रजताभासवत् । " २

अभिनव रसाभास को ठीक उसी प्रकार मानते हैं जैसे शुक्ति में रजत का आभास। शुक्ति में रजतत्व का भान कर के जैसे कोई उसके पाने के लिए दौड़ पड़े, ठीक वैसे ही



रावण सोता में आलम्बनत्व का भान करके उन्हें पाने के लिए विकल हो रहा है। यह आभासात्मक रति की आश्रय-मात्र-गत व्याख्या है। हम सहृदय-गत अनुभूति का विश्लेषण चाहते हैं। अपनी इस "आभास" की व्याख्या के साथ उन्होंने भरत की संगति भी जोड़ी है।

" एतच्च शृंगारानुकृतिशब्दं प्रयुज्जानो मुनिरपि सूचितवान्। अनुकृतिरमुख्यता आभास इति ह्येकोऽर्थः। अत एवाभिलाषो एकतरनिष्ठोपि शृंगारशब्देन तत्र तत्र व्यवहारस्तदा-भासतया मन्तव्यः । " १

अनुकृति, अमुख्यता, आभास - इन सब का अभिनव के अनुसार एक ही अर्थ है। रस का आस्वादन तो मुख्यतया व्यक्त रति आदि भावों में होगा, अमुख्य या आभास-रूप भाव में नहीं।

" रस-ध्वनिस्तु स एव योऽत्र मुख्यतया विभावानुभावव्यभिचारिसंयोजनोदितस्थिति-प्रतिपत्तिमस्य प्रतिपत्तुः स्थाय्यं शर्चवणाप्रयुक्त एवास्वादप्रकर्षः । " २

फिर भी इस आभासात्मक या अमुख्य रति के साथ सहृदय के हृदय का सम्बन्ध है। प्रथम प्रतिक्रिया में सहृदय इसी आभासात्मक रति का अनुभव करता है, उसके हृदय में भी रति का एक हलका उद्बोध होता ही है। किन्तु उसमें उसको चेतना लीन नहीं हो पाती। उसके ज्ञानात्मक अंश पर नींद का जादू नहीं पड़ पाता, किन्तु यह कौन कह सकता है कि उसमें प्रस्तुत भाव का सर्वथा उदय ही नहीं होता। इसलिए अभिनव का विवेचन :—

" अनोचित्येन प्रवृत्तो चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्मयिन्वा रसो, व्यभिचारिण्या भावः। अनोचित्येन तदा रसः। रावणस्यैव सोतायां रतेः। यद्यपि तत्र हास्यरसरूपतेव, शृंगारादिव भवेद्हास्यः। " इति वचनादात्रापि पाश्चात्येयं सामाजिकानां स्थितिः, तन्मयी भवनदशा-यां तु रतेरेवास्वाद्यतति शृंगारतेव भवति, पौर्वापर्यविवेकावधारणेन "दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिम्" इत्यादौ। तदसौ शृंगाराभासः। " ३

अभिनव तो यह भी स्वीकार करते हैं कि एक बार को तो, एक क्षण के लिए ही सही, सामाजिक रूप "रति" में तन्मय भी हो जाता है, किन्तु जैसे ही उसे अनोचित्य का ध्यान आता है, उसकी चेतना फट से परवर्तिता प्रतिक्रियाओं में उन्मुख हो जाती है।

१- लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ १७९ ।

२- लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ १७९ ।

३- लोचन : ध्वन्यालोक : पृष्ठ ७९ ।



"तन्मयो भवन् दशायां रतेरेवास्वातेति शृंगारतेव भाति"। अभिनव के इस दृष्टि-कोण को स्पष्टित रामभारक और स्पष्ट करते हुए कहते हैं :—

"अनादीसहृदयानां साता विषयकरावणरतेस्तन्मयोभावेनास्वातेति शृंगारचर्चणैव, पश्चात्तद्विद्वदनुचितालम्बनकत्वज्ञानेन तद्विषयकहासोद्बोधाद्वास्यचर्चणा शृंगारचर्चणा च तदाभासचर्चणैवेति । " १

इस प्रकार अभिनव गुप्त के अनुसार सहृदय की रसाभास की अनुभूति में प्रथम प्रतिक्रिया प्रस्तुत भाव का होती है, परवर्तिनी किसी अन्य भाव की, इसी लिए उसे रसाभास कहा जाता है। उदाहरण-स्वरूप शृंगाराभास में प्रथम प्रतिक्रिया शृंगार की होती है, द्वितीय हास्य आदि की, अतः वह शृंगाराभास है। रस की अनुभूति में प्रथम एवं द्वितीय प्रतिक्रियाएं परस्पर अनुकूल होती हैं।

निष्कर्ष

इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि:-

- १- रसाभास काव्य की अनुभूति में स्पष्ट हो दो प्रतिक्रियाएं होती हैं।
- २- प्रथम मानसी प्रतिक्रिया उसी प्रस्तुत भाव की होती है जिसका काव्य-गत आशय एवं आलम्बन के माध्यम से कवि चिरूपण कर रहा है। दूसरी प्रतिक्रिया उससे भिन्न होती है।
- ३- रसाभास में प्रथम प्रतिक्रिया में रसानुभूति की प्रक्रिया से बहुत कुछ साम्य होते हुए भी विगलित-व्ययान्तरता का महान् अन्तर होता है। इस की अनुभूति में तन्मयता की मात्रा क्षीण होती है।
- ४- प्रथम प्रतिक्रिया के क्षीण होने के कारण ही द्वितीय प्रतिक्रिया का स्वरूप अधिक स्पष्ट होता है।
- ५- द्वितीय प्रतिक्रिया का स्वरूप नाना-मुखी होने के कारण तथा रस में भी कुछ कालान्तर में विविध प्रतिक्रियाएं होने की संभावना के कारण भास्योप-काव्य-शास्त्र उसका विवेचन नहीं करता।
- ६- रसाभासों एवं भावाभासों के नाम प्रथम प्रतिक्रियाओं के आधार पर ही चलते हैं।



### पण्डितराज

पण्डितराज के अनुसार रसाभासों को दो रूपों में समझा जा सकता है। एक-हेतुवाभास के रूप में, दूसरे "अश्वाभास" के रूप में। अभिनव ने शुरुआत में रजताभास के रूप में रसाभास को समझाने का प्रयत्न किया था। उनको दृष्टि आश्रय पात्र का जोर अधिक उन्मुख था, पण्डितराज को सहृदयता और अधिक।

#### रसाभास - "हेतुवाभास" के रूप में

न्याय की दृष्टि से जैसे हेतु एवं हेतुवाभास में अन्तर किया जाता है, वैसे ही रस एवं रसाभास में अन्तर किया जा सकता है। यह एक पक्ष को मान्यता है। किन्तु यह दृष्टि-कोण रसाभासों के विषय में पूरा नहीं उतरता। नैयायिक हेतुवाभासों को हेतु का समानाधिकरण नहीं मानता। उसका हेतुवाभास एक मिथ्या हेतु है। उसका वस्तु के ज्ञान में सिवाय अज्ञान उत्पन्न करने के और कोई उपयोग नहीं है। इस रूप में रसाभासों को मानने का अर्थ होगा उनका अनुभूति में रस या आनन्द की सत्ता से बिल्कुल इन्कार करना। यह ठीक है कि पारिभाषिक रूप में हम जिसे रस कहते हैं, वह पूर्ण धनानन्द की स्थिति रसाभासों में नहीं होती, तथापि, जैसा कि हम अभिनव का दृष्टि-कोण उपस्थित करते हुए देख चुके हैं, एक हल्की कोटि का उसी भाव का उद्बोधन, जिसमें कि अभिनव के अनुसार तन्मयता की भी कुछ न कुछ मात्रा होती है, रसाभासों में होता ही है। भले ही वहाँ प्रमाता की चेतना विगलित-वेचान्तरता की सोमा तक न पहुँची हो। अतः न्याय की दृष्टि से रसाभासों की व्याख्या ठीक नहीं। तब पण्डितराज दूसरी मान्यता प्रस्तुत करते हैं।

#### रसाभास - "अश्वाभास" रूप में

दूसरी मान्यता का प्रारम्भ तक कहा है, कि रसाभास में भाव-प्रवर्तन में अनौचित्य होता है, भाव का अभाव नहीं होता है। अनौचित्य से स्वरूप-हानि नहीं होती, अकमूल्यन हुआ करता है। अतः दूसरे पक्ष का स्पष्ट आक्षेप है :--

" न ह्यनुचितविनामिहानिः, अपितु सदोषत्वादाभासव्यवहारः । " २

तब रसाभास को किस रूप में समझना चाहिए :--

" अश्वाभासादिव्यवहारवदित्युक्ते " । ३

१-१

१- " हेतुवाभासत्वमिव हेतुत्वेनेत्युक्ते " । रसगंगाधर : पृष्ठ ९९ ।

२- रसगंगाधर : पृष्ठ ९९ ।

३- रसगंगाधर : पृष्ठ ९९ ।



किसी दोष से युक्त अश्व को हम "अश्वाभास" कह देते हैं। क्या उसे आभास कह देने से उसका अस्तित्व ही नहीं रहा? यहाँ बात रसाभास के विषय में कही जा सकती है। अनौचित्य ने सहृदय की चेतना को पूर्णतः लान नहीं होने दिया तो क्या भावोद्बोध भी नहीं होने दिया ?

यह दृष्टि कोण अपेक्षाकृत अधिक कड़म रखता है। निर्दोष-सदोष भाव की सत्ता मान कर ही अनुभूति का विश्लेषण करना उचित है। तभी उसे भावात्मक आनन्द की कोटि में गिना जा सकता है।

### अौचित्य का योग-दान

इस प्रकार हम देखते हैं कि रसाभास को विभिन्न समस्याओं को सुलझाने में अौचित्य के तत्त्व का बड़ा योग-दान है। पण्डितराज ने स्पष्ट ही इसका उपयोग करते हुए रसाभास की गुत्तियों पर प्रकाश डाला है। अनौचित्य की चेतना भावोद्बोधन होने पर भी सहृदय के व्यक्तित्व को घुलने नहीं देती। किन्तु अभिनव के शब्दों में अमुख्य रूप में, भरत के शब्दों में अनुकृति रूप में, तथा पण्डितराज के शब्दों में "हेत्वाभास" रूप में या फिर और संगत शब्दों में "अश्वाभास" के रूप में भावोद्बोध को नहीं रोकती। इसी भावोद्बोध को लेकर रसाभास कहा जाता है, न कि परवर्तिनी प्रतिक्रियाओं के आधार पर।

### एक और प्रश्न

रसाभास एवं अौचित्य के परस्पर संबंध के ही संदर्भ में एक प्रश्न और सामने आता है। रसाभास का अनौचित्य सामाजिक के आह्लाद के स्वरूप को कहाँ तक प्रभावित करता है ? क्या इन स्थितियों में भी सहृदय आह्लादित होता है ? तार्प्य यह कि रसाभास काव्य में कहाँ तक आनन्द माना जा सकता है ?

दार्शनिक चराचर पर आपको ले जाकर इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन नहीं है। अभिनव की दृष्टि से जहाँ आत्म-परामर्श के कारण प्राप्त संविद्विश्रान्ति ही आनन्द का कारण माना जाता है, वहाँ भी कोई कठिनाई नहीं, तथा पण्डितराज के वेदान्ती दृष्टि-कोण से भी नहीं। अभिनव तो अपना इस मान्यता के आधार पर वैयक्तिक आनन्दों को भी एक-रूपता प्रतिपादित कर सकते हैं। वेदान्त की दृष्टि से भी आनन्द है आत्मा का स्वरूप। काव्यानन्द में अपना ही चित् का स्वरूपानन्द अभिव्यक्त होता है। रति आदि की उपाधि से आवृत, अन्य उपाधियों से मुक्त। यह चित् का आनन्द सदोष रति की भी ,



अनुचित रति की उपबन्धि को भी प्रकाशित कर सकता है। अथवा यों कहिए, सदोष रति को उपाधि से आवृत चेतन्य का प्रकाश भी आनन्दोत्पत्तिक हो सकता है। कारण, यहाँ भी प्रमातृ-चेतना के बाह्य बन्धन शिथिल हो चुके हैं। अतः भले ही यह स्थिति निर्मल रस की पूर्ण अनानन्दता से भिन्न हो, तथापि यह एक प्रकार का ~~अनन्यप्रकीर्णित~~ भावानन्द है। यह स्वीकार करना पड़ेगा। इसी दृष्टि-कोण को अपना कर प्राचीन आचार्यों की परम्परा आभासात्मक भावानन्द को विशुद्ध रस के साथ गिन कर "रस-ध्वनि" के एक ही वर्ग में गिनती है।

यह दार्शनिक व्याख्या अधिकांश स्थलों में ठीक उतर कर भी, अनेक स्थलों पर अपनी मनोवैज्ञानिक संगति में कुछ अव्यावहारिक प्रतीत हो सकती है। रसाभास काव्यों में आनन्द मानने का अर्थ यह होगा कि सीता-विषयक रावण की अनुचित रति में भी सामाजिक आनन्द उठाता है। किन्तु यदि सामाजिक सीता के प्रति कुछ भी सांस्कृतिक आस्था रहता है, तो यह कैसे संभव हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में हमें यही समझना चाहिए कि रसाभास की अनुभूति की प्रथम प्रक्रिया अत्यन्त क्षीण होती है, यह हम देख चुके हैं। इन की अनुभूति में प्रमातृ-चेतना न तो पूर्णतः अपनी वेद्यान्तरता से छूट ही पाती है, और न आनन्द का घनता उसे मिल पाती है। एक ओर बाह्य विषयों की वेद्यान्तरता से वह मुक्त होकर भी, दूसरी ओर अनौचित्य के कारण दूसरी वेद्यता में, एक दूसरे प्रकार की वेद्यान्तरता में आ जाती है, और आनन्द का स्वरूप व्यक्त-गत भावों के आस्वादन में परिवर्तित हो जाता है। इन बाह्य विषयों के आस्वादन में जो कुछ आह्लाद का अंश होता है, - क्योंकि हम ऐसे काव्यों को भी रुचि-पूर्वक पढ़ते हैं - वह इस लिए कि यहाँ प्रमातृ-चेतना बाह्य-वेद्यान्तरों से मुक्त है। अतः यही माना जाना ठीक है कि रसाभासों में "रस" के समान-कोटि का भावात्मक आनन्द न होते हुए भी एक विशिष्ट प्रकार का भाव-आनन्द उत्पन्न होता है।

रसाभास में अनौचित्य की विविध मात्राएँ

प्रत्येक रस के आभास की अनेक स्थितियाँ हमारे समक्ष आ सकती हैं। उन सब में अनौचित्य की मात्रा भी एक सी संभव नहीं है। पण्डितराज ने इसी दृष्टि-कोण से प्राचीन परम्परा से मान्य रसाभास के कई रूपों को चर्चा की है। रसाभास ४ प्रकार का हो सकता है :--



" उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च ।

बहुनायकनिष्ठायां रती तथानुभयनिष्ठायाम् ॥ " १

उप-नायक-विषयक, मुनि-गुरु -राज-दि-पत्नी-विषयक, बहुनायक-विषयक एवं अनुभय-निष्ठ रति के आभासों में अनौचित्य की मात्रा एवं स्वरूपों का भिन्न-भिन्न होना ही स्वाभाविक है।

सीता-विषयक रावण की विप्रलम्भ रति की अपेक्षा उसकी संभोग रति अधिक उद्देजक होगी। सम्भवतः उपनायक-विषयक रति को मध्य-काल ने एक सामाजिक स्वीकृति प्रदान कर दी थी। परिणामतः दम्पति की अनुभय-निष्ठ रति तो और भी कम उद्देजक हो सकती है। कालिदास का शिव-पार्वती-विषयक शृंगार नैतिक सामाजिक की चेतना को निस्सन्देह विश्रान्त नहीं होने देगा। तथापि रावण की सीता-विषयक संभोग-रति में तथा कालिदास के शिवपार्वती-विषयक संभोग-शृंगार की अनुभूतियों में अन्तर होना ही संगत है। प्रेम-सीता-विषयक रावण की रति - में सहृदय की रत्युद्बोध की प्रथम प्रतिक्रिया अत्यन्त अल्पकालिक होकर शीघ्र ही द्वितीय परवर्तिनी प्रतिक्रिया में परिवर्तित हो जायगी। किन्तु द्वितीय - शिवपार्वती-विषयक रति में - परवर्तिनी प्रतिक्रिया सामाजिक के व्यक्तित्व को सिमित-सिकुड़ कर एक कोने में बैठ जाने के लिए भले मजबूर करे, किसी पर रोष-क्रोध का अवसर नहीं देगा। कुमार-संभव के उक्त सर्ग को पढ़ते समय सहृदय का मन जब जब अनौचित्य के नैतिक पक्ष की ओर सेहट-हट जाता है, तभी-तभी उसका भावी-द्वेष भी उभर जाता है। जब जब नैतिकता का आग्रह बढ़ जाता है, भावीद्वेष दब जाता है। कोई आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसा पाठक हुआ तो वह अपने निजी आलम्बन को अथवा किसी कल्पित आलम्बन को वहाँ बाँस में लाकर प्रतिष्ठित कर सकता है। यह भी हो सकता है कि सामाजिक एक बार नैतिकता के बन्धन तोड़ कालिदास की अभिव्यक्ति रति में प्रवेश करना चाहे। किन्तु इन सभी स्थितियों में प्रेम-क्षणीय भावीद्वेष को अस्वीकार

१- रसगंगावली : पृष्ठ १०० ।

२- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : साधारण्यकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद : चिन्तामणि

" पर भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामंजस्य के बिना पूरी और भाग १, पृष्ठ २२६-७

" सच्चा रसानुभूति हो नहीं सकता। केवल भाव-प्रदर्शक काव्यों में भी होता यह है कि "पाठक या श्रोता अपनी ओर से अपनी भावना के अनुसार आलम्बन का आरोप किये रहता है।



नहीं किया जा सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन समस्त सूक्ष्म चेतनाओं के मूल में औचित्य का तत्त्व ही निर्णायक के रूप में काम करता है। भारतीय काव्य-शास्त्र के इस महत्व-पूर्ण एवं निर्णायक तत्त्व को चेतना पण्डितराज में अत्यन्त जागरूक है।

### परम्परा-पालन का औचित्य

पण्डितराज का शास्त्राय प्रतिभा को जहाँ औचित्य के तत्त्व ने विभिन्न रूपों में प्रभावित किया है, वहाँ एक और रूप के औचित्य का प्रभाव उन पर परिलक्षित होता है। वह है प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं की सुरक्षित रखने का औचित्य। इसे हम परम्परा-पालन सम्बन्धी औचित्य कह सकते हैं। देखने में तो हमका सम्बन्ध रसादि काव्य-सिद्धान्तों से बहुत दूर का लगता है, किन्तु इस औचित्य ने पण्डितराज के साहित्य-सिद्धान्तों को रसगंगाधर में साक्षात् प्रभावित किया है। पण्डितराज की आलोचना-प्रतिभा बड़ी मौलिक है, साथ ही बड़ा सूक्ष्म एवं तीक्ष्ण भाव। वे अपनी समाधा-चेतना को नये पथ पर ले जाकर स्वतन्त्र दृष्टि-कोण सुझाते हैं। किन्तु पुराने मान्यताएँ बनी रहें, इसलिए नयी उद्भावनाओं द्वारा उन्हें आक्रान्त नहीं होने देते। अपने समकालीन आचार्यों के साथ, जिनके साथ उनके सम्बन्ध अच्छे नहीं, वे कितने उद्धत हैं, यह अल्पवय को आलोचना में स्पष्ट देखा जा सकता है। किन्तु वे प्राचीन आचार्यों के प्रति कितने विनीत हैं, यह देख कर आश्चर्य होता है। पुरातन मान्यताओं में यदि कोई बहुत बड़ा भूल उन्हें दिखायी नहीं पड़ती, तो वे उन्हें सुरक्षित रखना चाहते हैं। सबसे अधिक सम्मान भरत का है। उदाहरण-स्वरूप रस-रसना का ही प्रश्न ले लीजिए। भक्ति-रस में वात्सल्य-रस साहित्य को साक्षात् पर स्वतन्त्र अस्तित्व की मांग करते हैं। कृष्ण-भक्ति का विशाल साहित्य उनके समक्ष फँसा हुआ था। नूर के साहित्य के रहते इन दो रसों को स्वतन्त्र सत्ता से इन्कार करना, और उन्हें केवल "रति-भाव" कहना कठिन सा था। किन्तु पण्डितराज उनका महत्व-पूर्ण स्थिति की स्वयं प्रमाणित करके भी, इन भावों को मर्मट के अनुसार "भाव" ही कहते हैं। कारण है, प्राचीन मान्यताओं को जहाँ तक सम्भव हो, नष्ट करने देना चाहिए। नहीं तो और भी प्रश्न उठाने जा सकते हैं। कामिनो-विषयक रति को "भाव" कहिए, भगवद्विषयक को "रस"। जुगुप्सा, एवं राग भी शुद्ध भाव कहे जा सकते हैं। उन्हें भी "रस" नहीं कहना चाहिए, क्योंकि उनमें भी प्रमाता की चेतना अमिश्र ज्ञान की अनुभूति नहीं करती, किन्तु इन मामूली बातों के लिए उन्हें



भरत को मान्यता विदात करना अभिप्रेत नहीं है:--

" भरतादिमुनिवचनानामेवात्र रस-भावत्वादि व्यवस्थापकत्वेन स्वातन्त्र्यायोगात्।

----- । रसानां नवत्वगणानां च मुनिवचननियन्त्रिता भव्यत, इति यथा-

शास्त्रमेव ज्यायः । " १

यही दृष्टि-कोण भाव-संख्या के विषय में भी अपनाया गया है:--

" हर्षादियस्तु - हर्षास्मृति- - - - वयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणः । गुरुदेवनृपपुत्रादि-  
विषया रतिश्चेति चतुस्त्रिंशत् । एतेन वात्सल्याख्यं रसान्तरमिति परास्तम्।

उच्छृङ्खलतायां मुनिवचनपराहृतिवात् । " २

मात्सर्य, उद्वेग, दम्भ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्लेश, क्षमा, कुतूह, उत्कण्ठा, विनय, संशय, घाष्ट, और न जाने ऐसे कितने छोटे-छोटे नवीन भाव साहित्य में बिखरे पड़े हैं, किन्तु भरत को गिनो-गिनायो ३३ संख्या में नहीं समाते। तर्क कहता है, उन्हें मान्यता मिलनी चाहिए। किन्तु नहीं। अन्य भावों में इनका अन्तर्भाव कर के भी तो काम चलाया जा सकता है। पण्डितराज यह जानते हैं कि जिन भावों में इनका अन्तर्भाव किया जायगा, उनसे इनमें भिन्नता अवश्य है, फिर भी ऐसे भावों में इनका अन्तर्भाव कर हो लेना चाहिए, जिनकी स्थिति "नान्तरोक्त" रूप से पायी जाती हो। जैसे असूया में मात्सर्य का, क्रोध में उद्वेग का। उनमें वास्तविक भेद होते हुए कम से कम एक पक्ष तो समान है ही। अन्तर्भाव के लिए उसे ही प्राप्त समझ लेना चाहिए:--

" वस्तुतस्तु सूक्ष्मे भेदेऽपि नान्तरोक्तया तदनतिरिक्तस्यैवाध्यवसायात् । " ३

क्यों नहीं पण्डितराज इन सब बातों को सिद्ध कर के समालोचना-शास्त्र में क्रान्ति मचा कर अपना नाम पुण्य-पथ-निर्माता आचार्यों में परिगणित करा लेते। उनके पास वह तर्क-शक्ति एवं प्रतिपादन-शक्ति है। किन्तु उन्हें यह अभीष्ट नहीं है। जहाँ तक मुनि-वचन का

१- रसगंगाधर : पृष्ठ ४६ ।

२- रसगंगाधर : पृष्ठ ७६ ।

३- रसगंगाधर : पृष्ठ ९८ ।



पालन संभव हो सके, जब तक किसी मूल सत्त्व की अवहेलना न होती हो, ऐसी बातें पण्डितराज की दृष्टि में "उच्चरुलता" है, जो कि स्वयं एक महान् "अनौचित्य" है :—

"मुनिवचनानुपालनस्य संभव उच्चरुलताया अनौचित्यात्।" १

इस अनौचित्य के भार ने पण्डितराज की प्राचीन आचार्यों के प्रति पर्याप्त विनय-शील बनाया है। आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त, एवं मम्मट तीनों ध्वनि-वादियों में से किसी से भी जब ऐकमत्य स्थापित नहीं कर पाते, अपनी मान्यताओं को उन पर बिना आच्छादित किये उन प्राचीन आचार्यों की ही सिद्धान्त पक्षा में रखते हैं, अपने मन्तव्यों को केवल एक मत-भेद के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। अपेक्षाकृत मम्मट के निराकरण के तो साक्षात् अवसर भी आ जाते हैं। फिर भी उनकी मान्यताओं के प्रति पण्डितराज में पूरी पूरी आस्था है। प्राचीनता के प्रति इस सहानुभूति ने ही अलंकार-वाद तथा रीति-वाद को अपेक्षाकृत अधिक समझने की क्षमता प्रदान की है।

इस प्रकार इस परम्परा-पालन-सम्बन्धी अनौचित्य के दृष्टि-कोण ने पण्डितराज की कुशाग्र एवं तर्क-प्रवण प्रतिभा को बड़ा ही संतुलित रखा है। तथा भारतीय काव्य-शास्त्र की एक दृढ़ नाँव जमाने में बड़ी सहायता की है। यदि आधुनिक युग के समान अपनी नयी लीक चलाने की उनमें दौड़ होती, तो निस्सन्देह काव्य-शास्त्र में बड़ी क्रान्तियाँ आ गयीं होतीं क्यों कि उन के पास गम्भीर अध्ययन था, शक्ति-शालिनी भाषा थी, प्रौढ़ तर्क-पद्धति का बल था। वे यदि चाहते तो ऐसा कर सकते थे। इस दृष्टि से परम्परा-पालन के अनौचित्य का रसगोष्ठापर में एक विशिष्ट स्थान है। अन्य तर्कों के साथ हमें इसे भी नहीं भुलाना चाहिए।



---

## अष्टम अध्याय

( मूल्याङ्कन )

पृ० ४१५—४२५

---



### मूल्याङ्कन

विगत अध्यायों में हमने रसगंगाधर में से कुछ महत्व-पूर्ण विषय चुन कर पण्डितराज को आचार्य-चेतना का समीक्षा किया है। इस समीक्षा में हमने आवश्यकतानुरूप ऐतिहासिक, व्याख्यात्मक एवं तुलनात्मक पद्धति का अवलम्बन करते हुए पण्डितराज की समझने का प्रयास किया है। इस प्रयास के फल-स्वरूप हम कुछ निष्कर्षों पर भी पहुँचे हैं। अब हम इस स्थिति में हैं कि उन निष्कर्षों पर फिर से एक बार दृष्टि डालते हुए पण्डितराज के महत्व का मूल्याङ्कन कर सकें, तथा संस्कृत साहित्य-शास्त्र में उनका स्थान निर्दिष्ट कर सकें।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि पण्डितराज के कई सौ वर्ष पूर्व ही काव्य-शास्त्र के मूल सिद्धान्त परिनिष्ठित हो चुके थे। ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा ने काव्य-शास्त्र को एक सर्वाङ्गोण व्यापक दृष्टि प्रदान कर दी थी, तथा अभिनव ने ध्वनि-वाद की भूमिका में शैवाद्वैत की सहायता से रस-सिद्धान्त की पूर्ण मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत कर दी थी। इन उपलब्धियों के विरोधी स्वरो का मुख-मुद्रण करते हुए आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रकाश के रूप में साहित्य-शास्त्र को एक व्यावहारिक मार्ग-प्रदर्शक दीप प्रदान कर दिया था। शताब्दियों से साहित्य-शास्त्र उसी दीप के प्रकाश में अपना पथ तय करता चला आ रहा था। इस प्रकार मूल सिद्धान्तों की उद्भावना एवं प्रतिष्ठा का कार्य एक प्रकार से समाप्त-प्राय था। किन्तु मौलिक उद्भावना एवं प्रतिष्ठा के अनन्तर भी जिस परिमार्जन, शास्त्रीयता, सूक्ष्मता एवं व्यवस्था की आवश्यकता होती है, वह अभी नहीं दिखायी पड़ रही थी। मूल सिद्धान्तों का सनिज स्वर्ण आनन्द-वर्णन तथा अभिनव गुप्त के द्वारा निकाला गया था, मम्मट ने उसे सामान्यतः साफ़ कर के व्यवहारोपयोगी बना कर सामने रख दिया था। किन्तु अभी उसका पूर्ण शोधन कर, तर्क एवं प्रतिभा की अग्नि में तपा कर पूर्ण परिशुद्ध करके "वारहवानी" बनाने का कार्य शेष था। यह कार्य पण्डितराज के द्वारा निष्पन्न हुआ। पण्डितराज का सब से बड़ा योग-दान है साहित्य-शास्त्र को सच्चे अर्थों में "शास्त्र" बनाना। उसके सिद्धान्तों की शास्त्रीय प्रतिष्ठापना करना, उनके विषय में एक परिमार्जित व्यवस्था देना।

इस प्रकार की शास्त्रीय प्रतिष्ठा के लिए जिस प्रकार की सूक्ष्मावगाहिनी एवं परिनिष्ठित भाषा की आवश्यकता होती है, सौभाग्य से वह पण्डितराज के पास थी। नव-न्याय के अध्ययन ने वैसी भाषा एवं शैली पण्डितराज को प्रदान की थी। उनके विवेचन में इस शैली के स्पष्टतः दो फल निकले हैं— एक तो विषय को "बाकन तोले, पाव रत्तो" निरूपित करने की क्षमता आना, दूसरे विवेच्य विषय के चारों ओर एक गम्भीर वातावरण की सृष्टि कर देना। किन्तु इसका एक विपरीत दिशा में भी फल निकला है। रस-गंगाधर सामान्य पाठक के लिए, काव्य-शास्त्र के सामान्य विद्यार्थी के लिए दुरूह हो गया है। नैयायिक प्रक्रिया से अपरिचित व्यक्ति के लिए वह एक प्रकार से अगम्य हो गई है। किन्तु पण्डितराज जिस उद्देश्य को सामने रख कर चले थे, काव्य-शास्त्रीय मान्यताओं की सूक्ष्म व्यवस्था का वह उद्देश्य सम्भवतः ऐसी भाषा के बिना सम्पन्न भी न होता। एक प्रकार से यह पण्डितराज की विव-शता भी थी कि वे इस प्रकार की भाषा एवं शैली को अपना माध्यम बनायें।



इस प्रकार रसगंगाधर में मौलिकता का दोन मुख्यतया नूतन-सिद्धान्त-निर्माणात्मक नहीं है, व्यवस्थात्मक है। पण्डितराज एक ध्वनि-वादो आचार्य थे। वे भरत, आनन्द-वर्धन, अभिनव एवं मम्मट को मान्यताओं को हो परिमार्जित करके प्रतिष्ठापित करने चले थे। इन आचार्यों के प्रति उनमें बड़ी आस्था है। तथापि किसी बड़े से बड़े आचार्य का व्यक्तित्व उन्हें हत-प्रभ नहीं कर सकता। वे किसी की बात को अपनी कसौटी पर कस कर ही स्वीकार कर सकते हैं।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि पण्डितराज में मौलिक चिन्तन की प्रतिभा का अभाव है। रसगंगाधर में हम उनकी स्वतन्त्र मौलिक चेतनाओं के दर्शन कर सकते हैं। स्थान-स्थान पर करते हैं। किन्तु वे ध्वनिवाद की भित्ति को कहीं भी विदात नहीं होने देना चाहते, अपने को उसकी सीमाओं के भीतर ही रखना चाहते हैं। उन्होंने यत्र-तत्र अपने भिन्न दृष्टि-कोणों को मत-भेद के रूप में ही प्रस्तुत किया है।

विगत अध्यायों में हमने पण्डितराज की विविध प्रकार की मौलिकता के दर्शन किये हैं। पुरानी चीजें भी जो उनके हाथ से निकल कर आयी हैं, एक नयी चमक लेकर आयी हैं। काव्य-लक्षणा का विवेचन करते हुए हमने देखा है कि उनका पूर्व-वर्ती कोई भी आचार्य इतना समीचीन, सुन्दर एवं शास्त्रीय काव्य-लक्षणा नहीं दे सका। वैसे काव्य उन तत्वों में से एक है जो सर्वात्मना किसी लक्षणा की सीमा में सदा के लिए बांधे नहीं जा सकते। तथापि उनके लक्षणा में काव्य के दो चिरन्तन सत्त्वों-रमणीयता तथा चमत्कार-जो आधार बना कर चला गया है, अतः उसमें पर्याप्त चिरस्थायिता है। इसी कारण वह आज के साहित्य के विविध-पर्योन्मुख पद-ग्रन्थों के साथ कदम से कदम मिला कर चल सकता है। मम्मट के लक्षणा में व्यावहारिकता तथा सरलता थी, किन्तु शास्त्रीयता नहीं थी। विश्वनाथ का लक्षणा काव्य को परिधि सीमित करता था। विषयतावच्छेदकता तथा तदितरभेदबुद्धिसाधनता का ऐसा गुण लेकर पण्डितराज का ही काव्य-लक्षणा सामने आया। सामान्य, परिष्कृत एवं फलित तीन स्तरों पर काव्य-स्वरूप का निरूपण करके पण्डितराज ने जो विवेचन प्रस्तुत किया है, वह समस्त संस्कृत साहित्य-शास्त्र में उनका अपना है। वैसे उसके आधार तत्व आनन्द-वर्धन में उपलब्ध हैं।

काव्य-हेतुओं के विवेचन में हमने देखा है कि पण्डितराज ने किस प्रकार मीमांसा, न्याय तथा वेदान्त का सहारा लेकर प्रतिभा के कार्य-पक्ष, व्यक्त-रूप तथा मूल अव्यक्त-रूप को और संकेत किया है। काव्य-हेतुओं का विवेचन वैसे आचार्यों के लिए एक सामान्य विषय रहा है। हम उसकी पुष्ट-भूमि पर नहीं चले। हमें पता था कि उस विषय पर कितना कहा जा चुका था, तथापि विभिन्न काव्य-हेतुओं की योजना तथा उनके स्वरूप-निर्धारण का विवेचन हमें पण्डितराज ने नया सा हो गया है। प्रतिभा के स्वरूप में जो दार्शनिक गरिमा अभिनव ने भरी थी, वही पण्डितराज द्वारा भरी गयी है।

ध्वनि-वाद को किसी मान्यता को लेकर, उसी को प्रतिष्ठित बनाते हुए अपनी स्वतन्त्र एवं मौलिक चिन्तन-शक्ति से पण्डितराज उसे किस प्रकार परिपूर्ण बना देते हैं, और किस प्रकार से वह पुराना विषय भी उनका अपना हो जाता है, इसका बहुत अच्छा निदर्शन हमें काव्य-भेदों के विवेचन में देखने को मिलता है। वहाँ पण्डितराज की मौलिकता का एक भिन्नही रूप मिलता है। मान्यताएं वे ही हैं आनन्द-वर्धन, अभिनव एवं मम्मट की। कोई



नया आधार तत्व नहीं अपनाया गया। व्यंग्य एवं चमत्कार के पुराने तत्वों को ही कसीटी बना कर पण्डितराज ने समस्त काव्य-रूपों को कस डाला है। व्यंग्य की किस-किस स्थिति को किस-किस वर्ग में रखना चाहिए, यह व्यवस्था जितनी असंदिग्ध रूप में आपको पण्डितराज में मिलेगी, अन्यत्र नहीं। और, चित्र-काव्य का तो ऐसा मार्मिक वर्गीकरण उससे पहिले कभी सामने आया ही नहीं।

रस-विवेचन की मौलिकता का एक भिन्न ही रूप है। हमने रस-विवेचन की पृष्ठ-भूमि का परिचय प्राप्त करते हुए देखा है कि रस का स्वरूप अभिनव गुप्त शैवादित की छाया में परिनिष्ठित कर चुके थे। परवर्ती युग उन्हें ही आदर्श मान कर चला। किन्तु शनैः शनैः उनको दार्शनिक आधार भूमि का परिचय लोगों से छूटा गया, और एक प्रकार की नासमझी से अद्वैत-वेदान्त उसमें प्रविष्ट होता रहा। पण्डितराज ने अभिनव के रस-सिद्धान्त को पूरा क पूरा ज्यों का त्यों लेकर उसकी दार्शनिक आधार-भूमि बदल दी। उन्होंने अभिनव के सारे सिद्धान्त का वेदान्तीकरण कर दिया। देखने में यह कार्य मौलिक नहीं भी लग सकता। सिद्धान्त अभिनव का था, और वेदान्त उसमें पहिले से प्रविष्ट होने ही लगा था। किन्तु जिस व्यवस्था के साथ पण्डितराज ने उसमें वेदान्त को समाहित किया है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह परिपूर्ण चिन्तन का फल है, किसी नासमझी का नहीं। इससे वह समूचा विवेचन ही एक मौलिक चमक से भर गया है। इस वेदान्तीकरण से दो बातें हुई हैं। एक तो यह कि वेदान्त शैव-दर्शन की अपेक्षा बहु-परिचित दर्शन है। शैव-दर्शन लोगों के लिए तभी अपरिचित होता जा रहा था। फिर, वह वेदान्त की अपेक्षा दुरूह भी है। पण्डितराज के कार्य से वेदान्त की छाया में रस की सुगमता से समझने का मार्ग खुला है। दूसरी बात यह कि रस का दार्शनिक आधार परिमार्जित हो कर पूर्णता को पहुंचा दिया गया है। आस-वादी शैव-दर्शन मूल में अद्वैत होते हुए भी वेदान्त की अपेक्षा स्थूल दृष्टि वाला है। अपनी स्थूलता के कारण ही वह आनन्द का चैतन्य से स्वरूपात्मक सम्बन्ध नहीं जोड़ पा सका है। पण्डितराज ने उसे चैतन्य-तत्त्व से सीधा सम्बद्ध कर के रस-चिन्तन को सूक्ष्मता की चरम सीमा तक पहुंचा दिया गया, उस सीमा तक "जिसके आगे राह नहीं"।

अभिनव के रस-सिद्धान्त के वेदान्तीकरण में पण्डितराज के दार्शनिक साहित्यकार का दर्शन होता है, किन्तु उनके द्वारा उपस्थापित दो नवीन मतों में उनका दार्शनिक पण्डित सामने आता है। इन दो नवीन मतों में समस्त दार्शनिक चेतनाएं दो वर्गों में विभक्त होकर रस पर दृष्टि-पात करने लगीं हुई प्रतीत होती हैं। ऐसा स्वतन्त्र एवं तटस्थ चिन्तन रस के ऊपर अन्यत्र नहीं मिलता। रस-विवेचन में पण्डितराज अभिनव से कहीं अधिक दार्शनिक हो उठे हैं।

और भाव-विवेचन की मौलिकता तो एक प्रकार से रस-विवेचन की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व-पूर्ण है। भावों का विवेचन भाव-ध्वनि के प्रसंग से हुआ है। भाव-लक्षणा पर विचार करते हुए पण्डितराज ने जो व्यापक दृष्टि अपनायी है, वह भरत के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं दिखायी देती। उनके लक्षणा में कुछ ऊपर-ऊपर से गहराई नहीं प्रतीत होती। किन्तु उसमें व्यंजक एवं व्यज्यमान-- उभय-विष भावों को अपने में समेटने की समझ रखी गयी है। विभिन्न भाव-ध्वनियों का सूक्ष्म निरूपण, उनके लक्षणा, उनकी विभावादि नामग्री का विचार, उनकी प्रधान-अप्रधान स्थितियों में आस्वादन के प्रकार आदि न जाने कितने विषयों की ओर पाठक की बुद्धि जाती है, तथा पण्डितराज से प्रकाश पाती है। विषय के सम्बद्ध सूत्रों पर दीढ़ जाने की वैसे उत्तेजना उनके भाव-विवेचन में बुद्धि को मिलती है, वैसे अन्यत्र नहीं।



इतना सुन्दर, व्यवस्थित एवं परिमार्जित भाव-विवेचन किसी भी एक आचार्य में एकत्र उपलब्ध नहीं होता। भावों की चित्तवृत्ति-रूपता को सविशेष प्रमुखता देकर जो विभिन्न भावों के लक्षण पण्डितराज ने दिये हैं, उनसे भरत को लक्ष्मणाती मान्यताओं को आज के तर्क-शील मनोवैज्ञानिक युग में भी अहिम बने रहने की क्षमता मिली है।

सर्वथा नया लोक ढालने वाली मौलिकता का रूप भी पण्डितराज में है, इसका अच्छा-खासा निदर्शन है उनका गुण-विवेचन। वहाँ सिद्धान्त-पक्ष में ध्वनि-वाद का गुण-त्रय-वाद प्रस्तुत किया गया है, पूर्व-पक्ष में वामनादि का विंशति-गुण-वाद। किन्तु विंशति-गुण-वादी प्राचीन आचार्यों की मान्यता को ध्वनि-वाद को अधिक-तम सहानुभूति मिली है। वह अपने मूल आचार्यों की अपेक्षा पण्डितराज में और परिमार्जित एवं व्यवस्थित होकर सामने आया है। मम्मटादि के समान उसका गुण-त्रय-वाद में अन्तर्भाव भी दिखाया गया है। यह तो रही ध्वनि-वाद के उपस्थापन की बात। किन्तु पण्डितराज की अपनी दृष्टि सर्वथा भिन्न है। गुण रसों के धर्म नहीं। गुण शब्द-अर्थ-रस-रचना सभी के प्रयोजकत्व-सम्बन्ध से धर्म हैं। प्रयोजकता, धर्म, आपचारिकता, व्यवहार सभी के विषय में उनका अपना दृष्टि-कोण है, जो ध्वनि-वाद की बंधी सीक्से पृथक् ले जाता है। इस सब के मूल में है उनकी अपनी दार्शनिक दृष्टि, जिससे मेल न साने के कारण वे नया मान्यताएं उपस्थित करते हैं। आत्मा निर्गुण है, फिर आत्म-रूप रस के गुण धर्म कैसे? यहाँ उनको प्रमुख आपत्ति है। उसी की समंजस योजना वे देना चाहते हैं। वेदान्त की परिनिष्ठित भूमि पर सर्व-प्रथम पण्डितराज ने ही <sup>उद्धृत</sup> कर्म-संस्थापित किया है। यद्यपि उनको गुण-सम्बन्धित मान्यताएं सिद्धान्तिक समालोचना के मानदण्डों में उलट-फेर के लिए बाध्य करती हैं, तथापि उनसे व्यावहारिक समालोचना का मार्ग प्रशस्त एवं सरल होता है। उनके दृष्टि-कोण में अधिक आधुनिकता है।

और, एक नया रूप मौलिकता का शब्द-शक्तियों के विवेचन में परिलक्षित होता है। अभिधा एवं लक्षणा—दोनों शक्तियों के विवेचन के पीछे उनका कितना व्यापक अध्ययन सुनिहित है, इसका परिचय हमें गत अध्याय के विवेचन में कुछ मिल जाता है। वे अभिधा के लिए वैयाकरणों की मान्यता अपनाते हैं, तो लक्षणा के लिए नैयायिकों की। ऐसा क्यों? एक-रूपता लाने के लिए। एक सुन्दर व्यवस्था बनना भी कम महत्व की बात नहीं। फिर भी वे किसी का बन्धानुकरण नहीं करते। लक्षणा को साहित्य-शास्त्रोपयोगिता के साथ ही नैयायिकों से ग्रहण किया गया है। विभिन्न मान्यताओं में से उपयोगी तत्वों का चुनाव कर के साहित्य-शास्त्र के लिए एक व्यवस्थित राज-पथ का निर्माण भी एक आचार्य की मौलिकता का रूप है।

पण्डितराज ने शास्त्रार्थों में कैसे तर्क-पद्धति, शैली, सूक्ष्मता, विजयावगाहिता, एवं गभीरता के दर्शन होते हैं। वे उनके पाण्डित्य के स्वतन्त्र प्रमाण हैं। उनकी प्रौढ़ता ही दुरुहता बन कर दोष बन जाता है, किन्तु यह तो पाठक के स्तर की बात है। वे शास्त्रार्थ को मूल-मति विचार-धियों के लिए नहीं। इनमें कोरा बुद्धि-विनोद हो नहीं भरा; परिमार्जन, एवं प्रतिष्ठा के उद्देश्य भी निहित हैं। गौणी सारोपा के शास्त्रार्थ की चर्चा करते हुए हम देख चुके हैं कि इस के द्वारा किस प्रकार पण्डितराज ने प्राचीन मान्यता की अप्रयुक्त से सुरक्षा की है। लक्षणा के इतिहास में उसका एक विशेष महत्व समझना चाहिए।



इस प्रकार पण्डितराज की मौलिकता के विविध रूप हमारे समक्ष आते हैं। वे एक ध्वनि-वादी आचार्य हैं, यह हम देख चुके हैं। मूल रूप में ध्वनि-वाद का ढाँचा अपनाने के कारण अपनी सर्वथा नयी लोक चलाने का कोई प्रश्न ही उनके सामने नहीं रह गया। फिर भी, ध्वनि-वाद की परिधि में रह कर भी, उन्होंने स्वतन्त्र दृष्टि का परिचय दिया है, यह हम पीछे गुण-विवेचन के समान ही, रसों की संलक्ष्य-क्रमता, ध्वनियों के भेद तथा काव्य-भेद आदि विषयों के विवेचन में देख चुके हैं।

काव्य-शास्त्र की विभिन्न उपलब्धियों का उन्होंने एक जागरूक एवं उदार समालोचक के नाते सदुपयोग किया है। वे एक सम्प्रदाय के अनुयायी हैं, अतः किसी दूसरे सम्प्रदाय की उपलब्धि को आँख खोल कर देखना भी पसन्द न करें, ऐसी साहित्यिक साम्प्रदायिकता उनमें नहीं। सभी पुरानी मान्यताएँ अच्छी ही हैं, उनमें यह आग्रह भी नहीं। सभी वे मान्यताएँ जो पुरानी समझ कर किनारे रख दी गयी हैं, बेकार ही हैं, यह भी रूढ़ दृष्टि उनमें नहीं। वे सुली आँख से भरत, आनन्द-वर्धन तथा अभिनव गुप्त को भी परख सकते हैं, तथा सहानुभूति के साथ पुराने अलङ्कार-वादियों-गुणवादियों-रसवादियों पर भी दृष्टि-पात कर सकते हैं। और, जहाँ भी जो उपयुक्त बात मिले उससे प्रभावित होने की उदारता भी दिखा सकते हैं। फिर जो भी वह देगे, उनका अपना सा लगेगा, मांगे का सा नहीं। आनन्द-वर्धन की व्यापक सामंजस्य-वादी दृष्टि का बड़ा ही विकसित एवं उदार रूप हमें पण्डितराज के उन सम्बन्धों में मिलता है जो उन्होंने अलङ्कार-वाद, रस-वाद और रस-वाद के प्रति निभाये हैं। यह ठीक है कि काव्य-शास्त्र ऐसे किसी साम्प्रदायिक वर्गों में विभक्त नहीं, जिस प्रकार धार्मिक सम्प्रदाय विभक्त हो गये थे। तथापि मध्य-कालीन आचार्यों की सहानुभूतियाँ बहुत कुछ वर्ग-गत होकर चली हैं। यह वर्ग-गत धारणाओं का ही फल था कि कुन्तल और महिम जैसे आचार्य जब एक बार किनारे रख दिये गये तो सदा के लिए ही अनुपादेय समझ लिये गये। दूर से ही लोग उन्हें हेय मान कर अछूता रखते रहे। कुन्तल को तब उपलब्धियों से चाहे पण्डितराज भी अछूते रहे हों, किन्तु उनको सौन्दर्य-दृष्टि उन्हें अवश्य मिली है।

पण्डितराज के सिद्धान्तों में सब से बड़ी विशेषता यह है कि वे आज के युग में भी "आउट ऑफ़ डेट" नहीं। उनमें जितनी आधुनिकता है, उतनी किसी संस्कृत आचार्य में नहीं। आनन्द-वर्धन तथा अभिनव की मूल दृष्टियों की सार्वकालिकता पण्डितराज में और भी प्रौढ़ता के साथ उतर कर आयी है। अधिक रूढ़ मान-दण्डों के बन्धन उन्होंने शिथिल किये हैं। औचित्य की लोक-यथार्थ की भूमि पर स्वीकार कर के उसकी परिवर्तन-शीलता को एक प्रकार से मान्यता दी है। रस-रचना-शब्द-अर्थ सभी में दृष्ट्यादि-चित्तवृत्ति-प्रयोजकता स्वीकार कर के भाषा के उपकरणों की स्वतन्त्र प्रभवन-शीलता को स्वीकृति दी है। रस के स्वरूप-विवेचन को "पारिभाषिक रस" के लिए मान कर अन्य अनुभूतियों की विविध-रूपता को पर्याय से स्वीकार किया है। रसादि की संलक्ष्य-क्रमता मान कर भावात्मक आनन्द की भी क्रम-लक्ष्यता को समझ स्वीकृति दी है। आनन्दिक वर्गीकरण के द्वारा लक्षणा की भी संलक्ष्य-क्रम होने का संकेत है। भाव-जगत् की विविधता स्वीकार की गयी है, भले ही भरत-परम्परा को निभाने के लिए उनको संख्या ज्यों की त्यों स्वीकार कर ली गयी हो। ये तथा इस प्रकार की रूढ़ि-शिथिलताएँ आधुनिक समीक्षा-चेतना को प्रिय लगने वाली बातें हैं।



उनका प्रतिपाद्य निश्चित एवं असंदिग्ध है। उनके निर्णय उसकी ओर नहीं। यदि एक बार पाठक उनकी नैयायिक भाषा-शैली से तादात्म्य स्थापित कर ले तो पण्डितराज उसे काव्य-शास्त्र की गहन-तम समस्याओं की भी स्पष्टतः समझने का मार्ग बता सकते हैं। उसकी स्वतः बुद्धि की विचार-शीलता प्रदान कर सकते हैं। स्पष्ट निर्णयात्मकता की अभ्यासिनी बना सकते हैं। उनका विषय-निरूपणा गम्भीर होते हुए भी पार-दर्शी है।

पण्डितराज के निरूपणों की पारदर्शिता का एक प्रमुख कारण है उनके उदाहरणों का स्वरचित होना। मम्मटादि आचार्य जब किसी अन्य आचार्य के उदाहरण लक्ष्य-रूप में प्रस्तुत करते हैं तो यह आवश्यक हो नहीं जाता कि वह उनकी सभी आवश्यकताओं को अनिवार्यतः ठीक-ठीक पूरा ही कर दें। किन्तु पण्डितराज को यह बहुत बड़ी सुविधा रही है। वैसे तो अपने लक्षणाओं के लिए स्व-रचित लक्ष्य प्रस्तुत करना पण्डितराज के युग की अपनी विशेषता रही है। हिन्दी आचार्य-कवियों में तो यह एक परम्परा ही पढ़ गयी थी। किन्तु कवित्व-पक्ष में मनोहरता होते हुए भी आचार्यत्व की दृष्टि से उन आचार्य-कवियों को जो असफलता मिली है, उससे हिन्दी का समीक्षक परिचित हो है। पण्डितराज के स्वरचित उदाहरणों ने उनका वक्तव्य स्वच्छ एवं पारदर्शी बना दिया है।

इन उदाहरणों में आचार्यत्व का ही पक्ष नहीं है, मनोरम कवित्व का भी है। उस कवित्व को हम दो प्रकार से आलोचना कर सकते हैं। एक भावुक पाठक की दृष्टि से, दूसरे शास्त्रीय समीक्षक की दृष्टि से। यद्यपि ये उदाहरण अस्मिन्स्मिन् में आचार्यत्व की एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए हो आये हैं, तथापि अनेकत्र वे स्वतन्त्रतया सुन्दर काव्य के निदर्शन हैं। उनमें पाठक के हृदय को छूने की शक्ति अनेकत्र निहित है। शास्त्रीय दृष्टि से कहा जा सकता है कि वे पण्डितराज के अपने मानदण्डों तथा काव्य के आदर्शों के सर्वथा अनुरूप हैं। जिन काव्य-दोषों को वे परिहृत्य समझते हैं, उन से वे दूर हैं। भाषा के वर्णों तथा रचना के जिन आदर्शों की ओर उन्होंने संकेत किये हैं, उनका इनमें उचित रूप में परिपालन है। वे प्रायः अपने आदर्शों के निदर्शन ही हैं। एक सब से बड़ी बात यह है कि वे एक परिमार्जित रुचि का प्रदर्शन करते हैं। उनकी शैली सराहनीय है, विशिष्ट-कर मम्मट की याद कर के। उदाहरणों के चुनाव में मम्मट कभी कभी अपरिमार्जित रुचि का भी प्रदर्शन कर जाते हैं। किन्तु पण्डितराज के उदाहरणों में एक नैतिकता की छाया है। परन्तु नैतिकता ने रसात्मकता का हनन कहीं नहीं किया, रमणीयता को नष्ट नहीं किया। इस काव्य-रूप का आचार्यत्व के लिए उपयोग करते हुए पण्डितराज की आत्म-तुष्टि के साथ अभिमान है। "किं सेव्यते सुमनसां मनसापि"।

रसगंगाधर में पण्डितराज के हमें तीन रूपों के दर्शन होते हैं। एक काव्य-शास्त्रीय आचार्य के रूप में, दूसरे कुशल कवि के रूप में तथा तीसरे प्रौढ दार्शनिक पण्डित के रूप में वे हमारे सामने आते हैं। उनका आचार्य, दार्शनिक एवं कवि इतना घुल-मिल गया है कि उसे सर्वथा अलग-अलग नहीं किया जा सकता। आचार्य एवं दार्शनिक तो अभिन्न हो उठा है। इस प्रकार जहाँ उनके कवि-रूप ने उनके वक्तव्य की निर्मलता, सुस्पष्टता एवं पारदर्शिता दी है, वहाँ उनके दार्शनिक रूप ने उसमें एक अद्भुत गरिमा का समावेश किया है। समस्त रसांगाधर में एक गम्भीर वातावरण परिव्याप्त है। अभी तक हमने उनके आचार्य एवं कवि-रूपों के विषय में कुछ परिचय प्राप्त किया है। अब उनके दार्शनिक रूप की चर्चा करना चाहते हैं।



पण्डितराज के दार्शनिक रूप का परिचय प्राप्त करने से पहिले हमें यह समझ कर चलना चाहिए कि न्याय भी एक भारतीय दर्शन का रूप है। नव्य न्याय जो वस्तुतः प्रमेय-प्रधान न रह कर प्रमाण-प्रधान हो गया है, अवच्छेदक-अवच्छिन्न वाली शैली के द्वारा अक्षत बाल की लाल निकालना ही जिसका एक मात्र उद्देश्य रह गया था, वह भी एक दर्शन के रूप में स्वीकृत है। इस प्रकार भारतीय दर्शनों में आत्म-प्रधान दर्शन भी है, एवं शैली-प्रधान भी, वस्तु-प्रधान भी। रसगंगाधर में पण्डितराज का दार्शनिक दोनों रूपों में आता है— शैली प्रधान दार्शनिक के रूप में भी, और आत्म-प्रधान दार्शनिक रूप में भी।

शैली प्रधान दार्शनिक का रूप है नैयायिक आचार्य का। हम चाहें तो इस रूप को आचार्य का ही रूप कह सकते हैं, दार्शनिक का नहीं। किन्तु हम कह चुके हैं कि नव्य-न्याय भी हमारे यहाँ दर्शन हो माना जाता रहा है। पण्डितराज का नैयायिक रूप उनकी शैली से घुल कर एकाकार हो गया है। पण्डितराज ने अपने रसगंगाधर को ललित मणि कहा है— "निमग्नेन क्लेशैर्मननलघेरन्तरुदरं, मयोन्नोतो लोके ललितरसगंगाधरमणिः"। किन्तु यह बहु-मूल्य मणि नव्य-न्याय की लौह-मञ्जूषा में सुरक्षित भी रखा हुआ है। नव्य न्याय की शैली ने जहाँ प्रत्येक विषय को ता-जान दिया है, तथा अद्भुत असंदिग्धता के साथ प्रस्तुत किया है, वहाँ उसे दुरूह भी बनाया है। न्याय ने उसमें गरिमा भर दी है, उसके गम्भीर वातावरण का श्रेय जितना विषय की सूक्ष्मता तथा मार्मिक विवेचना को है, उतना ही इस शैली को। किन्तु यह शैली-जन्य गरिमा कहीं कहीं बोझिल भी हो उठी है। सुकुमार मति के लिए तो दुष्प्रवेश्य। रसगंगाधर-मणि की अनुपादेयता का श्रेय इसी शैली को है, इसी गरिमा को है। उसके अनेक शास्त्रार्थ आज की दृढ़-गति-शील समीक्षा-चेतना को व्यर्थ प्रतीत हो सकते हैं। किन्तु उनके पीछे काव्य-शास्त्र की अमूल्य निधि रही है। उसका आकर्षण कभी कम न होगा। इस गरिमा के ही अभाव में मम्मट के वस्तव्य अस्पष्ट रह गये हैं, उलझने लिए पड़े हैं। पण्डितराज के न्याय-दर्शन ने ही विषय का ठीक-ठीक दर्शन किया है।

न्याय-दर्शन की भाषा-शैली ही नहीं विषय-निरूपण-पद्धति भी अपनयी गयी है। काव्य-लक्षणा में सामान्य, परिष्कृत एवं फलित लक्षणा उसी पद्धति पर दिये गये हैं। पूर्व-पक्षों का सावष्टम्भ प्रस्थापन उसी पद्धति पर है। प्रतिपक्षों को निरुन्तर करने की प्रक्रिया भी वही है। शास्त्रार्थों में वही प्रणाली अपनायी गयी है।

शैली एवं निरूपण-प्रणाली के अतिरिक्त नैयायिक दृष्टि-कोणों का भी, उनके सिद्धान्त-पक्ष का भी, प्रयोग हुआ है। शब्द-शक्तियों में लक्षणा तो उन्हीं से ली गयी है। और रस की तो, नैयायिक दृष्टि की झुक वर्ण का प्रतिनिधि बना कर ही एक नवीन मत के रूप में प्रस्तुत किया गया है। नैयायिक दृष्टि के स्वरूप, काव्य के स्वरूप आदि विषयों में नैयायिक सिद्धान्त बहुलतया बिखरे मिले। समस्त दर्शनों में न्याय प्रमुख है जिसने मात्रा की दृष्टि से रसगंगाधर को प्रभावित एवं आच्छन्न किया है।

मीमांसा के तत्वों का भी यत्र-तत्र प्रयोग किया गया है, किन्तु बहुत सीमित मात्रा में ही, जहाँ तक एक वेदान्ती की दृष्टि उसे अनुमति प्रदान कर सकी है। प्रतिभा के विवेचन में हम यह देख चुके हैं। मीमांसक मान्यताओं का उपयोग शब्द-शक्तियों में भी माना जा सकता है किन्तु वहाँ भी व्याकरण-सम्मत। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि पण्डितराज मीमांसा दर्शन के पण्डित तो हैं, उसका उनका अध्ययन तो है, किन्तु प्रयोग सीमित है।



व्याकरण के दार्शनिक पक्ष का सहारा रस-वर्णना के विवेचन में गकारादि की उत्पत्ति एवं विनाश के द्वारा समझाते हुए लिया गया है। उसके सिद्धान्त-पक्ष का प्रयोग अभिधा-निरूपण में स्पष्टतः सामने आया है। अभिधा के प्रकारादि की व्यवस्था भी वैयाकरण मान्यताओं के अनुरूप ही है। उपमादि के शाब्द-बोधों में वैयाकरण एवं नैयायिक उपलब्धियों का सुलभ कर प्रयोग हुआ है। वस्तुतः व्याकरण पण्डितराज के शास्त्रीय विवेचन की पृष्ठ-भूमि में रह कर ही काम करता है। आवश्यकतानुसार ही उसका रूप प्रकट होता है।

उनके दार्शनिक चिन्तन की मूल आत्मा है वेदान्त की। पण्डितराज की वेदान्ती चेतना बड़ी जागरूक है, सुव्यवस्थित है। काव्य-शास्त्र के मूल सिद्धान्तों को निरूपित करने के लिए जहाँ भी उन्हें गहरे पैठना पड़ता है, वे वेदान्ती हो जाते हैं। रस के स्वरूप-विवेचन में जो वेदान्त का प्रयोग हुआ है तथा उसका जो फल हुआ है, उसको चचा हम कर ही चुके हैं। गुणों के प्रति भी भिन्न दृष्टि-कोण का जन्म-दाता वेदान्त ही है। प्रतिभा का स्वरूप भी वेदान्ती मान-दण्डों से ही निरूपित किया गया है। ध्वनि-वाद की व्यंजना के पीछे अद्भुत रूप से वेदान्त की चेतना भर दी गयी है। वेदान्त को एक मूल व्यवस्थित दृष्टि उनके पास है, एक कसीटी उनके पास है, जिससे वे कभी हट नहीं सकते। इस के प्रयोग से काव्य-शास्त्र को वे वस्तुतः दर्शन का रूप दे सके हैं। आनन्द-वर्धन तथा मम्मट ने काव्य-शास्त्र को "शास्त्र" बनाया है, भट्ट नायक तथा अभिनव गुप्त ने रस के विवेचन को "दर्शन" का रूप दिया है। पण्डितराज ने समूचे काव्य-शास्त्र की आधार-भूमि को वेदान्त की छाया से अनुप्राणित कर के उसके "शास्त्र" को ही "दर्शन" बना दिया है। पण्डितराज के विवेचनों की वास्तविक गरिमा नैयायिक आटी-पों में नहीं, प्रतिपक्षियों के मुँह-मुद्रण में नहीं, विषय की बारीकियों में भी उतनी नहीं। उसका वास्तविक कारण है काव्य-शास्त्र को एक व्यवस्था देने में है। एक दार्शनिक पृष्ठ-भूमि की व्यवस्था के साथ समाहित करने में। और, यह दार्शनिक आधार-भूमि वेदान्त की ही है।

इस प्रकार विभिन्न दर्शनों की छाया की छाया से अनुप्राणित रसगंगाधर अपनी महिमा में काव्य-शास्त्र के सभी अन्य ग्रन्थों से विलग है। काव्य-प्रकाश का दार्शनिक तटस्थ है, रसगंगाधर का ओत-प्रोत। वैसे दार्शनिक उपलब्धियों का प्रयोग उसमें भी प्रचुरतया है। फिर भी रसगंगाधर में दार्शनिक काव्य-शास्त्र पर छा नहीं गया। उसे गरिमा ही देता है। आत्म-पक्ष में वेदान्त की मूल चेतना अपनाने के कारण विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं का उपयोग करते हुए भी कहीं असामंजस्य या टकराहट नहीं आने पायी।

रसगंगाधर के विवेचनों में नए दर्शन चेतना में नहीं है। प्राचीन आचार्यों के विवेचनों में पदे-पदे बौद्ध दर्शन की मान्यताएँ सामने आ जाती हैं, चाहे पूर्व-पक्ष के रूप में क्यों न आया हो। पण्डितराज के समय तक बौद्ध दर्शन इतिहास की वस्तु बन चुका था। चिन्तन का जोकर बलात् नहीं टकराता था। नव्य-न्याय पण्डितराज के युग की चेतना का आँखों के सामने रहने वाला दर्शन था। इसी कारण रसगंगाधर न्याय एवं वेदान्त से अनुप्राणित है।

इस प्रकार रसगंगाधर की निर्मातृ-प्रतिभा के तीन रूप हैं-- काव्य-शास्त्र की आचार्य-चेतना, दार्शनिक चेतना, कवि चेतना। तीनों के एकाकार रूप ने रसगंगाधर की सर्जना की है। वह पण्डितराज के गर्व की वस्तु है।



मम्मट से लेकर पण्डितराज तक काव्य-शास्त्र का इतिहास उसकी गौरव-कथा में कोई नयी चीज़ नहीं जोड़ता। काव्य-प्रकाश के टीकाकारों को अवश्य अनेक विषयों पर विचार करने का अवसर मिलता रहा है। फल यह हुआ है कि विविध छोट-मोटे विषयों के सम्बन्ध में अनेक विकल्पों की सृष्टि हुई है। अनेक विकल्प प्राचीन भी चले आ रहे थे। इस प्रकार के अनेक विकल्पों की सूचना बड़े संक्षेप में स्थान-स्थान पर पण्डितराज ने दी है। खेद यह है कि उन्होंने उस सूचना में इतिहास-बुद्धि को सामने नहीं रखा। रस के विषय में जो ११ मत प्रस्तुत किये गये हैं उनमें भी इतिहास-बुद्धि का अभाव है। पण्डितराज की ऐतिहासिक चेतना जागरूक नहीं।

और अब हम काव्य-शास्त्र के आचार्यों में पण्डितराज के स्थान के विषय में कुछ कह सकने की स्थिति में आ गये हैं।

पण्डितराज की तुलना के लिए हम प्रथम कोटि के आचार्यों को ही सामने रखना चाहते हैं। भरत को, आनन्द-वर्धन को अभिनव गुप्त को, मम्मट को। भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, शंकु, भट्ट नायक, भोज, महिम भट्ट, विश्वनाथ जैसे मध्यम कोटि के प्रतिभा-शील आचार्यों से तो वे निर्विवाद उठे हुए हैं। इनसे उनकी तुलना का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यह सम्भव है कि इन आचार्यों में से किसी का किसी विशेष योग-दान के कारण उतना ही महत्व हो जितना कि प्रथम कोटि के आचार्यों का। तथापि सब मिला कर इन का महत्व अपेक्षाकृत गौण ही है।

जहाँ तक पण्डितराज की शालीनता का प्रश्न है, वे इन भरत, आनन्द-वर्धन, अभिनव तथा मम्मट के सामने तुलना के लिए खड़े नहीं होना चाहते। इनके प्रति उनमें पूरी-पूरी आस्था है। वैसे श्रद्धावान्त होते हुए इनका अन्यायपूर्ण नहीं किया गया, यह हम देख चुके हैं। पण्डितराज का भले ही उनके साथ तुलना का दावा न हो, किन्तु हम तो ऐसा कर ही सकते हैं। पण्डितराज का स्थान-निर्देश करने के लिए उन आचार्यों को और दृष्टि जाना स्वाभाविक ही है।

पण्डितराज में भरत की सी व्यापकता नहीं, उनके समान कला की सर्व-विषय-स्पर्शिता नहीं। आनन्द-वर्धन ने भी काव्य-शास्त्र को जो चेतना का दान दिया, वैसा भेष पण्डितराज को नहीं दिया जा सकता। अभिनव ने रस की दार्शनिक व्याख्या कर के एक महान् कार्य किया था। उन्होंने कश्मीरी शैव-दर्शन के रूप में एक नूतन दर्शन की प्रतिष्ठा भी की थी। पण्डितराज का ऐसा भी कार्य नहीं। मूल सिद्धान्तों की एक व्यवहारोपयोगी उद्घरणगीकर के मम्मट ने साहित्य-जगत् का जैसा उपकार किया वैसा उपकार भी पण्डितराज की कृति से नहीं हो सका। इन दृष्टियों से पण्डितराज किसी के समान खड़े नहीं किये जा सकते। किन्तु, फिर भी पण्डितराज का महत्व इन से कम नहीं। पण्डितराज ने रस के विषय में अनेक आचार्यों को महिमा का इतिहास ही अथवा उनके व्यापक सामंजस्य-वादिनी दृष्टि आनन्द-वर्धन से कम नहीं। अभिनव का क्षेत्र अलग करके भरत का योग-दान काव्य-शास्त्र के लिए ऐतिहासिक ही अधिक। वह दूसरे प्रकार का है। पण्डितराज ने भरत के आदर्श को सुरक्षित रखने का सफल प्रयास किया है। पण्डितराज की दार्शनिक चेतना अभिनव गुप्त से दुर्बल नहीं। अभिनव की भी शैव दर्शन की पृष्ठ-भूमि में की गयी रस-व्याख्या सर्वथा मौलिक नहीं। भट्ट नायक ही उसका द्वार खोल चुके थे। उनका महत्व उस दार्शनिक दृष्टि की व्यापकता के साथ सर्वाङ्गीण रूप में अपना देने में है। और यह कार्य पण्डितराज के द्वारा भी हुआ है। पण्डितराज ने उसी व्यवस्था के साथ काव्य-शास्त्र की आधार-भूमि में वेदान्त की प्रतिष्ठा की है। विषय के सूक्ष्म-तम पक्षों पर दृष्टि डालने की दामता पण्डितराज में अभिनव से किसी प्रकार भी कम नहीं। पण्डितराज में अभिनव



की अपेक्षा कुछ गुण विशिष्ट हैं। अभिनव का वक्तव्य पारदर्शी उतना नहीं जितना पण्डित-राज का। अभिनव की बात समझने के लिए पाठक को उनके इतस्ततः बिखरे वक्तव्यों की सामने रखते हुए उनमें सामंजस्य बिठा कर चलना पड़ता है। जहाँ जहाँ, अभिनव का वक्तव्य हो हाथ से गया। पण्डितराज जो कहना चाहते हैं, स्पष्ट है। पारदर्शिता, न्याय के आवरण में आवृष्ट होकर भी, उनकी विशेषता है। शैली को दृष्टि से दोनों बेजोड़ हैं। दोनों की शैली पर अपनी अपनी छाप है। दोनों की पदावली अलग-अलग बोलती है। परन्तु जो असंदिग्धता पण्डितराज में है, अभिनव की शैली में नहीं है। अभिनव में पचासों स्थल परस्पर विरोधों मिलेंगे, पण्डितराज में एक भी नहीं। अभिनव की पदावली उनके उलझे दार्शनिक दृष्टि-कोणों की उलझी चेतना साथ लिए फिरती है। पण्डितराज की पदावली साहित्य-दीन की है। अधिक से अधिक न्याय-दीन की। असंदिग्धता उसका गुण है। पण्डितराज की गरिमा में दुरुहता का दोष हो जाता है, अभिनव वैसे ही अपनी प्रौढ़ता में कम दुरुह नहीं। अभिनव के मन में जब जो बात उहाँ उठ जाती है, वह निकलती है। वे प्रत्यभिज्ञा-वृत्ति-विमर्शिनो में काव्यानन्द की चर्चा कर सकते हैं, सामान्य से विषयों में भी दार्शनिक गुणधर्मों में उतर सकते हैं। पण्डितराज अपनी बात प्रसंग, व्यवस्था एवं आवश्यकता के अनुरूप कहने के अभ्यासी है। अभिनव ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, किन्तु ग्रन्थ-ग्रथन का कौशल उनमें पण्डितराज के समान नहीं। अभिनव एक बात के और अभ्यासी हैं, आप उसे दोष कहिए या गुण। जो भी उनके सामने आ जाय, उसकी तोड़ मरोड़ कर के अपने अनुरूप व्याख्या वे कर ही डालेंगे। मूल वक्ता उनके आवरण में नष्ट हो जाता है। भरत उनमें ली गये, आनन्द-वर्धन अनेक दूसरा रूप पा गये। पण्डितराज में यह पाण्डित्य कम नहीं। किन्तु वे ऐसा करने के अभ्यासी नहीं। आप मूल दृष्टि-कोण को अलग ईमानदारी से पायेंगे, उनके निजी दृष्टि-कोण को अलग।

मम्मट भी व्यवस्था-कार है, पण्डितराज भी। मम्मट की व्यवस्था प्रायः मौलिकता से रहित होती है। पण्डितराज की मौलिकता से ओत-प्रोत। मम्मट दूसरों के मतों को प्रस्तुत करते समय कभी-कभी तटस्थता छोड़ भी देते हैं। पण्डितराज तटस्थ रहते हुए मूल वक्ता के उद्देश से तादात्म्य स्थापित कर के उसकी और सफल उद्धरणी कर देते हैं। मम्मट को भाषा प्रायः सन्देहों की जन्म देती है। उनका वक्तव्य अग्रान्ति होते हुए भी पारदर्शी नहीं, वह भ्रान्ति की जन्म दे सकता है। पण्डितराज इन दोषों से दूर हैं। मम्मट से एक गुण पण्डितराज की विवेचन-शैली में प्रमुख है। पण्डितराज की शैली विचारोत्तेजक है। विषय के सम्बद्ध सूत्रों पर दृष्टि दाढ़ाने के लिए वह पाठक की बुद्धि को प्रेरणा देती चलती है। मम्मट की शैली अधिक से अधिक वक्तव्य-विषय का परिचय करा के आपको आगे बढ़ा ले चलेगी। फिर भी दोनों का सीभाग्य अलग अलग है। मम्मट की वह युग मिला है, जो एक व्यवस्था का, एक व्यावहारिक व्यवस्था का भूला है। पण्डितराज की वह युग मिला है जो सब कुछ नहीं, तो बहुत कुछ जान चुका है। गम्भीरता की प्रशंसा कर सकता है, किन्तु उसमें स्वयं गीता लगाने से डरता है। मम्मट की व्यावहारिक सरलता उसे आकृष्ट करती है, पण्डितराज की शास्त्रीय दुरुहता उसे दूर से ही प्रशंसा करा के लौट जाने का आग्रह करती है। उद्भावनाओं की स्थापनाएँ मम्मट ने की हैं, उन स्थापनाओं की परिमार्जनाएँ पण्डितराज ने।

इस प्रकार पण्डितराज इन आचार्यों से यदि किन्हीं दृष्टियों से पीछे हैं, तो किन्हीं दृष्टियों से आगे भी। यदि युग-द्वारा प्रदत्त महत्व एवं उपयोगिता का विचार छोड़ दें तो



पण्डितराज मम्मट से बहुत आगे हैं। व्यावहारिकता एवं सरलता मम्मट के गुण हैं, शास्त्रीयता एवं पारदर्शिता में पण्डितराज महान् हैं। सब मिला कर जो पण्डितराज के पास है, वह उससे कम नहीं, जितना किसी भी महा-महिम आचार्य के पास है। दर्शन, आचार्यत्व, सूक्ष्मता, व्यवस्था, मौलिकता, भावुकता, गंभीरता, रचना-शक्ति, विषयावगाहिता पण्डितराज के विशेषगुण हैं। अभिनव दूसरे क्षेत्रों में पण्डितराज से अवश्य आगे हैं, किन्तु जो भी सीमित क्षेत्र पण्डितराज ने चुना है, उसमें वे अभिनव से पीछे नहीं। हम इन महा-महिम आचार्यों की पद्धि-वृत्त में पण्डितराज का नाम निस्संकोच रख सकते हैं। सर्वाङ्गोष्ण विचार करने पर समस्त संस्कृत काव्य-शास्त्र के इतिहास में अभिनव गुप्त के नाम के अनन्तर पण्डितराज का ही नाम आता है।

पण्डितराज ने आज के शोध-प्रबन्ध-लेखकों के समान ही कुछ मौलिकता के दावे भी किये हैं। पुरानी भाषा में हम उन्हें गर्वोक्तियां भी कह सकते हैं। किन्तु इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पण्डितराज का गर्व उनके पीछे इतना नहीं बोल रहा, जितना उनका आत्म-तौष्ण बोल रहा है। यदि पण्डितराज ने वे शब्द स्वयं अपने लिए न कहे होते तो निस्सन्देह हमें और आपको उनके लिए कहने पड़ते। अन्तर केवल इतना ही पड़ गया है कि अपने महत्त्व का बहुत कुछ मूल्याङ्कन उन्होंने स्वयं कर लिया है। निस्सन्देह उन्होंने चिन्तन-सागर में बड़े परिश्रम से डुबकियां लगायी हैं। तब कहीं वे इस रसगंगाधर-मणि को निकाल पाये हैं। समस्त काव्य-शास्त्र का चिन्तन एवं मनन उन्हें करना पड़ा है। कोमल-मति व्यक्तियों की बात तो कहते नहीं, किन्तु जो गुण-ग्राही हैं, उनके हृदय पर तो इसके छा जाने में कोई शक नहीं। इसके समक्ष समस्त पूर्वाय काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों एवं अलङ्कार-ग्रन्थों की कान्ति फीकी पड़ जाती है। आज तक समीक्षा-चेतना का कितना विकास हुआ है, फिर भी रसगंगाधर का महत्त्व अक्षुण्ण है। सागर का मन्थन तिमिन्द्रों द्वारा निरन्तर होता चला जाता है, किन्तु उससे मन्दर का आयास तो कभी व्यर्थ नहीं होता। हम उस महा-महिम आचार्य की मनोकामना के साथ ही अपनी हृदय कामना मिलते हुए प्रार्थना कर सकते हैं:-

"रसगंगाधरनामा सन्दिर्भोऽयं चिरं जयतु" ।

१-“निमग्नेन क्लेशमननजलधेरन्तरुदरं मयोन्नीतो लोके ललितरसगंगाधरमणिः।

हरन्तित्तु प्वान्तिं हृदयमन्ति ३

यः पृथ्वन्तर्वर्तन् सद्दयधुरीणाः कतिपये, तथापि क्लेशो मे कथमपि गताश्चो न भविता।

तिमोन्द्वाः सदाभीं विदधतु पयोधेः पुनरिमे, किमेतेनायासो भवति विफलो मन्दरगिरेः॥

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित्।

किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ॥

रसगंगाधरनाभा सन्दर्भेयं धिरं जयतु।

किं च कुलानि कवोनां निसर्गसम्यञ्चिरञ्जयतु ।।"

रसगंगधरः पृ० २-४।



## सहायक ग्रन्थों की सूची

नम लेखक	नाम ग्रन्थ	विशेष
अप्पय्य दीक्षित	वृत्ति-वार्तिक	काव्य-माला ३६ : १९४० ई०
" "	चित्र-मोमांसा	" " ३८ : १९२६ "
" "	कुवलयानन्द	निर्णय-सागर : १९४७ "
अभिनव गुप्त	अभिनव-भारती भा० १, २, ३	गायकवाड़ औरि०सी० : १- १९५६ द्वि० सं० २-१९३४। ३-५४
" "	लोचनः ध्वन्यालोक	चौखम्बा सं०सी०, काशी। १९४० ई०
" "	ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी भा० १, २	काश्मीर सं०सी० : १९१८, " २१
" "	ई० प्रत्य० विवृति-विमर्शिनी भा० १, २, ३	काश्मीर सं०सी० : : १९३८, ४१, ४३
" "	तन्त्रालोक	काश्मीर सं०सी० : :
" "	तन्त्र-सार	" " " : १९४३
" "	परमार्थसार	" " " : १९१६
" "	परात्रिंशिका	" " " : १९१८
अमृतानन्द-योगिन्	अलङ्कार-सङ्ग्रह	अहयार लाइ० मद्रास : १९४९
अल्लरराज	रसरत्न-प्रदीपिका	भारतीय विद्या० बंबई : १९४५
आनन्द-वर्धन	ध्वन्यालोक : लोचन सहित	चौखम्बा० काशी : १९४०
" "	ध्वन्यालोक : हिन्दी भा०	विश्वेश्वर, गोतम बु० डि०, दिल्ली : १९५२
ईश्वर कृष्ण	सांख्य-कारिका	सं० पुस्तकालय, बन्ना० : १९५७
उद्भट	काव्यालङ्कारसार-सङ्ग्रह	भंडारकर रि० इन्स्टी० : १९२५
कुन्तल	वक्रोक्ति-जीवितः हिन्दी भा०	विश्वेश्वरः आत्मा० ए० सं०, दिल्ली : १९५५
कुमारिल	तन्त्र-वार्तिक	
कुमारिल	श्लोक-वार्तिकः सुचरित-मिश्रटी० :	
केशव मिश्र	अलङ्कार-शेखर	निर्णय सागर प्रे० : १९२६
केशव मिश्र	शक्ति-वाद	चौखम्बा सं०सी० काशी : १९५३
गदाधर भट्ट	न्याय-सूत्र : वात्स्यायन भाष्य	वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई : १९७० वि०
गोतम अक्षपाद	साहित्य-सूत्राणि : काव्य-टीका त्रिवेन्द्रम सं०सी०, भा० ३, १९२६, " ३० ई०	
गोपाल भट्ट	प्रदीप : काव्य-प्रकाश टीका आनन्दाश्रम सं०सी० :	१९२९
गोविन्द ठक्कुर	काव्य-प्रकाश टीका	
चण्डीदास	शब्द-शक्ति-प्रकाशिका	चौखम्बा सं०सी० काशी : १९३४

नोट- जहां किसी संस्करण-विशेष का उल्लेख नहीं है, रेखांकित ग्रन्थों का प्रयोग हुआ है।

"०" चिह्नित पुस्तकें असाक्षात् प्रयुक्त हुई हैं। मूल प्रयोक्ता के नाम साथ में दिये हैं।



जयदेव	चन्द्रालोक	निर्णय सागर प्रेस :	१९४७ई०
जयन्त भट्ट	दोपिका : काव्य-प्रकाश-टीका		
जयरथ	अलंकार-विमर्शिनी:टी०अलंकार-सर्वस्व:रुम्यक		
"	विवेक : टीका तन्त्रालोक : अभिनव गुप्त		
जीव-गोस्वामी	लौचन-रौचिनी:टीका भक्ति-रसामृत-सिन्धु:जीव-गोस्वामी		
भट्टेन्दुराज	लघु-वृत्ति:टीकाअलंकार-सार-संग्रह:उद्भट		
दण्डी	काव्यादर्श:हिन्दी-ब्रजरत्नदास, खेलाड़ोलाल ए०संकाशी:वि०१९८८		
धनंजय	दशरूपक	गुजराती प्रि०प्रे०बम्बई :	१९२७ई०
धनिक	अवलोक:दशरूपक-टीका		
धर्मकीर्ति	प्रमाण-वातिक:स्वार्थानुमानपरि०, किताब महल,इला०:सं०राहुल सां०		
"	कर्णिक-गोमिन् टीका सहित		
नरेन्द्रनाथ चौधरी	न्याय-बिन्दु:धर्मोत्तराचार्य-टीका, विद्याविला०प्रे०, काशी:		१९२४
	काव्य-तत्त्व-समीक्षा	मोतीलाल बनारसी दास,	१९५९
		दिल्ली -- ६।	
नरेन्द्रप्रभ-सूरि	अलंकार-महोदधि	मायकवाड सीरीज़ :	१९४२
नागेश	गुरु मर्म-प्रकाश:रसगंगाधर-टीका		
"	वैयाकरण सिद्धान्त लघु मञ्जूषा, सं०गिरिराज प्रसाद शर्मा, १९२९		
पतंजलि	महाभाष्य		
पतंजलि	योग-दर्शन: व्यासभाष्य, वाचस्पति मिश्र-टीका:आनन्दाश्रम सं०सी०		
पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी	हिन्दी-रसगंगाधर, भा०१, २ इण्डियन प्रे०, प्रयाग :		सं०१९८६
पण्डितराज जगन्नाथ	रस-गंगाधर	काव्य-माला :	१९३०ई०
"	"	रसगंगाधर:सरला-मथुरानाथ भट्ट, निर्णय सागर प्रे० :	१९४७
"	"	" " :चन्द्रिका-बदरीनाथ भट्ट, चौखम्बा सं०सी० :	२०११वि०
"	"	चित्र-मीमांसा-खण्डन	काव्य-माला :
"	"	सुधासहरी, अमृतलहरी, प्राणाभरण। काव्यमाला प्र०गु०	१९२९
"	"	करुणासहरी, लक्ष्मीलहरी	काव्यमाला द्वि०गुच्छ: १९३२
भरत	नाट्य-संज्ञा-सहित गायक०गौरि०सी०		
"	नाट्य शास्त्र	निर्णयसागर प्रे० बं० :	१९४३
भानुदत्त	रसतरंगिणी	विद्याविलास प्रे०काशी	१९०४
भानुमिश्र	काव्यालंकार:अनु०नागनाथ	वैकटेश्वर प्रे०बं० :	वि०१९७१
भामह	वाक्य-पदीय	वैलेस प्रि०हाउस, तंजौर:	१९२७ई०
भर्तृहरि	सरस्वतीकण्ठाभरण	काव्य-माला :	१९२५
भोज	शृङ्गार-प्रकाश		
"	रसगंगाधर-हिन्दी टीका	चौखम्बा सं०सी० :	वि०२०११
मदनमोहन भट्ट	सरला:रसगंगाधर-टीका		



मम्मट	काव्य-प्रकाशः वामन भट्टकीकर-टीकाः भण्डारकर रि० ह० :	१९५०
"	" : माणिक्य-चन्द्रः सकेत : ज्ञानन्दाश्रम सं० ग्रन्थाः :	१९२१
"	" : विद्याचक्रवर्ती : सम्प्रदायप्रकाशिनी त्रिवेन्द्रम सी० :	
"	" : साहित्य-चूडामणिः भट्ट गोपाल " " :	
"	" : प्रदोषः गोविन्द ठक्कुरः उद्योतः नागेशः ज्ञानन्दाश्रमः :	१९२९
"	" : डा० एच० डी० शर्मा : संस्कृत-अंग्रेजी टीकाः औरि० बु० ए०	१९३९, ३५
महिम भट्ट	शब्द-व्यापार-विचार : निर्णय सागर प्रे० बं० :	१९१६
माणिक्य-चन्द्र	व्यक्ति-विवेक	
मुकुल	काव्यप्रकाश-सकेत	
राजशेखर	अभिया-वृत्ति-मातृका निर्णय सागर प्रे० बं० :	१९१६
	काव्य-मीमांसाः हिन्दी-केदारनाथ बिहार राष्ट्र-भाषाः	१९५४
	भट्ट परिषद्, पटना	
रुद्रट	काव्यालङ्कार	काव्यमन्त्रा : १९०९
रुद्रयक	अलङ्कार-सर्वस्वः जयरथ-टीका	काव्यमाला : १९३९
रूप-गोस्वामी	उज्ज्वल-नीलमणि	
" "	भक्ति-रसामृत-सिन्धु	
लौगाक्षिभास्कर	अर्थ-संग्रह	निर्णय सागर प्रे० बं० : १९५०
वाग्भट	वाग्भटालङ्कार	वैकटेश्वर प्रेस, बम्बई
वाचस्पति मिश्र	सांख्य-तत्त्व-कौमुदी	सत्य प्रकाशन मन्दिर, प्रयाग १९५६
" "	हिन्दी-प्रभाः आर्यप्रसाद	
वामन	भामतीः शांकर भाष्य	
विद्याचक्रवर्ती	काव्यालङ्कारसूत्र-वृत्ति	विद्या विलास प्रे० बनारस : १९०७
विद्यानाथ	सम्प्रदाय-प्रकाशिनीः काव्य-प्रकाश	
विश्वनाथ	प्रतापरुद्र-यशोभूषण	गवर्न० सेण्ट्रल प्रे०, बं० : १९०९
" "	साहित्य-दर्पणः हरिदास-टीकासिद्धान्त-प्रेस, कलकत्ता	: शक १८६७
विश्वनाथ	" पो० दी० काजीः अंग्रेजी अनु० निर्णय सा० प्रे० बम्बई	: १९५६ ई०
विश्वेश्वर आचार्य	न्याय-सिद्धान्त-प्रकाश	न्यौतिष् प्रे० प्रे०, बनारस : १९४०
" "	हिन्दी-ध्वन्यालोक	
" "	हिन्दी-वक्रोक्ति-जीवित	
" "	हिन्दी-तर्क-भाषा	
विज्ञान भिक्षु	सांख्य-प्रवचन-भाष्य	
शिवर स्वामी	शांकर भाष्यः मीमांसा दर्शन निर्णय सम्मत् प्रे०, बम्बई	: १९३८
शंकराचार्य	शांकर भाष्यः वेदान्त-सूत्र निर्णय सागर प्रेस, बम्बई	: १९३८
शारदातनय	भाव-प्रकाश	
शिवा भूपाल	रसार्णव	
श्रीकृष्णविल्लभाचार्य	किरणावलीः न्या० सि० मुक्तावली	



सदानन्द	वेदान्त-सार	ओरियण्टल बुक ए० : १९२९
सोमानन्द-नाथ	शिव-दृष्टि:उत्पल-वृत्ति	काश्मीर सं० सी० : १९३४
सायण-माधव	सर्वदर्शन-संग्रह	भण्डार० रि० ई०, पूना : १९२४
हेम-चन्द्र	काव्यानुशासनः अलंकार-चूडा- मणि एवं विवैक सहित	श्री महावीर जैन विद्या० बम्बई १९३८
हीमराज	स्पन्द-निर्णय	काश्मीर सं० सी० : १९२५
हीमेन्द्र	गौचित्य-विचार-चर्चा	चौखम्बा सं० सी० : १९३३
अमर सिंह	अग्नि पुराण	
	अमर-कोश	
	तैत्तिरीयोपनिषद्	गीता प्रेस गोरखपुर : सं० २००९ वि०
कर्णिक-गोमिन्	टीका-प्रमाणवातिक	
	प्रत्यभिज्ञा-द्वय	कठ्यार लाइब्रेरी, मद्रास १९३८ ई०
	शब्द-कल्पद्रुम कोश	
प्रशस्त-पाद	वैशेषिक-भाष्य	
गुलाब राय	सिद्धान्त और अध्ययन	
दत्ताः चटर्जी	भारतीय दर्शन	
नगेन्द्र	रोति-काव्य की भूमिका	गीतम बुक डिपो, दिल्ली : १९५३ ई० सं०
"	भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा: नेशनल पब्लि० हा० दिल्ली, सम्पादित	
यदुवंशी	शैव-मत	बिहार राष्ट्र भाषा परिषद् १९५५ ई०
रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास काशी नागरी प्र० सभा : सं० २००२	
सूरदास	भ्रमरगीत-सार: सम्पादक रा० चं० शुक्ल: सप्तम संस्करण : सं० २००२	
जयादित्य-वामन	काशिका: पदमंजरी सहित	
हरिदत्त	पद-मंजरी: काशिका-टीका	
	संगति-दर्पण	
	मेदिनी	
शौद्धोदनि	अलंकार-शेखर	
सारवोधिनीकार	सारवोधिनी : काव्यप्रकाश टीका	
रामणारक	बाल-प्रिया: लोचन की टीका	
सुदर्शनाचार्य	दशरूपकावलीक की टीका- प्रभा	

नोट- प्रबन्ध में जहाँ किसी संस्करण-विशेष का उल्लेख नहीं है, वहाँ रेखाङ्कित ग्रन्थों का प्रयोग हुआ है। वैकल्पिक संस्करणों का उल्लेख साथ ही कर दिया गया है।

२- "०" चिह्नित पुस्तकें असाक्षात् प्रयुक्त हुई हैं। मूल प्रयोक्ताओं के नाम साथ ही सन्दर्भ के रूप में दिये गये हैं।



## "B"

- 1- The Aesthetic Experience According to Abhinavagupta.  
Raniero Gnoli : Roma. Is. M.E.O. 1956.
- 2- Indian Aesthetics. Vol. 1. Kanti Chandra Pandey.  
Vidya Vilas Press, Benares. 1950.
- 3- Abhinava Gupta . Kanti Chandra Pandey. Chaukhamba. 1935.
- 4- Some Concepts of the Alankar Sastra. : V. Raghavan.  
Adyar Library, Madras. 1942.
- 5- The Number of Rasas. V. Raghavan. Adyar Lib. 1940.
- 6- Bhoja's Srngar-prakas. V. Raghavan. Karnatak Publishing  
House, Bombay. 1940.
- 7- Some Concepts of Literary Criticism in Sanskrit.  
or  
The Theories of Rasa and Dhvani. : A. Sankaran.  
The university of Madras, 1929.
- 8- Studies in Comparative Aesthetics. Dr. Pravasjivan Chaudhry  
Vishva Bharti, Shantiniketan. 1953.
- 9- Art Experience. Hiriyanna. Kavyalaya Publ. Mysore. 1954.
- 10- History of Sans. Poetics. B.V. Kane. 2nd. Ed.
- 11- Studies in the History of Sans. Poetics. : S.K. De.  
Luzac & Co. London. 1943.
- 12- Psychological Studies in Rasa. Rakeshgupta. 1950.
13. Highways and Byways of Literary Criticism in Sans.  
S. Kuppaswami. K.S.R. Inst. Madras. '45.
- 14- Literary Criticism in Sans. and English. D.S. Sarma.  
K.S. Research Institute, Madras. 1950.
- 15- History of Indian Philosophy : Das Gupta.
- 16- History of Indian Logic. Satish Chandra Vidyabhushan.  
Calcutta Uni. Press. 1921.
- 17- Indian Philosophy. Dr. Radhakrishnan.
- 18- Early History and Culture of Kashmir. Dr. Sunil Chandra Ray  
1957.



- 19- Kashmir Saivism. Jagdish Chandra Chatterji. 1914.  
 20- The Saiv School of Hinduism. S. Shvapaasundaram.  
 George Allen. London. 1934.  
 21- Tantras here Philosophy and Occult. Secrets.  
 D.N. Bose. Oriental Pub. Co., Calcutta. 3rd. Ed.  
 22- Introduction to Tantra Sastra. John Woodroffe.  
 Ganesh & Co., Madras. \*(£\_.

---

"C"

- 1- Calcutt Oriental Journal, Vol. 3, P. 41-51.  
 2- Journal Annamalai University. V.A. Ramaswami Sastri.  
 Vol. 2. P. 201-208.  
 Vol. 3. P. 106-116. 229-244.  
 Vol. 4. P. 14-158. 262-274.  
 3- Oriental Research Institute. R.S. Jaini.  
 Jagannath's Criticism of Mammata's Definition & Classification of Poetry. 11-- A review. 13. Sum. SN/V. 11-12.  
 4- Theora of Rasa examined by Jagannath. (Title only)  
 K.S. Sukla. 1. P. 1. 45.  
 5- Rasangaadhara- Andra Contribution to Sans. Poetics.  
 (1) Summary. B. Venkataramnyya. x. Summaries. 37-38.  
 6- The Jona Orientalist. April, 1936. P. 26-33  
 Shaktashakti. P. 31.  
 7- समलोचकः सैवन्द्य-शास्त्र विशोषकः जागराः वर्ष १, अंक १ः  
 प्रेमस्वरूप गुप्तः पण्डितराज जगन्नाथ की काव्य-सिद्धान्त की देन।  
 8- समलोचकः नवम्बर, १९५८ः "अनुभाव की सीमा" : प्रेम स्वरूप गुप्त।  
 9- " " फरवरी, १९५९ः यथार्थवाद विशोषकः  
 प्रेम स्वरूप गुप्त : "संस्कृत काव्य-शास्त्र में यथार्थवाद"  
 10- समलोचकः जागराः अक्टूबर, १९५९ः "साधारणीकरण का जन्म-दाता कौन ?"  
 11- " " नवम्बर, १९५९ः प्रेमस्वरूप गुप्त। "भट्टनायक का साधारणीकरण"  
 12- साहित्य-सन्देशः जागराः अक्टूबर, १९५९ः लीज्जत का रस-सिद्धान्तः प्रेमस्वरूप गुप्त।